राजनीति विज्ञान मानक ग्रन्थ शृंखला—5

सपादन हरगोविन्द पत

अतर्राष्ट्रीय सबध अधुनातन परिवेश मे

लेखन
हरगोविन्द पत रमेश दाधीच
दामोदर शर्मा वी के अरोडा

राजनीति विज्ञान विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर-302004 (राजस्थान)

विषय क्रम

आमुख

राजस्थान विश्वविद्यालय का राजनीति विज्ञान विभाग हमारे देश के एक सैकडा से अधिक विश्वविद्यालयो के ऐस ही राजनीति विज्ञान विभागो मे एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर चुका है। यह उन गिने चुने विभागा म से एक है जिन्हे विश्व विद्यालय अनुदान आयोग ने विश्वविद्यालय नेतत्व कायक्रम (यू एल पी) चलाने की जिम्मेदारी सौंपी है। पिछले तीन वर्षों स यह कायक्रम विभाग म चल रहा है। इस सीढी पर चढकर हमारा विभाग आशान्वित है कि उसे शीघ्र ही मान्यता प्राप्त होगी, कि वह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से 'विशिष्ट सहायता' प्राप्त करने के योग्य मान लिया गया है। इस मान्यता को प्राप्त कर वह राष्ट्रीय स्तर का राजनीति विज्ञान केन्द्र हो सकेगा।

तीन वष से चल रहे इस कायक्रम के अतगत विभाग ने अनेक शैक्षणिक एव शोधपूण कार्य सम्पन्न किये हैं और पिछले 6 महीने के अदर इस दिशा मे द्रुत गति से प्रगति हुई है। सेमिनार, वकशाप, विद्वतगणा के ज्ञानवधक भाषण, सुपाठ्य व सरल भाषा मे अधिकारी विद्वाना की कृतियो के अनुवाद इत्यादि सम्पन्न हुए हैं जिसने इस कार्यक्रम की छवि निखारने म बडा काम किया है। परतु इन सारे कायक्रमो मे अनेक ज्ञात व अज्ञात कारणो वश इस नेतत्व के अतगत दी गई दो 'पद' खाली रह गये। एक विजिटिंग' प्रोफेसर का जिस पर कुछ दिनो तो दो सज्जन आए और कुछ काम हुआ फिर यह पद रिक्त ही रह गया। रीडर का पद भरा ही नही जा सका। अत हमने यह निणय लिया कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से निवेदन किया जाए कि इन पदो के लिए निर्धारित रकम हमे स्नातक स्तर के पाच विषयो की पाच अच्छी पाठय पुस्तकें लिखवाने और सम्बद्ध कालेजो मे उन्हे बटवाने की अनुमति मिले विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से सहष हमारी प्राथना स्वीकार कर ली। वस्तुत यह हमारा सुखद अनुभव रहा है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग विश्वविद्यालयीय विभागो की अकादमिक स्थिति सुधारने और उनकी अन्य विधि से सहायता कर पाने के लिए सदैव तत्पर और उत्सुक रहा है जो भी प्रगति के राह मे झगडे टटे उठते हैं, वि० वि० अनु-

दान आयोग की ओर से न होकर, अधिकांश विश्वविद्यालयों में खुद के झगड़े-टंटे होते हैं। इसमें भी हमें वर्तमान कुलपति और रजिस्ट्रार का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। जिसके लिए हम उनके आभारी हैं।

पर इतनी सारी कृपा और अनुकंपा निष्फल ही हो गई होती यदि मुझे विभाग में अपने सभी सहयोगियों से निर्बाध हार्दिक समर्थन और सहयोग न मिला होता। शुरू से आखिर तक आज के युग में जो देव दुर्लभ हो गया, ऐसा सहकर्मियों के पग पग पर समर्थन और सहयोग ने ही वास्तव में यह सारी सरचना सभव बनायी जिसके लिए मैं उनका सदैव ऋणी रहूंगा। यश और कीर्ति जो मिले, उसके वे ही अधिकारी हैं, त्रुटियां अवश्य मेरे जिम्मे की जानी चाहिए।

हमारे विभाग के सभी कर्मचारी यू एल पी कार्यक्रमों में उत्साह और लगन से भाग लेते रहे हैं। इनकी तकनीकी मदद ने हम लोगों के बौद्धिक श्रम को ग्रंथों के रूप में प्रकट होने में जो मदद की है, उनके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

इसके अलावा इस कार्यक्रम में हमारे भूतपूर्व छात्रों सर्वश्री नवलसिंह, सत्यदेव एवं महादेव का जो सहयोग मिला है उसके लिए भी हम उनके हृदय से आभारी हैं।

अंतत मैं अपनी ओर से और अपने विभाग की ओर से भारत प्रकाशन के श्री भारत भूषण जी की भूरि भूरि प्रशंसा करना और उनके प्रति हृदय से आभार प्रकट करना चाहूंगा जो हम लोगों के सहृदय, कर्मठ और निष्कपट मुद्रक के रूप में तो मिले ही, एक मित्र की तरह उन्होंने स्थल-स्थल पर हमें इस कार्यक्रम को सुरुचिपूर्ण ढंग से सफल करने में मूल्यवान सहयोग दिया।

30 जून, 1982 — हरगोविन्द पंत
जयपुर — निदेशक व अध्यक्ष

सम्पादकीय

राजस्थान विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग के अतगत विश्व-विद्यालयी नेतत्व कायक्रम की पाठमाला का यह पाचवा पुष्प है जिसकी रचना मे प्रस्तुत पक्तियों के लेखक के अलावा, तीन अय प्रतिभावान और अनुभवी अध्यापको ने भाग लिया है। इस ग्रथ के प्रणयन मे हमे विश्वविद्यालय क सहयोगियो का सहयोग तो मिला ही, खुशी की एक बात यह भी रही कि डॉ० वी० के० अरोडा के रूप मे हम एक प्रतिभाशाली व अनुभवी कालेज अध्यापक का सहयोग भी प्राप्त कर सके हैं। डा० अरोडा एक अनुभवी व विद्वान अध्यापक तो है ही, वे एक लेखक के रूप मे भी शिक्षा जगत मे सुविख्यात रहे है। प्रस्तुत ग्रथ के आरम्भ के पाच अध्याय इन पक्तियो के लेखक ने, 5A, छठा और दसवा अध्याय श्री रमेश दाधीच ने, सातवा और आठवा डा० अरोडा ने तथा नौवा और ग्यारहवा अध्याय श्री दामोदर शर्मा ने लिखा है जो पिछले कुछ वर्षों से विभाग म एक अध्यवसायी और प्रतिभावान युवा अध्यापक के रूप मे जाने जाते थे और अब अध्यापन क्षेत्र को छोडकर प्रशासनिक सेवा मे एक सदस्य के रूप म नियुक्त हुए है।

हमारे विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग न जिन कुछ बातो म पहल की है, उसमे एक बात यह शामिल है, कि 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' क अध्ययन को सभी स्तरा पर यथोचित सम्मान दिया गया है। स्नातकोत्तर स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषयक 'पेपर' अनिवायत ता पढाया ही जाता है, स्नातक स्तर पर भी इसे अनिवाय पाचवे पपर के रूप मे मान्यता मिली है, जा अतिम वष मे विद्यार्थियो को लेना पडता है। यह पिछले दा दशकों से चल रहा है और इसी कारण 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' का अध्ययन अध्यापन कुछ कुछ सुगठित हो हो गया है। प्रस्तुत कायक्रम, जिसके अतर्गत इस ग्रथमाला को आयोजित किया गया है, इस परपरागत अध्ययन को और पुष्ट और सम्पन्न करेगा, यह आशा करनी चाहिए।

यो भी 'अन्तर्राष्ट्रीय सबध' विषयक अध्ययन को अभी तक एक दो विश्व विद्यालयो को छोडकर (यथा जादवपुर व जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय)

अन्यत्र कहीं भी स्वतन्त्र विभाग के रूप में गठित नहीं किया जा सका है। एक स्वायत्त 'अनुशासन' के रूप में इसे मान्यता नहीं मिल पायी है जिसकी वजह से इस 'अनुशासन' का बहुआयामी विकास अवरुद्ध है। या तो यह राजनीति विभाग की एक जिम्मेदारी बना हुआ है जिसे जैसे कैसे निभाया जाता है। या फिर इतिहास विभाग में 'आधुनिक दुनिया' की जानकारी का एक पक्ष के तौर पर पढ़ा कर छुट्टी कर दी जाती है। अभी इसके उचित नामकरण की समस्या भी बनी हुई है। स्नातक स्तर पर हम इसे 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' के नाम से जानते हैं पर स्नातकोत्तर कक्षाओं में एक उच्च वैचारिक धरातल पर इस अध्ययन को सगठित करके हम इसे 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' के रूप में पढ़ाते है। 'जागतिक राजनीति' के रूप में इसको अध्ययन का विषय बना पाने में तो अभी सचमुच ही बहुत विलम्ब है।

वस्तुतः जब इस समस्या को हम वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में रखकर देखते हैं, तो हम यह पाते हैं कि अन्यत्र भी, विदेशों में इस प्रकार के अध्ययन की शुरुआत अभी कुछ दशकों पूर्व ही हुई है। यों तो हम इस अध्ययन की जड़ें सुदूर अतीत में खोज सकते हैं, प्राचीन भारत में, यूनान में रोम में जब राज्यों के 'पारस्परिक' सबधों पर विचार किया गया था। सम्बन्धों के कुछ नियम-धर्म, कुछ मर्यादाओं को स्थापित करने का प्रयत्न हुआ था पर सुव्यवस्थित चिन्तन का अभाव तो था ही। वैसे एक तथ्य पर तब भी जोर दिया ही जाता था। वह यह कि 'राज्य' को एक सगठित 'बल' के रूप में, अपने पड़ोसी राज्यों से सबध बनाना चाहिए— विजिगीषु के रूप में स्थित 'राजमण्डल' सिद्धान्त के अनुसार राज्य सम्बन्ध बनाये। जो है उसे सगठित करना, और जो नहीं है उसे अपने अधिकार में लाना राजनीतिक कर्त्तव्य ठहराया गया। राज्यों के आपसी सम्बन्ध तय करते समय यह विचार लाना चाहिए कि पड़ोसी तो स्वभावतः 'शत्रु' है। इसी प्रकार उसका शत्रु अपना स्वभावतः मित्र है इत्यादि—इस आधार पर 'मडल' निर्मित होता है जिसके केन्द्र में ही विजिगीषु'—विजय की इच्छा रखने वाला राजा। युद्ध के सम्बन्ध में, दूतों के सम्बन्ध में उनका क्या गुण होना चाहिए, क्या मान मर्यादा रखनी चाहिए, इस पर खूब विचार हुआ है।

पर 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' का आज का अध्ययन तात्विक रूप से भिन्न हो चला है। वह इतना 'सरल' और तरल नहीं रह गया है। यूरोप में भी पुराने 'यूनान' और 'रोम' के युग के 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' वाले विचार भले ही पृष्ठभूमि की तरह काम दें, पर वे मूलतः आज की बातों से भिन्न हैं। उसका एक स्पष्ट कारण है कि आज के राज्य ही मूलतः उन राज्यों से भिन्न हैं, स्वरूप में, गठन में, अतमन में, जो प्राचीन राजनीति का आधार थे। यूरोप में सामन्तीय युग का अन्त होते होते 'राष्ट्रीय राज्यों' का गठन हुआ जिसने यूरोप को उस

"मध्यकालीन वातावरण" से बाहर निकाला जिसमे राजनीति चच की 'दासी' बनी हुई थी। मैक्यावलि, जा बोदाँ, हाब्स प्रभृति लेखक चितक इस 'दमघोटू' वातावरण से 'राजनीतिक अध्ययन' को उबारने वाले लेखक माने गए—एक स्वायत्त अनुशासन के रूप मे राजनीति के अध्ययन का सिलसिला शुरू हुआ जिसका केन्द्र थे 'राष्ट्रीय राज्य'। राष्ट्र के रूप म निश्चित सीमा के अन्दर, निश्चित 'प्रभु' के नतत्व म, प्रभुता सम्पन्न 'राज्यो' के निर्माण का यह सिलसिला प्रथम महायुद्ध तक यूरोप मे और उसके बाद स एशिया और अफ्रीका म चलता ही जा रहा है। 'राष्ट्रो के मध्य राजनीति' 'राष्ट्रा का सघ' और इन सबका मिलाजुला रूप 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति'। कहने का मतलब यह कि पूरे इस अध्ययन वृत्त का जा नाभि केन्द्र है, वह प्रभुता सम्पन्न 'राष्ट्र' का विचार है, जिसे आधुनिक राज्य कहते हैं। इसी से यह विचार पनपता है कि राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मूलत एक ही बात है—'शक्ति के लिए सघष'—जो पिण्ड म वही ब्रह्माण्ड म।

समाज के अन्तगत लोगा न 'राज्य' के रूप म सगठित बल' का निर्माण कर लिया और 'अराजक' स्थिति से—मात्स्य न्याय से मुक्ति पा ली पर राज्यो के ससार मे मात्स्य न्याय से छुट्टी नही वहा जैसा हाब्स ने चित्रित किया या पुराने भारतीय जैन, बौद्ध व वैदिक आख्याना मे आता है मात्स्य न्याय ही सवत्र विद्यमान है। 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' का यह अजीब द्वन्द्व है कि जा राज्य' राज्यान्तगत व्यवस्था बनाये हुए हैं नीति धम क सस्थापक ह, व सीमा के बाहर खुद अराजक स्थिति म आचरण विचरण करते है और 'बलाबल' के आधार पर अपने पारस्परिक सबधा को निर्धारित करते है। इन सबधो का देखने परखने की सही दृष्टि क्या मानी जाए इसे लेखक अनेक सम्प्रदाय बन गये हैं।

यूरोप मे सबसे पुराना विचार यह रहा है कि राज्य एक जविक इकाई है जिसका मूल तत्व बल या शक्ति है। जविक जगत म अस्तित्व के लिए जैसा अहर्निश सघष चलता रहता है, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र म भी वही हाल है। राज्य एक दूसरे के विरुद्ध जिस शक्ति सघष म लगे हुए है अतर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का वही मम है। इस जैविक सम्प्रदाय की आधार शिला गम्प्लोविज ने रखी और इसका निखार—हाब्स और उनके परवर्तियो की रचनाओ मे हुआ। इसे आज के युग मे एक सम्प्रदाय के रूप मे सगठित करन का श्रेय मुख्यत मारगे थाऊ और उनके साथियो को दिया जाना चाहिए जो अपने आपको एक यथार्थवादी सम्प्रदाय कहत हैं। स्मरणीय यह है कि 'बल' पर आधारित इस सम्प्रदाय का विकास यूरोपीय एतिहासिक विकास के उस बिन्दु से होना शुरू हुआ, जहाँ से सामन्तीय आच्छादन को तोडती फोडती हुई एक ऐसी बुजुआ क्राति का सिल-

सिला भी चलता है जो बाद म औद्योगिक व्यापारिक क्रांति के सहारे, नए सपर्क सूत्रो को खोलती हुई आगे बढती चली जाती है। यूरोप के इस बुर्जुआ वर्ग ने, अपने घर म राज्य सत्ता पर अपना वचस्व स्थापित कर, जब यूरोप के बाहर एशिया अफ्रीका और पश्चिमी गोलार्द्ध मे अपना आधिपत्य जमाया तब इस रक्त रजित प्रक्रिया म पहली बार समूची दुनिया एक सूत्र म बधने लगी। एक दृष्टि स ऐतिहासिक विकास की इस प्रक्रिया म हम अन्तर्राष्ट्रीय सबधो की गहरी नीव पड़ते देखते है। जल और छल के सहारे पूरी दुनिया एक सूत्र म जोडी जा रही थी। बड बड साम्राज्यो का गठन हुआ एशिया, अफ्रीका व लातीन अमरीका क ढीले ढाले राज्यो और उनकी समूची सामाजिक सरचनाओ के उलट-पुलट का क्रम शुरू हुआ। साम्राज्यो क निर्माण क इस रक्तस्नात क्रम म यूरोपीय सत्ताओ न अन्तर्राष्ट्रीय नीति और व्यवहार के कानून और धम के ज्ञात अज्ञात सभी तरह की मर्यादाओ को एशिया अफ्रीका और अमरीका म रौंद कर रख दिया। बल ही एक सीमा निर्धारक तत्व रहा है परन्तु आपस म 'अतर्राष्ट्रीय सबध और कानून को एक सुनिश्चित धरातल पर रखने क प्रयत्न ढीले नही किए गए। एक प्रकार का अतर्राष्ट्रीय व्यवहार और कानून एशिया अफ्रीका क लोगो क लिए तय था दूसरा अपने लोगों के लिए। ऐसा ही जैसा यूनान मे स्वामियो के आपसी रिश्ते और स्वामी और दास क रिश्ते अलग अलग तय होते थे।

इस यथाथ म अन्तर्राष्ट्रीय सबध के अध्ययन म ऐसी ऐसी अनर्गल दृष्टियो का भी अन्वेषण किया जैसी गोरे लोगो का इतिहास द्वारा निर्णीत सभ्य बनाने का अभियान नस्लवाद पर आधारित सृजनशील और केवल बोझ ढोने वाली नस्लो का वर्गीकरण और गोरे या 'आर्य नस्ल' का नियति बद्ध आधिपत्य का अधिकार। इससे जर्मनी ब्रिटेन और अमरीका म 'भू राजनीति' की वह शाखा भी निकली जो 'भौगोलिक' आधार पर राजनीतिक वचस्व व पराधीनता की व्याख्या पर जोर देने लगी। राटजेल, मैकिंडर, हासपुर प्रभृति इस प्रकार की भोंडी 'भू राजनीति' को वैज्ञानिकता का आवरण पहनाने लगे। दूसरी ओर यूरोप के जाग्रत और सघर्षशील मजदूर वर्ग के सजग पक्षधरो ने साम्राज्यवाद के असली रूप को उसके भीषण शोषण की समूची प्रक्रिया को उघाडना शुरू किया और एक नई अन्तर्राष्ट्रीयता के निर्माण की माग उठाई और इसके लिए जाग्रत मजदूर वर्ग के नेतृत्व मे 'राज्य क्रांतियो' का आह्वान किया। मार्क्स लेनिन, हॉब्सन इस वैचारिक आदोलन के सूत्रधार बने। राज्य सत्ता का मर्म राज्यान्तर्गत उत्पादन के साधन और उत्पादन के सबधो के द्वद्वात्मक विकास मे छिपा था और पूजीवादी विकास की चरम परणति साम्राज्यवाद के रूप म हो रही थी और अन्तर्राष्ट्रीय सबधो का स्वरूप भी इसी साम्राज्यवादी विकास द्वारा

निर्धारित हो रहा था। इसके विनाश के बाद ही 'अन्तर्राष्ट्रीय सबध' की सही दिशा खुलने वाली थी।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि प्रथम महायुद्ध के घटते घटते तीन तरह की ऐतिहासिक प्रक्रियाओ के त्वरित विकास ने जहा एक ओर पुरानी दुनिया को नष्ट करना शुरू किया, वही उनके घात प्रतिघात ने नई दुनिया की नीव रखनी भी शुरू की। ये तीन विकास प्रक्रियायें थी साम्राज्यो का आपसी अन्तद्वन्द्व जिसकी चरम परणति प्रथम महायुद्ध के विस्फोट में हुई, साम्राज्यो के अन्दर सामाजिक क्राति का विकास जिसकी चिगारी तो पूरे यूरोप मे फली, पर जिसे सफलता लेनिन के नेतत्व मे अक्टूबर क्राति मे मिली, तीसरी विकास प्रक्रिया का सबध साम्राज्यवादी ताक्तो के विरुद्ध पराधीन राष्ट्रो के मुक्ति आदोलन के विकास मे थी जिसकी परणति एक के बाद दूसरे साम्राज्या के विघटन के सिलसिले मे द्रुतगति से चलने लगी और द्वितीय महायुद्ध के बाद साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के सम्पूण उन्मूलन के रूप मे उद्घाटित होती जा रही है। इस समग्र विकास क्रम ने पुरानी दुनिया ही उलट दी और अतर्राष्ट्रीय सबधो को नई आधार शिला ही नही दी बल्कि नई समझ का विकास किया। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन एक नया महत्व पाने लगा।

'साम्राज्यवादी देशो मे' प्रथम महायुद्ध के बाद एक ओर अमरीकी नेतृत्व मे एक आदशवादी सम्प्रदाय खडा किया गया जो 'राष्ट्रो के आत्मनिणय के अधिकार', समता का अधिकार, और समता और बधुत्व के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सगठन और कानून के निर्माण की बात करता था जिसने, युद्धो को खत्म करने के लिए, लोकतन्त्र के लिए 'युद्ध' लडने की बात की थी, पर यह सब बातें यूरोप और अमरीका के साम्राज्यी देशो तक ही सीमित थी—एशिया के राष्ट्रों की मुक्ति, उनके साथ समता का व्यवहार, उनके लिए अतराष्ट्रीय सगठन और कानून मे हिस्सेदारी इस दायरे के बाहर की बात थी। इतना ही नही 'अक्टूबर क्राति' और उसके पूव मैक्सिको' ये ही आदर्शवादी अमरीकी राष्ट्रपति विल्सन अपने सिद्धातो को बलाए ताक रख रहे थे। दूसरी ओर एक नई अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्षधर बने अक्टूबर क्राति के पहरुये जो बाद मे स्टालिन के नेतृत्व म इस माक्सवादी कठमुल्लेपन पर उतर आये कि 'अन्तर्राष्ट्रीय सबधो को भी केवल उत्पादन के सम्बन्ध या आर्थिक सम्बन्ध ही निर्णीत करते है।

इसके अलावा जब पूजीवादी सकट के दौर मे इटली और जमनी म विशेषत हिटलर के आगमन पर युद्धोन्मुख राष्ट्रवाद लहरें लेने लगा तो 'युद्ध, हिंसा, विग्रह' को लेकर भीड और जातियों के मनोविज्ञान के रास्ते अतर्राष्ट्रीय सबधो की समझ प्राप्त करने के प्रयत्न हुए। जसे व्यक्ति के मनोवेगो का अध्य-

यन किया जाता है, उसके व्यक्तित्व का, उसक सवगों, भावनाओं और व्यक्तित्व के अनन पक्षो का, इसी तरह राष्ट्रो और नस्लो का भी अध्ययन हा सकता है। हिटलर के व्यक्तित्व के अध्ययन से, जर्मन जाति के गुण-दुगुर्णों के अध्ययन से हम जमन परराष्ट्र नीति को समझ पा सकते हैं, ऐसी दृष्टि विकसित की जाने लगी। *युद्ध और शांति के प्रश्नो को मानव व्यवहार के, समूहों के व्यवहार* स्वभाव के रास्ते समझने का प्रयास हुआ।

इस प्रकार व्यवहारवाद, मनोविज्ञान, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और सगठन वाले पक्षा पर बल देने वाले सम्प्रदायों ने जोर पकडा। अन्तराष्ट्रीय सबधा' का समझने का एक सभ्यतापरक दृष्टिकोण भी विकसित हुआ—सभ्यतायें उदित होती हैं बढती हैं, उनका पतन होता है—पश्चिमी सभ्यता का यह पतन काल है स्पेगलर ने कहा। इस तरह की दृष्टि से भी अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षो को देखा गया—अक्टूबर क्रांति और उसके परिणाम पर सभ्यतापरक इस दृष्टि से निष्कर्ष निकाले जाने लगे।

दूसरे महायुद्ध के बाद विकास की उक्त प्रक्रिया और भी त्वरित गति से आगे बढ़ने लगी। साम्राज्यों का समूल विघटन एक यथार्थवादी घटनाक्रम बन गया, समाजवादी राज्यो का एक समूह उठ खडा हुआ, सामाजिक क्रांति और साम्राज्य विरोधी क्रांति का सगम जगह-जगह बनने लगा। एक नई दुनिया तेजी से उभरन लगी जिस समझने के लिए जो दृष्टि चाहिए व पूवकालीन सम्प्रदाय नही दे पा रहे थे। उनके सहारे विकास को समझना मुश्किल बन गया था। न जबकि रूप मे 'राज्य के तथ्या को मानवर चलन से न मनोवज्ञानिक ढग स 'नस्लो और राष्ट्रो और उनके नेताआ के व्यक्तित्वो का विश्लेषण करके बात समझ आ रही थी और न इसे नस्ला और सभ्यताआ के 'आलोडन विलोडन उनके उत्थान पतन की कहानी के रूप मे बात समझाई जा सकती थी। स्वतन्त्र राष्ट्रो के इस विकासशील समुदाय म न्तर्राष्ट्रीय कानून और सगठन मे सब की हिस्सेदारी अब मागन की बात न होकर अधिकार की बात हो गई थी। शक्ति के लिए सघष का मैदान अब इस कदर खुला नही रह गया था कि 'उन्मत्त सबल राष्ट्र' जब चाहे जहा चाहे धमाचौकडी मचा सके। पुरानी दुनिया अभी भी नष्ट नही हुई है, पुराना साम्राज्यी मन' अभी भी पूरी तरह ध्वस्त नही हुआ है तभी वियतनाम मे चिली म, साल्वादोर म लेबनान म अमरीकी और इजरायली पागलपन मानवता को झेलना पडता है। पर हथियार और बल निर्णायक हात तो वियतनाम और फिलीस्तीनी जनता और नेतत्व मानवता की अस्मिता व स्वाधीनता की उद्दाम चेतना और उसकी अजेयता का गौरवपूण दष्टात नही बनत।

अन्तर्राष्ट्रीय सबधो की सही समझ दुर्भाग्यवश दूसरे शिविर म भी नही

विकसित हो पा रही है। मानव इतिहास के विकासक्रम म राष्ट्रो का निर्माण हुआ, देशो की रचना हुई, यह विकास की लम्बी प्रक्रिया के फलस्वरूप है। मार्क्सवादी समझ के अनुसार जैसे राज्यो के अन्तगत विकास क्रम को समझा जाता है उसका यत्रवत प्रयोग 'अतर्राष्ट्रीय सबधो' को समझने के लिए पर्याप्त नही होगा बल्कि समझ गलत हो जाएगी। उत्पादन के साधन और सबध, नीव और ऊपरी ढांचा और उनके आपसी द्वद्वात्मक सबध राज्य के स्वरूप को निर्णीत करते हैं, पर 'अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र' मे न कोई एक नीव है, न उसका ऊपरी ढाचा जो एक इकाई के रूप म अपन अन्तद्वन्दो के सहारे विकसित हो रहा हो। यहा राज्य के माध्यम से ही 'अतर्राष्टीय सबध' विकसित होते रहते है। इसलिए सही मार्क्सवादी दृष्टि जहा एक ओर 'मनोवज्ञानिक' तौर तरीके, जविक दष्टि तकनीक, विचार या नैतिकता पर आधारित सिद्धातो को इस अथ म अस्वीकार करती है, कि ये निर्णायक हैं, वहा यत्रवत मार्क्सवाद की इस प्रस्थापना का भी त्यागना होगा कि राज्यो के आपसी सबधो को 'आर्थिक तत्व' के आधार पर ही दखा जाए।

मार्क्सवाद की सबसे बडी देन यह है कि वह हम गतिशील विकास को द्वद्वात्मक तरीके से उभरते हुए दखन की दृष्टि देता है जबकि अन्य सम्प्रदाय यह मानकर चलते हैं कि दुनिया ज्यो की त्यो स्थिर है और सघषरत वर्गो और राष्टो के हितो और स्वार्थो मे तालमेल बठाने के तरीका की खोज करनी चाहिए। मार्क्सवाद का मुख्य सदेश है कि जिस दुनिया मे हम रहते है वह सतु-लन, सामजस्य और स्थायित्व के गुणो वाली दुनिया नही है बल्कि सघष परि वतन क्राति की निरतरता के गुण वाली दुनिया है, पर अतर्राष्ट्रीय सबधो की इस सतत प्रवाहवान दुनिया के रहस्यो को समझाने के लिए हम उन माध्यमा पर भी दृष्टि रखनी होगी, जिनके सहारे यह विकास क्रम कभी धीमे धीमे, कभी छलाग मारता हुआ चलता है। वे माध्यम हैं, व तमाम सामाजिक सरचनाये जसे राष्ट्र वग, दल, नेतृत्व, व्यक्ति, उनके आपसी सबध और द्वद्वात्मक रिश्ते और इस तरह के राष्ट्रो का परिवार और उनके बीच द्वद्वात्मक सबधो का कभी न टूटने वाला विकास क्रम, एक दूसरे को प्रभावित करने का अतहीन सिलसिला। इसी समग्र दृष्टि के सहारे अतर्राष्ट्रीय सबधो का सही अध्ययन हो सकता है। तभी समझ म आता है कि अपने को समाजवादी मानत हुए भी सोवियत और जनवादी चीन के बीच क्या सघष है और उसकी क्या सीमा है, लोकत त्री अमरीका भारत के लोकत त्र के बजाय पाकिस्तानी सनिक तत्र को क्यो सहारा देता है, और अफगानिस्तान और कम्पूचिया के मामले मे भारत सोवियत और वियतनाम के साथ वसा व्यवहार नही करता जसा चीन करता है और इदिरा गाधी की सरकार भारत की सीमा के बाहर साम्यवादी सरकारा

को जैसा समर्थन और उनके प्रति दोस्ताने का रुख रखती है, वैसा भारत के अंदर चल रही कम्युनिस्ट सरकारों के लिए नहीं और जिस कांग्रेसी सरकार की पूंजीवादी-सामन्तवादी नीतियों की भारत के कम्युनिस्ट आये दिन भर्त्सना करते हैं, उस सरकार की परराष्ट्रनीति का वे खुद ही समर्थन करते हैं। तात्पर्य यह कि परराष्ट्र संबंध और घर के अन्दर के संबंध में घना संबंध है जरूर, व अन्योन्याश्रित भी है, पर इस ढंग से नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से पांच अरब रुपये लेते ही भारत की परराष्ट्रनीति और संबंध इन ऋणदाताओं के गिरफ्त में आ गये। इसके बाद भी इंदिरा गांधी ने अमरीका में ही और मारिशस में भी दियागो गार्सिया, पाकिस्तान को शस्त्र देने और लेबनान में इजरायली नरसंहार के लिए अमरीका की भर्त्सना करने में कोई कोताही नहीं की।

ससार व्यापी महासमर की पूर्व वेला मे

हम यह प्रारभ मे ही स्पष्ट करना चाहेगे कि इस अध्याय मे हमारा लक्ष्य द्वितीय महासमर के उपरान्त की दुनिया की विवेचना करना है, क्योंकि हम उस महासमर की पूव पीठिका की चर्चा अन्यत्र[1] भी कर चुके हैं जिसने सितम्बर1939 से यूरोप के शक्तिशाली देशो को अपनी लपेट मे लेकर अगले वर्षों के अदर समूचे यूरोप को अपनी विभीषिका का शिकार बना लिया। यह महासमर केवल यूरोपीय महाद्वीप तक फैली लडाई नही रह गई। एशिया और प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र मे चीन और अन्य एशियाई प्रदशो को अपने-अपने क्षेत्र मे लेने की प्रतिस्पर्धा मे पर्ल-हावर की बमबारी के बाद अमेरिका और जापान के बीच जबदस्त भिडन्त हुई और युद्ध अब केवल चीन जापान के बीच चला आ रहा साम्राज्यवादी युद्ध मात्र ही नही रह गया। महासमर की विकराल लपेटो मे जब यूरोप और एशिया के विशाल जन समुदाय झुलसने और भुनने लगे, तब यह स्वाभाविक ही था कि दुनिया के अन्य खण्डो तक इनकी चिनगारिया फैलने लगें। इस प्रकार यह महा-समर सही मायने में एक ससार व्यापी महाभारत बन गया।

केवल युद्ध के फैलाव की वजह से ही नही, अन्य कारणो से भी यह महासमर पूववर्ती प्रथम महायुद्ध से भिन्न लगने लगा बल्कि, ऐसा कहा जाना चाहिये कि यही युद्ध वस्तुत पहला ससारव्यापी युद्ध था जो प्रारभ तो हुआ था एशियाई और यूरोपीय देशो मे आपसी गृह युद्ध के रूप मे पर तेजी से इसका फैलाव बढता गया। इस युद्ध की दो विशेषताए दृष्टव्य हैं। प्रथम यह कि यूरोप और एशिया मे टकरा रही विरोधी ताकतें आपस मे एक दूसरे से सहयोग कर अपनी लडाई के दायरे मे पूरी दुनिया को ला रही थी। ब्रिटेन व अमेरिका यूरोप मे जर्मनी और इटली से, इसी तरह एशिया मे जापान से भिड रहे थे, ऐसी कुछ स्थिति सोवियत सघ की भी थी। उसमे एक फर्क यह था कि जापान के साथ उसकी अनाक्रमण सधि महा-युद्ध के अन्तिम चरण तक बरकरार रही जिससे उसे यूरोपीय मोर्चे मे ही लडना पडा। दूसरी ओर जापान, जर्मनी तथा इटली ने यूरोप और एशिया-अफ्रीका मे ब्रिटेन, फ्रास तथा अमेरिका को चुनौती दी। इस दृष्टि से जापान को भी सोवियत

मोर्चे का सामना युद्ध के अन्तिम चरण मे कुछ पूव तक नही करना पडा। जमनी और इटली को भी भिन्न राष्ट्रीय शक्ति का सामना यूरोप व अफ्रीका के रणस्थल पर ही करना पडा। दूसरी बडी बात यह थी कि महायुद्ध म जूझ रही व महा शक्तिया अपनी अपनी लडाइया दुनिया के नक्शे को अपने सामने रखकर लड रही थी। अग्रेजो फ्रासिसियो और उनके मित्र अमेरिकियो को जबकि अपने अपने साम्राज्य और अधिकार क्षेत्रो को बचाने की फिक्र पड रही थी, तब लडाई मे जूझ रही इन ताकतो को, जो धुरी राष्ट्रो के नाम से एकजुट हो रही थी, दुनिया का साम्राज्यवादी नक्शा अपने पक्ष मे बदलने का दृढ संकल्प युद्धोन्मुख बनाए हुए था। इन धुरी राष्ट्रो मे कम से कम जमनी के नात्सी नेता तो अपने इस सकल्प को बारम्बार दुहरा रहे थे कि पूरी दुनिया को जीतना है और उस अपने अनुकूल बनाना है और इस प्रकार इतिहास में जो अब तक "असभव बना हुआ था, उसे सभव बनाने मे जमन नात्सी अपना पूरा दम खम लगा रह थे।" इस दृष्टि से भी, इरादे या मन्सूबे के हिसाब से भी, यह युद्ध एक विश्व युद्ध का रूप ले रहा था। *पहले महायुद्ध मे किसी शक्ति ने अपने सकल्पो की ऐसी घोषणा न की थी, न उनकी रणनीति का यह लक्ष्य था।*

युद्धरत शक्तिया के इरादे और मसूबो में इस प्रकार गुणात्मक परिवतन के होते हुए भी यह महायुद्ध गत महायुद्ध का क्रमिक विकास ही था। यह महायुद्ध अनिवायत और अभिन्न रूप से प्रथम महायुद्ध से जुडा हुआ था। बहुत सारी व्यवस्थाएँ, प्रबन्ध, निणय और सधिया जो बनी या बिगडी थी वे सब जैस जीवत होकर मचलती हुई पुन अपने अन्तिम समाधान के लिए रगमच पर आ गई थी इससे ऐसा लग रहा था कि जो गत हो चुका मान लिया गया था वह एसा हुआ नही जो अतीत बन गया था वही जैसे वतमान बनकर लगभग ज्यो का त्यो, दिखता हुआ, पुन इतिहास के मच पर आ गया हो।

तीन नई बातें, तीन नये विकास

पर प्रथम महायुद्ध के बाद जिस प्रकार दुनिया भर मे घटनाचक्र घूम रहा था उसको परखते हुए कहना ठीक न होगा कि इतिहास केवल अपने को दुहरा रहा था अर्थात जो कुछ हो रहा था, वह लगभग ऐसा ही था जैसा पहले हुआ था। वस्तुत नई ऐतिहासिक शक्तिया ने जन्म ले लिया था और नये विकास नई रुझान नई बातें तेजी स इतिहास के रगमच को घेर रही थी। ऐसी तीन नई बातें हमारा ध्यान खीचती हैं जो एक दूसरे स जुडी हुई हैं। उनमे पहली बात पुराने साम्राज्यो के बारे मे थी।

(1) साम्राज्यवाद के दुर्ग टूटने बिखरने लगे सक्रान्ति का भीषण दौर

प्रथम महायुद्ध मे जो शक्तिया आपस मे टकराई थी उनमे मित्र राष्ट्र के नाम से जाने वाले देश विजयी हुए, जमनी और उसके साथी आस्ट्रिया हगरी, तुर्की आदि पराजित हुए। रूस की जारशाही हारते हारते खुद मिट गई और एक नई व्यवस्था ने उसका स्थान ले लिया। पर महायुद्ध खतम होने के बाद विजयी और पराजित दोनो ही तरह की ताकतें फिर से अपनी घरेलू सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को पुरान ढर्रे पर न ला सकी। जिस पूजीवादी व्यवस्था के अ तगत ये दोनो तरह की शक्तिया युद्धपूव सज धज कर रणस्थल पर आई थी वह पूजीवादी व्यवस्था टूटने बिखरने लगी, जो हारे थे उनके लिए पुराने आधार पर सभालना तो मुश्किल बन ही रहा था, जो जीते थे अग्रेज फ्रासिसी आदि, वे भी पुरानी व्यवस्था पर पैबन्द लगाते लगाते हाफ रहे थे। महायुद्ध ने दुनिया भर मे फली पूजीवादी व्यवस्था के अगले विकास के लिए ऐस अतर्विरोध खडे कर दिय थे जिन्होने जो उसके विकास का माग अवरुद्ध कर रहे थे। एक तो पूरा का पूरा जारशाही वाला रूसी साम्राज्य इस व्यवस्था से बाहर निकल चुका था। दूसरा जमनी बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हो चुका था और उसकी नोच खसोट जारी थी। हम अन्यत्र* भी पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट कर चुके है कि दुनिया भर मे फली पूजीवादी व्यवस्था मे प्रथम महायुद्ध के पूव जमनी औद्योगिक उत्पादन मे किस प्रकार ब्रिटेन और फ्रास से बाजी मारकर अमेरिका के बाद दूसरा बडा उत्पादक देश बन चुका था। अपने लिए साम्राज्यी व्यवस्था कर पाने के अभियान मे महायुद्ध मे फसकर वह अपनी इस उपलब्धि को खो बैठा और टूटकर उत्पादन के निम्न धरातल पर जा गिरा। यही हालत जमनी के अन्य युद्धकालीन मित्रो की हुई। हारे हुए उभर ही नही पा रहे थे, पर जीते हुए भी अपना पुराना ढर्रा नही लौटा पा रहे थ। ब्रिटेन, फ्रास और इनके साथी देश पूजीवादी व्यवस्था को बचाये रखकर भी उसके अ तगत युद्धपूव के उत्पादन के कीर्तिमान को पुन अर्जित नही कर पा रहे थे और न सामाजिक तौर पर युद्धपूव की स्थिति लौटा पा रहे थे। जमनी से भारी क्षतिपूर्ति व अन्य नोच खसोट व लूट के बावजूद युद्ध की समाप्ति के बाद दस वष भी चैन से गुजारे नही जा सके थे कि सन 1929 की महामदी की लपेट म रहा सहा भी गवा बठे। प्रथम महायुद्ध और उसके बाद पैदा हुई असतुलन और अव्यवस्था ने महामदी के रूप मे पूजीवादी व्यवस्था के कमजोर हुए स्तभो को बुरी तरह झकझोर दिया और उसकी प्रगति तो रुक ही गई उल्टा उत्पादन का पुराना कीर्तिमान छू पाना ही उसके लिए दुष्कर काय हो गया। यूरोप तो युद्ध की चोट से टूटा हुआ था, पर अमेरिका युद्ध के अन्तिम चरण म शामिल होकर युद्ध स आहत नही हुआ था। पर यूरोप की टूट फूट के दौरान

पूजीवादी व्यवस्था के दायरे मे जब महामदी के रूप मे अमेरिका की उत्पादन व्यवस्था को चोट पहुची तब पूजीवाद के इस सुदढ विघ्नरहित दुग मे भी दरारें पडने लगी। अमेरिका के मदी ने उसकी उत्पादन व्यवस्था को नीचे खीचना शुरू कर दिया। एक के बाद दूसरे सकट मे ग्रस्त हो रही पूजीवादी व्यवस्था का हाल द्वितीय महायुद्ध के छिडने के पूव तक यह रहा कि प्रथम महायुद्ध और महामदी के सकट को दूर नहीं किया जा सकता। अगर हम सन 1929 को आधारवष मानकर सोवियत सघ को छोडकर अयत्र ससार व्यापी पूजीवादी औद्योगिक उत्पादन का स्वरूप देखें तो यह कुछ इस प्रकार बनता है।

खानें और उद्योगो मे
(1929-100)

वष	दुनिया का उत्पादन (सोवियत सघ को छोडकर)
1934	77 7
1935	86
1936	96 4
1937	10 37
1938	93

इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूजीवादी दुनिया प्रथम महायुद्ध और महामदी की घातक चोटो से उभर नहीं पा रही थी। उसका उत्पादन थोडा बहुत ठीक हुआ तो वह भी सन् 1937 मे जब हिटलर ने सत्ता सभालते ही 'युद्धोन्मुखी अर्थ-व्यवस्था" की स्थापना कर सर्वाधिकारवादी राज्य सत्ता की स्थापना कर दी थी और उसकी चुनौतियो का सामना करने के लिए पश्चिम के साम्राज्यवादी नेतृत्व ने भी उत्पादन के सकट से उभरने की ठानी।

युद्ध के विजेता ब्रिटेन और फ्रांस इस गहराते हुए सकट का बोझ अपने उपनिवेशो पर थोपने लगे और सन् 1935 तक ब्रिटेन ने उत्पादन का सन् 1929 का स्तर प्राप्त कर लिया और आगे निकलने लगा यथा सन् 1937 मे 20 प्रतिशत और सन् 1938 मे 15 % अधिक उत्पादन का स्तर प्राप्त कर लिया पर फ्रांस को ऐसी सफलता नही मिली। सन् 1933 मे उसका उत्पादन स्तर सन् 1929 के मुकाबले गिरता रहा था। और सन् 1938 मे यह 23 9 प्रतिशत नीचे था। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रथम महायुद्ध से पूर्व की आर्थिक और सामाजिक स्थिति की प्रखर पुनरावृत्ति फिर कभी लौटकर नही आई। प्रथम महायुद्ध और तदुपरान्त महामदी की मार ने ब्रिटेन फ्रांस और पश्चिम के अन्य देशो के सार्वजनिक

जीवन मे जो उथल पुथल मचा दी—बेरोजगारो की बढती कनार, मूल्य वद्धि, सामाजिक तनाव व असुन्तलन, और ऐसे ही अनेक अन्तर विरोधो की शृखला ने राजनीतिक व्यवस्था को जकड लिया। इसका अलग अलग देशा म अलग अलग प्रभाव पडा पर सभी जगह एक बात सामान्य तौर पर घटित हुई और वह यह थी कि राज्य सत्ता के द्वारा जन जीवन के सभी क्षेत्रो म प्रभावी हस्तक्षेप की प्रवत्ति मे अपूव बढाव। यह सभी जगह देखने को मिला, चाह ब्रिटेन हो, फ्रास हो या अमेरिका या जमनी व इटली।

इसका सवत्र एक सा प्रभाव यह हुआ कि उदारवादी नरमदली पूजीवादी रुझान का लोप हो गया, ब्रिटेन मे अनुदार दल पनपा यहा लेबर दल सगठित होता गया पर लिबरल दिवगत हो गए, फ्रास मे अनुदार व प्रतिक्रियावादी तत्वो की साख घटी और वामपथी लोकप्रिय होते गए यद्यपि वे समय का लाभ उठाकर एक-जुट नही हो सके और यही जमनी म भी हुआ जहा समाजवादी व साम्यवादी दलो की आपसी लडाई और फूट का हिटलर के नात्सी दस्तो ने लाभ उठाया और सर्वाधिकारवादी सत्ता जमन पर थाप दी जो इटली के फासिस्टो की तरह सवग्रासी सत्ता थी।

पूजीवादी व्यवस्था के अन्तगत ढूढे गए "जमन समाधान की अपनी विशेषताएँ दष्टव्य रही। पहले मजदूरो के सगठनो तथा राजनीतिक दला को नेस्तनाबूत किया गया, फिर उदार पूजीवादी दलाकी शामत आई और उन्ह भी मिटाया गया पर पूजीवाद को नही। पूजीवाद के विकास के चारा ओर नात्सी लक्ष्मण रेखा खीच दी गई और एक युद्धोन्मुखी अथव्यवस्था तथा आतकवादी और विस्तारवादी आक्रामक परराष्ट्र नीति से उसका गठबन्धन कर दिया गया। इस कायवाही ने तात्कालिक पूजीवादी व्यवस्था के बढते हुए सकट का—बढती बेरोजगारी और उभरती सामाजिक अराजकता को राज्य सत्ता की छत्रछाया म एक सगठित अराजकता के सहारे रोक दिया गया पर जिस नात्सी चीते पर जमन सत्ताधारी सवार हो गए थे और अपने साथ जमन पूजीपतिया को भी बैठा लिया था, उसके बाद उनके लिए लूटमार, आतक, युद्ध के अलावा दूसरा रास्ता और क्या अपनाया जाता। युद्धोन्मुखी अथव्यवस्था न सैनिक तानाशाही को हथियारो की कमी नही रहने दी, उधर नात्सी पागल नेता के विश्व विजय की सनक को चरिताथ करने के अभियान मे सैनिक तानाशाही ने अपनी ओर से कसर नही छोडी जिसका परिणाम हुआ एक और घनघोर महायुद्ध। पर युद्ध पूव इस युद्धोन्मुखी अथव्यवस्था ने पूजीवादी व्यवस्था के दायरे मे रहकर एक अभिनव प्रयोग तब किया जबकि नात्सी राज्य को सीधे-सीधे पूजीवादी व्यवस्था के दायरे म अन्दर रहकर पूरा का पूरा विदेशी व्यापार सीधे-सीधे सभाल लिया, उससे सबधित उद्योगो को नियत्रण में ले लिया और पूजी नियोजन की दिशा म होगी, इसका नियमन भी अपने हाथो ले

लिया।[3] इसे व्यवस्थित और प्रभावशाली ढग से चलाने के लिए राज्य ने मजदूरी और कीमतें दोनो पर अपनी जकड मजबूत की।[4]

यह इस अर्थ मे तो नई बात नही थी कि पहले कभी इस ढग का कुछ हुआ नही था। प्रथम महायुद्ध के दौरान पूजीवादी व्यवस्था ने एक बड़े पैमाने पर राज्य निर्देशित योजना और सयोजित अर्थव्यवस्था का जायजा लिया था पर नई बात इस बार यह थी कि सर्वाधिकारी राज्य की जकड शातिकाल मे ही शुरू हो गई थी और यह जकड उस ढग के राज्य के हाथो मे रही थी जिसने लोकतांत्रिक व्यवस्था का गला घोट डाला था। मजदूर सगठनो और उनके दलों को विनष्ट कर उन्होंने उनका वर्ग नेतृत्व तो खतम कर दिया पर युद्धोन्मुखी अर्थव्यवस्था के सहारे बेरोजगारी मेट कर उनके असतोष के ज्वालामुखी को ठडा कर दिया। पर यह तो हुआ कि सर्वाधिकारी और शीघ्र ही उत्पादन का स्तर 1929 से आगे निकल गया पर बहुत सा था। मजदूर कभी भी दिल से इसके साथ नही रहे जो इस बात से स्पष्ट था कि नाजी व्यवस्था के चरमराते ही वे फिर अपने पुराने झडो के नीचे दौडकर आने लगे।

युद्धोन्मुख अर्थव्यवस्था की प्रगति ज्यो ज्यो हुई, जर्मन सैनिक तानाशाही आतक और आक्रमण की नीति अपना कर हस्तक्षेप की कार्यवाही मे जुट गई। मित्र राष्ट्र चाहते तो शुरू शुरू मे नात्सी जर्मनी का बढना और जमना रोक सकते थे, पर वे हिटलर को फुसलाने व बहलाने की नीति अपनाने लग गए।

ताकि उसका सैनिक अभियान पूर्वाभिमुख अर्थात सोवियत सघ की ओर से हो जिस प्रकार साम्यवादी और समाजवादी दलो का उसने कठोर दमन किया था उसस उन्हे भरोसा जम रहा था कि हिटलरी शक्ति भस्मासुरी शक्ति नही बनेगी। यह साम्यवादी व समाजवादी विचार और व्यवहार को रोक रखने वाली कम से कम चीन की दीवार तो बनेगी ही।

पर नात्सी सफलता ने इर्द गिर्द लोकतत्र विरोधी और सर्वाधिकार वादी ताकतो को नात्सी झडे के नीचे एकजुट करना शुरू कर दिया। हिटलर ने पहले आस्ट्रिया फिर चकास्लोवाकिया और बाद मे पोलेण्ड को आत्मसात किया तब जाकर पश्चिमी राष्ट्रों की कुभकर्णी निद्रा टूटी।

जर्मनी के प्रति किए गए अपमानजनक व्यवहार का बदला लेने का ही सकल्प लेकर जारी हो, ऐसा नात्सी शक्ति का स्वभाव नही था। वह तो जर्मन शक्ति को, नात्सी शक्ति का एक विश्व साम्राज्य का केन्द्र बनाने के लिए उत्सुक हो रही थी। उसके सपने दुनिया को जीत लेने के थे और इसी दृष्टि से वह यूरोप मे इटली और पूर्व म जापान से हाथ मिलाकर एक विश्व-व्यापी अभियान चलाने की अभियोजना बना कर चल रही थी।

जापानी गठजोड

जापान की सैनिक तानाशाही ने तो नात्सी दल के सत्ता मे आने के बहुत पहले म ही साम्राज्यवादी विस्तार के लिए सैनिक कायवाही छेड रखी थी। जमनी मे तो पहले युद्धोमुखी अथव्यवस्था जमाई गई फिर लडाई छेडी गई पर जापान मे युद्धोमुखी अथव्यस्था के निर्माण और सैनिक अभियान के बीच का अ तराल बहुत छोटा था। सन् 1931 मे मचूरिया पर आक्रमण करके सैनिक अभियान को छेडा गया और महासमर के शुरू होने तक जापान इस प्रकार की आक्रामक कायवाहियो मे निर तर जुडा ही रहा। जापान ने मचूरिया पर कब्जा कर यहा उद्योग ध धे जमाकर, इसे अपने युद्धोमुखी अथव्यवस्था की कुडली मे फसा लिया जिसने सैनिक तानाशाही जापान की उत्पादन व्यवस्था की क्षमता को बढा दिया जो कुछ मायने मे नात्सी जमनी से भी आगे बढ गई। सन् 1929 के वष को आधार मानकर चलें तो जापान का औद्योगिक उत्पादन इस प्रकार बढता ही चला जा रहा था।

इस प्रकार युद्ध के समार व्यापी स्वरूप ग्रहण करने के पूव हम पाते हैं कि नात्सी जमनी फासी इटली, सैनिक तानाशाही जापान ये सभी धुरी शक्तिया अपने अधीन अथव्यवस्था को युद्धो मुखी बनाकर उत्पादन की शक्तियो को काफी आगे बढा ले आये थे। यद्यपि यह तथ्य भी स्मरणीय है कि युद्धोमुखी होने के नाते उत्पादन का वही क्षेत्र तेजी से और प्रभावशाली ढग से विकसित किया गया था, जिसकी युद्ध की आवश्यकताओ स घना और निकट का सम्ब ध था। इस प्रकार के विकास मे युद्ध के बीजो का तेजी से पनपना स्वाभाविक था। युद्धोमुखी अथव्यवस्था युद्ध ही छिडवा सकती थी और वही इन धुरी शक्तियो ने किया।

अमेरिकी अथव्यवस्था का सामर्थ्य

जहा यूरोप के मित्र राष्ट्र सन् 1929 कि महामदी की मार से घायल अथव्यवस्था को पुन ठीक से खडा करने म कठिनाई महसूस कर रहे थे वहा धीमे धीमे ही के अपने उपनिवेशो पर भारी बोझ फेंकते हुए पर खुद भी बेरोजगारी तनाव व उत्पादन की आशिक क्षमता का ही उपयोग कर, हाफते हाफते धीमे धीमे युद्धोमुखी नात्सी फासी व जापानी सैनिक तानाशाही की चुनौती का सामना करने के लिए आगे आए। पश्चिमी यूरोप के मित्र देश जब लडाई मे कूदे, तब उनकी उत्पादन क्षमता नात्सी व फासी शक्तियो की तुलना मे कम ही थी। वस्तुत जमन तेज आक्रमण का फ्रास थोडी देर भी सामना नहीं कर पाया उधर पूव मे पोलेण्ड तक का प्रदेश जमन बूटो के नीचे रौंद दिया गया। पश्चिमी म अकेले अग्रेज बचे और पूव में सोवियत सघ अन्यथा सारे पश्चिमी यूरोप मे नात्सी फासी

एठबधन के आगे घुटने टेक लिए। अग्रेज बहादुरी दिखा रहे थे पर अकेला चना क्या भाड तोडता। अगर एक ओर अमेरिका और दूसरी ओर सोवियत सघ लडाई मे न ले आए गए होते (जो मित्र राष्ट्रो की एकता और अपूव क्षमता और शौय के दृढ स्तम बनें) तो युद्ध का रग ही कुछ और होता।

अमेरिकी मित्रता वरदान बन गई

अमेरिका प्रथम महायुद्ध के अतिम चरण मे मित्र राष्ट्रो के पक्ष मे भाग लेकर महायुद्ध मे भाग्य का निपटारा भी मित्र राष्ट्रो के ही पक्ष मे कर दिया था पर युद्ध के बाद शान्ति सधियो सम्पन्न कराने के बाद और राष्ट्र सघ की स्थापना के बाद वे खुद उन प्रबधो से दूर हटकर अपनी खिचडी पकाने लगें। वह तब भी सम्पन्न एव क्षमतावान देश बन गया था। प्रथम महायुद्ध मे अमेरिका यूरोपीय देशो की तरह युद्ध का अखाडा नही बना था। उसकी उत्पादन व्यवस्था दिन दूनी बढती गई। हम इस ग्रथ के पहले खण्ड[5] मे बता चुके हैं कि किस प्रकार प्रथम महायुद्ध के पूव अमेरिका औद्योगिक उत्पादन मे विश्व का सबसे बडा देश बन गया जिसके बाद जर्मनी का ही नम्बर आता था पर जहा युद्ध ने जमनी की कमर तोड दी, अमेरिका आगे बढता ही गया और अगले दस वष मे अर्थात् महामदी के पूव उसका औद्योगिक उत्पादन सन् 1919 की तुलना मे दुगना हो गया। महामदी ने इस उत्पादन स्तर को एक दम आधा कर दिया। यह महामदी का सक्ट ऐसे देश में कहर ढा रहा था। जहा न तो पश्चिम मे यूरोप के देशो की तरह कोई जबर-दस्त समाजवादी या काय प्रभावशाली मजदूर आन्दोलन था और न राज्य की केन्द्रीय सत्ता यूरोप के समान विकसित थी। वस्तुत यूरोप म सभी देशो के पास अच्छी-खासी सेनायें थी, और अनिवाय सैन्य सेवा की परम्परा थी जो केन्द्रीय राज्य सत्ता की सुदृढता की अनिवाय शत थी। पर अमेरिका मे यूरोप की तुलना मे यह सब बहुत नगण्य था। इसलिए जबकि महामदी का सामना करने के लिए यूरोपीय देशो के पास सुदृढ केन्द्र वाली राज्य सत्ता थी, अमेरिका की राज्य सत्ता के पास इतने तीखे व तेज तरार दात नाखून भी न थे। अमेरिका म औद्योगिक क्षेत्र ही अपितु अविभाज्य अग बनकर था, जिसकी उत्पादन क्षमता इतनी विक-सित हो चुकी थी कि न केवल अपने लिए पर्याप्त मात्रा मे खाद्य वस्तुए पैदा की जाती थी बल्कि, अतिरिक्त उत्पादन होता था जिसका बाहर निर्यात होता था।

ऐसी सुदढ और अनोखी ढग की पूजीवादी व्यवस्था पर महामदी ने जो चोट की, वह महायुद्ध से अधिक घातक सिद्ध हुई। इसे सभालने मे अमेरिका को समय लगा। राज्य के नेतत्व मे 'नए प्रबध (न्यू डील) ने एक नए युग का ही शुभारभ किया जिसके अन्तगत पहली बार अमेरिका मे राज्य सत्ता के सुदृढ आधार तैयार किए गए और राज्य सत्ता के द्वारा आर्थिक एव सामाजिक जीवन

के नियमन के लिए राज्य के हस्तक्षेप का सिलसिला शुरू हुआ जिसने केन्द्रीय शासन की क्षमता को बढाने का नया दौर ही शुरू कर दिया। पर इस नये प्रबध के अतगत न तो नात्सी जमनी की तरह किसी सुनियोजित अथव्यवस्था को उभारने की चेष्टा हुई और न ही शान्तिकरण के लिए आवश्यक व उसके अनुरूप अर्थव्यवस्था ढालने का प्रयत्न हुआ। जब महामदी शुरू हुई तब तक अमेरिका मे सैनिक व्यय अमेरिका की समूची राष्ट्रीय आय का केवल एक प्रतिशत भाग मात्र था। इसके बाद भी इसमे कोई खास बढोत्तरी नही हुई—सन 1933-38 मे भी इस मद मे खच नगण्य ही रहा और न यहा जमनी की तरह विदेशी व्यापार के राजकीय नियत्रण मे लाने की कोशिश हुई।

अमेरिका से वस्तुओ का निर्यात तुलना-औद्योगिक उत्पादन

(1903-1925 औसत 100) सालाना औसत	कुल मात्रा	वष	जमनी 1929	अमेरिका 1935-1939 औसत 100
1926 30	122	1929	100	110
1931-35	76	1934	79 8	75
1936	82	1935	94	87
1937	105	1936	106 3	103
1938	103	1937	117 2	113
1939	110	1938	126 2	89

इस प्रकार देखे तो हम पाते हैं कि हिटलरी जमनी की तुलना म अमेरिका अपने सन 1929 के स्तर को प्राप्त करने और उससे आगे निकलने मे सफल नही हो रहा था।

औद्योगिक उत्पादन जो सन् 1928 के बाद आधा हो गया था वह केवल 1937 मे आगे बढा लेकिन 1938 मे फिर नीचे गिर गया। महामदी से उत्पन्न सकट का सामना करने के लिए घरेलू अथव्यवस्था मे जबरदस्त उलट फेर किए गए ताकि, अधिकाश कामगारो की क्रय शक्ति बढे, बेरोजगारी कम हो, कृषि क्षेत्र की कीमतें बनी रहे कृषि उत्पादन पर नियत्रण रहे और उन्हे मुआयजा मिलता रहे। सावजनिक ऋण मे वद्धि होने दी गई है। इसके साथ ही साथ जहा पर एक ओर राज्य की भूमिका मे और बढोत्तरी हुई, राष्ट्रपति रूजवेल्ट के प्रोत्साहन से ट्रेड यूनियनो की स्थिति व प्रभाव मे वद्धि हुई और पश्चिम यूरोप के पैमाने पर इसके प्रभाव का विस्तार होने लगा और दूसरी सामाजिक कल्याण की नीति का

अधिकाधिक क्रिया-वयन होने लगा। इतना होते हुए भी 1933-1938 के बीच बेरोजगारी कुल श्रम शक्ति का औसतन 19 प्रतिशत बनी रही।

पर इस सारे झझट ने बडे बडे उद्योगो के मालिको को नही हुआ वे महामदी के सकट का मजे मे झेल सकें—केवल उनके बीच के छूट मय्ये उड गये। जब युद्ध छिड गया, तब रूजवेल्ट को इन पर लगे (न्यास विरोधी अभिनियम) थोडे वहुत प्रतिबध भी हटाने पडे, तभी युद्ध सामग्री के उत्पादन मे पूरा सहयोग मिलना सभव हुआ।

कुल मिलाकर इन सारे प्रबधो के बावजूद अमेरिका की उत्पादन क्षमता का भरपूर उपयोग नही किया जा सका और बेरोजगारी 19 20 प्रतिशत बनी रही। फिर भी अमेरिका दुनिया का तब भी अन्यो से अधिक धनाढय देश था जिसका जीवन स्तर सबमे ऊचा था और जहा किसी समाजवादी ढग का एक विकसित आदोलन का अभाव ही रहा पर इसमे राज्य के द्वारा जन जीवन मे विशेषत आर्थिक क्षेत्र के नियमन के लिए रास्ता जरूर बना दिया जिसकी कोई परम्परा इसके पूर्व न थी।

पर जब एक बार यूराप म युद्ध छिड गया उसके बाद तेजी से अमरिका मे भी उत्पादन के स्तर म सुधार होता गया और शस्त्रास्त्रा के तथा युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री के उत्पादन मे तेजी से वद्धि होने लगी और कुछ ही समय मे युद्ध सामग्री के उत्पादन वाला क्षत्र खूब फल फूल गया पर अन्य वस्तुओ के उत्पादन के क्षेत्र मे सामाना तर विकास बना ही रहा। पर्ल हाबर पर जापानी हमले के बाद तो अमेरिका का महा दुग मित्र राष्ट्रा के लिए न केवल 'शास्त्रागार बन गया बल्कि, प्राय हर प्रकार की आवश्यक वस्तुओ को प्राप्त करन का बडा उत्पादक क्षेत्र हो गया। अमरिका स मिलकर ब्रिटेन, व सोवियत सघ की सम्मिलित शक्ति और उत्पादन क्षमता धुरी राष्ट्रो की सम्मिलित सैनिक, औद्योगिक व तक्नीकी शक्ति से आगे निकल गई। पर मित्र राष्ट्रो की जीत तब तक सुनिश्चत नही हो पाई जब तक कि मित्र राष्ट्रो ने एकजुट होकर धुरी राष्ट्रो को सामना करने की नही ठान ली।

दूसरा नया विकास साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियो का जबर्दस्त उभार

पहले महायुद्ध व दौरान साम्राज्यवादी सत्ताधारी सभी जगह अपने गुलामो को लेकर इतन चितित न थे कि उन्हें कोई बडी बगावत का डर सताये। छिटपुट विद्रोह की चिगारिया इधर उधर उड रही थी। पर जगल की आग भी बन सकती है एसा कोई डर नही था। गुलाम रगरूटो की मजे म भर्ती हो रही थी, साम्राज्यवादियो को डर था तो यह कि कहीं ये लोग हथियार चलाना सीखने के

बाद लौटकर गडबडी न करें। इसमे इन्हे नीचे ही नीचे ओहदा तक ही बढने दिया गया। न केवल साधारण रगरूट बल्कि जाने माने 'नेतागण' भी साम्राज्यवादी सत्ता से झगडने के मूड मे न थे। 'कैसरेहिन्द' तमगे के विजेता मोहनदास करमचन्द गाधी रगरूटो की भरती के विरोध न कर, मन्द ही कर रहे थे। गरमदली लोकमान्य तिलक तक कुछ शर्तो पर खुले आम अग्रेजो की मदद के लिए तैयार थे।[6] कहने का तात्पय यह था कि जैसे अग्रेजो को हिन्दुस्तान मे तथा साम्राज्य के अन्य भागा मे ऐसी कोई दिक्कत नही होती थी वैसे ही फ्रासिसी जमन, आदि को भी अपने अपने गुलामो की वफादारी का खूब भरोसा था।[7] उपनिवेशो के सुधारवादी और अधिकतर क्रान्तिकारी माने जाने वाले नेतागण भी साम्राजी प्रभुओ का साथ देकर, युद्ध के बाद कुछ सुधार के तौर पर कुछ पा जान की आशा रखते थे।

यह सब युद्ध के बाद एक भ्रम' मात्र सिद्ध हुआ। पहले महायुद्ध से दूसरे महायुद्ध के अतराल म साम्राज्यवाद विरोधी आदालना का ताता लग गया। चारो तरफ एक के बाद दूसरे पराधीन देशो मे विद्रोह की चिगारिया फल गईं और जन आक्रोश आग का गोला बनकर बरसने लगा। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का दावा नल तेजी से एशिया व अफ्रीका के पराधीन देशो मे फैल गया जिसकी आच मे साम्राज्यवादी सत्ताधारी भुलसने लगे।

अमेरिकियो के व्यवहार से क्षुब्ध हाकर नेहरू ने अगस्त सन 1942 मे निम्नाकित उदगार व्यक्त किये—

'उन्हाने (अमेरिकिया) ने अच्छी मोटर कारें बनायी है और बना रहे हैं। अमेरिका ने चीन और भारत के भव्य उपलब्धियो को भुला दिया है ये चीन और भारत है जिन्होने युगा के अनुभव के आधार पर केवल मौलिक उपलब्धिया के आधार के बिना भी अच्छी तरह जीवन जीने की कला सीखी है।

'यदि मैं आदरपूवक अमेरिकिया के महान लोगो का सुझा सकू तो मै कहूगा कि वे भारत, चीन और पूरे एशिया के ही बारे मे गलत ढग स सोचत हैं। आप हिन्दुस्तान को ब्रिटेन के पिछलग्गू की तरह लेत हैं और एशिया को यूरोप व अमेरिका का आश्रित मान बठे हैं —जिसम जातीय वरिष्ठता का भाव रहता है। आप लोगा ने मशीनी युग के अविष्कारा की वजह स अपन आपको हमस अधिक अच्छी हालत म मान लिया है और हमे यह मानत हैं कि हम अधकार ग्रस्त पिछडे हुए लोग हैं लेकिन एशिया क लोग अब इस तरह के वर्ताव को स्वीकार करन नही जा रहे हैं।

(नेहरू न कहा) कि पश्चिम क नता युद्ध को एक बहुत ही सकुचित सैनिक दष्टि स देखत हैं और व यह समझ पान मे विफल रहे हैं कि युद्ध उस महान क्रान्ति का अग्रदूत सिद्ध होगा जा पूरी दुनिया पर छा जायेगी। उन्हाने मानवता के अत स्तल स नि सृत सहज भावा की प्रचड बाढ को अनदखा करना चाहा है।[8]

महान अक्टूबर क्रान्ति की प्रेरणा

प्रथम महायुद्ध अभी समाप्त नही हुआ था कि लेनिन के नेतत्व मे बोल्सेविक दल ने रूस की जारशाही को उखाड फेंका और दुनिया के इतिहास मे पहली समाजवादी व्यवस्था की स्थापना कर मजदूर और किसाना का अभूतपूव राज्य सत्ता स्थापित की। लेनिन और स्टालिन दोनो के हस्ताक्षर से युक्त रूस की जनता के अधिकारो की घोपणा ने रूसी लोगो की समानता और प्रभुसत्ता की घाषणा ने तथा राष्ट्रीय अल्पसख्यको के स्वतन्त्र विकास के अधिकार के उद्घाष ने पूरे पूरब मे, एशिया की सघषरत पराधीन देशो के जन समुदाया के उदास मन मे प्रकाश की एक जबदस्त बाढ सी ला दी। उनकी धमनिया मे बिजली की तेजी स रक्त का सचार हो चला। अगले दशको मे "राष्ट्रो से आत्म निणय के अधिकार' के गौरवशाली सोवियत सिद्धान्त और उतने ही बेदाग व्यवहार ने एशिया की जाग्रति मे महान योगदान किया। जन्मते ही सोवियत सत्ता महान लेनिन के नेतत्व मे भारत, चीन हिन्देशिया, हिन्द चीन की राष्ट्रीय मुक्ति के सघष की एक प्रबल हिमायती और सहारा बन गयी। यह कोई कोरी नारबाजी न थी क्योकि लेनिन की माक्सवादी व्यवस्था का निचोड इसमे था कि **साम्राज्यवाद पूजीवाद की अतिम अवस्था है** जिसमे इन पराधीन दशो के बुर्जुआ राष्ट्रीय आदोलन के विरोध को सगठित करने, उनके हाथो साम्राज्यवादियो को परास्त करने के अभियान म माक्सवादी क्रान्तिकारियो व उनके अग्रिम दस्ते बोल्सविको, को बेहिचक और जोरदार मदद करना उनका फज है। क्रान्तिकारी सोवियत सत्ता की उपस्थिति मात्र ही सभी एशियाई देशो मे राष्ट्रीय मुक्ति आदोलनो की प्रेरणा बनी।[9]

अक्टूबर क्रान्ति की अजस्र प्रेरणा से, एशिया मे जगह जगह साम्यवादी दल सगठित हुए यथा चीन मे भारत म, इन्डोनेशिया मे हिन्द चीन आदि म। जगह जगह राष्ट्रीय आदोलनो से क्रातिकारी सोवियत सत्ता और साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय सगठन से सम्पक सूत्र जुडे और उसने साम्राज्यवादिया की जान के लिए एक नई और बडी आफ्त पदा कर दी।[10] *अक्टूबर क्राति ने साम्राज्य विरोधी सघष को एक सवथा सही और नई दिशा देकर एक सवथा नये सुनहरे युग के बद कपाट खोल दिये। इसके बाद साम्राज्यवादी विरोधी आदोलनो का एक नया* और निसमथक दौर चल पडा।

इन प्रकार इन महायुद्धो के बीच के काल मे चीन मे, भारत म, दक्षिण पूव एशिया मे एशियाई जन समूह अपनी नियति को अपने हाथो मे लेने के लिए उठ खडे हुए। व अब अपने इतिहास के खुद रचयिता बनने का सकल्प धारण करने लगे। साम्राज्यवादी शक्तिया यथा भारत म ब्रिटेन, सुधारा के रास्ते इनकी उग्रता को ठण्डा करने की दुरभि-सधि रचकर, उनम फूट डलवाकर

अहिंसक आंदोलन को भी हिंसा पूर्वक कुचलकर, दिशाहीन बनाने की खूब चेष्टा करती रही। वैसे महामंदी का सकट शुरू हो रहा था पर भारत मंत्री लार्ड बरकेनहेड अपना यह ख्याल लार्ड सभा म प्रकट कर रहे थ।

"इस सभा म ऐसा कौन है जो यह कह सकता है कि वह एक पीढी मे, दो पीढियों मे, सौ वर्षों म भी एसी सम्भावना के बारे म सोच सकता है जब कि भारत के लोग सेना, नौसेना लोक सेवा, पर खुद नियत्रण कर सकेंगे, और एक ऐसा गवनर जनरल ला सकेंगे जो भारत सरकार के प्रति उत्तरदायी हो, न कि इस देश (ब्रिटेन) की किसी सत्ता के प्रति।[11]

साम्राज्यवादी तब भी ऐसा सोच रहे थे (जबकि आदोलन के बाद सन 1935 के सुधारो के अतगत सन् 1937 के प्रातीय चुनावो मे काग्रेस ने ग्यारह मे आठ प्रान्तो मे भारी बहुमत प्राप्त किया था) कि काग्रेस केवल एक 'अल्पमत" का ही प्रतिनिधित्व करती थी जब सन् 1939 मे भारत की ओर स ऐसा फैसला क्या और किस अधिकार से कर लिया और सतोषजनक जवाब के न आने पर तुरन्त काग्रेसी लोकप्रिय मंत्री मण्डलो ने इस्तीफा दे दिया और काग्रेस असहयोग के रास्ते पर चलने लगी वे तब भी ऐसा ही सोचते थे। काग्रेस न फासीवाद व नात्सीवादी सत्ताओ की भर्त्सना की, और नाजी आक्रमण का सामना करने मे ब्रिटेन का पक्ष लेने का भरोसा दिलाया बशर्ते कि भारत एक मित्र की तरह एक समान भागीदार की तरह आमन्त्रित हो, न कि एक उपनिवेश की तरह। सहयोग बराबर वालो के बीच आपसी सहमति स एक ऐसे आदश के लिए होता है जिसके प्रति दोनो ही समर्पण का भाव रखें। लेकिन, काग्रस ने अपनी घोषणा मे स्पष्ट किया कि यदि युद्ध साम्राज्य के विशेषाधिकारो की यथा स्थिति को बचाये रखन के लिए हैं तो भारत का उससे कुछ लेना देना नही। लकिन यदि प्रश्न लोकतत्र का है और एक ऐसी ससार व्यापी व्यवस्था का जो लोकतन्त्र पर आधारित हो, तो भारत की उसमे गहरी दिलचस्पी है।

आजादी का बिगुल बजने लगा। 'कैसरेहिन्द' तमगे वाला महात्मा गाधी अब अग्रेजो के लिए रगरूट भरती करने म मदद करने को तैयार न था। अब तो स्वतत्र भारत के लिए ही रगरूटो की भरती हो सकती थी। कसमकस बढती गई। अमेरिका के राष्ट्रपति ने भी ब्रिटेन पर जोर डाला कि—गुत्थी सुलझे—क्रिप्स साहब आए। बातें हुइ। पर लार्ड बरकेनहेड के सपनो का भारत गायब हो चुका था। काग्रेस ने खुली बगावत छेड दी "अग्रेजो भारत छोडो" आन्दोलन सारे देश मे फैल गया। अहिंसक स्थिति बनी रह गई। तोड फोड भी हुई पर काग्रेसी नेतृत्व ने "भारत छोडो' माग को सशस्त्र सघर्ष का सहारा न देकर जेल यात्रा को हज या बद्रीनाथ केदारनाथ आदि की सी तीर्थ यात्रा बनाकर भविष्य म आजादी 'पुण्य" लाभ करने की व्यवस्था कर ली। पर सभी ऐसे पुण्यलाभ के

को भी तैयार न थे काग्रेसी समाजवादी दल मे लोगो ने कुछ तोड फोड की काय वाही सगठित की। उससे अधिक—कारगार ढग से, और बहुत पहले से सुभाष बोस ने पहले गाधी की नीतियो और कायशैली से असहमत होकर फारवड ब्लॉक बनाकर सघष छेडा और फिर अग्रेजी निगरानी से बच निकल कर देश के बाहर सशस्त्र क्राति की लौ को एक बार पुन सुलगाया और स्वाधीन भारत के होने के पहले ही "भारतीय राष्ट्रीय सेना' गठित कर धुरी शक्तियो से मिल जुलकर, भारत को ब्रितानी साम्राज्य से मुक्त करने की एक असफल पर बडी रोमाचक और स्मरणीय चेष्टा की।

बाहर छिड रहे मित्र राष्ट्रो और धुरी राष्ट्रो के बीच घनघोर महासमर ने भारत के साम्यवादी दल को कुछ और ढग से प्रभावित किया। सोवियत सघ के इस महासमर मे शामिल होने के पूव तक तो सुभाष बोस के फारवड ब्लॉक व साम्यवादी दल, काग्रेसी अहिंसक 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' को उभारने और गर्माने की कोशिश मे निरतर लगे रहे व इस सघष मे जेल जाने मे जुटे। पर सोवियत सघ पर नात्सी जमनी का हमला होते ही साम्यवादी दल अपनी रीति-नीति को लेनिनवादी ढग से व्यवस्थित नही कर पाया। सोवियत सघ के सकट मे भारत की जनता की ओर से यह भी क्या किसी मतलब का साथक योगदान रहा कि साम्राज्य विरोधी आदोलन को धीमा कर दिया जाए या लोक युद्ध' के नारे के नीचे दबा दिया जाये। भारतीय पूजीपतियो की रहनुमा पार्टी तो अपने वग के अनुसार ऐसा मायावी युद्ध लड रही थी कि नात्सी विरोधी अग्रेज के साथ भी थी और आजादी के नाम पर न होने का भी उपक्रम रचती रही थी। काग्रेसी साम्यवादियो से अधिक चालाक निकले। जनता की साम्राज्य विरोधी चेतना को उभारने मे तो आगे-आगे रहे पर जब जबरदस्त विस्फोट होने लगा तो कही भी सशस्त्र सघष को गठित नही किया। शालीनता से अग्रेजो की जेल भर दी और वहा जनता के सघर्षो से दूर होकर युद्ध का मुजरा लेने लगे और युद्ध के उतार चढाव पर अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए अपने अपने जेल मे पाले गए शोक का जायका लेते रहे। जेल मे रहकर कोई उन पर यह इलजाम भला कसे लगा पाता कि वे अग्रेजो के साथ हैं यद्यपि वे युद्ध के कमर तोड बोझ मे दबती कुचलती शोषण के दमघोटू वातावरण मे जीवन मरण सघष मे जूझती, भारतीय जनता के कष्टो को जेल मे रहकर कुल मिलाकर वे मूक दशक मात्र ही साम्राज्य विरोधी प्रतिरोध सगठित करते। वे कान मे तेल डालकर मानो यो सो गये कि महायुद्ध जसे ही निपटेगा, तब आगे देख लेंगे।

इस ऐतिहासिक चातुय ने बाद मे मौका दिया कि जेल से निकलकर वे जेल की सजा भोगे स्वतत्रता के योद्धाओ के अनुरूप दूसरे जेल से बाहर "लोक युद्ध" के मच से *महायुद्ध के भागीदार बने कम्युनिस्टो के देश प्रेम व निष्ठा पर जमकर*

प्रहार करें। जिस एक अप्रतिहत साहस और विशुद्ध साम्राज्य विरोधी व देश भक्त नेतृत्व में हर सूरत मे देश को सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा मुक्त करने का बीडा उठाया, उस सुझाव व उनके साथियो को इस बात के लिए बख्शा नही, कि वे महायुद्ध मे सही पक्ष को चुनने मे गलती कर गए। अग्रेजो के प्रति गहरी साम्राज्यविरोधी घृणा और प्रचण्ड सात्त्विक आक्रोश ने उन्हे कौटिल्य के इस साधारण सूत्र पर चलवा दिया कि शत्रु का शत्रु नैसर्गिक मित्र होता है। सुभाष बोस ने राजनीति विशारद माओ त्से तुग थे और न ही चिह मिह्न, इस कमी ने उनके अभियान को विफल तो कर दिया था किन्तु उन्होने भारत की कोटि कोटि जनता के मन मे अपनी ऐसी अमिट छाप छोडी जो और कोई न छोड पाया। पर इसस उनके नेतत्व मे चलाए गए देशभक्ति पूण सशस्त्र युद्ध का महत्त्व तो कम नही होता। वह भारतीय जनता की सघष गाथा का यह एक छोटा ही सही पर बडा ही प्रखर व शौय पूण जीवत प्रेरणादायी अध्याय था जिसकी गूज महायुद्ध समाप्त होने के वर्षों बाद तक गूजती रही और अनेक अनेक साधारण स्त्री पुरुष यह मानने से अब तक इन्कार करते हैं कि उनके राष्ट्रीय सघष का सवश्रेष्ठ योद्धा इस प्रकार काल-कलवित हो गया। अमर राष्ट्रीय चेतना व अजेय जन शक्ति के सबसे जीवन्त प्रतीक बन गए उसी तरह जैसे चीन के माओत्से तुग बने और हिन्द चीन म हो चिहमिह्न जिन्होने राष्ट्रीय मुक्ति के साम्राज्य विरोधी सघष को समाजवादी आदोलन से अटूट रिश्तो मे जोडकर सामाजिक, क्रान्ति की गहराई दे दी। वह भारतीय साम्यवादी नेतत्व की समझ बूझ के बलबूते की बात नही रही। सोवियत क्राति की रक्षा पक्ति इससे मजबूत न हुई वह हुई चीन व हिन्द चीन तथा ऐसी अन्य साम्यवादी दलो के आदोलन से जिन्होने राष्ट्रीय मुक्ति की धारा को जनवादी समाजवादी क्राति के धारा से पूरी तरह मिला जुला दिया।

सोवियत क्राति का अप्रतिम युग प्रवर्तक महासमर

तीसरी और बहुत मूल्यवान बात जो दो महायुद्धो के बीच का एक अत्यत महत्त्वपूण विकास माना जाना चाहिये वह था नात्सी फासी शक्तियो के विरुद्ध एक महान व अतुलनीय सघष की सोवियत गाथा। सोवियत सघ रूसी जारशाही का कोई नया सस्करण मात्र न था। एक महान युग प्रवतक क्राति का शुभारभ अग्रिम दस्ते की विजय यात्रा का श्रीगणेश था। वह रूसी साम्राज्य मे बसने वाली सघष-शील जनता का केवल ऊपरी कायाकपल ही न था बल्कि, जनजीवन मे एक आमूल चूल रूपान्तरण की अविरल प्रक्रिया का समारभ था। लेनिन व उनके उत्तराधिकारियो के नेतृत्व में यह सोवियत सत्ता तेजी से पहले तो समाजवादी राज्य की राजनीतिक नीव मजबूत करती गई। फिर औद्योगीकरण व आधुनिरीकरण की प्रक्रिया को समुचित सामाजिक क्राति के सदम में ठीक-ठाक स्थित कर नव निर्माण

का कार्य शुरू किया गया जिसके फलस्वरूप कुछ ही समय म उत्पादन का स्तर तेजी से बढने लगा जो निम्नाकित आकडा स पता चलेगा। शुरू स ही सोवियत शक्ति के सस्थापका का यह सकल्प रहा कि व सोवियत सघ को मिली औद्योगिक एव तकनीकी पिछडेपन की विरासत पर उत्पादन व्यवस्था की नीव डालेंगे जिस पर तेजी स एक समृद्धिशाली, एव महान् औद्योगिक राज्य की रचना हो सके और जो आधुनिकतम तकनीक एव विज्ञान की उपलब्धियो का अधिकारी बन सके। केवल उद्योग व तकनीक ही नही, सोवियत सत्ताधारी सोवियत कृषि का भी पूरी तरह पुनगठन करने पर जुट गए। उत्पादन के सभी साधनों को समूचे समाज की मिल्कियत बनाकर, उन्होने उत्पादन के सबधो को सवथा नये, एव क्रांतिकारी साचे म ढाल दिया और एक योजनाबद्ध विकास क पथ पर ला खडा किया जिसका फल एक दशक म ही देखन लायक हो गया।

उद्योगो के प्रमुख क्षेत्रो मे सोवियत उत्पादन

	1913	1929	1939
इस्पात (लाख टन मे)	42	49	69
रोल्ड इस्पात	35	39	51
कोयला	291	401	763
तेल	92	138	225
लोहा	12	80	144
रेल इजिन	418	602	941
सामान लादने के ट्रक	14 8	15 9	182
मोटर कार	—	1 4	49 7
बिजली	19	62	164
पिग लोह	42	40	71
ताबा	—	35 5	44 5
अल्मूनियम	—	—	7
सीमेण्ट	15	22	27
सूती वस्त्र (लाख मीटर)	22270	30680	24220
ऊनी वस्त्र	950	1006	861
जूते (लाख जोडी)	—	488	803
कच्ची शक्कर (हजार टन)	1290	1283	995
धातु और इजीनियरी उद्योग (रूबल के हिसाब)	1466	3054	10822

दष्टव्य है कि जिन दिनो महामदी की चपेट मे सारे पूजीवादी देशो मे उत्पादन तेजी स घटा, सोवियत सघ म उत्पादन घटा नही, बढता ही गया जिसमे पूजीवादी सरकार से अपनी अलग एक आकषक सत्ता की मजबूत नीव डाल पाने म सफलता की घोषणा अपने आप ही हो गई। सोवियत सघ एक ऐप। व वलिश्न न बन गया जहा पूजीवादी व्यवस्था के नियम कानून लागू नही होते थ। शातिकाल मे भारी उत्पादन करना, बेरोजगारी का नामोनिशान मिटा देना तथा इसके साथ साथ अनिवायत शातिपूण सह अस्तित्व की नीति का पालन करते हुए सम्पूण निशस्त्रीकरण की एव पडोसियो के साथ अच्छे पडोसियो के साथ अच्छे पडोसी के सबध बनाने वाली पर राष्ट्रनीति को अभिन्न रूप से जोड देना एक कमाल की बात थी जो सभी को अत्यत आश्चय मे डाल रही थी। कहा अमेरिका को मिलाकर सभी पश्चिमी पूजीवादी देशो का, गिरता उत्पादन व गहराता हुआ आर्थिक सामाजिक एव राजनीतिक सकट और कहा सावियत सघ मे उत्पादन की शक्तिया का निरतर एव तीव्र गति स हो रहा विकास—वह 'भी" अथव्यवस्था को युद्धो मुखी एव पराश्रित बनाये बगैर। इसका नतीजा सामने था कि क्राति के पूव का एक नगण्य औद्योगिक शक्ति के रूप म जाना पहिचाना जारशाही रूस का पूरी तरह कायाकल्प होकर सोवियत शक्ति के रूप म दुनिया का चौथा सबसे बडा उद्योग प्रधान देश बन जाना।

विश्व उत्पादन मे प्रमुख शक्तियो का योगदान

देश	1928
अमेरिका	44 8
जमनी	11 6
ब्रिटेन	9 3
सोवियत सघ	4 7

और महामदी की चोट लगते ही सन 1932 म इन औद्योगिक 'बडा की स्थिति मे निम्नाकित स्तर पर बदलाव आ गया।

देश	1932 के मध्य मे
अमेरिका	34 4
सोवियत सघ	15 1
ब्रिटेन	11 3
जमनी	8 3

इस प्रकार जबकि जारशाही के जमाने मे विश्व औद्योगिक उत्पादन मे रूसी साम्राज्य का योगदान केवल 4 प्रतिशत रहा, सोवियत व्यवस्था के अतगत वह

बढ़कर करीब 12 प्रतिशत हो गया और सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह रहा कि जहां पूंजीवादी व्यवस्था वाली दुनिया दूसरे महासमर के छिड़ने तक मुश्किल से सन 1929 के स्तर को छू पा रही थी, सोवियत अर्थव्यवस्था सन् 1919 के आधार वर्ष से कहीं आगे निकल गई थी।

स्टालिन के नेतृत्व में इस प्रकार सोवियत संघ में न केवल शांति की आर्थिक नींव गहरी की जा रही थी, बल्कि, परराष्ट्र नीति के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व साहस और दूरदर्शिता के साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए समुचित वातावरण निर्मित करने के लिए पहल कदमी की जा रही थी। सोवियत संघ की ओर से पूर्ण निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव रखे गये। पड़ोसियों के साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व, समानता और अहस्तक्षेप की नीति अपनाकर जारशाही साम्राज्यवादी नीति को पूर्णतः तिलांजलि दी गई, पर पश्चिम की साम्राज्यवादी ताकतों ने इस सोवियत संघ की कमजोर स्थिति का प्रमाण माना और पहले बहिष्कार और घेराव, फिर इसे ढीला कर असहयोग और उपेक्षा की नीति अपनाई। यूरोप में नात्सी ताकतों का खतरा बढ़ने पर फिर सोवियत संघ के साथ आंशिक सहयोग की नीति तो अपना ली, पर ब्रिटेन व फ्रांस दोनों में ही सत्ताधारी वर्ग ऐसा व्यवहार करने लगे जिससे नात्सी व फासी शक्तियों को बढ़ावा मिलने लगा और वर्साई की व्यवस्था खंड-खंड होती गई। सोवियत नेतृत्व ने अनेक बार समय रहते नात्सी फासी गठबंधन को निष्प्रभ और निस्तेज करने के लिए संयुक्त मोर्चा बनाने की पेशकश की पर कोई नतीजा नहीं निकला। म्यूनिख के पूर्व और उसके दौरान अपने पूर्व के मित्रों के रक्षार्थ फ्रांस को उचित कार्यवाही करने में पर्याप्त मदद देने का खुला निमंत्रण देने पर भी सोवियत संघ के नेतृत्व ने यह पाया कि ब्रिटेन और फ्रांस नात्सी फासी ताकतों को बांधने में दिलचस्पी लेने के बजाय उन्हें पूर्व की ओर बढ़ने को उकसाने में लगे हुए हैं। सोवियत को ऐसा ही अनुभव म्यूनिख समझौते के बाद हुआ जबकि ब्रितानी सरकार ने सोवियत संघ से बातचीत चलाई भी तो उसे ऊंचे व महत्वपूर्ण मोड़ों पर ले जाने में कोई खास दिलचस्पी नहीं दिखाई। इस बेरुखी ने सोवियत नेताओं को बाध्य सा कर दिया कि वे अपने स्वाभाविक शत्रु नात्सी जर्मनी से अवश्यंभावी दिखने वाली लड़ाई के लिए कमर कसने की कोशिश में जितना भी समय खरीद सकें, खरीद लें। सोवियत जर्मन अनाक्रमण संधि विवश होकर अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए उठाया गया 'समय खरीदने वाला ऐसा ही एक कदम था।" इन अल्प वर्षों में भी सोवियत नेताओं ने अपनी रक्षा शक्ति को सुदृढ़ करने, अपने अर्थतंत्र को और पुष्ट करने तथा उसे एशियाई प्रदेशों में विकसित करने, तथा राजनीतिक व प्रशासनिक तंत्र को क्रांतिकारी रूप से सुसंस्कारित करने में खपा दिया ताकि, आसन्न संकट का अकेले ही डटकर मुकाबला किया जा सके। स्वाभाविक है कि अक्टूबर क्रांति के बाद अपने

अथतत्र को दिन दिन मजबूत करके, उसकी उत्पादन क्षमता को अभूतपूव ढग से उच्च स्तर पर ले जाने के बावजूद बाहर की आक्रामक परिस्थितियो ने सोवियत रचनाकारो को ऐसा मौका नही दिया कि व समाजवादी नीव पर खडी हो रही व्यवस्था के जरिए जनसाधारण के जीवन स्तर को उतनी ही तेजो स ऊचा उठाते चले जाए। सावियत उत्पादन व्यवस्था अधिकाश रक्षा की इस्पाती नीव के निर्माण मे खपने लगा। सोवियत जनता ने अपने पसीने और खून की एक एक बूद से जिस ढग से सोवित समाजवादी व्यवस्था की नीव डाली, तथा निर्माण किया और उसकी रक्षा मे महान उत्सग का ऐतिहासिक दष्टात रखा वह हमारी इस सदी मे "न भूतो, न भविष्यति।"

जब हिटलर ने अतत सोवियत सघ से लोहा लेने की ठानी और आक्रमण कर दिया, तब सोवियत सघ ने लडाई मे अपने आप को अकेला नही पाया। चर्चिल के ब्रिटेन ने बिना मागे और बिना शत सोवियत सघ के प्रति अपना खुला समथन व्यक्त किया। अलग थलग पडा, नात्सी आक्रमण को झेलते हुए ब्रिटेन का, सोवियत सघ को युद्ध मे अपना भागीदार पाकर उत्साह बढा। यह एक अच्छी शुरूआत थी क्योकि ब्रिटेन अमेरिका से कुछ सहायता और समर्थन पा रहा था। ज्यादा समय नही बीता था[1] कि पल हार्बर ने दिसम्बर 7, 1941 के जापानी हमले मे अमेरिका को भी युद्ध मे घसीट लिया और इस प्रकार "मित्र राष्ट्र" के बीच, समान शत्रुओ के विरुद्ध समानधर्मी गठबधन को जन्म मिला जो दूसरे महासागर की "धुरी शक्तिया' के गठबधन का उतना ही जोरदार जवाब बनकर उभरा। यो भी भौतिक धरातल पर मित्र राष्टो का गठबधन धुरी राष्टो की तुलना मे अधिक शक्तिशाली बन गया था क्योकि तीन बडो की युद्धोमुखी अथ व्यवस्था की उत्पादन क्षमता धुरी राष्ट्रो की सम्मिलित क्षमता से बढकर थी, उनके साधन स्रोत हथियारो का उत्पादन और वितरण, सैन्य शक्ति सभी प्रकार की, जल, थल नभ की धुरी राष्ट्रा की तुलना मे, मात्रा के हिसाब से अधिक थी। लडने वाले सैनिक और उनकी सहायता मे जुटे— औद्योगिक तकनीकी कौशल युक्त असैनिक कृषि और व्यापार मे लगे असैनिक अधिक थे। बस लडने का हौसला, मरने मारने के लिए उद्यत सनिक जोश खरोश, एक युद्धानुकूल हवा को भयकर तूफान मे परिणित होने की कसर थी जो धुरी शक्तियो से टकरा टकरा कर खौफनाक बनती गई।

आणविक युद्ध किस लिए लड रहे हैं

मित्र राष्ट्रो मे अग्रेज सवप्रथम, पर अमेरिकी सबसे बाद युद्ध मे शामिल हुए। इन दोनो काल बिन्दुओ के बीच सोवियत सघ को तब विवश होकर युद्ध करना पडा जब हिटलर ने जून 1941 मे उन पर अचानक आक्रमण कर लिया।

इस प्रकार अमेरिका को ब्रिटेन, फ्रास और सोवियत सघ, इन तीनो के मुकाबले अधिक समय और अवसर मिला कि वे युद्ध के लिए तैयार हो सकें। स्मरणीय यह भी है कि ब्रिटेन और फ्रास दोनो ही पोलेण्ड पर जमन हमले के तुरत बाद युद्ध म कूद पडे पर युद्ध के उद्देश्यो की घोषणा उस तरफ से भी थी। इसी को लक्ष्य कर गाधी जी के नेतृत्व मे काग्रेस ने जोरदार माग उठायी थी कि भारत का हार्दिक सहयोग चाहता है तो ब्रिटेन अपने युद्ध क लक्ष्यो को स्पष्टत घोषित करे। आखिर किस लिए लड रहे हैं।

तत्काल, न केवल साम्राज्यवादी ब्रिटेन व फ्रास, बल्कि अमेरिका मे भी युद्ध के लक्ष्यो के बार म कोई निश्चित घोषणा नही की। तब वे इसकी शायद जरूरत ही महसूस नही कर रहे थे। पर यूरोप मे युद्ध छिडने के बाद अमेरिका मे एतद विषयक राष्ट्रीय चर्चा छिटपुट ढग से छिड गई। बहस छिडने क बाद राष्ट्रपति रूजवल्ट ने जनवरी 6 1941 को घोषणा की कि अमरिका धुरी राष्ट्रो के विरोध मे लड रहे उन राष्ट्रो की सहायता दगा जिनका युद्ध लक्ष्य चार स्वतत्रताए स्थापित करना हो अर्थात, भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतत्रता, पूजा उपासना की स्वतत्रता, अभाव से मुक्ति अर्थात युद्ध के लक्ष्यो की घोषणा क नाम पर एक अमूर्त लक्ष्यों की ओर इगित करना मात्र था। पर यो सिलसिले के तौर पर शुरू तो हुआ।

सोवियत सघ की पहल

इस दिशा मे सोवियत सघ ने पहल की और स्पष्ट तौर पर युद्ध के लक्ष्यो की घोषणा की। आक्रमण होने के एक हफ्ते के बाद सोवियत सघ के कम्युनिस्ट दल की केन्द्रीय समिति ने लोगो को आह्वान किया कि वे तन मन धन से शत्रु को नष्ट करने मे जुट जायें।

केन्द्रीय समिति ने जमनो और उनके सहयोगियो के विरुद्ध की फासी विरोधी युद्ध की सज्ञा दी और इसे मुक्ति का समय कहा। इसने यह घोषणा की कि युद्ध सभी यूरोपीय राष्ट्रो के भाग्य का निपटारा करगा और सोवियत की जनता न केवल अपने देश की रक्षा के लिए आगे आये बल्कि, फासीवाद के जुएं स सभी पराधीन राष्ट्रो को मुक्ति दिलाए। केन्द्रीय समिति और सोवियत सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि यूरोप के मुक्त हुए लोगो को बिना किसी बाहरी दबाव के अपने-अपने देशो की सामाजिक एवम् राजनीतिक ढाचे क बार मे खुद निणय करने का अधिकार मिलगा। स्टालिन न इस कायक्रम की मुख्य बातो की घोषणा जुलाई 3, 1941 को अपने रेडियो प्रसारण म की।[13]

सोवियत सघ की इस ऐतिहासिक घोषणा का यूरोप व अमरिका मे जगह जगह स्वागत हुआ। एक आशा की किरण युद्ध के घटाटोप बादलो के बीच म निस

उठी। इस घोषणा का यह असर हुआ कि ब्रिटेन व अमेरिका ने भी अपनी अपनी ओर से युद्ध के लक्ष्यो की घोषणा करने मे तत्परता दिखाई। अगस्त 14 1941 को हस्ताक्षरित अतलातिक घोषणा पत्र इस ओर उठाया गया पहला कदम था।

सदर्भ

1 देखिये लेखक की कृति "अतर्राष्ट्रीय सबध", प्रथम खण्ड, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 1980।
2 देखिये लेखक द्वारा रचित **अतर्राष्ट्रीय सबध**—1919 39 प्रथम खण्ड
3 वही
4 वही,
5 देखिये लेखक की कृति, 'अतर्राष्ट्रीय सबध' (प्रथम खण्ड)
6 भारत म ही गाधीजी और तिलक अपनी शर्तों पर रगरूटो को भरती कराने मे योग देने के लिए तैयार थे।
7 यही स्थिति अन्यत्र थी।
8 दि हिन्दू 9 अगस्त, 1942।
9 एशिया ऐण्ड वेस्टन डामिनेन्स के० एम० पण्णीकर प० 251।
10 सन् 1927 का ब्रसेल्स मे हुआ यह सम्मेलन ऐतिहासिक बन गया जहा साम्राज्यवाद विरोधी लीग के नेतत्व मे एशिया, अफ्रीका व यूरोप के करीब 175 लोग शामिल हुए जिसमे जवाहरलाल नेहरू, हो चिह मिन्ह, रोम्या रोला, अलबट आइन्स्टीन आदि प्रमुख थे।
11 देखिए लॉड सभा मे हुए बहसें।
12 सितम्बर 2, 1940, ब्रिटेन के साथ अमेरिका ने पहला युद्धकालीन समझौता 50 पुराने विध्वसक इस शत पर दिए कि ब्रिटेन न्यू फाउड लेण्ड और ब्रितानी गायना के बीच के आठ ब्रितानी अड्डे, 99 साल के पट्टे पर अमेरिका का दगा। अप्रल मे अमेरिकी फौजें ग्रीन लेण्ड मे भेजी गई और सोवियत सघ पर हमला हाने के बाद अमेरिका म आइसलेण्ड मे अपनी फौजें भेजी। धीरे धीरे अमेरिका ब्रिटेन व सोवियत के पक्ष की ओर मुड रहा था। आगे बढकर रूजवेल्ट की सरकार ने जून 24, 1941 को उधार पटटे की मदद सोवियत सघ को भी देने का वायदा किया और नवम्बर 7, 1941 को औपचारिक तौर पर ऐसी मदद की स्वीकृति दे दी जो वप की समाप्ति तक ५ लाख पैंतालीस डालर तक पहुच गई। इस प्रकार सितम्वर 1939

ोे सम्बर 1941 के बीच अमेरिका तटस्थता की नीति से आगे बढते बढते ब्रिटेन व सोवियत के साथ मत्री गठबन्धन म बधता चला गया यद्यपि हथियारो की मदद मिलनी अभी बाकी थी।

जून 1941 मे हिटलर न सोवियत पर आक्रमण किया था, कुछ समय के बाद दिसम्बर 7 को पल हाबर के हमले ने अमेरिका को युद्ध म घसीट लिया वह अब मित्र राष्ट्रो के गठबन्धन म अग्रणी पक्ति मे खडा था।

13 दखिए एन० सिवाचयोग व ई—याजकोब, कृत हिस्ट्री ऑव यू० एस० ए० सि स वल्ड वार फस्ट, प० 162।

अध्याय –2

युद्ध कालीन घोषणाए, वार्ताए एव सम्मेलन

हमने पिछले अध्याय म उम सदभ को स्पष्ट करन की चेष्टा की है जिसमे महासमर छिडा और मित्र राष्ट्रो के बीच सहयोग और साहचय के पुलो की स्थापना हुई। युद्ध छिड गया था पर ब्रिटेन और फ्रास की ओर युद्ध के उद्देश्यो की कोई प्रेरणाप्रद घोषणा न हुई थी। इस दष्टि से सोवियत नेताओ ने पहल की और एक बार सोवियत सघ की ओर से फासी विरोधी युद्ध का ऐलान इस घोषणा के साथ हुआ कि सोवियत सेनाओ का यह लक्ष्य होगा कि वह न केवल अपनी सीमाओ को आक्राताओ स खाली कराए और उनकी रक्षा करें बल्कि, आगे बढकर पराधीन देशो को नात्सी फासी शक्तियो के चगुल से मुक्त करायें और आत्म निर्णय के सिद्धात के अनुसार अपन भाग्य का खुद निपटारा कराने का अवसर प्राप्त करायें। जून सन 1941 मे इस एलान के बाद ही ब्रिटेन और अमेरिका के राष्ट्रीय नेताओ ने इस दिशा मे अगला कदम उठाया।

एटलाटिक घोषणा पत्र
(अगस्त 14, सन 1941)

अमेरिका अभी भी युद्ध मे नही कूदा था पर ब्रिटेन को जमनी स लडते हुए लगभग 2 वप बीत रह थे और सोवियत सघ युद्ध मे शामिल हो चुका था। अमेरिका मे अभी भी इस बात को लेकर युद्ध छिडा हुआ था कि अमेरिका तटस्थ रह या मित्रो की ओर से युद्ध मे फासी नात्सी सर्वाधिकार वादियो के विरुद्ध युद्ध मे कूद पडे। ऐसी स्थिति म अमेरिकी सरकार धीरे-धीरे मित्र राष्ट्रो के पक्ष मे खुलकर आती जा रही थी और जब अगस्त 14, 1941 का राष्ट्रपति रुजवेल्ट और ब्रिटेन के प्रधानमत्री चर्चिल न्यूफाउडलैण्ड के तट पर मिले तब उन्होने आपस मे बातचीत की और कुछ ऐस सिद्धान्तो की घोषणा की जिनके अनुसार अपनी-अपनी राष्ट्रीय नीतियो को कार्यान्वित करायेंगे। ये निम्नाकित सिद्धात घोषित किये गए।[1]

(1) य दोनो देश किसी प्रकार के प्रादेशिक या अन्य प्रकार के विस्तार के

आकांक्षी नही हैं।

(2) ये दोनो राष्ट्र किसी ऐसे प्रादेशिक बटवारे या काट छाट के आकांक्षी नही है जो उस प्रदेश की जनता की स्वतंत्र इच्छा के प्रतिकूल हो।

(3) ये सब लोगो के इस अधिकार का सम्मान करते हैं कि वे अपनी इच्छा के अनुकूल अपनी अनी शासन व्यवस्था चुनें, साथ ही अमेरिका व ब्रिटेन की इच्छा यह भी है कि जिन लोगो को इस अधिकार से वंचित किया गया है उन्हें यह अधिकार फिर से दिलवाया जाए।

(4) वे दोनो इस बात के लिए प्रयत्नशील होंगे कि चाहे विजेता हो या विजित सभी छोटे बड़े राष्ट्रो को अपनी आर्थिक समृद्धि के लिए आवश्यक व्यापार व कच्चे माल प्राप्त करने की सुविधाए समान रूप से प्राप्त हो।

(5) ये चाहते हैं कि आर्थिक क्षेत्र मे सभी देशो के बीच अधिकाधिक सहयोग बढे ताकि श्रमिको की दशा मे सुधार हो सके और आर्थिक प्रगति तथा सामाजिक सुरक्षा को संभव बनाया जा सके।

(6) ये आशा करते हैं कि नात्सी अत्याचारो का अन्त होते ही सारे देश अपनी अपनी राष्ट्रीय सीमाओ मे सुरक्षा पूर्वक रहते हुए भय और दरिद्रता से मुक्त होकर अपनी जीवन बिता सकेंगे।

(7) इन दोनो देशो का विश्वास है कि इस प्रकार की शान्ति की स्थापना के होते सभी लोगो को महासागरो एव सागरो पर निर्बाध आने जाने की स्वतंत्रता प्राप्त हो सकेगी।

(8) ये यह विश्वास करते हैं कि दुनिया के सभी देश, आध्यात्मिक एव भौतिक दोनो ही कारणो के वश होकर बल प्रयोग करना छोडेंगे। उनका यह भी विश्वास है कि निशस्त्रीकरण का होना अनिवार्य है। वे चाहेगे कि उन सभी सम्भव कार्यों को उनका सहारा मिलें और प्रेरणा मिलें जो शांति प्रिय लोगो को शस्त्रो के कमर तोड बोझ को हल्का करने की दिशा मे किए जाएँ।

उपर्युक्त आठ सिद्धातो से युक्त इस सम्मिलित रूप से की गई घोषणा मे इन दोनो साम्राज्यवादी मित्रो के बीच सम्बन्धो की कमजोरी और ताकत दोनो की झलक मिलती है। अमेरिकी साम्राज्यवाद उठान पर था जबकि ब्रिटेन का सकट ग्रस्त, एक का सकट दूसरे के लिए अवसर द्वार खोल रहा था। इसी दृष्टि से दृष्टव्य है चौथा और सातवा सिद्धात। अमेरिका अब किसी भी ऐसे क्षेत्र को जो ब्रिटेन के अधीन हो अपने लिए 'प्रतिबंधित" मानने को तैयार न था। निर्बाध आवागमन की सुविधा उसे चाहिए थी जिसे ब्रिटेन अब नही रोक पा रहा था, न अमेरिका अब नौ सेना के विस्तार मे किसी प्रकार की ब्रितानी रोकथाम या विकास की ब्रिटेन द्वारा खीची सीमा रोक मानने को तयार था— कुछ समय से सागरो पर वर्चस्व के लिए हो रही प्रतिस्पर्धा मे ब्रिटेन का पिछडना शुरू हो चला

था। सबसे स्मरणीय बात यह थी कि वे "स्वतत्रताए अपनी सरकार या शासन व्यवस्था खुद निश्चित करने का अधिकार आदि।' यह यूरोप के उन देशो के सन्दर्भ मे कहा जा रहा था जो नात्सी फासी ताक्तो द्वारा पद दलित हो चुके थे। इस स्वतत्रता को प्राप्त कर पाने के लिए एशिया व अफ्रीका के लोग अभी भी इनकी नजर मे योग्य न थे। जैसा सोवियत घोषणा यूरोप के सदम मे की गई थी, वही हाल इन साम्राज्यवादियो की घोषणा का भी था। पर चूकि सोवियत सत्ता के अधीन कोई उपनिवेश न थे इसलिए उनके द्वारा उपनिवेशो की आजादी की बात न उठाना कुछ समझ मे आ सकता है, या साम्राज्यवादियो से घर आगन म जिस पराधीन हुई जनता के लिए आठ आठ आसू बहाये जा रहे थे, वह एशिया व अफ्रीका की जनता न थी, वह यूरोप की जनता थी जिसकी मुसीबत ब्रिटेन व अमेरिका को दुख दे रही थी। अपन साम्राज्य के लोगो क लिए "एटलाटिक चाटर न था, जैसा भारत के सदम मे चर्चिल ने स्पष्ट भी किया था। बाद मे रूजवेल्ट के दबाव पर जब भारतीय राष्ट्रीय आदोलन के नेताओ मे वार्ता भी चलाई गई तो हार्दिक सहयोग को प्राप्त करने के प्रयत्न नही किए गए और जब वार्ता टूट गई तब स्पष्ट हुई रूजवेल्ट विल्सन क नए सस्करण के अलावा और कुछ न थे।[2] पर चर्चिल तो अपने गुरू लॉयड जाज से दो कदम और पीछे रहने वाले टोरी नेता सिद्ध हो रहे थे।

युद्ध के इन उद्देश्यो या सिद्धान्तो को उन परवर्ती घोषणाओ और वाताओ ने पुष्ट किया जो तीन बडो के बीच समय समय पर युद्धकाल मे होती रही। पर इसमे दो सिद्धात की स्थापना की गई जिस पर इन तीन बडो और इनके सहयोगियो मे पूण सहमति थी कि (1) उपलब्ध सारे साधनो के सहारे युद्ध लडा जाए और (2) यह कि पूर्ण विजय प्राप्त होने तक युद्ध लडा जाए और अलग मे कोई राष्ट्र धुरी शक्तितो से सधि नही करगा। इस सयुक्त राष्ट्रो की घोषणा पर 21 राष्ट्रो ने हस्ताक्षर किए जिनमे गुलाम भारत भी शामिल किया गया था।[3]

महासागर के पूरे काल मे मित्र राष्ट्रो के बीच समय समय पर वार्ता हुई तथा जो सम्मेलन हुए उन्हें चार भागो मे बाट सकते हैं। ये है (पहला) अमेरिका—सोवियत—ब्रिटेन के बीच त्रिपदीय सम्मेलन, दूसरी कोटि म, ब्रिटेन व अमेरिका के बीच हुई अनेक वाताए तीसरी कोटि म अमेरिका और सोवियत सघ के नेताओ के बीच हुई वार्ताए और अत मे एक बड मच मे युद्धकाल के सभी मित्र राष्ट्रो के बीच वहत वार्ता।

(1) तीन बडो के बीच मे

तीन बडो के बीच मे युद्धक लीन जो भी वार्ताए हुई वे उन्होने युद्ध मे अत्यत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई—इस कोटि मे आती हैं—(1) सितबर 1941म

मास्को सम्मेलन, अक्टूबर सन 1943 मे मास्को म ही पर राष्ट्र मत्रियो के बीच वार्ताए, नवम्बर व दिसम्बर सन 1943 की तेहरान वार्ता जिसम तीनों राष्ट्राध्यक्ष शामिल हुए फिर अक्टूबर व सितम्बर 1944 को डाबटन ओक्स मे हुआ सम्मेलन जहा सयुक्त राष्ट्र सघ स विधान मुद्दे तय हुए फरवरी सन 1945 याल्टा सम्मलन और अन्त मे जुलाई व अगस्त सन् 1945 का पोटसडम सम्मेलन।

(2) दो बड़े साम्राज्यवादियो के बीच

ये वार्ताए सन् 1939 1945 के बीच रूजवेल्ट और चर्चिल के मध्य समय-समय पर भी, यथा एटलाटिक चाट रकी घोषणा जिसकी हम चर्चा कर चुके हैं, इसी तरह कासाब्लाका मे, दो बार क्यूबेक, काहिरा मे तथा दोना देशा के पर राष्ट्र मत्रिया और सैनिक स्टाफ के बीच समय समय पर।

(3) सोवियत व अमेरिका के बीच

सोवियत व अमेरिकी अधिकारियो के मध्य वार्ताए तीसर ढग की थी जो महत्व के हिसाब से अव्वल दर्जे की मानी जाएगी। इस दष्टि से हेरी हापकि स का वार्ता क लिए दो बार मास्को आगमन (सन 1941 के ग्रीष्म मे तथा मई जून 1945 मे), सन 1942 11 जून को सोवियत अमेरिकी समझौता। इन सिद्धाता की स्थापना क लिए जिनके आधार पर आक्रमण के विरुद्ध युद्ध सचालित किया जायेगा। जून 12 सन 1942 म सोवियत वरिष्ठ नेता मोलोतोव की अमेरिकी यात्रा, दूसरे मोर्चे खोलने के सबध म।

(4) "युद्धोतर अतर्राष्ट्रीय सगठन के निर्माणाथ वृहतर मच पर

चौथे ढग की वार्ताओ का दायरा और भागीदार वृहतर आधार पर आयो जित की गई जिसका उद्देश्य था युद्धोत्तर दुनिया मे सुरक्षा व्यवस्था और प्रगति के लिए एक ऐसे अतर्राष्ट्रीय सगठन की आधार शिला का बना जिसका श्री गणेश 1 जनवरी सन 1942 के सयुक्त राष्ट्रो की घोषणा से शुरू होकर अप्रल जून सन 1945 मे सम्पन्न हुए सान फ्रासिसको सम्मेलन तक फला रहा।

(अ) तीन बडों के बीच कूटनीतिक वार्ताए (1) सितबर 1941 को मास्को वार्ता

अगस्त सन् 1941 मे ब्रिटेन के प्रधानमत्री और अमेरिका के राष्ट्रपति ने आपस मे वार्ता करके "एटलाटिक घोषणा की थी जिसम उ हान युद्ध के लक्ष्या को स्पष्ट किया था और अपना मह दढ निश्चय व्यक्त किया था कि नात्सी अत्या चार का विनाश हो जाने के बाद एक ऐसी शान्ति की स्थापना का प्रयत्न होगा

जिसमे सभी राष्ट्र सुरक्षित अनुभव करते हुए भय और अभाव से मुक्त होकर जीवन का निर्वाह कर सकेंगे और यह कि वे सभी लोगो का अपन ढग की अपनी सरकार चुनने के अधिकार को मानते हैं, यद्यपि घोषणा के बाद चर्चिल ने बार-बार इस स्पष्ट किया कि ' अपने देश म अपना राज" स्थापित करन के अधिकार को वे एशिया व अफ्रीका के लोगा के लिए लागू करन का तयार न थे—यह सारी घोषणा के वायदे यूरोप के उन देशा के निमित्त थे जो नात्सी फासी आक्रमण के शिकार हुए थे।

जून । सोवियत सघ पर हिटलर का आक्रमण हो चुका था। हमला होत ही ब्रिटेन न तुरत सोवियत सघ के प्रति अपनी सहानुभूति और मित्रता का हाथ बढाया। अमरिका अभी भी युद्ध म शामिल न था पर उसकी पक्षधरता धीरे धीरे स्पष्ट होती जा रही थी, जैसा एटलाटिक घोषणा मे स्पष्ट था अमेरिका के हरी हापकि स सोवियत सघ जाकर अपनी आखा से रूसी मार्चे की हालत दखकर आए थे। उनकी स्टालिन से बातें भी हुइ।[4] हापकिस मास्को स आवश्यक सूचनाए तथा स्टालिन क प्रति एक सम्मान का भाव लेकर लौटे और सीधे यू फाउन्ड लड गए जहा चर्चिल और रूजवल्ट एटलाटिक घापणा पत्र तैयार कर रहे थे (9 अगस्त 1941) वहा ब्रितानी और अमेरिकी सैन्य अधिकारी इस बात पर विचार करते रहे कि स चीजा और हथियारो की खेप ब्रिटेन मे रखी जाए या सीधे रूसियो को दे दी जाए। अमेरिकी अधिकारी हथियारो को सीधे रूसियो के पास भेजना चाहते थे जबकि ब्रितानी अधिकारी अमेरिकी सप्लाई ब्रिटेन मे ही रखना बहतर मान रहे थे। तय हुआ कि रूस की मदद के सिलसिले मे एक मिलाजुला शिष्ट मण्डल मास्को भेजा जाए तदनुसार अमेरिका के एवरेल हैंरीमैंन तथा ब्रिटेम के लाड वेबर ब्रुक मास्को गए और वहा स्टालिन से उनकी तीन बैठकें हुई (28 सितबर से बैठक चली) जिसमे मूलत उन वस्तुओ और हथियारो की सूची बनाई गई जो सोवियत सघ को भेजा जाना तय हुआ तथा जिसके अनुसार अमरीका ने 1 अक्टूबर 1941 से जुलाई 1942 के बीच एक अरब डॉलर की वस्तुआ की सप्लाई दने का वायदा किया इस प्रकार सोवियत सघ और पश्चिम के बीच एक सैनिक भागीदारी शुरू हुई जो धुरी शक्तियो पर पूण विजय प्राप्त करने तक चलती रही।[5]

(2) मास्को मे ही परराष्ट्र मत्रियो का सम्मेलन
(अक्टूबर 1930 सन 1943)

यह सम्मेलन उस ऐतिहासिक मोड के बाद बुलाया गया जब सोवियत की बहादुर फौजो के अपूव शौय और बलिदान के बल पर हिटलर की आक्राता फौजा को न केवल स्टालिनग्राद के बाहर थाम लिया बल्कि, दुश्मना के नाको चने चबा दिए और युद्ध का पासा पलटने लगा। अगस्त म सोवियत समाचार पत्रो ने सुझाव

दिया कि चूंकि मित्र राष्ट्रो के राज्याध्यक्ष मिल नही पा रहे हैं तो उनके परराष्ट्र मित्रो की ही बैठक हो जाए। यह सुझाव माना गया और अक्टूबर 19 से 30 तक मास्को मे ब्रिटेन के परराष्ट्र मंत्री ए यानी ईडन, अमेरिका के कार्डल हल व मोलोतोव तथा स्टालिन के बीच बातचीत हुई जिसमे चीनी राजदूत 'फू पिंग शू' भी शामिल हुए और वार्ता का परिणाम निकला एक संयुक्त विज्ञप्ति के रूप म जो ब्रिटेन अमेरिका व सोवियत के बीच युद्ध सबंधी आपसी समझदारी की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति थी। इसके पहले भी सहयोग और पारस्परिक वार्ताएं हुई थी, परराष्ट्र मंत्रियो के स्तर पर यह पहला महत्वपूर्ण विचार विमर्श था जिसम अनेक युद्ध सबंधी प्रश्नो पर विचारो का आदान प्रदान हुआ। इसम इन बातो पर सहमति हुई कि—(1) हर ऐसा प्रयत्न किए जाए ताकि युद्ध जल्दी स जल्दी समाप्त हो सके और इस दृष्टि स मित्र राष्ट्रो के बीच घना स घना सहयोग और साहचर्य हो। (2) युद्धकालीन सहयोग की भावना और व्यवहार को युद्ध के बाद भी बनाए रखने के उपाय किए जाए ताकि शांति की मजबूत स्थापना हो सके। और जन साधारण का राजनीतिक आर्थिक एव सामाजिक कल्याण सम्पादित हो सके। अतराष्ट्रीय सहयोग और सुरक्षा के लिए एक व्यापक व्यवस्था करन की आवश्यकता पर बल दिया गया जिसमे छोटे या बड सभी शांति प्रिय देशो को शामिल करने की बात तय हुई।[6]

इस सम्मेलन मे एक ऐसी सस्था के निर्माण की बात भी तय हुई जो युद्धकाल मे यूरोपीय देशो के प्रश्नो पर विचार विमर्श करते रहने के लिए तीनो देशो के बीच घने सहयोग की स्थापना करने का यत्न करें इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्मेलन ने लदन मे एक यूरोपीय परामर्शदात्री आयोग की स्थापना करने का निश्चय किया जो इन प्रश्नो पर विचार करे और अपनी संयुक्त सस्तुति तीनो सरकारो को दें।

इस सम्मेलन मे यह भी तय हुआ कि इटली सबंधी मामलो के लिए एक परामर्शदात्री समिति बनाई जाए। तीनो परराष्ट्र मंत्रियो ने एक घोषणा के द्वारा इटली मे लोकतत्र की पुन स्थापना के लिए मित्रराष्ट्रो के रुख को स्पष्ट करने का निश्चय किया। इस प्रकार तीनो परराष्ट्र मंत्रियो ने अपनी सरकारो की ओर स आस्ट्रिया की स्वाधीनता की पुन स्थापना का सकल्प दुहराया और इस चेतावनी को भी दुहराया कि पराजित जर्मनी को जब भी 'युद्धविराम' स्वीकृति दी जायगी, तब उन जर्मन सैनिक अधिकारियो और नात्सी अधिकारियो को उनके अत्याचारो के लिए उन उन देशो म दण्डित किए जाने के लिए ले जाया जायगा जहा उन्होने ये जुल्म ढाये हैं और उनके देशो के कानून के अनुसार दण्डित किया जायगा।

इस सम्मेलन मे चार बडे राष्ट्रो की ओर से एक सप्त सिद्धान्तीय घोषणा की गई जिसमे शांति और सुरक्षा की स्थापना के लिए युद्धकालीन सहयोग को शांति

काल मे भी बनाये रखने, शत्रु से आत्म समर्पण कराने और निशस्त्र करने के लिए एक जुट रहने शीघ्र ही एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के लिए प्रयत्न करने जिसमे सभी शांतिप्रिय देशों की प्रभुसत्ता संबंधी समानताओं का आदर मिलेगा, तथा जिसके द्वार छोटे-बड़े सभी राज्यों के लिए खुले रहेंगे, तथा युद्धोपरांत कोई भी दूसरे राज्यों के प्रदेश के अन्तर्गत अपनी सेनाओं को सिवाय उस सूरत में जो इसमे दी गई है और जो परस्पर विचार विमर्श के बाद तय किया जाए, कभी तैनात नहीं करने तथा युद्धोत्तर काल में शस्त्रों के नियमन के लिए आपस मे विचार विमर्श करने और सहयोग करने का संकल्प लिया गया ताकि, एक सर्वमान्य समझौता हो सके।

इस प्रकार यह सम्मेलन युद्ध संचालन एवं युद्धोपरांत एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और व्यवस्था बनाने की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम रहा है, यद्यपि यह बात स्मरणीय है कि इस समय तक सोवियत संघ के बार बार आग्रह करने पर भी दूसरा मोर्चा न खोलने की वजह से मित्र राष्ट्रों के बीच कुछ मन मुटाव भी शुरू हो गया था। समूचे सन् 1942 के वर्ष मे हिटलरी राक्षसी सेना के 280 सेना के डिवीजनों का पूरा का पूरा दबाव अकेले ही सोवियत संघ को झेलना पड़ा जिसमे उसे अपनी बहादुर सेना, जन धन का भारी बलिदान करना पड़ा।

इस बीच अफ्रीका मे लड़ाई का मोर्चा खोलकर हिटलर को कुछ परेशानी पहुचायी गयी। पर जहां एक और इस बीच 'दूसरा मोर्चा' खोलने की ब्रिटेन और अमरिका कोई जल्दी न थी और वे दिक्कत होने की सूचना दे रहे थे, वहीं स्टालिन से यह अनुरोध करने से भी अमरीका नही चूक रहा था कि अकेले ही हिटलर के 280 डिवीजनों का सामना करते हुए भी, वे जापान के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोलने मे दिलचस्पी लें।[7]

सन् 1943 शुरू हो गया पर दूसरा मोर्चा खोलने का निश्चय अभी भी टाला ही जा रहा था। चर्चिल की अड़गेबाजी खतम ही नहीं हो पा रही थी जिसके आगे अमेरिका भी लाचार हो जाता। यहां तक कि चर्चिल के एक मित्र दक्षिण अफ्रीका के जेन स्मटस भी चर्चिल की टालमटूल नीति के औचित्य पर संदेह प्रकट करने लगे। एक पत्र मे उन्होंने युद्धकाल मे उस सदम की चर्चा की जिसके अन्तर्गत बाद मे मास्को मे यह सम्मेलन हुआ, जो द्रष्टव्य है। जेन स्मट्स ने लिखा था

"स्थल पर हमारी तुलनात्मक कार्यवाहियां महत्वहीन रही और उनकी गति बहुत असंतोषजनक।" साधारण लोगों को तो ऐसा लगेगा कि यह रूस है जो युद्ध जीत रहा है। यदि ऐसी ही छाप बनी रही तो रूस की तुलना मे युद्धोत्तर संसार मे हमारी क्या सूरत बनेगी। हमारी विश्वस्तरीय स्थिति मे भारी परिवर्तन हो जायगा और इससे रूस समूची दुनिया का राजनयिक स्वामी बनकर उभर चुकेगा। यह बात अवश्यभावी है और अवांछनीय भी पर जब तक हम युद्ध से बराबरी के

आधार पर न निकलें, हमारी स्थिति असुविधापूर्ण बन जायगी और खतरनाक भी।'

(3) तेहरान का सम्मेलन
(22-25 नवम्बर सन 1943)

यद्यपि 'दूसरा मोर्चा' अभी भी दूर था, पर तेहरान मे पहली बार एकत्र होकर तीन बडी शक्तिया के राष्ट्राध्यक्षा ने मित्र राष्ट्रीय एकता और सहयोग के भाव को पारस्परिक विश्वास और सौहाद्र के योग से परिपुष्ट करने मे सफलता पाई। तेहरान म पहली बार ये तीन बडे मिल रहे थे और वह भी उस तेहरान म जो उस राज्य की राजधानी थी जिसस होकर सोवियत सघ को सप्लाई' पहुचाई जा रही थी। वह युद्धकाल तक एक ओर ब्रिटेन तो दूसरी ओर सोवियत सघ के अधीन बना रहा। वहा के तत्कालीन शासक को हटाकर (जिसके बार मे यह शक था कि उसकी सहानुभूति जमनी के प्रति थी) उसके अल्पव्यस्क पुत्र को मोहम्मद रजाशाह पहलवी को गद्दी पर वैठाया गया था।

तीन वडो ने परस्पर विचारो का आदान प्रदान किया। कुछ महत्वपूण निणय किय गये युद्ध के बारे मे ईरान क बार म, युद्धोत्तर व्यवस्था की रूपरखा के सबध मे। इनमे से कुछ निणय प्रकट किए गए, कुछ गुप्त रखे गए जो बाद मे सन 1947 म ही प्रकट हुए। सबमे बडी उपलब्धि यह रही कि तीन बडा ने दिल खोलकर बातें की और एक दूसरे का सदभाव और विश्वास प्राप्त किया। सम्मेलन क बाद तीन शक्तिया की घोषणा ने अपनी विज्ञप्ति मे अत म कहा कि हम यहा आशावान और सकल्पवान होकर आए थे और अब भावना और उद्देश्य की दष्टि से हम वस्तुत मित्र बनकर लौट रहे है।

इस सम्मेलन म तीनो मित्र देशा के सेनाध्यक्षा की वे योजनाए प्रस्तुत की गई थीं। इस पर विचार हुआ और पूव, पश्चिम तथा दक्षिण स जमनी पर आक्रमण करने की योजना पर मतैक्य स्थापित किया गया। इस सम्मेलन म युद्धोत्तर शाति की स्थापना की समस्याओ पर भी ध्यान दिया गया।

ईरान के सबध मे

ईरान के बारे मे तेहरान सम्मेलन के द्वारा किए जा रहे महत्त्वपूण योगदान की प्रशसा की गई और जिस प्रकार की आर्थिक कठिनाइया ईरान को भोगनी पड रही हैं उनके प्रति कृतज्ञता और आभार प्रकट किया और वचन दिया कि युद्धोपरात ईरान की आर्थिक दिक्कता को दूर करने का प्रयत्न किया जाएगा। साथ ही यह भी आश्वासन दिया गया कि तीन बडे राष्ट्र ईरान की स्वाधीनता प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखण्डता को बनाए रखेंगे और वे यह भरोसा करते हैं कि ईरान

भी अ य शाति प्रिय राष्ट्रा की तरह युद्धोत्तर काल मे अतर्राष्ट्रीय शाति, सुरक्षा और सम्पन्नता की स्थापना के लिए एटलाटिक घोषणा के सिद्धातो के अनुरूप आचरण करेगा

गुप्त समझौता

तीन बडो न अपनी पहली बैठक म कुछ समझौत ऐसे भी कि जिसे उन्होने तत्काल गुप्त रखने का निश्चय किया गया वे निणय थे

(1) युगोस्लाविया के स्वाधीनता सैनिको की शस्त्रास्त्रा और साज सामान की सप्लाई भेजकर हर प्रकार की मदद दी जायेगी।

(2) यह तय हुआ कि सैनिक दष्टि से यह वाछनीय था कि तुर्की को मित्र राष्ट्रा के पक्ष मे युद्ध मे लाया जाए।

( ) स्टालिन के इस वक्तव्य को नोट किया गया कि यदि तुर्की युद्ध मे शामिल हो जाए और उसके फलस्वरूप बलगारिया तुर्की क विरुद्ध लडाई छेड द तो सोवियत सघ तुरत बलगारिया के विरुद्ध युद्ध छेड दगा। तुर्की का युद्ध मे आमत्रित करने के लिए इस महत्त्वपूण सूचना का उपयोग किया जाए।

(4) यह नोट किया गया कि जमनी के विरुद्ध दूसरा मोर्चा (ओवर लाड अभियान) मई सन 1944 के दौरान खोला जाएगा। सम्मेलन ने स्टालिन का यह आश्वासन भी नोट किया कि यदि ऐसा दूसरा मोर्चा खोला गया तो सोवियत सेनायें उस समय ऐसा जवदस्त सनिक अभियान छेडेगी जिसका लक्ष्य होगा कि जमनी अपनी फौजें पूव से पश्चिमी मोर्चे की ओर न लगा पायें

(5) यह तय हुआ कि तीनो शक्तिया के सैनिक अधिकारी परस्पर सपक बनाये रखेंगे और दुश्मन को धोखे म रखने और छकाने के लिए एक गुप्त योजना कार्यान्वित की जायेगी।

इस सम्मेलन मे तीन बडो के दिल आपस मे मिल गए, यह एक बडी बात थी जिसका श्रेय स्टालिन और रूजवेल्ट को जाता है। चर्चिल का दूसरा मोर्चा को टालने की दुर्नीति चलती रही और ऐसी कोशिशें भी की जिसमे लगे कि सोवियत सघ के विरुद्ध एक आग्ल अमेरिकी मोर्चा अन्दर ही अदर बना हुआ है पर रूजवेल्ट ने अपने निष्कपट और निष्पक्ष व्यावहार का भरोसा बधा कर इस प्रकार के दुष्प्रभाव को रोका।[9] स्टालिन का स्मरणीय नेतत्व इस सम्मेलन मे बेजोड रहा। उस समय अथात नवबर सन 1943 मे 320 जमन डिवीजनो मे से 206 डिवीजनो सन 1944 मे आखिर मे खुला तो स्टालिन मे सदा की भाति अपना वायदा सच कर दिखाया, उस समय भी हिटलर के 157 डिवीजन पूव मे लड रहे थे जबकि (जनवरी मे) ब्रिटेन क खिलाफ कुल 50 डिवीजन थे—अप्रैल 14 सन् 1944 मे अनुमान था कि 199 जमन डिवीजन पूर्वी मोर्चे मे तैनात थे और 137 अयत्र

जिसमे फास और निम्नस्थ प्रन्दा मे 51, I सितम्बर म भी जमन केवल 52 डिवीजन मेना को पश्चिमी मोर्चे म जुटाय हुए थे लविन इसमे स बहुत सी डिवी जनें नाम मात्र की थी। जनवरी सन 1945 म रूसी सेना I33 जमन डिवीजना से भिड रही थी जो समूची जमन थल सेना का आधार थी और अय भिन 100 डिवीजनो का सामना कर रहे थे जिनमे 76 पश्चिम में थी और 24 इटली म।[6]

य आकडे इस तथ्य का अच्छी तरह उजागर करत हैं कि यूरोप म युद्ध का महान केन्द्रीय सनिक तथ्य था लालसेना की शक्ति। दूसर महायुद्ध को लेकर जो अनेक मिथक बने चल आ रहे हैं वे इस नियमक विचार धारणा की उपेक्षा करके चलते है। इस गाढे समय म जबकि युगोस्लाविया के स्वाधीनता सनानी अपनी जान लेवा मुक्ति सघप म लगे थे, तब उनके लिए मित्र राष्ट्रो की ओर से सब प्रकार की सहायता का प्रबध भी जिन हाथो ने किया, वे स्टालिन के इस्पाती हाथ ही थे, जिनकी मुटठी मुटठी सहायता तब मुक्ति सघर्ष के लिए मिलजुल कर तय किया वल्कि, युद्धोत्तरकाल के लिए भी वदोवस्त करने का यत्न किया। मास्को के परराष्ट्र मैत्रियो के पहले सम्मेलन मे ही युद्धोत्तर व्यवस्था का प्रश्न उठाया गया था इसके बाद भी समय समय पर य प्रश्न उठाये गए पर जब सन 194?-43 के बाद मित्र राष्ट्रा की विजय के आसार प्रकट होने लगें तब इस पर और विचार विमश चला। डम्बटन ओवस सम्मेलन इस दिशा मे उठाया गया पहला पुख्ता कदम था जिसमे वार्ताओ का दौर दो चरणा म तय हुआ। पहले चरण मे तीन बडी शक्तिया क बीच वार्ताओ का दौर चला और दूसर चरण म चीन ने दो बडा— ब्रिटेन और अमेरिका के साथ बात चीत के और सोवियत सघ इससे अलग रहा। इन डाबटन ओवस की प्रथम चरण की वार्ता म तीन बडो के बीच सोवियत सघ अमेरिका और ब्रिटेन के मध्य बहुत सारी बातो मे मतक्य रहा। यथा ये सभी राष्ट्र नये अ तर्राष्ट्रीय सगठन सबधी चार आधारभूत तत्वो के बारे मे पूणत अहमत रहे। ये सहमत थे कि

(1) ऐसी एक सामान्य सभा हो जिसमे सभी राष्ट्रो को प्रतिनिधित्व मिले।

(2) ऐसी एक सुरक्षा परिषद हो जिसमे सभी बडी ताकतो को स्थायी तौर पर सदस्यता मिले और कुछ दूसरे प्रतिनिधि भी इसमे रह जो छोटे देशो का प्रतिनिधित्व करें और समय समय पर सामान्य सभा के द्वारा चुने जायें।

(3) एक सचिवालय हो।

(4) एक अतर्राष्ट्रीय न्यायालय हो।

यह भी तय हुआ कि इस नये अतर्राष्ट्रीय सगठन का नाम सयुक्त राष्ट्र सघ ही रखा जाए। यह भी इसके बीच तय हुआ कि न तो सुरक्षा परिषद मे और न सामान्य सभा म निर्विरोध निणय की विवशता रहे अर्थात् सार निणय निर्विरोध

ही हो। एक सामा य सहमति थी कि सुरक्षा की व्यवस्था करे और बडी शक्तियो को इसमे स्थायी तौर पर सदस्यता मिले।[11]

मतभेद कुछ अ य महत्वपूण मुद्दो पर उठे। पहला मतभेद तो सुरक्षा परिषद की इस अधिकार के बारे मे था कि वह किसी मामले को निपटाने की शर्तें थोप सकें। अमेरिका सुरक्षा परिषद को ऐसा अधिकार देना चाहता था[1] पर यह प्रस्ताव न तो ब्रिटेन को मा य था और न सोवियत सघ को ही।[13]

इसी प्रकार अमेरिका का प्रस्ताव था कि ब्राजील को स्थायी सदस्यता सुरक्षा परिषद मे मिले पर ब्रिटेन और सोवियत ने इसका विरोध किया, मतभेद इसको लेकर भी था कि सुरक्षा परिषद मे निणय लेते वक्त कैसी प्रक्रिया अपनायी जायेगी अर्थात किसी विवाद मे सबधित बडी शक्तिया भी मत दे सकेंगी या नही। अमेरिकी राष्ट्रपति का आग्रह था कि अमेरिकी सघ की तरह ही यदि बडी शक्ति किसी मामले मे फसी हो तो वह निणयकारी मतदान के वक्त तटस्थ रहे। लेकिन सोवियत सघ निर्विरोध निणय के तरीके छोडने को तैयार न थे अर्थात ऐस मामला मे बडी ताकतो के बीच पूण मतैक्य की नितात आवश्यकता पर बल दिया। वे खूब महसूस कर रहे थे कि पूजीवादी ससार के लिए ये कणधार अपने बहुमत के सहारे 'कहर' ढा देंगे इसलिए वे निर्विरोध निणय की बात को कतई छोडने को तैयार न थे। राष्ट्र सघ के अपने कटु अनुभव सोवियत नेताओ का भूले न थे और न वे उ ह 'भुलाने' के लिए तैयार थे। इस प्रकार यह बात तय नही हो पाई।

अमेरिकी आयोजक खुद तो अपने लिए तो जापानी अड्डे पर कब्जा करना चाहते थे पर सोवियत सघ की सुरक्षा की जरूरता पर सहानुभूति पूवक विचार करने को तैयार न थे। सोवियत सघ का प्रस्ताव था कि[14] एक ऐसा अतर्राष्ट्रीय सगठन बनाया जाए जो सुरक्षा परिषद के निर्देश पर मिनट भर मे कायवाही करने को तैयार हो जाए और[15] जो छोटे देश सुरक्षा परिषद को अपनी सै य शक्ति का सहारा न दे पाये, तो अपने प्रदेश परिषद के उपयोग के लिए भेंट करने का उद्यत रहे। अमेरिकी उसके लिए तैयार न थे। ब्रिटेन एक सै य स्टाफ बनाने के पक्ष मे था।[16] सोवियत सघ ने प्रस्ताव रखा था कि एक अतर्राष्ट्रीय वायुसेना खडी की जाए पर उ होने यह प्रस्ताव वापिस ले लिया।

इसी प्रकार सामा य सभा के अधिकारो के बारे मे भी पूर्ण सहमति न था। जबकि सोवियत चाहते थे कि शाति और सुरक्षा के मसले सामा य सभा तय करे पर सुरक्षा परिषद की अनुमति के बाद लेकिन अमेरिका व ब्रिटेन की राय थी कि स्वतत्र रूप से ही सामा य सभा को यह अधिकार मिले अर्थात चाहे उस मसले मे सुरक्षा परिषद की अनुमति हो या न हो। यह विचार कि सुरक्षा के प्रश्न प्रभावत सुरक्षा परिषद का उत्तरदायित्व होगे सभी को मा य था। ऐसा ही झगडा सदस्यता

के प्रश्न को लेकर चल पडा। अमेरिका चाहता था कि सयुक्त राष्ट्र के रूप में घोषणा करने वाले सभी सदस्य माने जायें। ब्रिटेन के साथ अमेरिका चाहता था कि 'सहयोगी राष्ट्र भी इस सगठन म शामिल करने के लिए आमत्रित किए जायें। जिन्होंने सयुक्त राष्ट्र के आधार सम्मेलन का नियत्रण स्वीकार किया था पर सयुक्त राष्ट्रों के साथ युद्ध की घोषणा नही की थी। आठ ऐसे देश थे जिनम 6 लातिनी अमेरिकी देश थे। सोवियत सघ नया सगठन इसलिए बनाने के पक्ष में था कि मुख्यत (यदि पूर्णत न भी हो तो) जमन और जापनी आक्रमण का पुन उभार न हो सके और इसी दृष्टि से वे सनिक मैत्री सगठन को आगे चलाते रहना चाहते थे जिसका अर्थ था उन देशो को बाहर ही रखना जिन्होंने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नही की थी। इसलिए उन्होंने इसका विरोध किया पर जब अमेरिका उन्हे शामिल किए जाने के लिए जोर देने लगा तो सोवियत सघ ने यह माग की कि उसके सोलह के सोलह गण राज्यो को अलग अलग से इसमें प्रतिनिधित्व मिले। इसने विवाद को विस्फोटक रूप देना शुरू कर दिया। बात फिलहाल टाल दी गई।

चीन के साथ ब्रिटेन व अमेरिका का विचार विमर्श

दूसरे चरण मे दो बडो ने—अमेरिका व ब्रिटेन—चीन के साथ मिलकर विचार विमर्श किया। पर चीन की ओर से कोई खास प्रस्ताव नही सुझाया गया और इसी से डम्बटन ओक्स प्रस्ताव म इस ओर से कुछ नया जोडा गया। चीनी प्रतिनिधि मण्डल के द्वारा पेश किए गये तीन सुझावो को ब्रिटेन व अमेरिका ने अपनी स्वीकृति दी और बाद मे सोवियत सघ ने भी अपनी सहमति प्रकट की कि उन सुझावों को सान फ्रासिसको सम्मेलन मे रखा जाए। वे तीन सुझाव थे। (1) सयुक्त राष्ट्र सघ के विधान म यह बन्दोबस्त हो कि अतर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर हो (2) अतर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तो और नियमो के सशोधन और परिवधन के बारे मे विचार करने तथा सुझाव देने की पहल करने की जिम्मेदारी सामान्य सभा की हो तथा राष्ट्रों के बीच, (3) शैक्षणिक एव अन्य सास्कृतिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए आर्थिक और सामाजिक परिषद बदोबस्त करे।

याल्टा सम्मेलन के पूर्व दो बडो के बीच वार्ताए

बडी शक्तियो के बीच युद्धकाल म जितने भी सम्मेलन व आपसी वार्ताए हुई हैं उनमे सबसे महत्वपूर्ण सम्मेलन याल्टा मे हुआ जहा सन 1945 की फरवरी 4 से 11 तक तीन बडी शक्तिया के राष्ट्राध्यक्षो के बीच महत्वपूर्ण वार्ताए हुई और उसी कोटि के महत्वपूर्ण निर्णय हुए जिनम कुछ निर्णय तत्काल अन्यो से गुप्त रखे गए और जब उनका भेद खुला तब वे काफी विवादास्पद सिद्ध हुए। याल्टा

सम्मेलन पर विचार करने के पहले यह अच्छा होगा कि हम उस सदम मे स्पष्ट करें जिसम यह सम्मेलन सम्पादित हुआ था। तभी हम इसके निणयो का सही मूल्याकन कर सकेंगे।

हम याल्टा पूव के कतिपय महत्त्वपूण सम्मेलना का जिक्र कर चुके हैं। उन वार्ताओ का जिक्र अब तक नही हुआ है जो एटलाटिक चाटर की परम्परा को आगे बढाने वाल थे अर्थात द्विपक्षीय वार्ताए जिसमे तीन बडा की जगह दो बडा के बीच ही बातचीत हुई, तथा ब्रिटेन व अमेरिका के बीच, या ब्रिटेन व सोवियत सघ के बीच। इन द्विपक्षीय वाताओ का उल्लेख कर हम याल्टा के पूव की स्थिति को सही तरह स रख सकेंगे।

मोरक्को के कासाब्लाका मे सम्मेलन
(14 फरवरी से 24 फरवरी तक सन् 1847)

यह सम्मेलन अमेरिका व ब्रिटेन के बीच हुआ और इसमे ब्रिटेन मे 'शरण पाय" मुक्त फ्रास" के नेता दगाल को भी आमत्रित किया गया। इस सम्मेलन म दूसर मोर्चे को टालते हुए यह तय किया गया कि उतरी फ्रास पर आक्रमण करन के पूव इटली पर हमला कर धुरी शक्तियो को पछाडा जाय। चर्चिल अपना पक्ष रूजवल्ट के आग मजबूत करना चाहत थे और कि उनकी यह रणनीति मानी जाए। इसलिए इस रणनीति को पुष्ट करने के लिए वे अपने साथ दगाल को ले गए जिनके प्रति रूजवेल्ट का कुछ खास झुकाव न था।

काहिरा सम्मेलन
(22 नवम्बर 1943 से 25 नवम्बर तक)

इसी प्रकार ब्रिटेन व अमेरिका के मध्य काहिरा मे भी महत्त्वपूण वार्ता हुई जिसमे फ्रास की तरह इस बार चीन को शामिल किया गया चूकि जिन समस्याओ पर बातचीत हुई वे मुख्यत पूर्वी एशिया से सबधित थी। इसमे चीन को आश्वस्त करते हुए यह निणय लिया गया कि जापान ने प्रथम महायुद्ध के समय जो प्रदेश चीन से छीने थे, वे उसे वापस मिलेंगे। यहा रूजवेल्ट ने सोवियत सघ की ओर से "जल से निकासी" की सहूलियत की माग से च्याग को परिचित कराया था अर्थात पोट आथर और डेरियन के सबध मे मागी गई। सुविधाओ के बारे मे सूचना दी और आपस मे विचार किया।[18]

इस प्रकार चर्चिल धीरे धीरे फ्रास को लदन स्थित टूटे फूटे 'मुक्त फ्रासिसी" दल को आगे लाकर बडे राष्ट्रो की पक्ति मे बैठाने लग थे, और यही अमेरिका चीन के लिए कर रहा था। "तीन बडो" की पक्ति मे, कालातर मे ये "दो बडा" को भी शामिल किया जाना था।

क्यूबेक सम्मेलन
(11 सितम्बर से 15 तक, 1944)

कनाडा की राजधानी क्यूबेक मे अमेरिकी राष्ट्रपति ने ब्रिटेन व उसके राष्ट्र मण्डल के सदस्यो—कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलण्ड से वार्ता की जिसम जमनी की जिस प्रकार उसकी पराजय के बाद अलग अलग "अधिकृत क्षेत्रों" के तौर पर बाटा जायेगा, उस पर विचार किया गया और आम सहमति प्राप्त की गई। यही अमेरिका और ब्रिटेन के नेताओ ने आपस मे तय किया कि 'मार्गेथाऊ योजना' के अनुसार जमनी का 'अनौघोगीकरण' किया जाय जो अमेरिकी परराष्ट मत्री हल को पसन्द न था।

जिसे बाद मे अमेरिकी केबिनेट ने सशोधित किया और रूजवेल्ट की मत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी ट्रेमन ने जिस योजना का परित्याग कर दिया।

ब्रिटेन वुड्स सम्मेलन
(जुलाई 21, 1944)

21 जुलाई सन 1944 को सयुक्त राष्ट्रो का सम्मेलन ब्रिटेन वुडस मे हुआ जिसमे 44 राज्यो के प्रतिनिधि सम्मलित हुए। इसमे युद्धोपरात ऐस अन्तर्राष्ट्रीय विकास के निमित्त पूजीवादी व्यवस्था के अनुकूल हो, एक पुनगठन एव विकास का अतर्राष्ट्रीय बक तथा अतराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना करने का निश्चय किया गया। एटलाटिक चाटर का उद्देश्य आखिर इसी विकास क्रम की दिशा को अपने अनुकूल बनाना था।

अमेरिकी व सोवियत के बीच द्विपक्षीय वार्ताए
(हेरी हापकिन्स की मास्को यात्रा मई जून, 1941)

हम अयत्र इस यात्रा का जिक्र कर चुके हैं। हापकिन्स लदन स होते हुए मास्को गए थे जहा उन्होने स्टालिन से खुलकर बातें की और महत्त्वपूण सूचनाए प्राप्त की जिसके अनुसार सोवियत शक्ति जब लडाई के मदान मे उतरी तो उसके 24 हजार टैंक थे जिसमे 4 हजार बडे टैंक थे जबकि जमनी क पास तीस हजार थे। सोवियत सघ एक हजार टैंक प्रति माह निर्मित कर रहे थे और 1800 सौ हवाई जहाज। जल्दी ही उनकी तादाद बढकर 2500 हो जाने वाली थी। लडाई शुरु होते समय नात्सी जमनी और सोवियत सघ दोनो के 175 डिविजन सनाओ के सहारे लड रहे थे।[19]

हापकिन्स सोवियत सघ व उसके नेता स्टालिन के साहस, शौय और दढ सकल्प वाले व्यक्तित्व मे बहुत प्रभावित होकर लौटे। हापकिन्स की रपट ते रूज

वेल्ट को इस बात के लिए उत्साहित किया कि वे सोवियत सघ की मदद के लिए आगे आ गए। इसके बाद अमेरिका के एवरल हैरीमैन व ब्रिटेन के लार्ड बेवर ब्रुक उधार पटटे के अन्तगत सहायता देने का प्रस्ताव लेकर स्टालिन से मिलने गए और तब सहायता सामग्री की सूचि तय हुआ कि 1 अक्टूबर 1941 से 1 जुलाई सन 1942 तक एक अरब डालर राशि की सहायता सोवियत सघ को प्रदान की जायेगी। यही से सोवियत सघ की ओर पश्चिम के मित्र राष्ट्रो के मध्य सैनिक साझेदारी की शुरुआत होती है।

एन्थोनी ईडन की महत्त्वपूर्ण यात्रा
(मास्को बैठक)

रूसी सैनिक एक ऐतिहासिक 'महाभारत" लड रहे थे। लाखो सैनिको की लाम बन्दी हुआ जो शीघ्र ही एक करोड की सख्या तक पहुच गई। जर्मन नात्सी पूरी बबरता दिखा रह थे। हमलावर बढ़ते ही जा रहे थे और सोवियत सघ ने सन 1939 के बाद जो प्रदेश अपनी सुरक्षा की दृष्टि से अधिकार म ले लिये थे, उन पर जमन कब्जा हो गया। जगह जगह नात्सी जमना की तोड फोड की काय वाही व विनाश लीला चल रही थी और लेनिनग्राड और मास्को के निकट जमन बबर सना ने घेरा डाल दिया। एक एक इच जमीन पर सोवियत रण बाकुरे अपनी जान हथेली पर रखकर लड रहे थे और सोवियत के इन बहादुर योद्धाओ ने स्टालिन ग्राद पर हिटलर की फौजो को न केवल रोक दिया बल्कि उन पर भारी चोट पहुचाकर युद्ध का पासा ही पलट दिया।

इस गाढे समय मे भी सोवियत नेताओ ने चाहा कि ब्रिटेन से युद्धोत्तर प्रबध के बारे मे अभी समझौता हो जाए तो निश्चित होकर और जमकर साथ साथ युद्ध लडा जाए। ब्रिटेन के परराष्ट्र मत्री इसी माहौल मे दिसबर 7 को मास्को पधारे। पर दिसबर 5 को ब्रितानी सरकार को रूजवेल्ट का इस आशय का पत्र मिल चुका था कि अमेरिका की ओर से युद्धोत्तर प्रबध की दिशा एटलाटिक चाटर मे निर्दिष्ट है। यदि तीना सरकारो म स कोई भी सरकार इसके आगे जान का तय करेगी तो अमेरिका इसे दुर्भाग्य पूण बात मानेंगे। "सबसे मुख्य बात यह कि कोई गुप्त समझौता नही होना चाहिए और जिस सावैधानिक सीमा से अमेरिका की सरकार बधी हुई है उसे ध्यान म रखा ही जाना चाहिए।[20]

रूसी नेता उस समय ब्रिटेन से यह चाहते थे कि अपनी सन 1940 की सीमाओ को वह मान ले। पर ईडन इसके लिए तैयार न थे। स्टालिन ने यह प्रस्ताव रखा कि 22 जून सन 1941 की रूस की सीमा को नाप लिया जाए तथा स्लोवाकिया युगोस्लाविया, आस्ट्रेलिया एव अल्बानिया की पुन स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप म प्रतिष्ठा, पूर्वी प्रशा पोलेण्ड को दे दिया जाय तथा पश्चिम मे जमनी से

राइनलैण्ड और सभव हो तो ववरिया अलग कराया जाए और स्वतत्र राष्ट्र म रूप मे इन्हे मा यता दे दी जाए स्टालिन इसके लिए तैयार थे कि बदले म व ब्रिटेन को फ्रास को मिलाकर समूचे पश्चिमी यूरोपीय देशा म, कही भी अड्डे दने के प्रस्ताव को समतन देंग।

इन प्रस्तावा को अमरिका ने नामजूर कर दिया। उनका ख्याल था कि बाल्टिक देशा का रूसी अधिग्रहण नही मजूर किया जा सकता है तथा पूर्वी पोलड रूस को नही दिया जा सकता क्योकि ये सारी मागें रूस अपनी उस कमजोर स्थिति को ध्यान म रखकर पेश कर रहा है जो युद्ध के बाद उसकी हो जाने का उमे भय है। इस प्रकार ब्रिटेन व अमेरिका ऐसे किसी समझौत के लिए तैयार न थे जो सोवियत सघ की युद्ध पूव की सीमाओ को मा यता प्रदान कर द। सोवियत सघ की पश्चिमी सीमाओ को मा यता प्रदान कर दे। सोवियत सघ की पश्चिमी सीमाओ का मामला एक खुला विषय बनी रही जो युद्ध के परिणाम पर निभर करा दी गई। पर स्टालिन ने ब्रिटेन के परराष्ट्र मत्री ईडन को तब भी स्पष्ट कर दिया था कि दिसम्बर सन 1941 मे चूकि अतीत म पिछले 35 वर्षों मे तीन बार रूस को पूर्वी यूरोप के आक्रमण कारियो का सामना करना पडा है और भारी बलिदान करना पडा है, इसलिए अब वे इस प्रदेश को विरोधियो के हाथो नही पडन देंग। यह लक्ष्य जैसाकि फ्लेमिंग ने उचित ही कहा है सोवियत नेताओ की ओर स युद्ध का प्रथम लक्ष्य, जिसने टलने का प्रश्न ही नही उठना था।

अप्रेल 1942 मे ब्रिटेन ने इस दिशा मे फिर से कुछ समझौना वार्ता चलानी चाही, पर अमेरिकी विरोध के आग ब्रिटेन की चली नही और मई 1942 मे जो समझौता सोवियत सघ से हुआ उसमे प्रादेशिक प्रब ध की चर्चा भी न थी जिसका अथ था कि कुख्यात म्यूनिख समझौता भी ज्यो का त्या बना रहा। वह कलक अगस्त सन 1942 म तभी मिट पाया जब चेकोस्लावाकिया के नेता ब ज का जोरदार दबाव ब्रिटेन पर पडा।

यूरोप की लडाई मुख्यत रूसी लाल सना के दम खम पर लडी जा रही थी पर मित्र राष्ट्रा की ओर मित्रता का कैसा ठिठुरा देने वाला प्रथम परिचय रूस को मिल रहा था उस समय जब कि वे जीवन मरण के अपने ऐतिहासिक सघष मे जूझ रहे थे।[23]

युद्धकाल मे ब्रिटेन और सोवियत सघ के बीच एक दूसरी महत्वपूण वार्ता 1944 की चर्चिल स्टालिन वार्ता

याल्टा सम्मेलन मे भाग लेने से पूव चर्चिल ने मास्को जाकर रूसी नेता स्टालिन से महत्त्वपूण विषय पर वार्ता की और गुपचुप समझौता भी कर लिया पर

तबयुद्ध का सदर्भ कुछ का कुछ बन चुका था। युद्ध के प्रारम्भ मे सोवियत सघ को उत्तरी सीमाओ के बारे म किसी प्रकार की मान्यता न देकर भी दूसरा मोर्चा खोलते-खोलत विलम्ब कर दने के बाद भी जब सोवियत की लाल सेनाओ ने अपना जौहर कर दिखाया और न केवल अपनी सीमाओ से बबर जमन आक्राताओ को खदड दिया बल्कि,उनका पीछा करते हुए पडौसी दशा स भी उनका सफाया करते हुए रूसी सेना अपनी अजेय वीरता का परिचय देती आगे बढने लगी और बुलगारिया, पर अधिकार कर यूनान और तुर्की की ओर बढ चली---अक्टूबर सन 1944 मे लाल सेना हगरी और युगोस्लाविया मे थी और तब ब्रितानी फौजें यूनान मे उतरी ही थी जहा साम्यवादी नेतत्त्व मे भारी सख्या मे मुक्ति युद्ध के योद्धा उनका स्वागत न कर, उनके विरोध पर आमादा थे उस समय ब्रितानी नेता चर्चिल ने मास्को जाकर ऐसा समझौता करना चाहा जो उन्ह यूनान म ' निर्वाध अधिकार" की छूट दे दे क्याकि यदि लाल सेना यूनान के साम्यवादी छापामारो को मदद देना तय कर लती, तो ब्रिटेन के लिए ये सभव न रहा जाता कि वे आसानी से यूनान म घुसपठ कर सके और अपने राजतत्रीय समथको को पुन गददी पर बिठा सकें।

ब्रिटेन ने अमेरिका को सूचना दी कि वह सोवियत सघ से एसा समझौता करने का इच्छुक है जो सावियत सघ को रुमानिया म प्रभाव क्षेत्र बनाने द ताकि बदले मे ब्रिटेन यूनान को अपना प्रभाव क्षेत्र बना ले। अमेरिका को बताया गया कि यह प्रभाव क्षेत्र की बात न थी बल्कि,यह कि रूसी रूमानिया का और ब्रिटेन यूनान व यूगोस्लाविया का मामला सभाले। अमेरिकी सरकार ने अपनी सहमति न दी और यह सुझाव रखा कि बाल्कान प्रदेशो के लिए एक परामशदात्री समिति बनाई जाए जिसके माध्यम स मामले तय हा। पर चर्चिल अपनी जिद पर अडे और अपने प्रस्ताव को एक ऐसे प्रयोग के रूप मे मनवाने का आग्रह करने लगे जिसे तीन महीन तो चलाया जाए।

सोवियत सघ ने भी अपनी ओर से चर्चिल के इस सलाह मसवरे की सूचना अमेरिका को दी ताकि मित्र राष्ट्रो की मित्रता म किसी तरह की खटाई न पडे। रूजवेल्ट की ओर से सूचना दी गई कि ब्रितानी प्रस्ताव को एक विशुद्धत अस्थायी प्रबध के रूप मे माना जा रहा है। पर भविष्य का प्रबध बाद मे ही होगा। ब्रिटेन के नेता अपने ढग से चलते रहे और अक्टूबर सन 1944 मे चर्चिल और ईडन ने मास्को जाकर न कवल अपने समझौते पर रूसी मुहर लगवा ली बल्कि, रूसी नेता स्टालिन के साथ इस बाल्कान प्रदेश के बारे मे अपने अपने प्रभाव की मात्रा प्रतिशत के रूप मे) भी तय करवा ली।

चर्चिल के ही शब्दो म यह समझौता इस तरह हुआ कि उसने रूस के लिए 90 प्रतिशत प्राधान्य रूमानिया ने माना और यही प्रतिशत ब्रिटेन का यूनान मे

रहा । यूगोस्लाविया मे दोनो का पचास पचास प्रतिशत तय माना गया । चर्चिल के अनुसार उ हाने एक कागज पर इन पाचो बाल्कान प्रदेशो म ब्रिटेन व सोवियत सघ क वचस्व का प्रतिशत लिख दिया, यथा, रूमानिया म सोवियत का 90 प्रतिशत वचस्व यूनान मे ब्रिटेन का 90 प्रतिशत वचस्व हगरी और युगोस्लाविया म पचास पचास प्रतिशत दोना का वचस्व बुल्गारिया म सोवियत का 75 प्रतिशत वचस्व तथा अ या का 25 प्रतिशत । स्टालिन ने इस कागज को देखा और उस पर एक बडा सा नीला सही का निशान बना दिया और कागज चर्चिल को ही लौटा दिया । सब कुछ झटपट ही तय हो गया था । वह समझौते वाला कागज टेबल पर पडा था । साम्राज्यवादी चर्चिल क मन का चोर जाग गया कि यदि लोग जानेंगे तो क्या कहेगे कि इतने बडे मामले जिनसे लाखो लोगो के भाग्य जुडे हैं इस चलताऊ ढग स तय हो गए । चर्चिल की राय थी इस कागज को जिसमे पाच बाल्कान राष्ट्रो की भाग्य रेखा निश्चित कर दी गयी थी जला दिया जाए । लेनिन के महान शिष्य' व साम्यवादी नेता स्टालिन ने जारशाही के लहजे मे फरमाया नही इसे आप ही रख लें । मसगजा दोप गुण भर्वा त' साम्राज्यवादिया की सगत कुछ रगत तो लाकर ही रहेगी ।

याल्टा सम्मेलन
(4 फरवरी सन 1945 से 11 फरवरी 1945 तक)

महासमर निर्णायक दौर मे पहुच चुका था । दूसरा मोर्चा पश्चिम म खुल चुका था जिसकी वजह से जमन नात्सी सै य शक्ति को तोडना और भी आसान होता जा रहा था । पर दूसरा मोर्चा खोलने म देर लगाकर पश्चिमी मित्र राष्ट्रो ने सोवियत की लाल सना के कधो पर ही सारा बोझ टिका दिया था । वे अपनी सीमाओ म जमन नात्सी स य शक्ति को खदेड कर पडोसी दशो को नात्सी आतक से मुक्त करने के लिए आगे बढते गये और तब चर्चिल और उनक मित्रो को भविष्य की एक नापसद तस्वीर उभरती दिखाई देने लगी । इस उभार को समय रहते जितना भी रोक सके उतना रोक लेने के लिए चर्चिल ने वह दौडधूप मास्को जाकर की जिसका हम जिक्र कर चुके हैं और घटनाचक्र को कुछ थोडा सा अपने अनुकूल मोड पाने म सफलता प्राप्त कर ली । फिनलण्ड पर आक्रमण करके अपनी रक्षा पक्ति दुरुस्त करने वाल सोवियत नेताओ न साम्राज्यवादियो का यह 'अर्जित फल' चख लिया और यूनान व यूगोस्लाविया के मुक्त सैनिको को उनके भाग्य पर छोड मजे स बदर बाट म शामिल हो गए । अभूतपूर्व बलिदान देकर लाल सना पडोस के उस समूचे प्रदश को नात्सी और उनके सहायक जहरीले तत्वो से मुक्त करान क अभियान म आगे बढती ही जा रही थी । उ होने चर्चिल स यह गठजोड न किया होता तो यूनान यूगोस्लाविया व भूमध्य सागर का भविष्य ही कुछ

और बनता, पर स्टालिनी नेतत्व ब्रितानी व अमेरिकी साम्राज्यवादियो मे मिल-जुलकर चलने की नीति अपना रहा था। यूरोप की लडाई का अन्त साफ नजर आ रहा था, पर इससे अमेरिका को पूरी तरह निश्चितता नही प्राप्त हो रही थी, अमेरिका की "बडी लडाई" तो अभी बाकी थी—वह लडाई जिसने वस्तुत अमेरिका को महासमर मे ला पटका था अर्थात अमेरिका का जापान के विरुद्ध महायुद्ध। इस युद्ध म अमेरिका को अब दूसरे मोर्चे की जरूरत थी और वह दूसरा मोर्चा केवल सोवियत की लाल सेना खोल सकती थी। स्मरणीय है कि सोवियत व जापान के बीच अनाक्रमण सधि का अब तक अच्छो तरह निर्वाह दोनो पक्षा की ओर मे हा रहा था। जापान के विरुद्ध जब तक सावियत लाल सेना न आए इस मोर्चे का बोझ अमेरिकी कधे पर ही था। इस मोर्चे के सैनिक कमाडर सोवियत लाल सेना की आर याचना भरी दृष्टि से देख रह थ।

अमरीका के एक तथाकथित महान सेना नायक ने जो बाद मे जापान पर सैनिक अधिकार कर, अमेरिकी सत्ता की ओर से जापान के कुछ समय के लिए सर्वेसर्वा बन गए थे, सोवियत सना के बारे मे निम्नाकित उद्गार फरवरी 23, 1942 को प्रकट किये थे।

"इस समय की दुनिया की स्थिति यह है कि साहसी रूसी सेनाआ के योग्य झडो पर सभ्यता की आशा टिकी हुई है। मैंने अपन जीवन मे अनक युद्धो म भाग लिया है और अनक का दशक रहा हू, तथा अतीत के महान सैनिक नताओ के अभियाना के ब्यौरा का अध्यता रहा हू मैंने इसमे से किसी लडाई म अब तक के अविजित शत्रु की भारी चोटो का प्रभावशाली ढग से प्रतिरोध करते हुए किसी अन्य को वैसा नही पाया, जैसा सोवियत सना ने किया है जि होने जवाबी हमले पर दुश्मनो को उनके घर लौटने के लिए खदेडना शुरू कर दिया है। जिसे पैमान पर और जिस शान से यह महान प्रयास सम्पादित किया जा रहा है, उसने इस समूचे इतिहास की सबसे महान सनिक उपलब्धि बना दी है।'

सन् 1944 तक तो यह गौरवशाली अभियान पर चार चाद टाके जा चुके थे। याल्टा सम्मेलन म इस अपूव विजय वाहिनी का मुख जापान के विरुद्ध भी मोडने की महत्वाकाक्षा लेकर रूजवेल्ट महोदय याल्टा पधारे थे। याल्टा सम्मेलन मे विचार विमश के पीछे अमरीका का यह एक इरादा बडा प्रेरक तत्व बना हुआ था। क्रीमिया प्रायद्वीप के याल्टा नामक स्थान पर तीन बडे, अपन अपने परामर्श दाताओ और सैनिक कमाडरो के साथ इकटठे हुए और बातचीत की। यहा अनेक मसलो पर विचार हुआ यथा सयुक्त राष्ट्र सघ की बनावट के बारे म यूरोप के भावी स्वरूप के बारे मे जमनी तथा पूर्वी एशिया क सबध मे जी भर कर चर्चा हुई और निणय लिए गये। कुछ तत्काल ही प्रकट कर दिए गए। और कुछ महत्व पूण निणय 'गुप्त' रखे गये जिनका रहस्योद्घाटन बाद मे हुआ। य गुप्ता समझोते

पूर्वी एशिया संबंधी थे। और इस प्रकार थे।

1 बाह्य मंगोलिया की स्वाधीनता को मान्यता दी गई अर्थात उसे चीन से अलग एक राज्य का दर्जा दिया मानो माना लिया गया। यह कोई एहसान न था क्योंकि पिछले बीस वर्षों से 'बाह्य मंगोलिया' चीन से अलग होकर एक समाजवादी गणतंत्र की तरह अस्तित्व में रहकर तदनुकूल आचरण करता रहा। यह एक यथार्थ को मिली मान्यता थी।

2 सखालीन के लंबे द्वीप के दक्षिणी भाग का सोवियत संघ को लौटाया जाना। स्टालिनवादी नेतृत्व पुराने जारशाही के दाव को अपनी विरासत मानकर चल रहा था। सन 1905 में ये द्वीप जापान ने जारशाही को युद्ध में हराकर छीन लिए थे।

3 कुराइल द्वीप समूह जिन पर सुरक्षा के हित के नाम पर स्टालिनवादी रूस ने दावा किया। यह दावा भी रूजवेल्ट ने और ब्रिटेन ने मान लिया।

4 सोवियत संघ को 'प्रशांत महासागर' में एक गरम बंदरगाह की जरूरत थी। उसके अपने बंदरगाह अधिकांश समय बर्फ से ढके रहते थे। रूजवेल्ट ने यह जरूरत की बात काहिरा में च्यांग काई से की थी और तेहरान में भी इस पर पुन चर्चा चली थी। डेरियन के बंदरगाह का अंतर्राष्ट्रीयकरण और वहां सोवियत संघ का विशेष सुविधा देने का प्रबंध तय हुआ।

5 सोवियत संघ चीन के दक्षिणी और पूर्वी मंचूरिया के रेल यातायात में हिस्सेदारी चाहता था तथा चाहता था कि पोर्ट आर्थर उसे नौसैनिक अड्डा बनाने के लिए लीज' में दिया जाए। यह भी स्टालिन को भेंट में दिया गया यद्यपि च्यांग काई शेक से इस बारे में कोई बातचीत नहीं हुई थी। लेनदेन का वही पुराना साम्राज्यवादी तरीका मजे में चलाया जा रहा था। चीन के सप्रभु थे अमेरिका ब्रिटेन जो देने वाले थे सोवियत संघ दावेदार था और लेने वाला लेकिन माल सारा का सारा चीन का था। लेनिन का अक्टूबर क्रांति के तत्काल बाद की गई "क्रांतिकारी घोषणा", जिसने समूचे एशिया में बिजली की कौंध की तरह 'प्रकाश' फैला दिया था बीते दिनों की एक सुभावनी याद बनकर रह गई थी।

क्रांतिकारी स्टालिन जिसने राष्ट्रों के आत्म निर्णय के अधिकार का कभी सिंहनाद किया था, हिटलर और मुसोलिनी के मरने के पहले ही मर चुका था। यह स्टालिनी तो पीटर महान और जार निकोलस का उत्तराधिकारी था जो सम्राटों की पुरानी बहियां खोल खोलकर अपना दावा मनवाता चल रहा था। अमेरिका सब मानने को तैयार था बशर्ते कि स्टालिन जापान के विरुद्ध जंग में कूदने को तैयार हो जाए और उनका काम अपने बहादुर सैनिकों की जिन्दगियों की कीमत पर पूरा कर दे। महाजन अमेरिका कम खर्च पर अधिक से अधिक लाभ

पाने के चक्कर मे था। रूस की ओर स याल्टा मे एक ही माग थी कि इतना बडा उत्सग कर चुकने के बाद आखिर स्टालिन रूसी जनता स और अधिक से कुर्बानी के लिए कह तो कैस कह, अगर वह उन्ह यह आश्वासन न दिला सकें कि ऐसी कुर्बानी करके उन्ह कुछ उपलब्ध होगा अर्थात दूसरो की जमीन और जानमाल पर अबाध अधिकार मिलगा। उन्होने अपनी माग रखी कि डेरियन और पोट आथर पर पूरा अधिकार और मचूरियाई रेलवे लाइन का स्वामित्व, लेकिन सौदा पटा इस पर डेरियन बदरगाह का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो जायेगा, पोट आथर 'लीज' पर दे दिया जायेगा। और मचूरिया की रेलवे लाइन पर रूस चीन का साझा रहेगा। अमेरिका व ब्रिटेन राजी हो गये। तत्काल छिपाकर रखना इसलिए जरूरी बताया गया कि च्याग काई शेक के यहा बात छुप रह पायगी इसका भरोसा न था। बाद म उन्ह बता दिया गया और उन्होने च्याग काई शेक को भी राजी कर लिया [8] और ये बातें अगस्त सन 1945 के चीन रूस सधि मे दज हो गई। अमेरिकी लेखक जो याल्टा सम्मेलन के पक्षपाती है आसानी से यह तक देते हैं कि इस समझौत स चीन को यह मौका मिला कि वह सोवियत के अधिग्रहण का इस प्रकार सीमाबद्ध और लिपिबद्ध कर सके नही ता बाद म सोवियत सना आती तो अपनी मनमर्जी से इलाके हथियाती। ऐसी सूरत मे गिरत पडते चीन के लिए यह कितना बडा सहारा था। [9] जो इस समझौत स नाराज है उनकी नाराजगी यह नही है कि अमेरिका ब्रिटेन को क्या हक था कि वे चीन की जनता की सम्पति और अधिकार यो जुटाते फिरें, बल्कि उनकी नाराजगी इस बात पर थी कि जो अपना हो सकता था उसे रूसिया को क्यो दिया गया।

इस सदभ मे यह स्मरणीय है कि याल्टा के इस समझौते को च्याग काई शेक ने तो मान लिया पर चीनी कम्यूनिस्टा न जो मचूरियाई हिस्स मे लड रह थे, इसके विरुद्ध आवाज उठाई तभी यह तय हो गया था कि चीनी जनता किसके साथ है जिस तथ्य पर बाद मे गह युद्ध न मुहर लगा दी।[10]

पर तत्क्षण इतनी सुविधाओं के उपलब्ध किये जाने का आश्वासन पाकर रूजवेल्ट के अनुरोध पर स्टालिन ने वचन दिया कि यूरोपीय क्षेत्र म युद्ध समाप्त हो जाने के तीन महीन के भीतर सोवियत सघ जापान के विरुद्ध युद्ध छेड दगा।

जर्मनी और पोलेण्ड के सबध मे

याल्टा सम्मेलन सारत युद्ध सबधी निणयो का सम्मेलन था मित्र राष्ट्रो के ध्यान का मुख्य केन्द्र जमनी था जिसकी पराजय अब बहुत नजदीक आती दिख रही थी। सम्मेलन म शुरू शुरू मे यह विचार जोर पकडता रहा कि जमनी को अनेक राज्यो मे विखडित कर दिया जाए, पर बाद मे यह विचार पीछे ढकेल दिया गया। युद्ध का मुआवजा जमनी स वसूल करने का विचार भी बना। इसमे रूसियो

का जोर ज्यादा था और वे अपनी क्षति को ध्यान मे रख, जमनी से भारी हर्जाना वसूल करना चाहते थे और और चाहते थे कि 80 प्रतिशत जमनी के भारी उद्योग आसानी से जमनी से हटाए जाकर हर्जाने के तौर पर रूस को दिय जा सकते थे। उनका दबाव था कि हर्जाने की राशि 20 अरब डालर तक की होनी चाहिए जिसका कम स कम आधा सोवियत सघ को मिलना चाहिए अमरिका तयार हो गया कि यह प्रश्न रूसी सुझाव का आधार बनाकर मुआवजा आयोग को विचाराथ सौंप दिया जाए पर अग्रेज इसम सहमत न थे। इसलिए यह निश्चय किया गया कि जमनी को निशस्त्र किया जाए। जमन सैन्य सगठन को नष्ट किया जाए ताकि, दुबारा जमन सन्यवाद सिर न उठा सके। तथा सारे नात्सी सगठन नष्ट किए जाए। तभी युद्ध म क्रूरता बरतने वाल जमन सनिक व असनिक अधिकारी के विरुद्ध मुकदमा चलाया जाए और दण्डित किया जाए। आवश्यक जाच तथा समय का निणय तीन बडे पर राष्ट्र मन्त्रिया की समिति तय करें।

पोलेण्ड के सबध मे

याल्टा सम्मेलन के शुरू होते होते, रूजवेल्ट ने अपनी वह पुरानी नीति बदल दी कि शाति सम्मेलन होने के पूव तक रूस की पश्चिमी सीमा के बार मे चर्चा नही की जाए। दूसरा मोर्चा खोलने मे देरी करके मित्र राष्ट्रा ने रूस को विवश कर दिया था कि वह सन् 1941 की सीमाओ को मित्र राष्ट्रों के मनवाने का काम अपनी बहादुर सेनाओ के द्वारा पूरा करा ले। जो मन 1941 ने मागा जा रहा था, वह याल्टा सम्मेलन के समय का यथाथ बन गया था। यथाथवादी रूजवेल्ट और चर्चिल पोलेंड की कजन रेखा को मान रहे थे—यद्यपि सोवियत सघ अपने अनुकूल निर्धारित हुई इस सीमा को कजन के नाम स जोडने पर आपत्ति कर रहे थे यह उनकी नजर म नई सीमा रेखा थी जो चर्चिल के लिए कजन रेखा का ही सशोधन था। सोवियत की यह भी माग थी कि पोलेंड की सीमा पश्चिम की ओर बढा दी जाए और पूर्वी दिशा और साइलेसिया ही नही अपितु पोमरेनिया और बेडनबग की चोटी को जमनो स खाली करा दिया जाये और बदले म पोलेंड को जमनी के भाग दिए गए।[31]

पालण्ड के बारे म यह भी तय हुआ कि वहा राष्ट्रीय एकता की अस्थायी सरकार शीघ्र स्थापित की जाएगी। अभी भी पश्चिम के मित्रो का ख्याल था कि पूर्वी यूराप रूसी सेनाओ की उपस्थिति के बावजूद उनके अपन शिकजे स बाहर न हो पायेगा अर्थात पूजीवादी दुनिया का अग बना रहेगा। पोलेंड मे सोवियत समर्थित लुबालिन सरकार गठित हो चुकी थी, पर अग्रेज लदन मे एक प्रतिद्वद्वी पोलीय सरकार बनाये बैठे थे। अग्रज अपने शरणार्थिया को बेसहारा करने को तैयार न थे। बहुत जद्दोजहद क बाद यह तय हुआ कि पालीय सरकार पुन गठित की

जाए। जिसम पोलेंड के अदर और बाहर, दोनो तरफ के पोल नेता उसमे शामिल हो और जैसे ही सभव हो सके, एक निर्बाध चुनाव पूण वयस्क मताधिकार के आधार पर कराया जाए। इस चुनाव मे सभी लोकतत्री और नात्सी विरोधी दलो को चुनाव प्रचार करने का अधिकार मिले और गुप्त मतदान की प्रणाली अपनाई जाए।

या कुख्यात म्युनिख समझौता कर ब्रिटेन जो हमेशा के लिए खो चुका था, उसे पुन हथियाने की चेष्टा चलती रही। स्तालिन की माग थी कि पोलेंड की सीमा नीस ओडर नदी-तट तक लाई जाए ताकि न केवल पूर्वी दिशा बल्कि समूचा साइलेशिया, तथा पामेरिनयन और ब्रे डनवग का सिरा इसमे शामिल हो सके जिसमे स्टेटिन भी पोलेण्ड के पास रह।

पोलेंड के बारे में स्तालिन ने बडे मार्मिक ढग से कहा "रूसी लोगो के लिए पोलेंड का प्रश्न केवल प्रतिष्ठा का प्रश्न नही रहा है, बल्कि वह सुरक्षा का प्रश्न रहा है। समूचे इतिहास मे पोलेंड के गलियारे स होकर ही शत्रुओ ने रूस पर चढाई की है। पिछले तीस वर्षों मे दो बार, हमारे दुश्मनो ने, जमनो न इसी गलियारे का इस्तेमाल किया है। यह रूस के हित म होगा कि पोलेंड सुदढ और शक्तिशाली हो, उसमे ऐसी समथ्य हो कि अपने बलबूते पर गलियारे बद रख सके—यह आवश्यक है कि पोलेंड मुक्त और अपनी सत्ता म स्वाधीन हो। इसलिए सोवियत राज्य के लिए केवल प्रतिष्ठा का प्रश्न नही है बल्कि, जीवन और मृत्यु का प्रश्न है।[3]

पोलेंड का मामला चर्चिल के लिए अहम सवाल बन गया था आखिर म्यूनिख समझौता करने के बाद पोलेंड को लेकर ही तो अग्रेज लडाइ मे कूद थे पर उधर स्टालिन का भी जबदस्त आग्रह था कि अतीत मे सदा पोलेंड वह गलियारा रहा है जहा स आक्राता रूस पर हमला करने आये थे। पिछले तीस वर्षो म दो बार पोलेंड के रास्ते रूस पर हमला हुआ था। वह अब किसी भारी आक्राता को पोलेंड के रास्ते" स आगे न आने देने के लिए कटिबद्ध थे और इसके लिए वे दढ निश्चय कर चुके थे कि पोलेंड स्वाधीन रहेगा, मजबूत रहेगा पर एसा ही रह सकेगा जो सोवियत के दुश्मन और सोवियत के लिए सदा ही भिन्न रहने वाला देश। सोवियत नेता अब सुरक्षा के इस प्रश्न पर किसी तरह की गफलत मे पडने को तैयार न थे।

मुक्त यूरोपीय क्षेत्रो के सबध मे

यही बात और भी खुलकर उन यूरोपीय क्षेत्रो म लागू हुई जिन्हे रूसी लाल सेना मुक्त कर चुकी थी या मुक्त करने की प्रक्रिया म थी। याल्टा मे यह तय हुआ कि इन क्षेत्रा मे नात्सी फामी शक्तिया समूल नष्ट की जायेंगी और एटलाटिक

चाटर के अनुसार यहा नात्सी विरोधी तथा लोकतत्री शक्तियो का मजबूत किया जाएगा और लोकतत्र की स्थापना की जायगी। ब्रिटेन व अमेरिका एक ओर, सोवियत सघ दूसरी ओर, लोकतन्त्र की अपनी अपनी परिभाषा अपने पास ही रखे रहे, जो जब इन क्षेत्रा मे व्यवहार म उतारी जाने लगी तो विवाद उठ खडे हुए। इसका मुख्य कारण यह रहा कि पश्चिमी मित्र राष्ट्र लोकतत्र के नाम पर अपने ढग की पूजीवादी व्यवस्था और उसको पनपाने वाला उदारवादी स सदीय लोकतत्री व्यवस्था को यहा जमाने की मशा रखता था। इस प्रकार की व्यवस्था यहा, चेकोस्लोवाकिया को छोडकर अन्य न कही पहले भी न थी, न अब बच रही थी। पर याल्टा म अभी भी लोकतत्र को स्थापित करने की उम्मीद अभी भी बाधे रहा।

युगोस्लाविया के सबध मे

यहा माशल टिटो की मुक्तिवाहिनी नात्सी सना का जमकर मुकाबला कर रही थी तेहरान सम्मेलन म स्टालिन ने टिटो को मित्र राष्ट्रा की ओर सहायता पहुचाने का आग्रह किया था अब लडाई निर्णायक दौर मे पहुच चुकी थी। यहा यह तय हुआ कि टिटो और सुबासिच के बीच सम्पन्न हुए समझौत के अनुसार नई सरकार का गठन किया जाए। स्टालिन एव चर्चिल के बीच 50/50 प्रतिशत प्रभाव की मात्रा के बटवारे का यह पहला फल था।

युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के निर्माण के बारे मे सोवियत के तीन सदस्य व तीन मत

याल्टा मे तीन बडो ने युद्ध क बाद वैसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था ढाली जाए इस पर मुख्यत चिन्तन मनन किया। डाबटन ओक्स म बातें पहले हो चुकी थी। उसी सिलसिले को आगे बढाते हुए यह तय हुआ कि सोवियत सघ के दो गणराज्यो को —यूक्रेन और बाइलोरसा को को अलग स सदस्यता दे दी जाए—यद्यपि स्टालिन लिथुआनिया को भी सदस्य बनवाना चाहते थे। सोवियत नेता सयुक्त राष्ट्र सघ म अपना वजन बढाना चाहते थे। अमेरिका इस मानने स हिचक रहा था पर ब्रिटेन हिन्दुस्तान और अपने उपनिवेशो को ध्यान म रख इस मात्रा वद्धि का समथक बन गया जिसस सोवियत सघ को सयुक्त राष्ट्र सघ मे तीन 'मत' प्राप्त हो गए, इसी प्रकार ब्रिटेन को अपने उपनिवेश व डोमीनियनो के अमेरिका ने भी तीन मत मागे। स्तालिन इसके लिए राजी थे पर अमरिका ने इस माग को छोड दिया। उनके पास लातिनी अमरीका क 21 राज्या के अधिकाश मत पहले स ही जेब मे थे।

निषेधाधिकार

अमेरिका याल्टा मे सयुक्त राष्ट्र सघ के सबध मे अतिम रूप से समझौता

चाहता था। पर सयुक्त राष्ट्र सघ के निर्माण मे सबस बडी बाधा निषेधाधिकार का लेकर उठ रही थी। डाबटन ओक्स मे सोवियत सघ ने जोर दकर कहा था कि निषेधाधिकार की शक्ति पूरी तरह से और निर्वाचन रूप से रहनी चाहिये अर्थात सोवियत सघ या पाच मे स किसी भी बडी शक्ति के हित के विरुद्ध कोई भी काय वाही सयुक्त राष्ट्रसघ के माध्यम से नही होनी चाहिए। पर सयुक्त राष्ट्र सघ के मच से बडी शक्ति क विरुद्ध कारवाई पर निषेध मान लिया गया, यह नही माना गया कि 'बडी शक्ति के सबध मे चर्चा पर ही निषेध लगा दिया जाए जैसा सोवियत चाहते थे।

याल्टा मे यह निश्चय हुआ कि 25 अप्रल सन 1945 को सान फ्रासिसको मे सयुक्त राष्टो का एक सम्मेलन बुलाया जाए और इसमे वे सभी राष्ट्र आमन्त्रित किए गए जिन्होने। माच सन 1945 तक जमनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी हो।

याल्टा सम्मेलन एक अध्याय का अन्त

बडी शक्तिया के मध्य वार्ता के क्रम का रास्ता याल्टा से सीधे सान फ्रासिसको पहुचा जहा सयुक्त राष्ट्र सघ के विधान के बारे मे विचार विमश का अतिम दौर चला। इस महत्त्वपूर्ण सम्मेलन के शुरू होने के पूव एक दुघटना घट गई और वह दुघटना थी अमेरिका के लोकप्रिय राष्ट्रपति रुजवेल्ट का 13 अप्रल सन 1945 को निधन होना। यह एक ऐसी क्षति थी जिसकी युद्धोत्तर काल मे फिर क्षतिपूर्ति न हो सकी और जिसकी वजह स मित्र राष्ट्रा के बीच युद्ध काल मे निर्मित आपसी सौहार्द्र, विश्वास एव सहयोग का माहौल ज्यादा देर तक टिका न रह सका। अमेरिका म रुजवेल्ट के उत्तराधिकारी के तौर ट्रूमेन ने राष्ट्रपति पद का भार सभाला। उप राष्ट्रपति बनने के पूव व सिनेट म डेमोक्रेटिक दल के नेता थे। युद्धोत्तरकाल की समस्याओ से निबटन के लिए सिनेट से सहयोग की आवश्तकता को ध्यान म रखकर उन्होने ट्रूमैन को अपना साथी चुना था ताकि ट्रूमैन के सिनेटीय नेतृत्व के अनुभव का पूरा लाभ उठाकर सिनेट के हाथो राष्ट्रपति विल्सन वाले दुर्भाग्यपूण व्यवहार को बचा ले जाए। पर ट्रूमन एक दूसरे ही ढग के नेता थ, स्वभाव की दृष्टि से भी, शैली और नेतृत्व की क्षमता की दृष्टि से भी। सिनेट के एक नेता की हैसियत से सोवियत के विरुद्ध युद्ध छिडते ही उन्होने सुझाया था।

'यदि हम यह पाये कि जमनी लडाई जीत रहा है, तब हमे रूस की मदद करनी चाहिए और यदि रूस जीत रहा हो, तब हमे जमनी की मदद करनी चाहिए और इस ढग स व एक दूसरे को जितना मार सकें हम उन्ह करने दें।'[33]

य ही महाज्ञानी सिनेटर महोदय रूजवल्ट के उत्तराधिकारी बन पर तब तक रूस और जमनी क बीच का महायुद्ध निणायक दौर पर पहुच चुका था और पिटी

पिटायी जर्मन नात्सी शक्ति को मदद कर संतुलन बनाने का सपना हवा हो चुका था। उल्टा रूस जीत रहा था, और ट्रूमेन कुछ भी नही कर पा रहे थे। यह एक दुर्भाग्य की बात थी कि सीमित क्षमतावाले इस नेता को विश्वास मे लेकर रुजवेल्ट युद्धकाल की मित्रराष्ट्रीय उपलब्धियो और एकता और सहयोग की समस्याओ से अवगत नही करा सके। उनका नया कार्यकाल शुरू ही हुआ था कि वे चल बसे। रुजवेल्ट के हाथो प्रशिक्षण के अभाव मे अपने स्वभाव और बौद्धिक क्षमता की सीमाओ के अंतर्गत, भारी जिम्मेदारियो का बोझ पडते ही, युद्धकालीन और युद्धोत्तर समस्याओ की पेचीदगियो और बारीकियो पर अपनी पकड को मजबूत करने के बजाय ट्रूमेन को जो सहज रूप सह ही सूझा वह था। युद्धकाल के अपने मित्र और सहयोगी सोवियत संघ के विरुद्ध मुट्ठी तान लेना। वे स्टालिन के वरिष्ठ सहयोगी मोलोतोव को इस नए रूखे अमेरिकी नेतृत्व का स्वाद चखाने से तब बाज नही आये। मोलोतोव मास्को से सान फ्रासिसको सम्मेलन मे भाग लेने के लिए अमेरिका पहुचते ही ट्रूमेन के प्रति अपना रुझान प्रकट करने के लिए उनसे मिले। अपनी इस पहली मुलाकात मे ही पोलैंड के प्रश्न को लेकर मोलोतोव को बुरी तरह झाडने की घटना को ट्रूमैन ने बडे मिर्च मसाले के साथ अपने संस्मरण मे याद किया है।[34] स्पष्ट है कि मोलोतोव इस झाड को सुनने के लिए नही आए थे।

ट्रूमेन ने मोलोतोव से अमेरिका की ओर से यह आरोप लगाते हुए नाराजी प्रकट की कि वे (रूसी) पोलैंड के बारे मे हुए याल्टा समझौता को फिर से लागू नही कर रहे हैं। बात जिस ढंग से कही गई वह ढंग कोटि के राजनयिक नेताओ के बीच कभी नही अपनाया जाता जिसमे 'शिष्टता और मृदुता' का कतई लेप ही नही था।[35]

यह अशिष्ट "झाड झडप' 23 अप्रैल 1945 को घटी थी। अमेरिका अभी भी गरजमंद था कि सोवियत संघ यूरोप की लडाई खतम होते ही जापान के विरुद्ध युद्ध मे कूद पडे। बात यही नही रुकी। गरम मिजाजी के दौर ने आगे चल कर तुरंत ही 'उधार पट्टे' को वही बंद करा दी। प्रशासक ट्रूमेन के पास इस आशय की आदेश का प्रारूप लाए और उन्होने बिना उसे पढे तुरंत उस पर हस्ताक्षर कर दिए युद्धकाल से चली आ रही 'उधार दी जाने वाली यह मदद तुरंत रूस और यूरोप के मित्रो को बंद कर दी गई। बाद मे यूरोप के मित्रो के विरोध पर इस आदेश को रद्द कर दिया गया और ट्रूमन का इस सिलसिले मे अपना बयान यह रहा कि यह आदेश रूजवेल्ट के समय मे ही तैयार हो चुके थे और उन्होने ठीक से पढे बिना इस पर अपने हस्ताक्षर कर दिए थे।[36] उधार पट्टा फिर से कुछ समय के लिए चालू हो गया पर भावनात्मक ढंग से जो चोट पडनी थी वह युद्धकालीन मित्रता पर पड ही गयी।[37]

इस प्रकार याल्टा सम्मेलन समाप्त हुआ। यह युद्धकालीन अन्य सम्मेलनो की

तुलना मे अधिक महत्त्वपूर्ण एव अधिक सफल सम्मेलन रहा। समय की बात है कि उन तीन बडे राष्ट्राध्यक्षो के मध्य यह अतिम सम्मेलन सिद्ध हुआ जिन्होने पिछले चार वर्षों म मिलजुलकर सहयोग और सौहार्द्र तथा सौमनस्य के नये कीर्तिमान स्थापित किये। इसम गुप्त भेंटनायें हुई, गुप्त समझौते हुए और मतभेद और शकाए सदेहो को दूर करने की कुल मिलाकर सफल प्रयत्न हुए। यह सम्मेलन राष्ट्रपति रूजवेल्ट के जीवन काल का अतिम सम्मेलन सिद्ध हुआ क्योकि कुछ दिनो के बाद ही उनकी मृत्यु हो गई और उनकी जगह उनके उतराधिकारी उप-राष्ट्रपति ट्रूमैन ने ली।

याल्टा समझौतो की आलोचना
(कितनी खरी कितनी खोखली)

कालान्तर म जिस प्रकार सौहार्द्र और सौमनीयता का वातावरण खडित हुआ और "शीतयुद्ध" भडक उठा उसे देखकर अक्सर लोग इस प्रश्न को उठाते हैं कि यदि रूजवेल्ट की इस प्रकार दुनिया के रगमच स विदाई न हो गई होती तो मित्र राष्ट्रो क बीच सौहार्द्र और सौमनस्य के पुल इस तरह टूटते नही और मित्र राष्ट्रो के बीच चला आ रहा युद्धकालीन सहयोग जारी रहता। वस तो यह प्रश्न दुनिया भर के इतिहास मे उठे, 'यदि एसा हुआ हो तो" कोटि का प्रश्न है और इस अर्थ से निरर्थक है, पर यदि इस प्रश्न स कल्पना जगत म उलझा ही जाए तो यह कहा जा सकता है कि यह अनुमान अज्ञात ही सही घटना। राष्ट्रपति रूजवेल्ट एक अत्यन्त प्रभावशाली राष्ट्रपति थे जिन्होने तीन बार चुनाव जीतकर एक अभूतपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया था (इसी वजह से वहा सविधान म सशोधन की यह व्यवस्था कर दी गई कि कोई भी व्यक्ति अमेरिका का राष्ट्रपति दो बार स अधिक नही चुना जा सकता है) वे युद्धकाल म ही तीसरी बार चुन लिए गए थ इसलिए वे सन् 1949 तक राष्ट्रपति पद पर होते। वे अत्यत व्यवहार कुशल और राजनीतिक तौर पर दक्ष नेता थ इसलिए युद्धोत्तर पेचीदगियो को सुलझा भी सकते थे। पर सवाल यह है कि क्या कोई भी नेता, चाहे ही वह रूजवेल्ट हो, या स्टालिन हो, अपनी समाज व्यवस्था अपने इतिहास के द्वारा निर्दिष्ट सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है। रूजवेल्ट अपने अमरीकी समाज और उसके [illegible] वर्ग की अपनी सहज सीमाओ को आगोश म [illegible] [illegible]। य युद्ध [illegible] कहा लाघ पाये। युद्ध मे कूदने स पहले अमरीका का हथियार [illegible] म, युद्ध से कटकर चलने की नीति म, [illegible] और [illegible] [illegible] आजादी के मामले म [38] [illegible] [illegible] [illegible] उन्होने कहा एसा कदम उठाया [illegible] [illegible] उन्होने क्या लुटाया। याल्टा म [illegible] [illegible]

भेंट किए थे। इतना ही नही, वे चर्चिल के साम्राज्यवादी हितो को भी आघात पहुचाने को तैयार न थे। वस्तुत बहुत कुछ वे उनसे सुरताल बैठाकर ही चलते रहे। उल्टा यह कि पूर्वी यूरोप के मसलो को निबटाने, उसके बारे मे चर्चिल, स्टालिन के बीच समझौते के वे विरोधी रहे। पोलैंड का मसला हो, या जर्मनी का उसमे वह कोई समझौतापरस्त नीति के हामी न थे। पर फ्लेमिंग के इस कथन से सहमति प्रकट करने मे हमे आपत्ति नही होनी चाहिये कि यदि राष्ट्रपति रूजवेल्ट युद्धोत्तर समस्याओ को सुलझाने के लिए उपस्थित होते तो अन्य पक्षो की ओर से एक दूसरे के प्रति इस सावधानी के साथ व्यवहार किया जाता और सम्भवत शीतयुद्ध भडक पडता। कहा जा सकता है कि कम से कम उसका यह स्वरूप तो न बनता जो ट्रूमैन के हाथों हुआ।

यह एक बेकार की अमेरिकी बकवास है कि रूजवेल्ट याल्टा के दिनो रूग्ण थे। इस कारण याल्टा के समझौते इस प्रकार हुए और अमेरिकी हित खटाई मे पड गए। रूजवेल्ट हो या चर्चिल, यह कोई युवा नेता न थे, ऐसा न था कि युद्ध के पूर्व बहुत "स्वस्थ' रहे हो, युद्ध के दौरान, खासकर याल्टा मे बीमार पड गए हो, और कमजोरी की हालत म इस प्रकार नासमझी दिखा गए हो। अगर याल्टा पहले के समझौते नासमझी के दृष्टात न थे तो याल्टा के समझौते तो अमेरिकी साम्राज्यवादी हितो की दृष्टि से कतई नुकसानदेह समझौते न थे। वस्तुत इससे अधिक लाभप्रद समझौते और हो ही क्या सकते थे, उस समय जबकि सोवियत सघ सकट की विकराल घडी को ठेल कर पोलैंड तक आ गया था और जर्मनी की घेराबदी शुरू हो चुकी थी। दूसरा मोर्चा खोलने म विलम्ब करके सोवियत सत्ता को और अधिक कुर्बानी के लिए बाध्य किया जा सकता था पर सोवियत लाल सेना तो एक अजेय शक्ति की तरह बढती ही जाती और यूरोप का मानचित्र कुछ और दूसरा भी हो सकता था। यूनान म कम्युनिस्ट कमजोर न थे। याल्टा का समझौता द्वारा स्टालिन ने यूनान की भेंट चढा दी थी और अग्रेजो को भूमध्य सागर और उसके रास्ते अपने अधीन रखने का अवसर सौंप दिया था। फिर जब तक जापान सोवियत अनाक्रमण सधि बरकरार थी, अगर आग्ल-अमेरिकी युद्ध बनता और हिटलर के उतराधिकारियो से साठ-गाठ कर 'दूसरे मोर्चे' की जगह कुछ दूसरे प्रकार की दुरभि-सधि सम्पन्न होती, तो सोवियत का गठबधन जापान को अमेरिका के आगे घुटने टेकने न देता। अमेरिका का मुख्य स्वार्थ पूर्वी एशिया मे था यूरोप मे उतना नही जापान ने ही अमेरिका का युद्ध मे ला घसीटा था।

साराश यह कि याल्टा समझौता की युद्धोत्तर अमेरिकी आलोचना बेमानी और शीतयुद्ध की तिरदाजी मात्र है। याल्टा के पूर्व के मित्र राष्ट्रो के युद्धकालीन साहचर्य और सहयोग का वह सहज परिणाम था। वह स्वाभाविक सहज रूप से घटा चूकि, उसके पूर्व का घटनाचक्र इसी दिशा म सहयोग को मोड रहा था। जैसा

ल्फेमिग ने ठीक ही लिखा है कि याल्टा के आलोचक उस मित्र को "आज की हालत म पीछे मुडकर देखते हुए गडबडा देते हैं और उन परिस्थितियो पर ध्यान नही देत जिनके अधीन याल्टा मे एकत्र हुए समर साथियो ने बातचीत और समझाते किये थे।[39] 25 जुलाई सन् 1945 को अथात अणुबम फेंके जाने से कुछ ही पूव और याल्टा के बाद, विसकोसिन के अमेरिकी सेनेटर अनेकजेन्डर विली ने अपने एक भाषण मे रुस से मार्मिक अपील करते हुए कहा, "लाखो अमेरिकी घरो मे, मातायें, पिता और प्रेमी युगल बेसब्री से रुस क इराद बताने वाली खबर का इतजार कर रह हैं। वे यह जानते है कि यदि रुस न युद्ध छेड दिया (जापान के विरुद्ध), यदि उसके बमवपक युद्धपात ब्लाडीवास्टक से जापान के विरुद्ध घबराकर बाहर निकल आयेंग, तो य कायवाहिया जापान का घुटने टेक दने के लिए अन्तिम कायवाहिया सिद्ध होगी। इस प्रकार रुस के निणय पर अनगिनत अमेरिकिया के जीवन टग हुए हैं। जब हम यह चाहते हैं कि सुदूरपूव मे रुस अपना युद्ध भार उठाय, तब हम नही चाहते कि कोई यह कह कि हम उसके घरेलू मामला मे दखल दे रहे है—मैं एक अमेरिकी सेनेटर होने के नाते र्तव्य च्युत होने का दोषी ठहराया जाऊगा, यदि पूरे विनय के साथ अपनी सारी ताकत के साथ लाखो अमेरिकियो के दिल की इस आशा को बुलन्द न करू कि प्रशात मे रुस कृपया अपनी भूमिका अदा करे।"[40]

स्टालिन के रुस ने अपना याल्टा का वचन निभाया। यूरोप मे लडाई खतम होने के तीन महीने के अन्दर जापान सोवियत अनाक्रमण सधि को समाप्त कर जापान पर हमला कर अपनी मित्र राष्ट्रीय पक्षधरता का सुदढ प्रमाण प्रस्तुत किया।

सारा झगडा, ऐसा कहा जाता है कि पोलैंड और दूसरे क्षेत्रा मे युद्धोत्तर "लोकतत्रीय व्यवस्था" की स्थापना को लेकर उठ रहा था। स्थिति यह थी कि पूर्वी यूरोप मे लाल सेना भारी कुर्बानी दकर प्रभावशाली ढग से उपस्थित थी। *स्टालिन को विश्वास था कि मित्र राष्ट्र फासी व नात्सी तत्वो को समूल नष्ट* करने मे उनके साथ हैं। उनको यह आशा थी कि व गैर साम्यवादी तत्व जिन्होने फासी व नात्सी दमनचक्र को साम्यवादियो के साथ साथ झेला है, व युद्धोत्तर व्यवस्था मे साथ रहेंगे। एक नये प्रयोग के लिए स्तालिन व उनके साथी तैयार थे। यही "जनता के लोकतन्त्र" का उनके लिए अर्थ था, पर यह सब सहयोग के आधार पर ही सभव था। अमरिका व उनके साम्राज्यवादी साथी, वह बाजी लोकतत्र की पश्चिमी शैली के माध्यम से जीतना चाहते थे जिसे वह म्यूनिख तथा युद्ध म पहले ही हार चुके थे। "लोकतन्त्री" चुनाव के नाम पर रुसी लाल सना एक सजी सजायी तश्तरी मे उन्ह पूर्वी यूरोप फिर से भेंट कर दें, यह माग एक उभर रहे माहौल का सकेत द रही थी जिसमे युद्धकालीन मेल मिलाप

व विश्वास को दफनाने की तैयारी हो चुकी थी और रूजवेल्ट के विश्वास व श्रद्धा पूर्वक किए गए "सेनबंधु" की कार्यवाहियां की जमीन हिलाई जा रही थी।

डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन अगस्त 21, 1944 से सान फ्रांसिस्को (25 अप्रैल सन् 1945-26 जून सन् 1945) संयुक्त राष्ट्र का निर्माण—

युद्धकाल के दौरान, युद्धसंचालन के साथ साथ जो सबसे बड़ा रचनात्मक काम मित्र राष्ट्रों में शुरू किया था वह था संयुक्त राष्ट्र के रूप में एक सुदृढ़ अंतर्राष्ट्रीय संगठन की नींव डालना ताकि, युद्ध समाप्त होते ही, वह मृत राष्ट्रसंघ का स्थानापन्न बन सके और उसके उन दोषों और निर्बलताओं से मुक्त हो, जिसके कारण राष्ट्रसंघ जनमते ही पंगु बन गए थे और अपने पूरे कार्यकाल में कभी लोकप्रिय नहीं बन सके थे। जाहिर है कि एक सबल और सम्पन्न व बड़े राष्ट्र के रूप में अमेरिका में इसको लेकर काफी विचार मंथन चल रहा था पर ऐसा संगठन की नितांत आवश्यकता की अनुभूति सर्वत्र थी। सोवियत संघ में कम्युनिस्ट अंतर्राष्ट्रीय संगठन को भंग कर दिया था और वे भी ऐसे एक सर्वप्रिय और सर्व सेवी संगठन के पक्षधर थे। इसलिए उन्होंने शुरू से ही इन सम्मेलनों में रुचि पूर्वक भाग लिया। जब अगस्त 21 1944 को डाम्बर्टन ओक्स में यह सम्मेलन हुआ, तो अमेरिकी रूसी और ब्रितानी ये तीनों बड़े देशों के प्रतिनिधियों ने अपनी ओर से मसविदे रखे और खुलकर बहस में भाग लिया और आशाजनक बात यह थी कि इन तीनों में कोई गंभीर और तात्विक मतभेद न था। रूस की ओर से यह मांग की गई कि उसके सोलह के सोलह जातियों की सहायता दी जाए जिस पर आपत्ति हुई पर एक नये आधार स्तम्भ की तरह, संयुक्त राष्ट्र की कार्यवाहियों में भागीदार होने के पूर्व रूस अपनी स्थिति को संयुक्त राष्ट्र की लोक व्यवस्था में पहले से ही कमजोर करके नहीं चलना चाहता था विशेषतः ऐसी स्थिति में जहां बहुसंख्यक संयुक्त राष्ट्र के भावी सदस्य पूंजीवादी देशों के प्रतिनिधि होने वाले थे। इसी बात को लक्ष्य कर निषेधाधिकार का प्रश्न भी उठा याल्टा में यह मान लिया गया था कि तीन बड़ों के विरुद्ध कोई कार्यवाही की बात हो तो उसे रोकने के लिए निषेध का अधिकार बड़ों को मिलेगा पर अन्यों के साथ विवाद से ऐसा अधिकार नहीं रहेगा। यह सुझाव मान लिया गया।

डम्बर्टन ओक्स के बाद इस दिशा में दूसरा महत्वपूर्ण कदम था सान फ्रांसिस्को सम्मेलन जो 25 अप्रैल सन् 1945 से शुरू होकर 26 जून 1945 तक चलता रहा। इस सम्मेलन के शुरू होने के 13 दिन पूर्व राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु हो गई जिसने युद्धकालीन सहयोग और सौहार्द्र की निरंतरता पर कुछ व्याघात डाला कुछ शंकाएं, कुछ संदेह जो दब गए थे, सिर उठाने लगे, कुछ नयी पेचीदगियां दिखाई देने लगी। फिर भी यह सम्मेलन पूर्व निश्चित ढंग से सम्पन्न हुआ।

इस सम्मेलन मे सयुक्त राष्ट्र के 'चाटर' का निर्माण और उसकी स्थापना का काय सम्पन्न करना था। इसम भाग लेने के लिए 46 दशो को आमन्त्रित किया गया जिनकी ओर स 850 प्रतिनिधि शामिल हुए। वाद मे 4 राज्यो को और आमन्त्रित किया गया बाद मे इसमे पोलेण्ड को भी शामिल कर लिया गया। इस प्रकार 51 राज्या न सम्मेलन मे हिस्सेदारी की रूसी और अमरिकी नेता काडल हल क विरोध के बावजूद फासी अर्जेटाइना को सदस्य बना दिया गया—मतदान के बाद सम्मेलन म मुख्यत तीन बडी ताकता का दवदवा रहा और सम्मेलन से पारित हुए 'चाटर' पर इन तीन बडा के प्रभाव की छाप स्पष्ट थी। चाटर के प्राव धाना पर खूब बहस हुई, विवाद उठे, समाधान सुझाय गये और अन्तत 'चाटर' सव सम्मति स स्वीकृत हुआ जिस पर 51 राष्ट्रो क प्रतिनिधियो ने हस्ताक्षर कर मित्र राष्ट्रा की युद्धकालीन मित्रता सहयोग और परस्पर विश्वास और आशा को सयुक्त राष्ट्र की रचना के रूप मे साकार कर दिया।[40] एसा लग रहा था कि मानवता क इतिहास मे एक स्वस्थ अध्याय जुडने जा रहा है और अब से युद्ध फिर कभी न होगे।

मई का महीना आ रहा था। दुर्दान्त जमन नात्सी सेना ने मित्र राष्ट्रो के आगे घुटन टेक दिए। सोवियत की ओर ने जनरल जुकोव व आग्ल अमेरिकी पक्ष स जनरल आइसन हॉवर ने मित्र राष्ट्रा के सेनापति की हैसियत से जमन सेना का समपण स्वीकार किया। यूरोप मे युद्ध का अत हो गया।

पोट्सडम सम्मेलन युद्धोत्तर यूरोप के निर्माण की ओर (17 जुलाई 1945—2 अगस्त 1945)

नात्सी जमनी ने हार मान ली। आत्म सपपण कर दिया। यूरोप मे महायुद्ध खतम हो गया। महायुद्ध बच रहा। एशिया मे सैन्यवादी जापान के विरुद्ध अमेरिका के लिए कही विकट युद्ध था। अमेरिका को इस महायुद्ध मे घसीट लाने वाली लडाई थी ही जापान के विरुद्ध छेडी गई लडाई नही तो अमेरिका ता मजे से 'इस हाथ डॉलर दो उस हाथ हथियार लो' की नीति पर चल रहा था। इस बीच जहा यूरोप की लडाई खतम हो चुकी थी, और सोवियत सत्ता भारी कुबानी के बावजूद अब अभूतपूव हर्षोल्लास से नात्सी फासी शक्तियो पर विजय का पव मना रही थी अमरिकी सत्ता की चिन्ता का अभी भी अत नही हुआ था। ऊपर स नेतत्व का एक सकट भी पैदा हो गया था—रूजवेल्ट की मत्यु के कारण। ट्रूमन न उनकी जगह भर तो दी पर वे बहुत मायने मे नौसिखव थे और रीतिनीति म तथा सोच विचार म भूतपूव राष्ट्रपति स बहुत कम मिलते जुलते थे। जैस-जैसे समय बीता यह बात स्पष्टतर होती गई और इस विवाद को जन्म दे बैठी कि यदि रूजवेल्ट इस प्रकार असमय मे ही काल कवलित न हुए होते तो "शीत युद्ध'

के रूप में जो घटा, वह या तो घटता ही नहीं या बहुत विलंब से घटता। याल्टा में स्टालिन ने कहा था 'हम सभी यह जानते हैं कि जब तक हम तीनों जिन्दा रहेंगे कोई भी हमें आक्रामक कार्यवाहियों में नहीं डालेगा। लेकिन दस वर्षों के बाद शायद उनमें से कोई न रह पाएगा। एक नई पीढ़ी उपजेगी जिसे युद्ध की विभीषिका का कोई अंदाज ही न होगा। इसलिए यह हमारी अपनी जिम्मेदारी है कि हम ऐसा संगठन बनायें जो कम से कम पचास वर्ष के लिए शांति को सुरक्षित कर सके।'[4]

कम से कम पचास वर्ष की शांति व्यवस्था

इस प्रकार की शांति व्यवस्था जो कम से कम पचास वर्ष चल सके—नई पीढ़ी के लिए बनाने का उपक्रम संयुक्त राष्ट्र के निर्माण के रूप में हुआ और युद्ध समाप्त होते ही पोटसडम के सम्मेलन में युद्धोत्तर यूरोप का नक्शा क्या हो इसके बारे में विमर्श हुआ। आपसी झगड़े छुट-पुट हो रहे थे पर ऐसे तो पहले भी चले। आज की दृष्टि से न देखें, तो तब ऐसा नहीं लग रहा था कि मित्र राष्ट्रों में कोई दरार पड़ने जा रही है। तीन सुपरिचित बड़ों में एक उठ गया जो बहुधा स्टालिन और चर्चिल के बीच मध्यस्थता करता था और 'जिसके बड़प्पन का दोनों ख्याल करते थे। पर जब जर्मनी के पोट्सडम में फिर से तीन बड़ों के बीच बातचीत हुई तो रूजवेल्ट के उत्तराधिकारी को पाकर स्टालिन को ऐसा कुछ नहीं लगा कि रूजवेल्ट का अभाव कोई बड़ी आपत्ति को निमंत्रण दे रहा है बल्कि जल्दी ही दोनों एक दूसरे को पसंद आ गये, ऐसा कुछ आभास हुआ।

जब सम्मेलन शुरू हुआ तो इस एक बात पर तो तुरंत रजामंदी हो गई कि (1) बड़ी शक्तियों के परराष्ट्र मंत्रियों की एक परिषद निर्मित की जाए जिसके जिम्मे शांति संधियों की रचना आदि काम छोड़ दिया जाए। इसके बारे में सहमति हो जाने के बाद फिर शतरंज के दावपेच की तरह बातें शुरू हुई। शुरुआत हुई अमेरिकी प्रतिनिधियों की ओर से जिन्होंने आरोप लगाया कि बुलगारिया या रूमानिया के मसले में तीनों बड़ों की सम्मिलित कार्यवाही की जो बात याल्टा में तय हुई थी वह नहीं निभाई जा रही है। रूस की ओर से उत्तर तैयार था कि यूनान में इकतरफा कार्यवाही अंग्रेज करते ही जा रहे हैं और बड़ी ज्यादतियां वहां हो रही हैं और इटली के मामले में तो सोवियत संघ को बिल्कुल ही अलग कर दिया गया।[5] बात सच यह थी कि जहां जिसकी सेना काबिज थी, वहां दूसरे को हिस्सा देने का सवाल ही नहीं उठता था, याल्टा में हुआ हो, दो और बातों पर मनमुटाव हुआ। पहली बात थी रूमानिया में जो अमेरिकी तथा ब्रितानी सम्पत्ति के रूप में जो उद्योग थे, उन्हें रूसियों ने जर्मनों की सम्पत्ति के रूप में प्राप्त होने के नाते, अधिग्रहण कर लिया और उसे लौटाने का सवाल ही रूसियों की नजर में

नहीं उठता था। दूसरी बात थी रूसियो की ओर स माग की कि उपनिवशो की बदरबाट मे उन्ह भी हिस्सा मिले। अफ्रीका म इटली के एक उपनिवेश को न्यास के रूप मे चाहते थे। कैसी विडम्बना थी कि महान लेनिन के रूस को जिसन फिनलेण्ड लौटा दिया था, अक्टूबर क्राति के उस रूस को जारशाही के लहजे मे बातें करते सुनना जो राष्ट्रो के आत्म निणय का और मानवता की अतिम मुक्तिका स्वर बुलद किए रहा। युद्धोत्तर उभरे समाजवादी खेमे के द्वारा दिया जा रहा अपना पहला और नया युद्धोत्तर परिचय यह भी था। चीन के प्रदश प्राप्त करने की गुप्त समझौते वाली घृणित साम्राज्यवादी दुर्नीति की कैसी युद्धोत्तर परिणिति थी यह। यह सोवियत सत्ता के लिए अच्छा ही हुआ कि आग्ल अमेरिकी गुट ने शीत युद्ध छेड दिया और सोवियत सत्ता फिर क्राति के बोल बोलने लगी, अन्यथा अगर चर्चिल ट्रूमैन स्तालिन को बगलगीर बनाकर बदर बाट म हिस्सा लने को तैयार हो जाते, तो कामरड स्टालिन को हम जार "स्टालिन" के नय सस्करण मे देख पाते। रूसियो ने तुर्की स दा प्रान्त लौटान की माग रखी। स्टालिन साहिब उस जमीन का चप्पा चप्पा वापस ले आना चाहते थे जो कभी जारशाही की शान था।

शातिप्रिय अमेरिकी लेखक अपने नेताओ पर आरोप लगाते है कि इतना अच्छा अवसर अवसर लेनिन के शिष्य को राजी करने का और शाति की व्यवस्था करने का उन्होने अपने हाथो गवा दिया। इटली क एक उपनिवेश दे देने पर, तथा भूमध्य सागर म रूस को आ जाने दने से क्या बिगड जाता। बात शायद बन जाती और मिली भगत का युग चल पडता।[43]

इस बीच ब्रिटेन मे नये चुनाव की बात आ गई। युद्धकालीन मिलीजुली सरकार को चर्चिल यूरोप मे युद्ध समाप्त होने के बाद कुछ दिना और चलाना चाहते थ, पर लेबर दल राजी न हुआ इसलिए युद्ध खतम होत ही चुनाव कराने पडे। पोटसडम की वार्ता कुछ समय के लिए स्थगित रही। ब्रिटेन के चुनावा म चर्चिल का दल हार गया और लेबर दल न भारी विजय प्राप्त कर सरकार बनाने का अवसर प्राप्त कर लिया। चर्चिल इस प्रकार पोटसडम नही लौट पाय। पोटसडम सम्मेलन म यह दूसरी अनुपस्थिति थी, पर ब्रितानी नीति म ज्यादा परिवतन इसलिए नही आया चूकि, नये परराष्ट्रमत्री अर्नेस्ट वेविन युद्धकाल मे भी परराष्ट्र मामला म चर्चिल के एक प्रकार स हमराही ही थ। यही सिद्ध भी हुआ बल्कि, उनका मिजाज रूसियो के खिलाफ चर्चिल से कुछ ज्यादा ही गरम रहा करता था। इस प्रकार अकेले स्टालिन युद्धकालीन सहयोग और सौहार्द की भावना के साक्षी, उत्तराधिकारी तो दो नय 'बडे' आ गये थे जिनसे साक्षात्कार पहली बार ही हो रहा था और जिन्ह एसा लग रहा था कि रूसी नेता स्टालिन तो "विजय" का सपना दख रहे हैं।[44]

सैन्य नियन्त्रण म ले चुके थे।

(2) जर्मनी के साथ अतिम रूप स शाति सधि सम्पन्न करने के पूव उसक प्रति कैसा व्यवहार किया जाए, इसके बारे मे कुछ राजनीतिक सिद्धातो कुछ आर्थिक सिद्धातो, ऐसे ही क्षतिपूर्ति विषयक कुछ सिद्धातो तथा जमन नौ सेना के बटवारे के बारे मे तथा जमनी के व्यापारिक जहाजो के बटवार के कुछ सिद्धातो का निर्धारण किया गया।[4]

शुरू स ही चीन को यूरोप के इन मामला से दूर रखा गया। यूरोप के "भाग्य नियता" एशिया के मामलो मे दखल देने का पूरा अधिकार रखत थे, विजयी राष्ट्रो की पक्ति मे शामिल किए जाने के बाद भी चीन इसका अधिकारी न बन पाया कि वह यूरोप के समाधानो म अपना योगदान कर सके।

राजनीतिक दृष्टि से जमनी को वास्तव म तीन, पर व्यवहार म चार क्षेत्रो मे बाटा गया—अमेरिकी, ब्रितानी, रूसी और फ्रासिसी फ्रास "लुजपुज' था, फ्रासिसी सैनिको की वर्दी और हथियार भी आग्ल अमेरिकी मित्रो की उतारन" थे, पर चर्चिल फ्रास का हक दिलवा रहे, भले ही फ्रास का इलाका, थोडा थोडा अग्रेजी और अमेरिकी इलाका मे क्षेत्राश लेकर बना दिया गया। इसके नियत्रण के लिए चार महाशक्तियो के प्रतिनिधियो की एक परिषद की स्थापना की गई।

(3) यह भी निश्चित किया गया कि युद्धोत्तर जमनी को पूणत नि शुल्क और सना विहीन किया जायगा और नात्सी सगठना और उनके कानूनो को समूल नष्ट किया जायगा। यह तय किया गया कि जमनी म लोकतन्त्रात्मक शासन पद्धति स्थापित की जायगी और नागरिक स्वतन्त्रतायें की जायेंगी। इसके साथ ही यह महत्वपूण निणय लिया गया कि उन जमनो पर मुकदमा चलाया जायगा जिन्होंने युद्ध मे क्रूर और अमानुषिक यातनायें पहुचायी है।

आर्थिक क्षेत्र मे जहा एक ओर यह तय किया गया कि जमनी मे शस्त्रास्त्र तथा युद्ध सामग्री के उत्पादन पर रोक लगा दी जायेगी वहा यह भी तय किया गया कि उसकी अथव्यवस्था को एक विकेन्द्रीकृत कायव्यवस्था बनाया जायगा और कृषि एव शान्तिकालीन उद्योगो को प्रोत्साहन दिया जायगा। महत्वपूण निणय यह था कि सम्पूण जमनी का एक इकाई मानकर चला जायगा, भले ही कब्जा चार बडे राष्ट्रो का बना रह। जहा हर्जाने के बारे म यह तय किया गया कि जमनी स युद्ध का हर्जाना लिया जायेगा वहा यह भी निणय लिया गया कि वह हर्जाना इतना हो कि बिना बाहरी मदद के जमनी की अथव्यवस्था चलती चले। हर्जाने की रकम के बारे म यह तय हुआ कि सोवियत अधिकृत क्षेत्र मे सोवियत सघ हर्जाना ले और बाहरी पूजी का अधिग्रहण कर ले तथा अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य देश पश्चिमी क्षेत्र तथा बाहरी पूजी स वसूल लें। इसके अलावा यह भी तय किया गया कि शान्ति कालीन जमन अथव्यवस्था के लिए अनावश्यक कारखानो से

ट्रूमैन के ससमरणा स स्पष्ट हो जाता है कि रूजवेल्ट युगीन धैयपूर्वक की जाने वाली कूटनीतिक वार्ताओ का जिनमे पर्याप्त मात्रा मे शिष्टाचार का निर्वाह किया जाता था, अब गये जमाने की बातें हो चुकी थी। बात बात मे ट्रूमैन अपना धय खो रहे थे। बस जो बात, जो लिहाज थोडा बहुत अभी स्टालिन के लिए बचा था, वह इसलिए बचा था कि रूस को जापान के विरुद्ध "युद्ध क मैदान मे उतारना था। इसके लिए अमेरिकी सैनिक अधिकारी जोर दे रहे थे, पर ट्रूमैन ने अपना मन बना लिया था कि जापान की विजय मे रूसिया का योगदान तो होना चाहिये पर "विजय की लूट" मे हिस्सा कतई नही मिलेगा।[13]

पोट्सडम के समझौते

पोटसडम के उपर्युक्त महौल मे कुछ महत्वपूण समझौते हुए। ससमरणो में चाहे जो लिखा हो, पर दो बातें शुरू मे ही स्पष्ट थी कि अमेरिकी रूस को जापान के विरुद्ध लाने के लिए बेताब थे और रूसिया ने ठीक उस दिन स जिस दिन अतत नात्सी जमनी ने घुटने टेक दिए, जापान के साथ हुए समझौते का तोडने के लिए कमर कस ली। बर्लिन विजय के दूसरे दिन अपूव हर्षोल्लास से मित्र राष्ट्रो की विजय का ऐतिहासिक समाचार छाप—रूसी इस केवल रूस की विजय क रूप मे नहीं मना रहे थे, और साथ ही अमेरिका और ब्रिटेन की ओर स दी गई जापान को "समपण करने की चेतावनी भी छापी जिससे यूरोपीय विजय के दूसरे दिन ही जापान के विरुद्ध रूसिया के मन की बात खोली जा रही थी। य कदम इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि रूसी नेता मित्र राष्ट्रो की युद्धकालीन एकता और सहयोग को जारी रखने के पक्ष मे थे और अपनी ओर सहय शाति की स्थापना मे अपना योगदान करने मे दिलचस्पी रखते थे। जिस तरह से उन्होने पोटसडम मे "हर्जाने की माग पर जिद की और "उधार पट्टे" की समाप्ति पर वेदना प्रकट की उसे दखते हुए कोई ' शेखचिल्ली ही हो सकता है, जो ट्रूमन की इस दुराग्रही धारणा जो स्वीकार कर पायगा कि रूसी विश्व विजय का सपना देखने वाले इस युग के नये सिकन्दर बन रहे थे। पोटसडम मे यह तय हुआ कि —

(1) पाच बडो के परराष्ट्र मन्त्रिया की एक परिषद स्थापित की जाये—अथात अमेरिका, सोवियत सघ, ब्रिटन, फ्रास, एव चीन जिसका कार्यालय लदन मे ही स्थापित किया जाए। इस परिषद की पहली बैठक 1 सितम्बर सन् 1945 का लदन मे की जाए। बाद की बैठकें आपसी सहमति स अन्य राजधानिया मे भी हो सकती हैं। इस परिषद का काम था कि वह इटली, रूमानिया बुलगारिया, हगरी और फिनलेण्ड के साथ शाति सधिया का मसविदा तैयार करे और प्रादेशिक प्रश्नो को निबटाये। साथ ही इस उस जमनी के साथ की जाने वाली सधि का प्रारूप तैयार करने का काम भी दिया गया जिस तीना बडे मिलजुल कर अपने

सैन्य नियत्रण मे ले चुके थे ।

(2) जर्मनी के साथ अतिम रूप से शाति सधि सम्पन्न करने के पूव उसके प्रति कैसा व्यवहार किया जाए, इसके बारे मे कुछ राजनीतिक सिद्धा ता कुछ आर्थिक सिद्धातो, ऐसे ही क्षतिपूर्ति विषयक कुछ सिद्धातो तथा जमन नौ सेना के बटवार के बारे मे तथा जमनी के व्यापारिक जहाजो के बटवारे के कुछ सिद्धाता का निर्धारण किया गया।[4]

शुरू से ही चीन को यूरोप के इन मामला मे दूर रखा गया । यूरोप के "भाग्य नियता" एशिया के मामलो मे दखल देने का पूरा अधिकार रखते थ, विजयी राष्टो की पक्ति मे शामिल किए जाने के बाद भी चीन इसका अधिकारी न बन पाया कि वह यूरोप के समाधानो मे अपना योगदान कर सके ।

राजनीतिक दष्टि स जमनी को वास्तव म तीन, पर व्यवहार मे चार क्षेत्रा मे बाटा गया—अमेरिकी, ब्रितानी, रूसी और फ्रासिसी फ्रास "लुजपुज' था, फ्रासिसी सैनिको की वर्दी और हथियार भी जाग्त अमेरिकी मित्रा की उतारन" थे, पर चर्चिल फ्रास का हक दिलवा रह, भले ही फ्रास का इलाका, थोडा थाडा अग्रेजी और अमेरिकी इलाका से क्षेत्राश लेकर बना दिया गया। इसके नियत्रण के लिए चार महाशक्तियो के प्रतिनिधिया की एक परिषद की स्थापना की गई ।

(3) यह भी निश्चित किया गया कि युद्धोत्तर जर्मनी को पूणत नि शुल्क और सना विहीन किया जायगा और नात्सी सगठना और उनके कानूना को समूल नष्ट किया जायेगा । यह तय किया गया कि जमनी मे लोकतन्त्रात्मक शासन पद्धति स्थापित की जायगी और नागरिक स्वतन्त्रतायें की जायेंगी । इसके साथ ही यह महत्वपूण निणय लिया गया कि उन जमनो पर मुकदमा चलाया जायेगा जिन्होने युद्ध मे क्रूर और अमानुषिक यातनायें पहुचायी हैं।

आर्थिक क्षेत्र मे जहा एक ओर यह तय किया गया कि जमनी मे शस्त्रास्त्र तथा युद्ध सामग्री के उत्पादन पर रोक लगा दी जायेगी वहा यह भी तय किया गया कि उसकी अथव्यवस्था का एव विकेन्द्रीकृत कायव्यवस्था बनाया जायगा और कृषि एव शान्तिकालीन उद्योगा को प्रोत्साहन दिया जायगा । महत्वपूण निणय यह था कि सम्पूण जमनी को एक इकाई मानकर चला जायगा, भले ही कब्जा चार बडे राष्ट्रा का बना रहे । जहा हर्जाने के बारे म यह तय किया गया कि जमनी से युद्ध का हर्जाना लिया जायेगा वहा यह भी निणय लिया गया कि वह रजाना इतना हो कि बिना बाहरी मदद के जमनी की अथव्यवस्था चलती चल । हर्जाने की रकम क बार म यह तय हुआ कि सोवियत अधिकृत क्षेत्र से सोवियत सघ हर्जाना ले और बाहरी पूजी का अधिग्रहण कर ले तथा अमेरिका, ब्रिटन तथा अन्य देश पश्चिमी क्षेत्र तथा बाहरी पूजी से वसूल लें। इसक अलावा यह भी तय किया गया कि शाति कालीन जमन अथव्यवस्था के लिए अनावश्यक कारखाना म

10 प्रतिशत मशीनें और सामग्री पश्चिमी क्षेत्र से सोवियत सघ को दी जायँ और इसके अलावा 15 प्रतिशत औद्योगिक सामग्री, पूर्वी क्षेत्र से उतनी मूल्य का वस्त्र, कोयला, पोटाश, इमारती लकडी आदि देकर ले सकता था।

विजयी दावेदारो ने एक दूसर के क्षत्रो पर अपने दावे छोडे अर्थात सोवियत सघ ने पश्चिम जमनी के कारखानो और स्वर्ण कोष अपने दाव हटा लिए, इसी तरह ब्रिटेन, अमेरिका फ्रास ने पूर्वी जमनी के क्षेत्र के कारखाना पर अपने अपने दावे छोड दिये। जमनी की नौसेना के बार मे यह निणय लिया गया कि अधिकाश जमन पनडुब्बियो को डुबो दिया जायेगा केवल 30 प्रतिशत पनडुब्बिया तीना बडे देशा म बराबर बराबर बाट दी जायेंगी। व्यापारिक जहाजों को समान रूप स आपस में बाट लिया गया। कोनिग्स बग का नगर और आस पास का इलाका सोवियत सघ को देने का निश्चय किया गया।

(4) पोलैण्ड के बारे म याल्टा निश्चयो को दुहराया गया कि सावजनिक मताधिकार के आधार पर चुनाव कराया जायेगा और लोकतात्रिक सरकार की स्थापना की जायेगी। पोलैण्ड की अस्थायी तौर पर सीमा भी निश्चित की गई जिसके अनुसार पूव म बाल्टिक म स्वीन मुडे तक तथा पश्चिम मे ओडर और नीश नदियो के साथ साथ चेक सीमाओ तक रहेगी।

(5) यह भी तय किया गया कि इटली, बुलगारिया फिनलेण्ड और हगरी के साथ शाति सधिया सम्पन्न की जायें और इन शत्रु राष्ट्रा को सयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्रदान की जायें।

(6) ताजियस का क्षेत्र अतर्राष्ट्रीय बना दिया जाए। तह तय हुआ कि आस्ट्रिया के बारे म सोवियत प्रस्ताव पर विचार हो जब आग्ल अमरिकी सेना का वहा प्रदश हो जाए। आस्ट्रिया स क्षतिपूर्ति की राशि वसूल न की जाए।

(7) ईरान मे मित्र राष्ट्रा की सनायें स्थित थी। इसके सबध मे निणय लिया गया कि ईरान के इलाके खाली करा दिये जायें ताकि ईरान पर यह अस्थायी निगरानी खत्म हो और वह स्वतत्र राष्ट के रूप म पुन स्थित हो।

(8) काला सागर जल डमरूमध्य के बार मे मान्तुरे के अभिसमयो पर पुन विचार हो क्योकि व अब आग की हालत के अनुकूल नही रह गये।

(9) प्रादेशिक न्यायो के बारे मे परिषद न सोवियत प्रस्ताव पर विचार किया और यह तय हुआ कि इटली के उपनिवेशो के बार मे इटली सबधित शाति सधि मे विचार हो और उसे अगले सितबर की परिषद की बैठक पर विचार के लिए रखा जाये। इतिहास के मजे मजाये साम्राज्यवादी नेता अपनी पगत मे स्टालिन को बैठाने को तैयार नही थे।

दष्टव्य है कि पोटसडम सम्मेलन मे अभी भी मिलजुल कर महत्वपूण फैसले लिए जा रह थे। माहौल म कुछ नयापन था पर वह तीरा या कसैला नही लग

रहा था। कुछ भेदभरी नजरें इधर उधर पड रही थी, पर उनमे सदेह के विषैले बीज छिपे नही लग रह थे। कुल मिलाकर अभी भी युद्धकालीन एकता और सहयोग की भावना बरकरार मालूम दे रहा थी यद्यपि बहुत बारीक खरोच के से निशान कही कही दिखाई पडने की हालत मे उभर रहे थे। पर जापान का भय अभी भी अमेरिकी युद्ध विशारदा के मन पर हावी था और उनके दबाव के आगे ट्रूमेन के नतत्व मे अमेरिकी राजनेतागण युद्धोत्तर राजनीति को नई हवा दने की हिम्मत नही कर पा रहे थे। अभी उनके मन की उनके मन मे ही थी। वह वाणी का परिधान पहनकर निकलने की हिम्मत नही कर पा रही थी।

जापान के बारे मे

मुख्य मुद्दे की बात अमेरिकिया की नजर मे जापान सबधी निणय थे जिसने अकेला पड जाने के बावजूद अभी तक 'समपण' का रूख नहीं दिखाया था। पाटसडम म मित्र राष्ट्रो ने तय किया कि—

1 जापान के वे सैनिक तत्वो को निमूल किया जायेगा जिन्होने जापान को विश्व विजय के अभियान मे लगाया और बबरता पूवक युद्ध चलाया।

2 जब तक जापान से इन सैनिक तत्वो का सफाया नही हो जाता मित्र राष्ट्र जापान पर अपना नियत्रण बनाये रखेंगे।

3 जापान की प्रभुसत्ता, काहिरा सम्मेलन के निणयानुसार केवल होशू, होकाइयो, क्युशु, शिकोकू, तथा तीना बडी शक्तिया द्वारा निर्णीत ऐसे अन्य छोटे टापुओ तक ही सीमित मानी जायेगी।

4 (जमनी की तरह ही) जापानी सेनाओ को पूणत निशस्त्र किया जायगा।

5 जापान के युद्ध अपराधियो को दण्डित किया जायेगा और

6 जापान की युद्धोत्तर सरकार को लोकतन्त्र के आधार पर गठित किया जायगा तथा जापानी समाज मे वाणी लेखन धम और विचारो की स्वतत्रता तथा अन्य मौलिक अधिकारो की गारटी दी जायगी तथा।

7 युद्धोत्तर जापान मे स्वतत्र चुनावो के आधार पर जब उत्तरदायी सरकार स्थापित कर ली जायगी तभी मित्र राष्ट्र अपनी सेना वहा से हटाएग।

जापान को चेतावनी दी गई कि वह बिना शत आत्म समपण कर दे अन्यथा उसे शीघ्र ही नष्ट कर दिया जायेगा। चेतावनी दी गई अमेरिका, ब्रिटेन और चीन की ओर से सोवियत सघ को इसकी सूचना भेज दी गई। राष्ट्रो के इस व्यवहार पर जब मोलोतोव ने आपत्ति की तो उन्हें बताया गया कि यह तो इसलिए किया गया था कि सोवियत सघ ने अभी विधिवत जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा न की थी और वह पुरानी सधि से बधा हुआ था।

इस प्रसग म दो बातें दृष्टव्य है। पहली बात यह कि जापान के [illegible]

वाही अभी भी सम्मिलित तौर पर करने का सकल्प तो लिया जा रहा था और उस पर जमनी की तरह ही सभी का कब्जा स्थापित करने की धारणा स्पष्ट की जा रही थी पर सोवियत सघ का जापानी मामलो मे बना रहने की दुरभि सधि चलने लगी थी यद्यपि उनम अपेक्षा की जा रही थी कि वे जापान के विरुद्ध मोर्चे म आ डटेंग और उनके वचनानुसार यूरोपीय युद्ध की समाप्ति के 3 महीने के अदर वे जापान के विरोध म युद्ध की घोषणा करन वाले थे। 8 मई को युद्ध समाप्त हुआ तो इस हिसाब स 8 अगस्त तक उनके युद्ध म कूद पडने का भरोसा था।

परमाणु युग का पर्दा उठा

इस बीच अमेरिका मे एक युगा तरकारी वैज्ञानिक आविष्कार का सफल प्रयोग होने जा रहा था। कुछ वर्षों स आग्ल अमेरिकी सहयोग से दोनो देशा के वैज्ञानिक जिन्ह विशेषत आइन्स्टीन व ऑपेन हेमर ऐसी वैज्ञानिको प्रतिभाओ का अमूल्य सहयोग प्राप्त हो गया था परमाणु विखडन प्रक्रिया का सफलत प्रयोग करन म जुटे हुए थे। वह प्रक्रिया पूरी तरह सफल हुई और अमेरिका ने उस तक नीक पर आधिपत्य हासिल कर लिया पोटसडम म जब बैठक चल ही रही थी तब ट्रूमैन को परमाणु बम के सफल परीक्षण की सूचना ट्रूमैन ने चर्चिल को तो दे दी पर स्टालिन स इस गुप्त ही रखा गया उ हे केवल यह सूचना दी गई कि अमेरिका न एक भीषण अस्त्र के निर्माण म सफलता अर्जित कर ली है। स्तालिन का उत्तर था कि उन्हे आशा है कि इसका प्रभावशाली प्रयोग जापान के विरुद्ध होगा।[47] उन्होने यह उत्सुकता नही प्रकट की कि आखिर वह क्या अस्त्र है किस प्रकार का अस्त्र ह। इसकी उन्ह तभी जानकारी मिली जब 6 अगस्त को यह बम हिरोशिमा को आग की लपटो म भून गया और दखत दखत 70 हजार लोग कालकवलित हो गय और हजारो घर नष्ट हो गये। एक अभूतपूर्व विनाशलीला का लोमहर्षक दृश्य उपस्थित हो गया। उसके दो दिन बाद अर्थात 8 अगस्त को, तीन महीने का निर्णीत अवधि म सोवियत सघ ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

सोवियत सघ को छोडकर अन्य तीन मित्र राष्ट्रो न 27 जुलाई को अल्टि-मेटम' जो रखा था जिसे तत्कालीन जापानी प्रधानमंत्री ने ठुकरा दिया था और अमेरिकी नीति निर्माता 'परमाणु बम से जापान का सहार करने को तैयार हो गय। फेंक जाने के लिए बम 31 जुलाई को ही तैयार था पर खराब मौसम ने 5 दिन की मुहलत द दी। 6 अगस्त को अर्थात पोटसडम स वाशिंगटन लौटाने म पहल अमरिकी नेताओ न परमाणु बम से सहार करन की ठान ली और य ब्रह्मास्त्र छोड दिया और हिरोशिमा म मृत्यु का ताडव नृत्य शुरू हो गया। इस भीषण अस्त्र को जापानियो पर फेंकने का निर्णय लेकर ट्रूमैन ने डाक-

जनी के इतिहास के उस अध्याय की चरम परिणति ला दी थी, जो शताब्दी पूव के अमेरिकी कमाडर पेरी की जोर जबदस्ती से जापानी बन्दरगाह खुलवाने के लिए गोलाबारी करके शुरू की गई थी।[48] इसके दो दिन बाद अर्थात 8 अगस्त को सोवियत सघ भी जापान के विरुद्ध लडाई के मैदान मे आ गया, यद्यपि जापान सोवियत सघ से मध्यस्थता करने के लिए अनुरोध कर रहा था जिसकी खबर स्टालिन ने ट्रूमेन को दे दी और यह भी कह दिया था कि इस प्रस्ताव को उन्होने ठुकरा दिया है जिसकी दाद तब ट्रूमैन ने भी दी थी।

नौ अगस्त को दूसरा बम ऐसा ही भीषण नागासाकी के नगर पर छोडा गया। 10 अगस्त को जापानी सरकार आत्म समपण के लिए घुटने टेकने लगी। शर्तें 14 अगस्त तक तय हो गई और 2 सितबर को जापान ने आत्म समपण कर दिया। एशिया की एक मात्र साम्राज्यवादी शक्ति जो यूरोपीय और अमरिका साम्राज्यवाद से जमकर लोहा ले रही थी और बराबरी का दावा मजूर करवाने मे जुटी थी, जिसने एक एशियायी शक्ति के रूप म यूरोप के नक्शे कदम पर चलते हुए यूरोप की एक बडी शक्ति को 1905 मे पछाडा था और बाद म उनसे बराबरी मनवा ली थी, जिसने पल हाबर पर अमेरिका पर जबदस्त हमला कर अमरिका औद्योगिक और सामरिक दप के टुकडे कर दिए थे। जिसकी उदीयमान औद्योगिक और सामरिक क्षमता के आगे आग्ल अमेरिकी गुट त्रस्त था और जमन नात्सी और फासी इटली के साथ मिलकर पूरी दुनिया को आपस म बाट लने के स्वप्न म वसुध होकर साम्राज्यवादी सरकार म व्यस्त रही अततोगत्वा एशिया के अन्य पुरातन राष्ट्रो की तरह धूलधूसरित और पद दलित होकर ही रही। उगते सूय के देश ने सूरज को तेजी से डूबते पाया और अधकार की धनी पत के बिछते ही उगते सूरज का देश अपनी कलक कालिमा मे कुछ समय के लिए खो गया।

पर परमाणु बम के प्रयोग ने, अपने धमाके से मित्र राष्ट्रो के युद्धकालीन गठबधन का भी अत ला दिया और एक नई युद्धोत्तर दुनिया अपनी तमाम उमचुम और भूडोल के झटके के साथ उभर आई। यूरोप मे युद्ध बद हुआ तो लगा कि बात कुछ नही बनी पर इस एशियाई 'सहार लीला' ने पलक झपकते ही उभरती दुनिया की एक त्रासदायक झलक दिखा दी।[49]

सदभ

1 नेहरू ने एटलाटिक घोषणा को एक अस्पष्ट और पुलपुली घोषणा कहा। उन्होने ब्रिटेन और अमेरिका के नेताओ से अनुरोध किया कि वे एक दूसरी घोषणा भी प्रसारित करें जिसमे सभी जातियो के लोगो को समान व्यवहार

20 शेरवुड, पृ० 401-402
21 कारडेल हल, मैमाअस, खण्ड 2, पृ० 1167 70
22 ल्फेमिग, वही, पृ० 147
23 चर्चिल, युद्ध के सस्मरण, खण्ड 5, पृ० 227-8
25 ल्फेमिग वही प० 193-94
26 शेरवुड, पृ० 497।
27 देखिए वतमान गथ के प०
28 देखिए ल्फेमिग, वही, प० 196
29 देखिए, ल्फेमिग, वही पृ० 195-97
30 थियोडार एच, ह्वाट, फायर इन द एशेज, प० 343
31 याल्टा पेपस, पृ० 679 81
32 जेम्स बायरनीज स्पीकिंग फ्रेंकली, पृ० 31-2, चर्चिल, खड 6वा, पृ० 369
33 न्यूयाक टाइम्स, जुलाई 24, 1941 (ल्फेमिग से उदधृत प० 135)
34 देखिय ट्रूमैन के सस्मरण, खण्ड-1, प० 221 2 तथा ल्फेमिग, वही, प० 268 69
35 वही, प० 221-2
36 वही, प० 221-2
37 एडवड स्टेटिनियस, रूजवेल्ट एण्ड दि रस स, पृ० 318 19
38 ल्फेमिग, वही, पृ०
39 ल्फेमिग, वही, पृ० 195
40 मैकार्थर हियरिंग्स, भाग 3, प० 206, ल्फेमिग कृत "द कोल्ड वार से उद्धत" प० 196
अमेरिका के युद्धविशारद जैसे उनके बडे जनरल मेकार्थर, सचिव फोरेस्टल रूस की जापान के विरुद्ध युद्ध मे भागीदारी को एक बडी, लगभग निर्णायक बात मान रहे थे—देखिए ल्फेमिग, याल्टा सम्मेलन सबधी अध्याय 8, पृ० 188 218
40 "सम्मेलन का रिकाड, न्यूयाक टाइम्स ने लिखा, यह स्पष्ट करता है, कि रूस ने दस बार सहूलियतें देकर डम्बरटन ओवस के प्रस्तावो बहुत कुछ नरम बनान मे योगदान दिया।" ल्फेमिग, पृ 286 वही,
41 याल्टा पेपस, पृ 665 6
42 जान सी केम्पबेल, दि यूनाइटेड स्टेट्स इन वल्ड अफेअस, 1945-47, पृ 54,
43 देखिये ल्फेमिग, वही पृ 290 92,
44 ट्रूमैन ने अपन सस्मरण मे लिखा है कि उन्हे ऐसा आभास हो गया था कि

अध्याय 3

दूसरे नाटक का भी अंत : सैन्यवादी जापान की कपाल क्रिया—अमेरिका का परमाणु (ब्रह्मास्त्र) और सोवियत संघ का अंतिम युद्ध

महायुद्ध अपने अंतिम चरण में पहुँच गया था। दूसरा मोर्चा खुल गया था। नात्सी जर्मनी पर दोनों ओर से प्रहार पर प्रहार हो रहा था। जर्मनी लड़खड़ाने लगा था कि दुर्भाग्यवश अमेरिका के अत्यंत लोकप्रिय राष्ट्रपति रूजवेल्ट का अचानक निधन हो गया। उत्तराधिकारी थे राष्ट्रपति हेरी एस ट्रूमैन जिन्होंने तुरंत राष्ट्रपति की जिम्मेदारी संभाली और कामकाज समझने की कोशिश में जुट गये। ट्रूमैन का दिल और दिमाग रूजवेल्ट की तरह न था। वे कुछ अलग ही तरह के व्यक्तित्व के धनी थे और उनके आग्रह व पूर्वग्रह भी अपने ढंग के थे। पर युद्ध के बीच घोड़े भले ही बदल गये हों, युद्ध की दिशा थोड़ी बदली जा सकती थी। युद्ध जारी रहा और नात्सी जर्मनी का कचूमर निकाल कर ही यूरोप में उसका अन्त हुआ। पर अमेरिका के लिए अभी युद्ध का कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मोर्चा जारी था। उसके जल्दी थमने की आशा नहीं दिख रही। वह युद्ध था सैन्यवादी जापान के विरुद्ध जिसने वस्तुतः अमेरिका को युद्ध में ला घसीटा था।

इस माहौल में बर्लिन के पास पोटसडम में एक बार फिर तीन बड़ों का सम्मेलन गठित हुआ। ट्रूमैन पहली बार अपने समकालीन तथा स्वर्गीय रूजवेल्ट के पुराने मित्रों से महत्त्वपूर्ण वार्ता के लिए रवाना हुए। वे जब उगान्टा नामक जहाज से यूरोप आ रहे थे, तब जहाज पर अक्सर यह कहा करते कि मैं सबसे अधिक यह बात चाहता हूँ कि रूस के हवाई अड्डा का इस्तेमाल हो सके ताकि वहां से जापान और उसके विजित प्रदेशों पर हमला हो सके।[1] उनके सैनिक अधिकारी बेताबी से रूस को जापान के विरुद्ध लाने के लिए अनुरोध करने के हिमायती थे। 9 अगस्त, 1945 को जब नागासाकी में दूसरा परमाणु बम फेंका जा चुका था, एसोसियेटेड प्रेस के एक संवाददाता ने न्यूयार्क टाइम्स में लिखा (यह

संवाददाता ट्रूमैन के साथ पोट्सडम गया था) कि अब यह बात खोली जा सकती है कि जापान के विरुद्ध रूस को युद्ध में लाना यह समझौता करने का मुख्य उद्देश्य था जिसके लिए ट्रूमैन ने पाटसडम की यात्रा की थी। 24 जुलाई तक जो रूस की मदद निहायत जरूरी लग रही थी एक घटना घटते ही वह बेमानी हो गई। वह घटना क्या थी ?

सफल "परमाणु" परीक्षण
परमाणु अस्त्र ने अमेरिकी दिमाग फेर दिया

जर्मनी में सन 1938 तक वैज्ञानिक इस प्रयत्न में जुटे हुए थे कि वे परमाणु विखंडन का तरीका खोज निकालें पर वहां सफलता नहीं मिली। इसी दिशा में अमेरिकी जिन्हें नात्सी उत्पीड़न के कारण देश से भागे एस महान वैज्ञानिक जैसे आइन्स्टीन का सहयोग मिला, और इस दिशा में जोर शोरों से काम चलता रहा पर यूरोप में युद्ध खतम होने तक सफलता हाथ नहीं लगी। काम फिर भी जारी रहा। जब पोटसडम में ट्रूमैन विचार विमर्श में मशगूल थे, उस समय जुलाई16 को अमेरिकी वैज्ञानिकों ने अनंत परमाणु परीक्षण में सफलता प्राप्त कर ही ली और वह वैज्ञानिक उपलब्धि तुरंत ही एक भीषण संहारक अस्त्र की उत्पत्ति का कारण बनी। ट्रूमैन की खुशी का ठिकाना न रहा पर उन्होंने इस "गुप्त" उपलब्धि को जग जाहिर नहीं होने दिया। चर्चिल को तो सभी कुछ बताया गया पर 24 जुलाई को ट्रूमैन के द्वारा स्टालिन का केवल यह खबर दी गई कि एक "विकराल अस्त्र के निर्माण में अमेरिका को सफलता मिल गई है। स्टालिन ने आशा प्रकट की कि इसका उपयोग मित्र राष्ट्रों के दुश्मनों के खिलाफ होगा। इसके आगे रहस्य पर पर्दा पड़ा रहा।

पर्दा तब भी पड़ा रहा जब स्टालिन के बिना ही 26 जुलाई, 1945 को जापान को अंतिम चेतावनी दी गई अर्थात "पोट्सडम ' की घोषणा कर दी गई तीन बड़ों के नाम पर जिसमें सोवियत संघ की जगह "चीन" को शामिल किया गया चूंकि तीनों जापान के विरुद्ध घोषित युद्ध लड़ रहे थे, सोवियत संघ को औपचारिक तौर से अभी युद्ध की घोषणा करनी थी। सोवियत संघ को जापान के विरुद्ध लड़ाई से उत्पन्न होने वाली विजयश्री से बाहर रखने का क्रम शुरू हो गया था। मोलोतोव को पोट्सडम घोषणा की एक प्रति भिजवा दी गई। तब उन्होंने यह अनुरोध किया कि इसे दो तीन दिनों के लिए रोक लिया जाये पर अब अमेरिकी मित्रों को सोवियत के सैन्य 'योगदान" में दिलचस्पी नहीं रह गई थी। वे अपनी दूसरी ही उधेड़बुन में लगे हुए थे।[3]

जापान ने पाटसडम की चेतावनी ठुकरा दी। अमेरिकी नेता ट्रूमैन यही चाहते थे। उन्हें पहले यह भी सलाह दी गई थी कि बिना चेतावनी दिए

परमाणु बम की मार की जाय पर अधिकाश सलाहकारो का जिनमे कुछ नामी वैज्ञानिक भी थे, यह जोर था कि चेतावनी तो दी' ही जाये[4]। 28 जुलाई को जापानी प्रधानमत्री सुजुकी ने चेतावनी ठुकराई और 31 जुलाई को बम अग्निवर्षण के लिए तयार था। खराब मौसम ने पाच दिन और दिए। 5 अगस्त को पोटसडम से ट्रूमैन घर को रवाना हुए और 6 अगस्त को सुबह 8 45 मिनट पर हिरोशिमा नगर पर यह ब्रह्मास्त्र छोड दिया गया।

मिनटो मे 80 हजार आदमी कालक्वलित हो गये और इतने ही बुरी तरह से घायल। बम की आग ने 4 4 वगमील के घेरे को भस्मसात कर दिया जैसे आग का तूफान फट पडा हो। लगभग 60 62 हजार इमारते देखते-देखते धराशायी हो गई, वाकी टूट फूट गई। ऐसा विनाश पहले भी हो रहा था, पर ऐसे विनाश को लाने के लिए सैकडो क्या हजारो हवाई जहाजा और कुछ लाख टन बमो की जरूरत होती रही। एक बम ऐसी विनाश लीला उगलेगा, यह पहली बार देखने को मिला, जो मौत से बच गये, उनके रोगटे खडे हो गये। तीन दिन के बाद जापान के दूसरे घनी आवादी वाले नगर नागासाकी की शामत आई। परमाणु बम उस पर फेंका गया। इस अपूव विनाश लीला के वाद जापान ने घुटने टेक दिए। औपचारिक तौर पर आत्मसमपण के दस्तावेजा पर सितबर मे हस्ताक्षर हुए।

आखिर परमाणु बम ऐसे सहारक अस्त्र का प्रयोग इतने आनन फानन से अमेरिका ने क्या किया, विशेषत तब जबकि धुरी राष्ट्रो म तब अकेले जापान ही युद्ध क्षेत्र मे रह गया था और यूरोपीय मच के मित्रराष्ट्र छुटटी पा गये थे। इतने भारी जन जीवन की कीमत पर यह विजय अभियान क्या सगठित हुआ ?

इस सबध मे चार बातें या तक अमेरिकी नेताओ और लेखको के द्वारा दिए गए हैं(1)प्रथम यह कि अमेरिकी सनिको का जीवन बचाने के लिए, (2)दूसरा यह कि लडाई जल्द खतम हो जाये, लबी न खिचे (3) तीसरा यह कि यहा ढग से परमाणु युग के आगमन की घोषणा हो और (4) अतत कि पूर्वी एशिया में रूसी प्रभाव के विस्तार को न्यूनतम कर दिया या उसे सीमित कर दिया जाए।

राष्ट्रपति ट्रूमैन ने पहला व दूसरा तक सावजनिक रूप स इस्तेमाल मे लिया पर लोगो को यह बात इस कारण जँची नही कि जापान की हालत तब बहुत खस्ता हो चुकी थी। उनमे जवाबी हमला करने की क्षमता जा चुकी थी। अमेरिकी बम वषक महीनो स तबाही किये जा रहे थे और जवाब मे जापान कुछ नही कर पा रहा था।[5] जापान ने रूसी नेताओ से मध्यस्थता करने का प्रस्ताव भी रखा था जिसकी खबर स्टालिन ने ट्रूमैन को दे दी थी। लडाई बिना परमाणु बम के इस्तेमाल के भी वसे ही खतम होन जा रही थी क्योकि सोवियत सघ के जापान के विरुद्ध घोषणा के बाद जापान के लिए मुक्ति के सारे द्वार बद हो चुके थे। दो

बमो की लोमहषक सहार लीला के बावजूद जापानी सैनिक कमान ने घोषणा की थी कि हम इन बमो स कोई घबडाहट नही हुई है और हम बदले की कारवाई करने जा रहे है।[6] पर सोवियत सघ के युद्ध मे आते ही युद्ध का पासा पलट गया जसा अमेरिकी एडमिरल लीही और चर्चिल ने खुद स्वीकार किया है कि परमाणु बम की वजह स जापान न घुटने नही टेके।[7]

एक दष्टि स द्वितीय महायुद्ध के दौरान सबसे महत्वपूण विकास था अमेरिका का न केवल औद्योगिक दृष्टि स सवश्रेष्ठ राष्ट्र के रूप म उभरना बल्कि, एक सबस अधिक सम्पन्न व पुष्ट सैनिक शक्ति के रूप म ढलना। जहाँ तक औद्योगिक जगत म सवश्रेष्ठ स्थान ग्रहण करने की बात थी, जसा हम अपने प्रथम खण्ड म बता चुके हैं यह प्रक्रिया द्वितीय महायुद्ध के शुरू होने के पहले ही उस बिन्दु पर पहुच चुकी थी। अमेरिका ब्रिटेन को कब का पछाड चुका था। पर सैन्य शक्ति के रूप म प्रथम महायुद्ध के खतम हो जाने के बाद भी बहुत दिनो तक अमरिका की स्थिति प्रकटत इग्लैण्ड फास व जमनी के बाद ही मानी जाती थी। यो नौसेना की दष्टि स अलबत्ता अमेरिकी ब्रिटेन की होड म आगे बढता जा रहा था और द्वितीय महायुद्ध शुरू होने के पूव तक आगे निकल चुका था।

सवश्रेष्ठ औद्योगिक शक्ति का सैनिक दष्टि से एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप मे विकसित हो जाना एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी। पर अगर महायुद्ध मे अमेरिका न घसीटा गया होता तो सम्भवत इस स्वाभाविक प्रक्रिया को प्रतिफलित होने म कुछ देर लगती। अमेरिका मजे से एक बेजोड औद्योगिक और व्यापारिक शक्ति के रूप मे ढल रहा था उसके पास सना का जवाब उसके अनुरूप न था। जहाजरानी और नाविक शक्ति के बारे मे अमेरिकी शासक वग सचेत थे और उसकी जरूरत न थी जसी पल हाबर के बाद तुरत ही महसूस होने लगी। शुरू शुरू मे उनकी नीति यूरोप के झझट म न पडने की थी। "नकदी दो और ले जाओ" की नीति चलाकर वे तटस्थ भी रहे। ब्रिटेन के साथ सहानुभूति रखते हुए अटलाटिक चाटर के बाद भी वे समुद्री "जलमार्गों के बेरोकटोक आवाजाही" की बातो मे अधिक दिलचस्पी लेते रहे। प्रथम महायुद्ध के दौरान भी अमरीका को युद्ध म लाने में विलसन को बडी मेहनत करनी पडी थी तब जाकर सन 1917 म अमेरिका यूरोप की झझट म शामिल हुआ था। अमेरिकी जनमत इस लडाई मे भी नही पडना चाहता था न यूरोप म और न पूव एशिया म। पर पल हाबर और जमनी की अपनी नाकेबन्दी की कायवाही ने अमरिका को युद्ध म लाकर ही माना और एक बार अमरिका सन् 1941 के वष के समाप्त होते होते युद्ध म घसीट लिया गया तब एक विशाल सनिक शक्ति के रूप म भी अमेरिका का ढल जाना द्रुतगति से होने वाली एक सहज प्रक्रिया के रूप म हुआ जिसका अमेरिकी जनजीवन और जागतिक राजनीति दोनों पर गभीर और बहुत टिकाऊ प्रभाव पडा और जिसका

विकृत रूप हमे युद्ध के अंतिम दिनों से ही देखने को मिलने लगा। परमाणु शक्ति का सफल परीक्षण और इस अपूर्व सहारक शस्त्र से एशिया के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र पर भीषण प्रहार, इस विकृत हो रही मन स्थिति का पहला विस्फोट था जो अनावश्यक होते हुए भी लाखो असैनिक नागरिको को बिना पूर्व सूचना के बात की बात मे परमाणु बम की "नारकीय भट्टी" मे झोकने के बाद सुख की नीद सोने का ढिंढोरा पीटता है।[8] अमेरिकी नौसेना के कमाडर पेरी ने अपनी तोपो से गोले दाग कर जापान से कुछ बदरगाह खुलवाने की जिद की थी। कमाडर प्रेसीडेंट ट्रूमैन ने भी एसी ही जिद हिरोशिमा और नागासाकी मे, बिना सूचना के, और अनावश्यक तौर पर परमाणु बम बरसा कर लाखो लाखो असैनिको को मिनटो मे हताहत कर पूरी की। परमाणु बम के द्वारा सहार करने के पूर्व ही जापानी सैन्य शक्ति त्राहिमाम करती शरणागत होने को व्यग्र थी पर 'पेरी मनोवत्ति" भला ऐसे कैसे मानती। हथियार हैं तो हथियार चलाये जायेगे वह भी एशियाई रणस्थल मे, भले ही वह परमाणु बम हो।

युद्धकाल मे सैन्य कार्यों के मद मे लगभग 315 अरब डॉलर व्यय किए गए और यदि हम युद्ध ऋण और अवकाश प्राप्त सैनिको के कल्याणाथ हुए खच को भी जोड लें तो यह खच लगभग 425 अरब डॉलर बैठेगी। इस भारी सैन्य व्यय भार ने औद्योगिक विकास को ऊचे सोपान पर ला खडा किया। दिन दूनी रात चौगुनी वद्धि औद्योगिक उत्पादन मे हुई। अगर हम 1947 49 के वष को आधार मान-कर चलें (100)तो उत्पादन जहा 1939 मे 57 तो वह 1941 मे 88 और 1943 मे 133 हो गया। इसी प्रकार जी० एन० पी० (कुल राष्ट्रीय उत्पादन) के आकडे बताते हैं कि—सन् 1929 मे जहा जी० एन० पी० 104 अरब डालर था।

1939 में लगभग	100 अरब से कम रहा
1940 मे लगभग	100 अरब
1941 मे लगभग	125 8 अरब
1942 मे लगभग	159 1 अरब (इस समय की कीमतो के आधार पर)
1943 मे लगभग	192 5 अरब
1944 मे लगभग	211 5 अरब
1945 मे लगभग	213 6 अरब

इसके साथ साथ सरकारी व्यय का औसत भी बढता गया। जहा 1932 मे 'कु रा उ" का 7 प्रतिशत रहा, वहा 1944 मे यह "कु रा उ" का 50 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार हम यह पाते हैं कि युद्धकाल मे जहा एक ओर अमेरिका मे उत्पादन की शक्तियो का अभूतपूर्व विस्तार हुआ और उत्पादन की मात्रा मे

वद्धि हुई, वहा सरकारी नियत्रण और हस्तक्षेप तथा सरकार के द्वारा 'खरीद व्यय की मात्रा का अनुपात भी तेजी स बढता गया। विकास के इस स्वरूप ने सरकारी केन्द्रीकरण को तो प्रोत्साहित किया ही, अमेरीकी अथव्यवस्था म विशाल व्यापारिक औद्योगिक सस्थाओ की अथतत्र पर जकड को भी मजबूत कर दिया। धडाधड करोडो अरबो के ठेके उन्हे मिलने लगे जिसस व तो फलते फूलते गये पर छोटे छोटे व्यापारिक फम टूट फूट गये। सन 1940 के जून महीने से लकर सितबर 1964 तक करीब 175 अरब डॉलर क ठेके कोई 18 539 सस्थाना को दिए गए पर 67 प्रतिशत, य ठेके करीब 100 प्रतिष्ठानो क हाथो म आए और 117 अरब डालर का हिस्सा था। हुआ यह कि यह हिस्सा इन बडे सस्थानो का 67 स 75 प्रतिशत के बीच की बना रहा। युद्ध समाप्त होते ही इन विशाल अमेरिकी व्यापारिक औद्योगिक सस्थाओ की राक्षसी मुट्ठी म था अरिमेका का युद्ध काल मे तेजी से विकसित पल्लवित हुआ युद्धोन्मुख अथतत्र। युद्ध खतम होते ही विपरीत दिशा म जाने वाली शातिकालीन सभावनाओ का अन्त करने का सकल्प अब इन विशाल सस्थाओ के मालिको को बुरी तरह ग्रसने लगा और वे उसकी तैयारी मे लगे।

विकास पथ पर आरूढ अथतत्र के इस स्वरूप पर ध्यान रखें तो हम पाते हैं कि इन औद्योगिक व्यापारिक सस्थाओ तथा रईस किसानो के वग का शासन तत्र पर आधिपत्य युद्धकाल म काफी मजबूत हो गया था। अपने अतिम चुनाव के दिनो रुजवेल्ट ने शातिकाल म उठने वाली समस्याओ को ध्यान म रखकर इन मजबूत वर्गों के प्रतिनिधियो को पूरी तरह अपने पक्ष म रखने की नीति अपना ली थी जिसका परिणाम था कि उन्होने अपने विश्वासपात्र और जनसाधारण मे 'लोक प्रिय" हेनरी वेलस को उप राष्ट्रपति' का उम्मीदवार बनाने की जगह हेरी एस ट्रूमेन को यह उम्मीदवारी दे दी। इसी तरह उन्होने सिनेटर वेडनबग तथा जान फास्टर डलेस' ऐसे कुख्यात साम्राज्यवादी और रिपब्लिकनो को सान फ्रासिसको सम्मेलन म अमेरिकी प्रतिनिधि मडल का सदस्य बनाया ताकि वे वहा सयुक्त राष्ट्र सघ का सविधान तैयार करायें। इस तरह के लोग अमेरिकी राज्य नीति निर्माण के क्षेत्र म आगे बढाये जा रह थे जिनकी यह दृढ मान्यता थी कि अमेरिका अब इस नई उभरती युद्धोत्तर दुनियाँ के अनाथालय का एक मात्र 'ट्रस्टी' है या अमरिकी साप्ताहिक 'टाईम' के सपादक हेनरी लुई के शब्दो म अब मानव इतिहास की अमेरिकी शताब्दी प्रारभ हो गई है।

सारी दुनियाँ को अपने पग तले घसीट लाने की महत्वाकांक्षा इतिहास म अनेक सिरफिरे आक्राताओ के मन को डस चुकी थी। अभी अभी हिलटर, मुसोलिनी और जापानी सैन्यवादी इस जहर की मार से कुत्तो की मौत मर चुके थे, पर अब यह जहर यहाँ से हटकर अमेरिकी शासक वग के मन पर उतरने लगा

था और उतर रहा था परमाणु अस्त्र के सहारे धीरे-धीरे। वह एक चीज थी जो उनके पास है और अन्य के पास नही थी। उससे बचाव करने के लिए कवच भी नही है। ऐसी जहरबुझी भावना उनके साथियो के मन मे घर करने लगी।

युद्धकालीन मैत्री का अन्त

पिछले पष्ठो मे उस सम्मेलन की चर्चा की जा चुकी है जो महायुद्ध की समाप्ति के पूव आयोजित किया गया था और जिसमे सोवियत सघ के नेता स्तालिन तथा रूजवेल्ट के उतराधिकारी अमेरिका के नये राष्ट्रपति ट्रूमेन पहली बार एक दूसरे से मिले। पोट्सडम का यह सम्मलन महायुद्ध की समाप्ति के पूव का अतिम महत्वपूण बडो का सम्मेलन था। इस बातचीत के पूव ट्रूमेन ने अपने मत्रिमडल मे भारी रद दोबदल कर दिया था। रूजवेल्टकालीन दस मत्रियो मे से 6 हटाए गये थे। बाकी 4 मे 2 सन् 1945 के अन्त तक और शेष 2 सन 1946 के अन्त तक बिदा हो गए।[10] इन हटाए गए मत्रियो मे एक थे हेनरी मारगेन्थाऊ जूनियर, जो कोष विभाग के मत्री थे और जिन्होने जमनी के वि-औद्योगीकरण की वह योजना बनाई थी जिसे पिछले सितम्बर म चर्चिल और रूजवेल्ट का समथन मिला था। तब आग्ल-अमेरिकी योजना थी कि युद्ध के बाद जमनी का औद्योगिक ढाचा तोड मरोड दिया जाए और कडाई से उद्योग प्रधान जमनी की औद्योगिक रीढ तोड दी जाए। यह इस बात का सूचक था कि अमेरिका का रख सोवियत सघ के बारे मे बदल रहा था।[11] इन तमाम नियुक्तियो मे एक सर्वाधिक महत्व की नियुक्ति थी जेम्स एफ बाइरनीज की जो परराष्ट मत्री बनाये गए। ट्रूमेन तब उन्ह इस पद के लिए सबसे अधिक योग्य व्यक्ति मानते थे पर शीघ्र ही उनके विचार बदलने लगे।

जैसे ही पोटसडम सम्मेलन शुरू हुआ, राष्ट्रपति ट्रूमेन ने दो प्रस्ताव सम्मेलन के सम्मुख रखे। पहला था परराष्ट्र मत्रियो की परिषद की स्थापना के सबध मे और इसे तुरन्त स्वीकार कर लिया गया। दूसरा प्रस्ताव बाइरनीज के शब्दो म ही "हमारा मसविदा साफ कह रहा था कि याल्टा घोषणा के दायित्वो को ठीक तरह से निभाया नही जा रहा है।" और यह सुझाया गया कि, "बुल्गारिया और रूमानिया की सरकारो के पुनगठन के लिए मिलजुल कर कायवाही की जाय ताकि, सभी लोकतत्री गुट भागीदार बन सकें।" इस दूसरे प्रस्ताव का रूसियो ने तुरन्त ही यह आरोप लगाते हुए विरोध किया कि अग्रेजो ने यूनान म अवैध हस्तक्षेप किया है और मनमाने ढग स "चुनाव" सगठित किए हैं। मोलोतोव के शब्दो मे "यूनान मे जो अतिवादी कायवाहिया हुई हैं उनकी तुलना मे रूमानिया या बुलगारिया मे हुई कारवाइया नगण्य हैं।" इस प्रकार जैसा हम अन्यत्र भी बता चुके हैं, पोट्सडम सम्मेलन की शुरूआत से ही आरोप प्रत्यारोपा का सिलसिला दोनो

तरफ स इस ढग स चलना शुरू हुआ जो पुराने मत्री सबधो के खटाई में पडने की
सूचना द रहा था। रूजवल्ट काल की अमेरिकी परराष्ट्र का अन्त समीप आ
गया था। सुमनरवल्स न (जो रूजवल्ट क उप-परराष्ट्रमत्री थे) ठीक ही कहा
है अमरिकी नीति का दिशा निर्देश दूसर हाथो म चला गया। इसने अमरिकी
सोवियत सबधो म जो भारी परिवतन ला दिया यह पोटसडम सम्मेलन म उप
स्थित सभी निष्पक्ष पयवक्षको को स्पष्ट हो गया था।[12] पर इस सम्मेलन म
परराष्ट्र मत्रियो क परिषद की स्थापना हो गई थी जिनके जिम्मे यह महत्वपूर्ण
काम सौंपा गया कि व युद्धोत्तर सधियो और व्यवस्था के मसविदे तैयार करें।
इस परिषद की पहली बठक लन्दन म 11 सितम्बर को बुलाई गई पर इस की
उपयुक्त अनबन क अलावा कुछ और महत्वपूर्ण घटनाएं घट चुकी थी। पोटसडम
सम्मलन शुरू ही होने का था कि अमरिका म सबस घातक "परमाणु बम" का
सफल परीक्षण हो चुका था और अमरिकी शासको की नीयत सोवियत सघ को
दूर रखकर, समूच जापान पर कब्जा करने की बन चुकी थी ताकि, सोवियतो को
उसम हिस्सदारी न मिल सक और याल्टा समझौता का पालन करने की जरूरत
भी न पडे।[13] जब अमरिका ने महाअस्त्र को चलाने का निणय कर लिया था, उस
समय तक जापानी साम्राजियो का मनोबल बहुत नीचे गिर चुका था और सोवि
यत सघ क समक्ष तथा अमरिकियो के आग यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि जापान
आत्म समपण के लिए तयार है उस पर परमाणु बम की मार करने की कतई
जरूरत न थी।[14] पर अमरिकी शासको ने परमाणु बम चलाने का निश्चय किया
और दो ऐसे सहारक बम उनक दो जनसकुल नगरो हिरोशिमा और नागासाकी
म छोडे। इसने उस जापान को तुरन्त घुटने टेकने को मजबूर कर दिया, जो
इसके बिना भी पहल से आत्म समपण के लिए उचित सहारे की खोज कर रहा
था। अमरिकी शासको ने यह विध्वसक परमाणु बम के एक मात्र धारक होने की
सूचना दे दी और यह भी चेतावनी द दी कि अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिए परमाणु
बमो की वर्षा करके मनुष्य मात्र क जीवन को अतिम सकट की दिशा मे ढकेल देने
का बेशर्म दुसाहस ट्रूमेन मे पाते हैं। मदोन्मत होकर चर्चिल ने कहा था
ऐसी शक्ति प्राप्त हुई जो अबाध है भविष्य के बारे मे हमारा रुख बिल्कुल बदल
मानवीय मामलो म एक नये सबल तत्व के सामने हम अपने को पाते हैं हमे
गया है।[15]

बदले हुए माहौल मे शाति वार्ता

इस बदले हुए माहौल म शाति वार्ता के प्रयास हुए और वे प्रयास बहुत कुछ
सफल रहे। जमनी के साथ 7 मई 1945 को और जापान के साथ 5 सितम्बर,
1945 को युद्धविराम की सधि हो जाने के बाद तो युद्ध समाप्त हो गया पर उसके

साथ युद्धकालीन मैत्रीपूर्ण वातावरण भी लगभग समाप्त सा हो गया था। रूज-वेल्ट की असमय में ही मृत्यु हो जाने से युद्धोत्तर वार्ताओं और समझौता पर बड़ा असर पड़ा। इंगलैण्ड में चुनाव हुए और चर्चिल का दल हार गया। लेबरदल के नेता के रूप में एटली और परराष्ट्रमंत्री वेविन ने युद्धोत्तर व्यवस्था के निर्माण में हिस्सा लिया। युद्धकाल के तीन बड़ो में अकेले स्टालिन ही सत्ता में थे। पुराना माहौल पुराने लोगों के साथ जाता रहा। इसने शांति स्थापना के काय को कठिन बना दिया था। भीषण क्षति से ग्रस्त पश्चिम यूरोप अपने पुनर्निमाण के लिए पूरी तरह आश्रित हो रहा था, उधर पूर्वी यूरोप के व देश जिन्हें सोवियत की लाल सेना ने फासियों और नात्सियों से मुक्त किया था, सोवियत सत्ता के वश-वर्ती बन चुके थे। ऐसा लग रहा था कि यूरोप दो भागों में बट चुका है और यह विभाजन रेखा सोवियत की लाल सेना और आंग्ल-अमेरिकी सेनाओं के द्वारा अधिकृत क्षेत्रों के विभाजन की रेखा के आधार पर अपने आप ही तीखी और गहरी होती चली जा रही है।

भूमिका बन चुकी थी पर काम कठिन हो गया प्रारंभिक कठिनाइयां

यों तो प्रथम महायुद्ध की तुलना में द्वितीय महायुद्ध के बाद शांति स्थापना का काय सरल हो जाना चाहिए था। मित्र राष्ट्र शुरू से ही भविष्य में युद्धोत्तर व्यवस्था के निर्माण के बारे में चिंतित रहे हैं और प्रयत्नशील रहे हैं कि कम से कम युद्धोत्तर पुनर्निमाण के बारे में अधिकाधिक सहमति से कुछ मूलभूत सिद्धांत तय कर लें ताकि युद्धोपरांत शांति स्थापना का कार्य सरल हो जाए। ऐसी दूर-दर्शिता युद्धकाल में उनकी मैत्री को प्रगाढ करने में भी सहायक रही है। इसी को ध्यान में रखकर सन् 1941 में चर्चिल और रूजवेल्ट ने अपने एटलांटिक घोषणा पत्र में युद्धोत्तर शांति व्यवस्था के बारे में कुछ सिद्धांतों की उद्घोषणा की थी। इसी प्रकार सन् 1943 के नवम्बर में काहिरा सम्मेलन में जापान के साथ संधि करने की शर्तों के बारे में विचार हुआ था। इसी वष पोलेण्ड की सीमा व ईरान की प्रादेशिक अखण्डता के बारे में भी कुछ निणय लिए गए थे। इस दिशा में, फरवरी सन् 1945 में याल्टा सम्मेलन में तय हुई बातें उल्लेखनीय रहीं जिनमें बहुत महत्वपूर्ण सिद्धांत निर्धारित किए गए तथा पोलेण्ड की सीमाओं, जापान के अधिकार में, कुछ प्रदेशों को सोवियत संघ को दिए जाने का निश्चय तथा विजेताओं के बीच जर्मनी के अस्थायी विभाजन का भी निर्णय लिया गया। इसी समय चर्चिल और स्तालिन के बीच पूर्वी यूरोप के राज्यों को लेकर 'प्रभाव क्षेत्रों का बंटवारा भी हुआ।

सबसे महत्व की बात यह थी कि युद्ध समाप्त होने के पहले ही राष्ट्र संघ की राख पर नये जागतिक महत्व के संयुक्त राष्ट्र संघ की इमारत को खड़ा

दैत्य की तरह समुद्रपार करवटें बदल रहा था। लेकिन इस बिगडते हुए माहौल मे भी सोवियत सघ के साथ मिलकर अन्य मित्र राष्ट्रो ने सयुक्त राष्ट्र की स्थापना कर ली थी और उस जगत व्यापी सगठन ने अपना काम शुरू कर दिया था और अब लडते झगडते हुए भी मित्रराष्ट्र पराजित शत्रु देशो के साथ शाति सधिया करने की योजना बना रहे थे। इस बदले हुए वातावरण मे आग्ल अमेरिकी नेतत्व मे ऐसे प्रयत्न चल रहे थे कि जितना कुछ हो सके, याल्टा और पोटसडम के समझौतो से, विशेषत उन समझौतो स जिनमे सोवियत सत्ता को कुछ विशेष सुविधाए तथा अनुग्रह दिए गए थे, बच निकलें ताकि, सोवियत सना ने जिन प्रदेशो को अपने बाहुबल से "मुक्त" कराकर अपने अनुकूल राजनीतिक एव आर्थिक व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न शुरू कर दिया था, वहा सोवियत के प्रति मत्रीभाव रखने वाली सरकारें नही सगठित हो सकें। उन प्रदशा पर सोवियत की जकड ढीली की जा सके और यदि "खुले' चुनाव के जरिए सोवियत विरोधी व उनसे स्वतत्र पर पश्चिमोन्मुखी तत्वा, यथा पुराने उद्योगपतियो, जमीदारो, बकरो तथा अन्य युद्ध पूव के शासक वर्गो को सगठित किया जा सके, तो ऐसा किया जाए। इस तरह की कायवाहियो का नतीजा उल्टा ही हुआ। सोवियत शासको क मन मे पश्चिमी देशो के शासका के इन अमैत्रीपूण कृत्यो और वक्तव्यो ने कोई अच्छी छाप नही छोडी, पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि सोवियत नेता, इस प्रकार के व्यवहार स क्षुब्ध जरूर हुए पर उन्होने बहुत दर तक 'सहयोग और सौहाद्र वाला अपना युद्धकालीन रुख त्यागा नही बल्कि, वे इस दुर्भाग्यपूण घटनाचक्र स सतप्त रहते हुए भी, (यथा 20 सितम्बर, 1945 म अपने एक सम्पादकीय मे सोवियत मुखपत्र इजवेस्तिया ने लिखा कि "पश्चिमी गुट पश्चिम मे रूसी विश्वास को समाप्त करने पर तुल हुए हैं।") उन्होने परराष्ट्र मत्रि परिषद की बैठको म यह चेष्टा जारी रखी कि पराजित शत्रु देशा से शाति सधि सम्पन्न हो जाए। इस पराक्रम म आशिक सफलता हा मिल पाई क्योकि युद्धकाल की सबसे बडी समस्याए—जमनी व जापान स शाति सधिया कर पाना--तत्काल सुलझ नही पाई। केवल उन्ही दशो स सधि सम्पन्न हो सकी जहा सावियत या आग्ल अमेरिकी सना का एकाधिकार बना हुआ था। ये देश थे इटली रूमानिया, बुलगारिया, हगरी और फिनलेण्ड। इनके बारे मे सधि के प्रारूप तय हो सके और उसम भी लगभग दो वप लग गए पर जमनी, आस्ट्रिया और जापान के साथ सधि सम्पन्न कर पाना तत्काल कठिन ही नही बन गया बल्कि तत्काल ऐसा लगने लगा कि यह काय असभव बन गया है। पर जिन देशो के साथ सन 1947 तक सधि की शर्तें तय हो गई, उनसे सबधित प्रश्ना पर परराष्ट्रमत्री परिषद की बैठका म काफी वाद विवाद छिडा, अनेक प्रश्नो पर मतभेद और असहमति के दौर चले और अततोगत्वा शाति सधि के प्रारूप तय हो पाये जिनम तत्कालीन "यथास्थिति' का

गया। सान फ्रासिसको सम्मेलन म सयुक्त राष्ट्र का 'चाटर' (अधिकार पत्र या सविधान) तैयार कर लिया गया जो मित्र राष्ट्रो के युद्धकालीन सहयोग, साहचय और सौहार्द का सर्वोत्तम फल था। इन सबके साथ साथ पोटसडम सम्मेलन म उस कार्यविधि क बारे म भी निणय लिया गया जिसके अतगत शाति रचना की जानी थी। इसके अनुसार यह तय हुआ कि प्रथम महायुद्ध के उपरात जसा शाति सम्मेलन बुलाया गया था, उस तरह का आयोजन न करके, पाच बडे राष्ट्रों-सयुक्त राज्य, सोवियत सघ ब्रिटेन, फ्रास व चीन के परराष्ट्र मत्रियो को यह जिम्मेदारी सौंपी गई कि वे शत्रुराष्ट्रो के साथ सधि के मसविद तैयार कर।

इतनी ढेर सारी तयारियो के बावजूद यदि शाति स्थापना का काय अन्त तोगत्वा ठडा हो गया तो इसका मुख्य कारण था नये अमेरिकी शासकों का बदला हुआ रुख। ट्रूमेन शासन के तेवर और अदाज बदल चुके थ और अग्रेज छट भइया उनकी हा ही मे हा नही मिलाते जा रहे थे—बल्कि, उन्हें उकसाते चल रह थे ताकि सोवियत सघ क विरुद्ध एक सुदढ मोर्चा अमेरिका से बनवा कर अमरीकी परराष्ट्र नीति को यूरोप के घरेलू मामला म अच्छी तरह उलझा दें, इतना कि वे यूरोप की ध्वस्त पूजीवादी व्यवस्था के पुर्ननिमाण म पूरी दिलचस्पी से काम कर और अपनी परपरागत "तटस्थतावादी' नीति की ओर न लौट पडे जिसका खतरा युद्ध खतम होते ही उस जबदस्त अमेरिकी अभियान के चलते चलते बढ रहा था जिसके अतगत यह लोकप्रिय माग अमेरिका की बस्ती-बस्ती म उठ रही थी कि "हमारे बच्चो को घर वापस बुलाओ।' चर्चिल और उनके साथी लेबरदल के नेता तथा उनके यूरोपीय पिछलग्गू इस खतरे को भली भाति भाप रह थ और आसन्न विपदा को टालन के उपाय सोचने मे लग गए। शीत युद्ध का अस्त्र इसी 'शैतान के कारखाने" की उपज था। उस युद्ध की बिगुल बजे, इसके पहले यह माग पश्चिमी देशो के जिम्मेदार हलको मे उठायी जाने लगी कि सोवियत सघ से युद्ध का खतरा बढ रहा है और पश्चिम इस युद्ध क लिए तयार रह।[16] यह कहा जाने लगा कि सोवियत कब्जे के बाहर यूरोप का जो भाग बचा हुआ है उसे सगठित किया जाए एक सयुक्त राज्य या इकाई की तरह और मज बूत किया जाए। फ्रास, इटली व बेल्जियम तथा अन्यत्र भी साम्यवादी दल एक सशक्त दल की तरह उभरे थे और पूजीवादी व्यवस्था के पोषक तत्व नात्सी व फासिस्त ताकतो स साठ गाठ कर बहुत बदनाम हो चुके थे तथा जनसाधारण के मन म उनकी साख बहुत नीचे गिर चुकी थी। चच का हाल भी बहुत उजला बेदाग न था पर कुछ भी हो पश्चिम यूरोप को "सोवियत पजो म पडने देने से रोकना जरूरी था। यह ब्रिटेन के शासको की चिंता ही न थी बल्कि, यूरोप के समाजवादियो तथा चचवादियो का भी आदोलन बन गया।[17] जबदस्त आसरा था परमाणु आयुधधारी, डॉलर सम्पन्न अमेरिकी साम्राज्यवाद का जो अकेला महा

दृश्य की तरह समुद्रपार करवटें बदल रहा था। लेकिन इस बिगड़ते हुए माहौल मे भी सोवियत संघ के साथ मिलकर अन्य मित्र राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र की स्थापना कर ली थी और उस जगत व्यापी संगठन ने अपना काम शुरू कर दिया था और अब लड़ते झगड़ते हुए भी मित्रराष्ट्र पराजित शत्रु देशो के साथ शांति संधियां करने की योजना बना रहे थे। इस बदले हुए वातावरण म आंग्ल अमेरिकी नेतृत्व म ऐसे प्रयत्न चल रहे थे कि जितना कुछ हो सके, याल्टा और पोटसडम के समझौतो से, विशेषत उन समझौतो से जिनमे सोवियत सत्ता को कुछ विशेष सुविधाएं तथा अनुग्रह दिए गए थे, बच निकलें ताकि, सोवियत सेना ने जिन प्रदेशो को अपने बाहुबल से "मुक्त" कराकर अपने अनुकूल राजनीतिक एव आर्थिक व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न शुरू कर दिया था, वहां सोवियत के प्रति मैत्रीभाव रखने वाली सरकारें नही संगठित हो सकें। उन प्रदेशों पर सोवियत की जकड़ ढीली की जा सके और यदि "खुले" चुनाव के जरिए सोवियत विरोधी व उनमे स्वतंत्र पर पश्चिमोन्मुखी तत्वो, यथा पुराने उद्योगपतियो, जमींदारो, बैंकरो तथा अन्य युद्ध पूर्व के शासक वर्गों को संगठित किया जा सके, तो ऐसा किया जाए। इस तरह की कार्यवाहियो का नतीजा उल्टा ही हुआ। सोवियत शासको के मन म पश्चिमी देशो के शासको के इन अमैत्रीपूर्ण कृत्यो और वक्तव्यो ने कोई अच्छी छाप नही छोडी, पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि सोवियत नेता, इस प्रकार के व्यवहार से क्षुब्ध जरूर हुए पर उन्होने बहुत देर तक "सहयोग और सौहार्द्र वाला अपना युद्धकालीन रुख त्यागा नही बल्कि, वे इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना-चक्र से संतप्त रहते हुए भी, (यथा 20 सितम्बर, 1945 मे अपने एक सम्पादकीय म सोवियत मुखपत्र इजवस्तिया ने लिखा कि "पश्चिमी गुट पश्चिम मे रूसी विश्वास को समाप्त करने पर तुले हुए है।") उन्होने परराष्ट्र मंत्रि परिषद की बैठको म यह चेष्टा जारी रखी कि पराजित शत्रु देशो से शांति संधि सम्पन्न हो जाए। इस पराक्रम मे आंशिक सफलता ही मिल पाई क्योंकि युद्धकाल की सबसे बड़ी समस्याएं—जर्मनी व जापान से शांति संधियां कर पाना—तत्काल सुलझ नही पाई। केवल उन्ही देशो से संधि सम्पन्न हो सकी जहां सोवियत या आंग्ल-अमेरिकी सेना का एकाधिकार बना हुआ था। ये देश थे इटली, रूमानिया, बुलगारिया, हंगरी और फिनलेण्ड। इनके बारे म संधि के प्रारूप तय हो सके और उसम भी लगभग दो वर्ष लग गए पर जर्मनी, आस्ट्रिया और जापान के साथ संधि सम्पन्न कर पाना तत्काल कठिन ही नही बन गया बल्कि, तत्काल ऐसा लगने लगा कि यह कार्य असंभव बन गया है। पर जिन देशो के साथ सन् 1947 तक संधि की शर्तें तय हो गईं, उनसे संबंधित प्रश्नो पर परराष्ट्रमंत्री परिषद की बैठकों मे काफी वाद विवाद छिड़ा, अनेक प्रश्नो पर मतभेद और असहमति के दौर चले और अंततोगत्वा शांति संधि के प्रारूप तय हो पाये जिनमे तत्कालीन "यथास्थिति' को

स्वीकार करने के अलावा और कुछ चारा न था। यह सिलसिला निम्नांकित ढंग से चला।

लंदन में परराष्ट्रमंत्री परिषद की प्रथम बैठक (सितम्बर, 1945)

परराष्ट्रमंत्री इस व्यवस्था के अंतर्गत सबसे पहले लंदन में सितम्बर 11, 1945 को मिले। बैठक में "पांच बड़ों" के परराष्ट्र मंत्री शामिल हुए—अमेरिका, सोवियत संघ ब्रिटेन, फ्रांस और चीन। बैठक 11 सितम्बर से 2 अक्टूबर तक चली। शुरू से ही ब्रिटेन और अमेरिका तीन बड़ों के अलावा किसी चौथे को लाने में हिचक रहे थे। अमेरिका जिस "चौथी" ताकत को लाना चाहता था, वह चीन था पर ब्रिटेन उसे नहीं चाहता था। ब्रिटेन फ्रांस को चौथा सवार बना कर लाना चाहता था जिसे अमरीका और सोवियत दोनों ही नापसंद कर रहे थे क्योंकि "फ्रांस" के वास्तविक शासक मार्शल पेता तो हिटलर के सहयोगी बन बैठे थे। लंदन में बचे खुचे फ्रांसिसियों के नेता "द गाल" यों तो अपने को स्वतंत्र फ्रांसिसियों के नेता घोषित किए बैठे थे, पर थे पूर्णतः चर्चिल पर आश्रित। स्टालिन और रूजवेल्ट दोनों ही इस चौथे सवार के पक्ष में न थे। स्टालिन चौथे सवार के रूप में च्यांग काई शेक वाले चीन के पक्ष में भी नहीं थे। पर अंततः चर्चिल ने अपनी बात मनवा ली। इधर फ्रांस उधर चीन चौथे और पांचवें सवार बना दिए गए। यह युद्ध के अंतिम दिनों की बात थी जब संयुक्त राष्ट्र का ढांचा तैयार होने को था और युद्धोत्तर पुनर्निर्माण की नींव डाली जा रही थी। अब शांति संधियों की रचना की बात शुरू हुई तो यह तय हुआ कि शांति संधियों पर विचार तो पांचों परराष्ट्र मंत्री इस परिषद में बैठकर करेंगे पर संधि रचना के लिए केवल उन्हीं देशों के मंत्री उत्तरदायी होंगे जिन्होंने विराम संधि पर हस्ताक्षर किए हैं। इस प्रकार तीन बड़ों ने दो छुटभइयों को विचार विमर्श में तो शामिल कर लिया पर उन्हें संधियों के बारे में फैसला करने का अधिकार नहीं दिया गया। वे इसमें मतदान नहीं कर सकते थे। इस प्रकार यूरोपीय शांति संधियों से 'एशियाई' एकमात्र शक्ति जिसे पांच पंचों में एक माना गया था अलग कर दी गई। फ्रांस भी अलग हो गया, पर उसके हितों की देखभाल तो ब्रिटेन कर ही रहा था। सोवियत नेता इस संकुचित यूरोपवाद के खुद शिकार हो गए थे पर यह सिद्धांत कि जो विराम संधि में नहीं शामिल हैं, वे संधि निर्णय से भी बाहर रहेंगे, उनके विरुद्ध ही जाने वाला था, जब सुदूरपूर्व के बारे में फैसला करने की बात उठनी थी। स्मरणीय है कि इस सम्मेलन की शुरूआत होने के पहले फ्रांस में दगाल ने एक वक्तव्य में कहा कि पश्चिमी देशों का एक मजबूत गुट बनाया जाना चाहिये जिसका सोवियत संघ ने विरोध किया। इसके अलावा इस बैठक में इतालवी

शाति सधि पर चर्चा हुई पर सफलता नही मिली। मुख्य टकराव सोवियत और दो अन्य बडो,अमेरिका व ब्रिटेन के हिता के बीच हुआ। ब्रिटेन और अमेरिका सोवियत सघ को इटली के मामले मे कही भी कोई सहूलियत देने को तैयार न था। यह प्रदेश "पश्चिमी प्रभाव क्षेत्र" का एक प्रमुख भाग था। सोवियत सघ के नेताओ की माग थी कि—

(1) ट्रीस्ट और फयूम के बन्दरगाहो के साथ साथ जूलियन माच का इलाका यूगोस्लाविया को दे दिया जाए, चूकि उस पर यूगोस्लाविया का दावा तक सगत है।

पर इस मामले मे ब्रिटेन और अमेरिका का रुख कुछ दूसरे ढग का था। वे ट्रीस्ट के बदरगाह का अतर्राष्ट्रीयकरण करना चाहते थे और जूलियन माच को भाषा तथा सस्कृति के आधार पर यूगोस्लाविया और इटली के बीच बाट देना चाहते थे। इस प्रश्न पर असहमति हो जाने के कारण यह मामला उप पर राष्ट्र मत्रियो को सौंप दिया गया।

(2) ऐसी ही कठिनाई क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर हुई। सोवियत सघ की माग थी कि इटली से 60 करोड डॉलर हर्जाने के तौर पर वसूल किए जाए और उसका अधिकाश सोवियत सघ को इसलिए दिया जाए चूकि, महायुद्ध मे सबसे अधिक क्षति सोवियत सघ की ही हुई है। ब्रिटेन और अमेरिका इस माग का समथन करने को तैयार न थे क्याकि, उनकी दृष्टि मे इटली इस क्षतिपूर्ति के बोझ को सभाल नही सकता है तथा इन्होने ही इटली को युद्ध पूव भारी मात्रा मे उधार की रकम दे रखी थी, जिसे वसूल कर पाना इन्ही के लिए कठिन था। फासी इटली इनका ही तो पाला पोसा "साड" था जो अक्टूबर शाति के माहौल मे हुडदग मचाने के लिए खूब खिला पिला कर मोटा किया गया था।

(3) सोवियत सघ के नेता साम्राज्यवादियो की पचायत मे बैठकर इस जघन्य अपराध के भी दोषी बन गए, जब उन्होने उपनिवेशो की "बदरबाट" मे शामिल होने की इच्छा व्यक्त की। इतिहास का यह क्रूर व्यग्य देखिए कि लेनिन के उत्तराधिकारी उपनिवेशवाद को समूल नष्ट करने के बजाय साम्राज्यवादियो से इस 'बदरबाट" मे हिस्सा माग बैठे। उन्होने माग की कि ट्रिपो लिटानिया पर उन्हे न्यास स्थापित करने का अधिकार दिया जाए। पर मजे हुए अपराधकर्मियो के बीच उनकी दाल गलन वाली न थी। ब्रिटेन और अमेरिका इसके लिए तैयार नही हुए। वे सोवियत सघ को इस प्रदेश पर न्यास देकर भूमध्य सागर के रास्ते को अपने एकाधिकार से मुक्त नही करना चाहते थे और न इसके लिए तैयार हुए कि यहा सोवियत के पजे गडने दें ताकि उन अरब देशा पर जो पश्चिमी प्रभाव क्षेत्र म थे, सोवियतो की छाया न पडे।

(4) यही बात सोवियत सघ की उस माग पर हुई कि उसे इटली की नौ

गना जहाजो मे हिस्सा मिले। ब्रिटेन व अमेरिका इटली के मामले म सोवियत सघ को किसी प्रकार की हिस्सदारी देने को तैयार न थे। व इटली को दृढतापूर्वक अपने प्रभाव क्षेत्र का अग मानते थ। उनकी रुचि न तो "लेन देन' म थी और न व सोवियत सघ को अपन प्रभाव विस्तार के लिए कोई भी ऐसा मौका हाथ नहीं लगने देना चाहते थे जो बाद मे उनके लिए सिर दद बन। उनकी रुचि उन प्रदेशा म अपनी घुसपैठ करने की थी, जो तब सोवियत सना के बदा म आ चुके थे, वे प्रदश जो लाल सेना के कब्जे मे थे।

इन प्रश्ना पर यथा जब सावियत मत्री मोलोतोव ने बुलगारिया और रूमानिया की तत्काल सगठित की गई सरकारा को मान्यता देन का प्रश्न उठाया, ब्रिटेन व अमेरिका के प्रतिनिधिया ने अपना विरोध यह कहकर प्रकट किया कि य सरकारें सही माने म जनता का प्रतिनिधित्व करन वाली सरकारें नही हैं, अतएव इन्हें मान्यता दने का प्रश्न ही नही उठना। अमेरिका ने हगरी, बुलगारिया और रूमानिया के सबध म सधिया के प्रारूप प्रस्तुत किये।[18]

इस प्रकार सभी विचाराधीन महत्वपूण प्रश्नो पर उग्र मतभेद उभर आए और परिषद का यह पहला सम्मलन इस अथ मे तो विफल रहा कि बात सुलह की हो नही पायी पर इस अथ मे यह सफल भी रहा कि मित्र राष्ट्रो के नेताओ ने एक दूसरे के सामने बदरबाट" के अपने सौदो की शर्तें रख दी और एक दूसरे को जानकारी दे दी तथा यह सिलसिला शुरू कर दिया कि जो हमारे पास है उसमे तो दूसरो को कुछ देना नही लेकिन जो दूसरो के पास है उसमे से कुछ मिले तो ले लिया जाए। स्पष्ट था कि सनिको ने जो फैसला कर दिया था उसके आगे न सोवियत सघ और न पश्चिमी 'बडे' एक इच भी आगे बढने को तैयार थे। युद्धकाल का मैत्री सगठन ऐसा टूट रहा था कि अब फिर से जुडने की उम्मीद तिरोहित होती दिख रही थी। पर बातचीत का सिलसिला अभी टूटनेवाला न था।

तनाव बढता गया

इधर उधर केवल बाता का ही जमा खच नही हो रहा था। अमेरिका के नेतत्व मे पश्चिम की ताकतें सुदूरपूव मे अपने नव अजित प्रभाव क्षेत्र को मजबूत करन में जुटी रही। उनके इशारे पर दक्षिण कोरिया के प्रदश म सिघम री के नेतृत्व म एक अमेरिका परस्त तथा सोवियत विरोधी सरकार गठित हो गई जिसके फलस्वरूप उत्तरी कोरिया मे सोवियत प्रभाव को सुदढ करना सोवियत सघ के लिए आवश्यक बन गया। सोवियत सघ ने मचूरिया मे भी अपनी सनिक स्थिति सुदढ करनी शुरू कर दी जिसका अथ था चीनी और कोरियायी साम्यवादिया की स्थिति को पुष्ट करना। लदन सम्मेलन की विफलता न यूगोस्लाविया के नेताओ को नी

मामलो मे फिर से दिलचस्पी लेने के लिए प्रेरित किया जिसका फल यह हुआ कि यूनान में साम्यवादियो के प्रभाव मे कुछ उफान आने लगा। स्मरणीय है कि यूनान को "ब्रितानी प्रभाव क्षेत्र" मे स्टालिन ने मान लिया था और वे आगे बढकर यूनानी कम्यूनिस्टो को सहारा देने की नीति त्याग चुके थे। इटली के मामले मे समझौता हो जाता तो यूगोस्लाविया भी ढीला पड जाता। यूनान म स्थिति पूरी तरह ब्रिटेन के पक्ष मे आयी भी नही थी। सोवियत सघ और यूगोस्लाविया का सहारा मिलने पर बाजी अभी भी पलटी जा सकती थी। लदन सम्मेलन के बाद यूनान मे कम्यूनिस्टो के प्रभाव मे बढोत्तरी हुई और मित्र राष्ट्रो के बीच तनाव बढने लगा।

सर्वाधिक महत्व का प्रश्न परमाणु आयुध सबधी रहस्य का क्या हो

हर उदीयमान राष्ट्र के जीवन मे कभी कभी एकाध बार ऐस एतिहासिक अवसर आते हैं जब उसका वरण करने के लिए महानता स्वय दरवाजे पर दस्तक देती है। अमेरिका के जीवन म दूसरी बार ऐसा अवसर उपस्थित हो रहा था, जब एक महान अमेरिका की दृढ नीव डाली जा सकती थी।[19] यह अवसर माग कर रहा था कि अमेरिका अपनी भीषण विध्वश शक्ति "परमाणु आयुध" के रहस्यो की जानकारी अन्यो के लिए सुलभ कर, उस रहस्य पर से परदे उठाकर "परमाणु शक्ति" के दोहन को अतर्राष्ट्रीय नियत्रण मे दे दें ताकि, इस महती शक्ति का रचनात्मक उपयोग जनसाधरण के व्यापक हित मे किया जा सके और छोटे बडे सभी राष्ट्र इस क्षेत्र मे कमर तोड प्रतियोगिता के चक्कर मे पडने से बच जायें। इसका परिणाम यह भी होता कि सयुक्त राष्ट्र की जडें बहुत मजबूत हो जाती, नि शस्त्रीकरण के प्रस्ताव व योजनायें पाखड बनकर न रह जाती। आज जब हम पीछे मुडकर देखते हैं तो इस मुहूर्त के महत्व का ध्यान मे रखते ही एक अजीब पछतावा होता है। कितना विपुल धन, और कितनी अकूत मानवीय शक्ति का इस "परमाणु विध्वश" की साज सज्जा मे, बडे राष्ट्रो की आपसी होड मे तथा छोटे अधमरे देशो के "परमाणु शक्ति" बनकर एक झूठी महत्ता अर्जित करने की चाह मे नष्ट कर दिया गया है। अमेरिका के तत्कालीन मदान्ध शासको ने "परमाणु शक्ति" के रहस्य को अपने एकाधिकार मे रखने की दुरभि सधि रची यद्यपि उनके श्रेष्ठ वैज्ञानिक तथा ट्रूमेन के मत्रिमडल के बहुसख्यक सदस्यो ने तक इस 'परमाणु रहस्य" के क्षेत्र मे सोवियत सत्ता के साथ साझदारी करने का प्रस्ताव रखा था।[20] अमरीका दूसरी ओर मुड गया और उससे शासको ने यह कोशिश की कि 'परमाणु शक्ति के रहस्य अमेरिका की मुट्ठी मे ही बद रहे। अमेरिकी शासको म अपने आपको और अपनी अमेरिकी जनता को भुलावे मे रख पाने की ऐसी अदभुत क्षमता है, जैसी किसी अन्य शासक के पास नही है। पर ऐसे दूरदर्शी व

साहसी अमेरिकी भी थे जो प्रोफेसर हैरॉल्ड मेउरे की तरह एक बहुत बड़ पर माणु वैज्ञानिक जो यह चेतावनी देने से नही चूके कि "हम बम बना रहे हैं और उन्हें सजो रहे हैं और इस प्रकार दूसरे देशो के लिए खतरा बन गए हैं।शस्त्र और हथियारो की होड शुरू करने के अपराधी हैं।[21]

यो परमाणु बम का रहस्य गुप्त रख लिया गया और परमाणु बम चलाने की धमकी खुलकर दी जाने लगी। चर्चिल बर्ट्रेंड रसेल स लेकर सिनेटर जानसन तक सभी के लिए "परमाणु बम" के द्वारा अतिम फैसला करवा देने की धमकी देना आम बात हो गई। इस प्रकार शाति की सुव्यवस्था स्थापित करने के बजाय ट्रूमेन व उनके सहयोगी युद्ध का नगाडा बजाने लगे मानो सोवियत सघ उनका मित्र राष्ट्र न होकर हिटलरी जर्मनी और फासी इटली का समानापन्न शत्रु राष्ट्र हो जिससे धमकी के बल पर ही "सौदा" किया जा सकता हो।

परराष्ट्र मत्रियो का मास्को सम्मेलन
(दिसम्बर 1945)

युद्ध की समाप्ति का वर्ष समाप्त होने जा रहा था। शाति के कपोतो पर ऐसा पथराव अमेरिका ब्रिटेन की ओर से हो रहा था कि वे लहू लुहान हो रहे थे, पर युद्धोत्तर समझौतो की आशा अभी खतम नही हुई थी। यह तय हुआ था कि पर राष्ट्र मत्री हर तीसरे महीने मिला करेंगे। अमेरिकी परराष्ट्र मत्री ने मास्को से सम्पर्क किया और तुरत ही बैठक के लिए उन्हे आमत्रित किया गया। मास्को मे बायरनीज और स्तालिन के बीच तीन बैठकें हुई और बहुत सारे मसलो म सह मति हो गई। इस सम्मेलन मे फ्रास और चीन के परराष्ट्र मत्री नही बुलाये गये। बायरनीज की भी यही सलाह थी।

मुख्य मसला था पाच शत्रु राज्यो के साथ सधियो के प्रारूप पर विचार करना तथा रूमानिया और बुलगारिया की सरकारो को मान्यता देने के प्रश्न को तय करना। इसके साथ ही परमाणु शक्ति के नियत्रण की समस्या पर भी विचार करना तय हुआ था। सुदूरपूर्व अर्थात जापान एव कोरिया के प्रश्न तथा ईरान से मित्र राष्ट्रो की फौजो को हटाना और उसकी प्रभुसत्ता की पुन प्रतिष्ठा ऐसे प्रश्न थे जो मुह बाये खडे थे।

सम्मेलन की कार्यवाही ठीक से शुरू हो गई। पहली समस्या के बारे मे यह तय हो गया कि सधियो के प्रारूप उन राज्यो के द्वारा तैयार किए जायेंगे जिन्होंने विराम सधि पर हस्ताक्षर किए थे। केवल इटली वाले प्रारूप के सबध मे फ्रास को जोड दिया जायेगा। फिनलेण्ड के मसले म सोवियत सघ और ब्रिटेन हिस्सा लेंगे। बाल्कान राज्यो के बारे म "तीन बडे" सधि की रचना करेंगे। जब सारे प्रारूप तैयार हो जायेंगे, तब 21 राज्यो के एक सम्मेलन के सम्मुख उन्हें प्रस्तुत किया

बनेगा जिसमें वे सभी देश शामिल होंगे जिन्होंने यूरोप की भूमि से लड़ाई में सक्रिय रूप से भाग लिया है। यूरोपीय मित्रों और अमेरिका के अतिरिक्त भारत (पराधीन) आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड दक्षिणी अफ्रीका तथा ईथोपिया को भी शामिल किया गया। इस प्रकार के सम्मेलन के विचार-विमर्श होने के बाद संधियों के अन्तिम प्रारूप उन्हीं राष्ट्रों के द्वारा तय किए जायेंगे जिन्होंने मूल प्रारूप की रचना की थी। अन्तिम मामले में वे प्रारूप उन सभी राष्ट्रों के सम्मुख रखे जायेंगे जिन्होंने युद्ध की घोषणा की थी लेकिन वे तभी लागू माने जायेंगे जबकि इनकी संपुष्टि उन सभी राष्ट्रों के द्वारा हो जायेगी जिन्होंने विराम संधि पर हस्ताक्षर किये हैं अर्थात् तीन बड़े और पराजित शत्रु राष्ट्र। इस समझौते से सोवियत संघ का यह आग्रह मान लिया गया कि संधियों का मामला तीन बड़े ही तय करें भले ही उस पर राय छोटों की भी ले ली जाए जो पश्चिमी बड़ों का प्रयत्न रहा। वास्तव में बात यह थी कि सोवियत संघ संधियों को आम बहस का विषय नहीं बनाना चाहते थे। या तो वे गुपचुप तौर पर तय हो जायें या बड़ों की छोटी बैठक में। इस सम्मेलन में यह भी तय हुआ कि संधि होते ही मित्र राष्ट्र इन देशों से अपनी सेनायें हटा लेंगे। इसमें एक अपवाद मान लिया गया कि सोवियत संघ हंगरी और रूमानिया में तब तक अपनी सेनायें रख सकेगा, जब तक आस्ट्रिया के साथ संधि सम्पन्न न हो जाये।

इस सम्मेलन ने एक सुदूरपूर्व आयोग की भी स्थापना की जिसका मुख्यालय वाशिंगटन में रखा गया और जिसके जिम्मे यह काम सौंपा गया कि यह जापान के द्वारा संधि दायित्वों को पूरा करने के संबंध में नीतियाँ और स्तर तय करें और जो जनरल मेकार्थर, सर्वोच्च सेनापति के नीति निर्देशों की परिवीक्षा कर सकें। इसमें सोवियत संघ अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, चीन, हालैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेण्ड, फिलीपीन्स तथा भारत (पराधीन) को स्थान दिया गया। इसके अलावा जापान के लिए मित्र राष्ट्रों की एक परिषद भी बनायी गयी जिसमें अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन और चीन को ही सदस्यता दी गयी। इस परिषद की अध्यक्षता प्रशान्त महासागर में मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च सेनापति को सौंपी गयी और उसका प्रमुख केन्द्रालय टोकियो में स्थापित किया गया।

इसके अतिरिक्त (1) एक सोवियत अमेरिकी सम्मेलन जो कोरिया के प्रश्न पर विचार करें और एक ऐसा संयुक्त आयोग जो कोरिया में काम चलाऊ लोकतन्त्रीय सरकार की स्थापना की योजना बनाये, बनाये गये (2) यह भी तय हुआ कि चीन से सोवियत और अमेरिकी सेनाओं को तुरंत वापस बुला लिया जाए तथा (3) एक त्रिसदस्यीय आयोग रूमानिया के लिए बनाया जाय जो रूमानिया जाये और राजा माइकेल की इसमें मदद करें कि राष्ट्रीय किसान दल का एक सदस्य और एक सदस्य उदार दल का केबिनेट में शामिल किया जाय ताकि उन्मुक्त ऐसे वातावरण

में जिनमें ब्रिटेन, भारत और सोवियत संघ की रजामन्दी हो, युद्ध कराने जा सकें तथा (4) सोवियत संघ का यह जिम्मेदारी सौंपी गई कि वह सोवियत सेनाओं के दो प्रतिनिधियों को बुल्गारिया की सरकार में शामिल कराये। यह तय हुआ कि सारे कदम उठा दिए जाने के बाद ही रूमानिया और बुल्गारिया की सरकारों को पश्चिमी शक्तियां मान्यता देंगी।

अंतिम महत्व का मामला परमाणु आयोग की स्थापना के संबंध में थी। बायरनीज न तो चाहता था कि सम्मेलन में गंभीर चर्चा हो। इसके बाद में तय होकर मानो रोक दे इस विषय सूची में अंत में रख लिया। मोलोटोव ने अमेरिका के इस सुझाव का पहले तो विरोध किया जिसके अनुसार इस मत को सीढ़ी दर सीढ़ी तय करना था पर बाद में वे मान गए। 15 नवम्बर का वाशिंगटन परमाणु समझौता स्वीकार कर लिया गया जिसमें सुरक्षा परिषद के अधिकार सुरक्षित कर दिए गए। रूसियों ने परमाणु बम की चर्चा ही नहीं की। बैठक 16 दिसम्बर से चलकर 27 दिसम्बर को समाप्त हो गई।

मास्को सम्मेलन ने इस तथ्य को अच्छी तरह उद्घाटित कर दिया था कि सोवियत संघ युद्धकालीन मैत्री को तोड़ने में कोई दिलचस्पी नहीं रखता वरन् वे समझौतावादी रुख बनाए हुए हैं और सभी मसलों पर मिल जुल कर चलने को तैयार हैं। लेकिन जब अमेरिकी परराष्ट्र मंत्री सम्मेलन समाप्त कर घर लौटे तो उन्हें भी यह देखकर खेदपूर्ण विस्मय हुआ कि अमरीकी 'प्रेस' का एक मुखर अंग मास्को समझौते को 'तुष्टीकरण' का कदम ठहरा रहा है। दुर्भाग्य इससे बड़ा यह था कि राष्ट्रपति ट्रूमेन आग बबूला हो रहे थे कि बायरनीज ने वार्ता के दौरान उनसे संपर्क नहीं रखा और जितनी सख्ती वे चाहते थे, उतनी सख्ती से साथ वे रूसियों से पेश नहीं आए। ईरान के मसले में रूसी कारवाइयों का उन्होंने विरोध नहीं किया। ट्रूमेन ने बायरनीज को जो पत्र भेजा उसमें उन्होंने लिखा

'मेरे मन में थोड़ा भी संदेह नहीं है कि रूस तुर्की पर हमला करना चाहता है और काले सागर में और भूमध्य सागर में उसके इलाकों को छीन लेना चाहता है। यदि रूस का सामना तनी भृकुटियों तथा कड़ी भाषा के साथ न किया गया तो दूसरी लड़ाई अन्दर ही अन्दर पकती रहेगी। वे केवल एक ही भाषा समझते हैं—तुम्हारे पास सेना की टुकड़ियां कितनी हैं ?

मैं नहीं सोचता कि अब आगे कोई समझौते की बात हो। जब तक वे हमारी बातें न मानें, हमें रूमानिया और बुलगारिया को मान्यता नहीं देनी चाहिए हम रूस से अपने जहाजों की वापसी पर जोर देना चाहिए और रूस को दिया गया उधार पटटे का हिसाब चुकता करने के लिए जोर देना चाहिए। मैं सोवियतों को पालने में झुलाते झुलाते थक गया हूं।'[23]

रूस से तुरन्त हिसाब नहीं हो सका पर बायरनीज का हिसाब तुरन्त चुकता

कर दिया गया। वे हटा दिए गए। ट्रूमेन के ये लिपिबद्ध उद्गार, जैसा उन्होंने अपने संस्मरण में खुद कहा है अमेरिकी परराष्ट्र नीति में एक नये मोड़ के सूचक हैं।[4] ट्रूमेन की उस मनःस्थिति के निर्माण की प्रक्रिया का यहा आभास मिल रहा था जो अपने पूरे विस्फोटक रूप में साल सवा साल के बाद 'ट्रूमेन सिद्धांत' की घोषणा के रूप में 'शीत युद्ध' की शंखध्वनि करने वाली थी। आम लोग समझ रहे थे कि मित्र राष्ट्र मिल जुल कर युद्धोत्तर मामले निबटा रहे हैं पर आंग्ल अमेरिकी शासक अपनी खिचडी अलग ही पका रहे थे जिस पर रखा ढकना थोड़ा सा हटते ही इतनी गरम भाप छोड गया था। बायरनीज ने कोई बड़ी बात न कर केवल इतना ही स्वीकारा था कि जो जहा अपनी सेना के साथ गया है, वहा की संधि का प्रारूप वह तय कर ले। उन्होंने रूसियो को धमकाने डराने की दुर्नीति का सहारा जरूर नही लिया।

पेरिस का उप परराष्ट्र मंत्री सम्मेलन

लंदन में परराष्ट्र मंत्रियो की परिषद ने जैसा तय किया था उसी के अनुसार जनवरी सन् 1946 मे उप-परराष्ट्र मंत्रियो का एक सम्मेलन हुआ जिसकी बैठकों में इन उप मंत्रियो ने संधियो के प्रारूप तैयार करने के प्रयास किये। ये बैठकें 12 जुलाई तक चलती रही, और इनमे पांच शांति संधियो के प्रारूप तयार किए गए।

इन बैठको में सबसे बडी अड़चन इटली और यूगोस्लाविया की सीमाओ को लेकर पैदा हो रही थी। प्रश्न 'ट्रीस्ट प्रदेश के बारे मे था कि यह युगोस्लाविया को मिले या इटली को या कोई अन्य व्यवस्था की जाय। इस प्रदेश मे मित्र राष्ट्रो की सेनाओ ने भी प्रवेश किया था और युगोस्लाव सैनिक भी थे। तब दोनो के बीच यह समझौता हुआ था कि ट्रीस्ट नगर को दो भागो मे बांट दिया जाय। पेरिस सम्मेलन मे सोवियत ने जूलियन मार्च के इलाके को भाषा और संस्कृति के आधार पर युगोस्लाविया को देने का अनुरोध किया। पर ब्रिटेन और अमेरिकी ने इस तर्क को नही माना। वे इन आधारो पर दोनो का दावा मान रहे थे। सोवियत संघ ट्रिपोलिटानिया पर अपना दावा छोड़ने को सहमत थे बशर्ते कि युगोस्लाविया को ट्रीस्ट दे दिया जाए पर दो बड़े राजी नही हुए। अंत मे फ्रांसिसी मंत्री बिदो के सुझाव पर इस नगर के अंतर्राष्ट्रीकरण के प्रस्ताव को मान लिया गया। 29 जून को बिदो ने एक सात सूत्री कार्यक्रम सुझाया जिसके अनुसार 10 वर्षों तक ट्रीस्ट को स्वतंत्र नगर बना कर रखा जाय और उसके प्रशासन मे सोवियत संघ अमेरिका ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और युगोस्लाविया को शामिल किया जाय। इसमें सुरक्षा परिषद और इसके निवासियो को भी हिस्सेदारी मिले तथा प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने का भार सुरक्षा परिषद को सौंपा जाए। जूलियन मार्च के बारे में बाद को यह तय किया गया कि इसका अधिकांश युगोस्लाविया को दे दिया

जाए। स्वतत्र नगर के बारे म एव सविधान की रचना भी हुई जो इटली से की जान वाली सधि म जोड दिया गया।

इधर शीतयुद्ध की तैयारी, उधर सम्मेलन

शाति सधियो वाला मसला पेरिस के सम्मेलन मे अतत निबटे इसके पहले, शीतयुद्ध के गोले दागे जाने लगे। अमेरिकी शासको का मिजाज बिगड रहा था। वे अब सोवियतो के साथ हस बोल कर युद्धोत्तर पुनरचना में दिलचस्पी लेने को कतई तयार नही थे। जितना कुछ धौंस धमकी से छुडा सकें, उतना सोवियतो से छुडा लें पर जो बच रहा है, पूजीवादी दुनिया का जो भाग एशिया अफ्रीका म तब भी बरकरार था और बर्लिन के पार का पश्चिमी यूरोप उसे सगठित करें और सोवियतो को कमजोर बनाकर कालातर मे पूर्वी यूरोप को भी हथिया लें, ऐसी योजना उन पश्चिमी देशो के शासक वर्ग के मन को बेचैन करने लगी जिनकी कमान अमेरिकी राष्ट्रपति अपने हाथ मे लिए हुए थे। वे परमाणु बम धारी तो थे ही। इस ध्यान म रखकर उधार पटटे की बात खतम कर दी गई थी। अमेरिकी राष्ट्रपति के सभापतित्व मे फुल्टन म चर्चिल का वह दहलाने वाला भाषण दिया जा चुका था जिसम 'लोह आवरण' म पनपने वाली रूसी तानाशाही को ललकारा गया था। चुनौती रूसी शासको को सभी मोर्चे पर दी जा रही थी और सोवियत सघ का एक ऐसी दुर्दान्त शक्ति के रूप म पेश किया जा रहा था जो पश्चिमी सभ्यता के लिए एक ऐसा भारी खतरा हो जिससे भिडने के लिए ध्वस्त यूरोप फासी और नाजी शक्तियो को यथा पुर्तगाल और स्पेन को तथा पश्चिम म लुके छिपे नाजियो को गले लगाए बिना पश्चिम का काम नही चलने का हो। मुददे की बात यह थी अमेरिकी ब्रितानी साम्राज्यवाद का गठबधन अपनी टूटती फूटती दुनिया को और अधिक टूटने न देने के लिए कमर कस रहे थे। युद्धोन्माद फैलाने से बढकर और उपाय ही क्या था जब पूजीवाद की कलई पूरी तरह यूरोप म खुल चुकी थी, पहले हिटलर मुसोलिनी के हाथो और बाद म सोवियत शक्ति के सामने। एशिया और अफ्रीका के पददलित लोगो ने अपनी आखो के आगे 'अजेय यूरोपीय शक्ति को एशियायी 'जापानी' सैनिक शाहो के आगे घुटने टेकते देख लिया था और उनकी 'अजेयता' का बुलबुला देखते ही देखते फूट गया था। जगह जगह आवाज बुलद हो रही थी 'एशिया छोडो'! 'अफ्रीका छोडो'!'

उभरते हुए इस साम्राज्य विरोधी एशिया अफ्रीका व्यापी अभियान के दौरान आग्ल अमेरिकी गठबधन की मुख्य चिंता का विषय था कि किस प्रकार टूटती गिरती हुई साम्राज्यवादी पूजीवादी व्यवस्था को फिर से पायेदार बनाया जाय और सोवियत सघ और विशेषत उनके प्रभावक्षेत्र म आए इलाको को जमने न दिया जाय तथा पुनर्निर्माण के कार्यों मे शातिपूर्वक उन्हे जुटने का अवसर प्राप्त

न होने दिया जाय। पर इस तरह का माहौल बनाना आसान न था। कल ही तो सोवियत की लाल सेना के तारीफ के पुल बांधे जा रहे थे, उनकी मित्रता और सौहाद्र की चर्चा जोरों पर थी, उन पर भरोसा करने की बात जनसाधारण की जुबान पर ला दी गई दी थी। इतनी जल्दी सोवियतों के बारे में रुख कैसे पलटा जा सकता था। इसलिए सीढी दर सीढी बढा जा रहा था। सोवियत नेता भी तुर्की ब तुर्की इन चालों का जवाब दे रहे थे पर समझौतावादी रुख बनाये हुए थे, जैसा मास्को सम्मेलन ने दिखाया। वे अगले सम्मेलनों में यह धारणा पुष्ट करने चल रहे थे कि सोवियत व्यवस्था पूंजीवाद से लडना नहीं चाहती, उसके साथ मिलजुल कर चलना चाहती है। मिलजुल कर उसने संयुक्त राष्ट्र बनाया है, शांति संधियां रच रहे हैं और भी आगे बहुत सारी बातों में सहयोग हो सकता है। वे फुल्टन भाषण ऐसी बातों से भी इतने उत्तेजित नहीं हो रहे थे कि सहयोग और सौहाद्र के सारे पुल ही तोड दें। विरोध करते अडते, आपत्ति करते पर अंततः सुलह के लिए प्रस्तुत हो जाते। महायुद्ध में सबसे भारी बलि उनके ही जनधन की थी, इतनी कि जिसका आंकडों का अंदाज लगाना कठिन हो रहा था। इस स्थिति में शांति का कोई भी विकल्प सोवियत के मन में, किसी भी नागरिक में, शासक दल के सदस्य के मन में सहज रूप से आ ही कैसे सकता था। अमरीका और ब्रिटेन के सत्ताधारी इसे खूब जानते थे।

पेरिस के शांति सम्मेलन की पूर्व पीठिका

इस ऊभ चूभ वाले वातावरण में पेरिस में 25 अप्रल 1946 में परराष्ट्र मंत्रियों का फिर से सम्मेलन हुआ। इस बार मोलातोव इस बात के लिए राजी हो गए कि फ्रांसिसी प्रतिनिधि भी भाग लें। मोलातोव ने अमेरिका द्वारा प्रस्तुत जर्मनी से संबंधित संधि प्रारूप तो यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि इससे काम नहीं चलेगा। आस्ट्रिया के बारे में बातें करने से इंकार कर दिया। इटली के उपनिवेशों का क्या हो, इस पर विवाद बना रहा—ऐसे ही विवादग्रस्त ट्रीस्ट और डोडेकेनीज के मामले बने रहे। यही हश्र उस प्रस्ताव का हुआ जिसे दिसंबर सन 1945 में बायरनीज ने स्टालिन के सामने रखा था कि जर्मनी को निःशस्त्र बनाये रखने की एक पचीसवर्षीय संधि की जाय जिसके अनुसार रूस की सुरक्षा का एक ओर प्रबंध हो दूसरी ओर रूस की लाल सेना जर्मनी से वापस चली जाय। पर फुल्टन भाषण के बाद दूसरा अवसर पश्चिम ने, खो दिया था। ट्रूमैन से डांट खाये हुए बायरनीज कलम फूंक फूंक कर रख रहे थे और राष्ट्रपति के लहजे में लाल-पीले होकर सोवियतों को धमकी दते जा रहे थे और सारा दोष सोवियत संघ पर मढ रहे थे। एक बात हो गई थी जिसे रूजवेल्ट ने हमेशा बचाने की कोशिश की थी—आंग्ल अमेरिकी गठबंधन की हर मामले में एक गुट बनाकर सोवियत के

विरुद्ध मोर्चाबंदी अब खुले रूप मे हो रही थी। इसने अमरिका के उन तत्त्वो को जरूर खुश कर दिया था जो ट्रूमेन के नेतृत्व मे रूस र कडाइ स पेश आने के हिमायती थे।

पश्चिमी गोलाद्ध की प्रयोगशाला

अमेरिकी शासक वग की अपनी भावी योजना की एक झलक पश्चिमी गोलाद्ध की प्रयोगशाला म देखने को मिल रही थी। पश्चिमी गोलाद्ध अमेरिका का अपना घर आगन था। सबसे पहल कदम वहा ही उठाना लाजिमी था। ट्रूमेन ने 7 मई सन् 1946 मे पश्चिमी गोलाद्ध के अपने किले को अस्त्र शस्त्रो म सुसज्जित करने का प्रस्ताव काग्रेस के सम्मुख रखा। डॉलर और हथियार इस गोलाद्ध के देशो म बरसने लगे और चार वर्षों के अन्दर ही लाखो डालर की कीमत वाले हथियार ही नहीं आये बल्कि, यहा क सैनिक तत्त्वो को इस हद तक पुष्ट किया जाने लगा कि एक के बाद दूसरी लोकतत्री सरकारे उखडती चली गई और सैनिक तानाशाहिया स्थापित होती चली गई। अमरीका की 'सौहार्द्रपूर्ण पडोस धम' ध्वजा जगह जगह फहराने लगी। यह अमरीकी जागतिक शक्ति की परराष्ट्र नीति का एक पूर्वाभ्यास सिद्ध हुआ जिसकी लपेट मे शीघ्र ही बाकी पूजीवादी दुनिया के क्षेत्र भी घसीटे गए। इसी तूफानी अभियान मे फासी स्पेन, पुर्तगाल व अर्जेंटाइना मित्र बना लिए गए।

पेरिस सम्मेलन का दूसरा दौर

पेरिस में पुन जून 1946 म पर राष्ट्र मत्रियो की बैठक हुई। मोलोतोव न गतिरोध दूर करत हुए यह मान लिया कि डोडेकेनीज द्वीप यूनान को दे दिए जाए। अमेरिका का यह प्रस्ताव भी उन्होने मान लिया कि साल भर क लिए इटली क उपनिवेशो के भविष्य की चर्चा टाल दी जाए। अगर आग्ल अमेरिकी गठबधन को यह डर था कि रूसी भूमध्य सागर मे घुसपैठ करना चाहते हैं तो रूसियो ने इस भय को निर्मूल बना दिया। मोलोतोव ने यह भी मान लिया कि शाति सम्मलन 29 जुलाई से बुलाया जाए। तब कही आग्ल अमेरिकी गुट्ट ने सोवियत की यह माग मानी कि उन्ह इटली स दस करोड डालर हर्जाने के दिलवाये जाए और यह इटली के अतिरिक्त औद्योगिक साज सामान म, तथा बाल्कान प्रदेशो म इटली की पूजी व सम्पत्ति म और बाकी इटली के उत्पादन से वसूला जाए जिसके लिए कच्चा माल रूसी देंगे।

ट्रीस्ट के बारे म फ्रासीसी प्रस्ताव द्वारा सुझायी गई वह विभाजन रेखा मान ली गई जो इटली और यूगोस्लाविया की सीमाओ को बाटेगी। ट्रीस्ट को एक स्वतत्र राज्य मान लिया गया, तफसील मे बाद वाद मे तय होनी थी।

एक और प्रश्न पर विवाद था। मोलोतोव रूस का निषेधाधिकार उस प्रक्रिया के सबध मे भी चाहते थे जिसके अनुसार शानि सम्मेलन चलाया जाना था। इस पर भी समझौता हो गया। इस प्रकार फ्रास क सहयोग और सोवियता के समझौता परस्त रुख ने शाति सम्मेलन की सभावना को सफलता के करीब ला दिया।

पेरिस का शाति सम्मेलन
(29 जुलाई सन् 1946 से अक्टूबर 15, 1946)

अतत वह घडी भी आई जब पेरिस मे शाति सम्मेलन जुलाइ 29, सन 1946 का शुरू हुआ। इस सम्मेलन म 29 राज्यो के प्रतिनिधि जुटे और उन्होने परराष्ट्र मत्रिया द्वारा तैयार किए गय सधिया के प्रारूप पर विचार किया आर अपनी अनुशसायें प्रस्तुत की। इसमे कुल 1385 प्रतिनिधि तथा लगभग दो हजार पत्रकारा न भाग लिया। चार बडा ने प्रस्ताव रखा कि मामले दो तिहाई बहुमत से तय किए। जाये छोटे देशा ने बहुमत स निणय करने का प्रस्ताव रखा। समझौता यह हुआ कि परराष्ट्रमत्रियो की परिषद को जा अनुशसाये भेजी जायें व दो तिहाई बहुमत स स्वीकृत होने के बाद भेजी जायें तेकिन साधारण बहुमत स पारित प्रस्ताव भी विचाराथ भेज दिए जायें। सम्मेलन ने अपना सारा काम पाच आयोग के माध्यम से तथा 4 समितिया के जरिये किया (सनिक, कानूनी तथा दो आर्थिक समितिया) शत्रु देशो के प्रतिनिधियो को अपनी बातें रखने का मौका दिया गया परन्तु मत देने का अधिकार न था।

नवबर 4 स दिसबर 12, सन् 1946 तक, फिर न्यूयाक मे परराष्ट्र मत्रिया की परिषद की बैठके हुई जिसमे पाचा सधिया का अतिम रूप दिया गया। इन सधियो पर पाचा शत्रु देशो के प्रतिनिधयो तथा युद्ध मे भागीदार सभी मित्र राष्ट्रो के हस्ताक्षर फरवरी 10, सन् 1947 को हो गये जिसने युद्धोत्तर व्यवस्था निर्माण के काय का एक महत्वपूण अध्याय पूरा कर दिया।

इटली के साथ सधि

इस सधि मे 10 धाराए तथा 17 अनुक्रमणिकायें थी इस सधि के अनुसार निम्नाकित क्षेत्रीय प्रबध किए गए

(अ) क्षेत्रीय प्रबध इस सधि के अतगत इटली की सीमाओ हेर फेर की गई जिसके अनुसार फ्रास को इटली वह पुराना भाग दिया गया जा लिटिल सेंट बर्नार्ड का दरा था मॉंटथाबोर, चेवरतान माट सेनिस, टॉडा और ब्रीगा के नाम से जाने जाते थे। यूगोस्लाविया को इटली के जारा, पेलागोसा, लगोस्ता और डाल्मेती तट के दूसरे टापू दिए गए। इस्ट्रीया प्रायद्वीप तथा वनजिया गूतिया प्रात का अधिकाश टीस्ट को स्वतत्र क्षेत्र घोपित किया गया जिस प्रशासन के लिए सुरक्षा

परिषद के अंतर्गत रखा गया। यूनान को रोड्स तथा डोडेकेनीज द्वीप दिए गए।

अफ्रीका में इटली के जो भी उपनिवेश थे उन्हें त्यागना पड़ा और यह तय हुआ कि सालभर के अंदर चार बड़े तय करेंगे कि उनका क्या हो और तय न कर पाने की सूरत में, यह मामला संयुक्त राष्ट्र की सामान्य सभा को सौंप दिया जायगा।

अल्बानिया को मुक्त कर दिया गया और इसी प्रकार इथोपिया की स्वतंत्रता को मान्यता दी गई। दिसंबर 1949 में महासभा तक लीबिया को स्वतंत्र कर दिया जाए। इतालवी सोमालीलैंड को दस वर्ष तक इटली के संरक्षण में रखा गया तथा इरीट्रिया को सन् 1954 तक संयुक्त राष्ट्र के नियंत्रण में रखा गया।

निःशस्त्रीकरण

फ्रांस और युगोस्लाविया से लगने वाली इटली की सीमाओं का विसैन्यीकरण किया गया। परमाणु आयुध, प्रक्षेपास्त्र, 30 कि० मी० से दूर मार करने वाली बंदूकें विध्वंसक, विमानवाहक पनडुब्बियां तथा बमवर्षक जहाज, की मनाही कर दी गई। बड़े और मझोले 200 टैंकों के रखने तक की इजाजत मिली, इसी प्रकार नौसेना में दो युद्धपोत तथा अन्य श्रेणी के जहाज 67500 टन तक के रखने की अनुमति मिली तथा नौसेना में 25000 अफसर और सैनिक, इसी प्रकार स्थल सेना की संख्या 2,50,000 तथा वायुसेना में 200 लड़ाकू जहाज तथा 150 भार वाहक जहाज रखने की इजाजत मिली।

1 क्षतिपूर्ति की व्यवस्था

इटली को युद्ध प्रारंभ करने का अपराधी ठहराया गया। अतएव यह तय हुआ कि युद्ध थोपने वाले देश की हैसियत से उस मित्र राष्ट्रों को 36 करोड़ डॉलर हर्जाने में देने पड़ेंगे जिसे वह 7 वर्ष की अवधि में चुका सकेगा। इस हर्जाने की रकम से सोवियत संघ को 10 करोड़ डॉलर, युगोस्लाविया को साढ़े बारह करोड़ डालर, यूनान को साढ़े दस करोड़ डॉलर इथोपिया को ढाई करोड़ डालर तथा अल्बानिया को 50 लाख डालर देने पड़ेंगे।

2 बुलगारिया के साथ संधि

बुलगारिया के साथ जो संधि सम्पन्न हुई उसके अनुसार यह तय हुआ कि उसकी सीमा वह रहेगी जो जनवरी सन 1941 में थी। उसे कोई प्रादेशिक क्षति नहीं हुई बल्कि, रूमानिया से दक्षिणी दोब्रुजा का प्रदेश मिला।

बुलगारिया की सैनिक शक्ति की सीमा बांधी गई यथा उसकी स्थल सेना को 55 हजार नौसेना को साढ़े तीन हजार तथा वायुसेना को पांच हजार दो सौ

सैनिको तक सीमित कर दिया गया इटली की तरह अस्त्र शस्त्रा क मामलो मे प्रतिबधित कर दिया गया और विद्यमान व जलयाना की सख्या सीमित कर दी गई।

यह भी तय किया गया कि वह यूनान की सीमा पर किलबदिया नही करेगा।

क्षतिपूर्ति के रूप म उसे साढे चार करोड डालर यूनान को तथा ढाई करोड डॉलर यूगोस्लाविया को 8 वप की अवधि म चुकान थे।

3 हगरी के साथ सधि

हगरी के साथ जो सधि सम्पन्न हुई, उसमे निम्नाकित व्यवस्था की गइ

आस्ट्रिया और युगास्लाविया से उसकी वह सीमा पुन स्थापित की गइ जो पहली जनवरी सन् 1938 मे थी। ऐसा ही सामा निर्धारण चेकोस्लावाकिया के सबध म हुआ (केवल चेकोस्लोवाकिया का डेयूव के पश्चिम के तीन गाव तथा ब्रातिस्लाव का दक्षिणी भाग द दिया गया। सन 1938 के नवबर 2 का वियना का फैसला रद्द कर दिया गया जिसके फलस्वरूप रूमानिया को टा मलवेनिया मिल गया।

सैनिक शक्ति को यहा भी प्रतिबधित किया गया जिसके अनुसार स्थल सना की अधिकतम सीमा 65 हजार, हवाई सेना की पाच हजार (तथा 10 जहाज) निधारित की गई। अन्य अस्त्र शस्त्रो के बारे मे वैसे ही प्रतिबध लगाये गय जैसे इटली के साथ लगाये गय थे।

क्षतिपूर्ति की रकम हगरी को भी चुकानी थी। इसमे 20 करोड डालर की लागत का माल सोवियत सघ को तथा पाच करोड की लागत का युगोस्लाविया को और 5 करोड की लागत का माल चेकोस्लोवाकिया को चुकाना था।

4 रूमानिया के साथ सधि

रूमानिया क साथ जो सधि सम्पन्न हुई, उसकी धाराआ के अनुसार निम्नाकित व्यवस्था की गई

(1) पहली जनवरी सन 1941 की सोमाआ की पुन स्थापना की गई। केवल इसम यह अपवाद रखे गए कि जो सोवियत रूमानिया समझौता सीमाआ के बारे मे 28 जून सन् 1940 म हुआ था और सोवियत चेक समझौता 29 जून 1945 मे हुआ था, उसको ध्यान मे रखकर सीमा निर्धारण किया जायेगा।

सैनिक शक्ति पर प्रतिबध यह लगाया गया कि स्थल सना की सीमा एक लाख बीस हजार सैनिक हवाई मारक तोपखाना पाच हजार तक, नौसेना 5 हजार सैनिको तक तथा 15 हजार टन के जहाजो तक तथा वायुसना हजार सैनिक और एक सो पचास हवाई जहाजो तक रहेगी इटली की तरह ही अन्य अस्त्र शस्त्रो

पर प्रतिबध रहेगा।

युद्ध की क्षतिपूर्ति रूमानिया को भी करनी थी। इसके अनुसार तीस करोड़ म लागत की सामग्री सोवियत सघ को आठ वष की अवधि तक पहुचानी थी।

5 फिनलेण्ड के साथ सधि

फिनलेण्ड वह आखिरी देश था जिसके साथ सन 1947 का मित्र राष्ट्रों ने सधि सम्पन्न कर ली। इस सधि के प्रावधानो म निम्नाकित व्यवस्था थी

(1) पहली जनवरी सन 1941 के समय की सीमाओ की पुन स्थापना की जायगी। अपवाद एव यह था कि पेटसामो प्रात सोवियत सघ को दे दिया जायेगा। 12 माच सन् 1940 को सम्पन्न सोवियत फिन शाति सधि की पुन स्थापना की गई पर इतना अतर डाला गया कि सोवियत सघ ने हागो पर अपनी लीज' का दावा समाप्त कर दिया और 50 वर्षीय की 'लीज पर वह क्षेत्र प्राप्त किया जिसके लिए 50 लाख फिन माक सालाना चुकाने का समझौता हुआ और जो पोरक्कल उप के प्रदेश म है ताकि उसे सोवियत नौ सेना का अड्डा बनाया जा सके।

सैनिक शक्ति पर प्रतिबध लगाये गये जिसके अनुसार सेना म अधिक से अधिक 34 हजार चार सौ नौ सेना म साढे चार हजार सैनिक और 10 हजार टन के जहाज तथा हवाई सेना म 3000 सैनिक तथा 60 जहाज रखे जा सके।

फिनलेण्ड का भी युद्ध की क्षतिपूर्ति करनी थी इसके लिए उसे सोवियत सघ को 30 करोड़ की लागत की सामग्री 2 वर्षो की अवधि के अतगत चुकानी थी।

शाति सधि रचना की प्रक्रिया यही थम गई

इन उपयुक्त पाच पराजित शत्रु राष्ट्रों के साथ शाति सधियाँ सारे झगडो और मुसीबतों के बाद सम्पन्न हो ही गई। इसके आगे यह प्रक्रिया चलनी दुष्कर हो गई यद्यपि प्रयत्न जारी रहे कि आस्ट्रिया और जमनी तथा जापान के साथ भी युद्ध की स्थिति समाप्त होकर शाति सधिया सम्पन्न हो जाये। आस्ट्रिया और जमनी का मसला यूरोप से सम्बन्ध रखता था। जापान सुदूरपूर्व एशिया का बड़ा प्रश्न था। पर इन समस्याओ का हल निकालना आसान नहीं था क्योकि इन मामलो म पश्चिमी ताकतो की स्थिति अधिक मजबूत थी और उनके इरादे भी कुछ और ही थे।

जमनी और आस्ट्रिया सबधी सधि-वार्ताएं, जो सफल नहीं रही

द्वितीय महायुद्ध म धुरी राष्ट्रो का गठन मुख्यत जर्मनी, इटली और जापान

को लेकर हुआ। धुरी राष्ट्रो की त्रिमूर्ति इनको लेकर बनी थी, जैसे मित्र राष्ट्रो के तीन बडे थे अमेरिका, सोवियत सघ और ब्रिटन। विजेताओ की त्रिमूर्ति ने युद्ध जीतने के बाद इटली और चार अन्य छुटभइये शत्रु देशो से तो शाति सधिया कर ली। यह अपेक्षाकृत आसान सिद्ध हुआ क्योकि पूर्वी यूरोप म लाल सना ने और इटली मे आग्ल अमेरिकी सनाओ के एकाधिकार ने सैनिक हल पहले ही निकाल लिया था। उस पर राजनीतिक मुलम्मा चढाने की जरूरत थी। वह इन शाति सधिया ने जैसे तैसे फिलहाल पूरी कर दी। जमनी और आस्ट्रिया का मसला पेचीदा था क्योकि यहा लाल सना भी स्थित थी और आग्ल अमेरिकी सेनायें भी अपना कब्जा जमाये बैठी थी। बाकायदा इन्होने अपने अपने अलग सैनाधिकृत क्षेत्र बना रखे थे। य समस्यायें तो मिल जुल कर, आपसी लेन देन के द्वारा ही, सहयोग और सौहार्द्र की भावनाओ के बल पर ही तय हो सकती थी जिसके स्रोत सूख चले थे। उल्टे पहले पश्चिम से धमकी और घुडकिया भरे वक्तव्य दागे जाने लगे तो इनके जवाब मे सोवियता की आवाज भी तीखी और तल्खभरी हो गई। पुराने वायदो पर धूल पडने लगी। पुराने वायदे क्या थे?

पुराने वायदे और सकल्प आस्ट्रिया के सबध मे

आस्टिया और जमनी के बारे म युद्धकाल म मित्र राष्ट्रो की ओर से मार-गर्भित अनक धारणायें समय समय पर हुई थी। उदाहरण के लिए आस्ट्रिया के बारे मे युद्धकाल मे ही नवम्बर सन 1943 मे मास्को म परराष्ट्रमत्रियो के सम्मेलन मे यह सकल्प लिया गया था कि युद्ध की समाप्ति के बाद आस्टिया का एक स्वतत्र राज्य के रूप म मान्यता दी जायेगी और यह घोषणा की गई कि जमनी के द्वारा बलपूवक आस्ट्रिया को जमनी म मिलाने की कारवाई एक अवैध और अमान्य ठहराई गई कारवाई थी नात्सी विरोधी आस्ट्रिया ने जितना प्रतिरोध वह कर सकता था, उतना किया पर हिटलर और उसके दलालो के आगे उसका वश नही चला यो तो मार्शल पेता ने भी फ्रास को मित्र राष्ट्रो की सनाओ ने मुक्त कराया था। पर फ्रास बडो म शामिल हो गया था आस्ट्रिया अपनी मुक्ति के लिए तीन बडो की सेनाओ की ओर ताकता रहा जो उसके क्षेत्र पर कब्जा किए रही। इस प्रकार उसके साथ जो कारवाई की जा रही थी, वह अनुचित और विधि सम्मत न थी। आस्ट्रिया उस अथ म शत्रु देश न था। पर चाहे न चाहे, आस्ट्रिया का युद्धोत्तर भाग भी जमनी से जुडा ही रहा और वर्षों तक उन मुलझाना मुश्किल हो गया। कई बार परराष्ट्र मत्रियो के सम्मेलन म आस्ट्रिया का प्रश्न उठा पर पश्चिम के दो बडो और सोवियत सघ के बीच गहरे मतभेद बने रहे। जून जुलाई सन् 1946 मे सम्मेलन की दूसरी बैठक मे अमेरिका न आस्ट्रिया से विदशी सेनायें हटाने का प्रस्ताव रखा पर वह सोवियत सघ का मान्य नही था

क्योंकि वह इसके लिए तैयार न था कि 'जर्मन समस्या' से इसे अलग कर हल करने का यत्न विचारणीय है। पश्चिम के देशों में 'शीत युद्ध' का पूर्वाभ्यास चल चुका था और पश्चिम जर्मनी का एक पश्चिम समर्थित पिछलग्गु राज्य के रूप में ढालने का कोशिश शुरू हो गई थी। आस्ट्रियाई समस्या को इस युद्धोन्माद की मनोवृत्ति ने निगल लिया। आस्ट्रिया इटली में मिला हुआ इलाका था, न युद्धोत्तर इटली था और न हंगरी कि वहां केवल एक ही देश की सेना का आधिपत्य हो वह तो तभी अपनी समस्या का समाधान पा सकता था जब उभय पक्ष मिल बैठ कर हल निकालने की कोशिश करते। उस प्रकार की कोशिश के बदले अब माहौल विरोध व आरोप व प्रत्यारोप का तथा ऐसे वैमनस्य का बन रहा था, जो कभी भी नये युद्ध का विस्फोटक बारूद बन सकता था।

अततोगत्वा आस्ट्रिया की तत्कालीन समस्या सुलझी पर उसे सुलझने में दस वर्ष लग गये और जब कि नया युग शुरू हुआ जिसमें बातचीत द्वारा आपसी समस्याएँ सुलझाने के लिए नये सोवियत नेतृत्व ने पहल की। नये सोवियत नेतृत्व ने एक बार फिर जर्मनी की ज्वलंत समस्या को हल करने के लिए पहल शुरू की और उसी का पहला नतीजा था आस्ट्रिया के मसले का इस आधार पर तय करने की पेशकश कि आस्ट्रिया एक तटस्थ राज्य बन रहने का निर्णय करे। ख्रुश्चेव इस प्रकार पश्चिम जर्मनी के सम्मुख एक आकर्षक दृष्टांत पेश करना चाहते थे कि यदि जर्मनी भी तटस्थ होना तय कर ले और 'उत्तर अटलांटिक संधि संगठन' में शामिल न हो तो उसके एकीकरण' पर विचार संभव हो सकता है। आस्ट्रिया की तरह वह भी एकीकृत पर तटस्थ' राज्य बन कर उभर सकता है। आस्ट्रिया के युवा नेतृत्व ने समझदारी दिखाई ख्रुश्चेव का आमंत्रण स्वीकार किया तटस्थता का संकल्प लिया और समझौता हो गया। 27 जुलाई सन् 1955 को आस्ट्रिया स्वाधीन प्रभुता सम्पन्न और एकीकृत राज्य बन गया। संधि होते ही मित्र राष्ट्रों की फौजें हट गईं और 15 मई को संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ ब्रिटेन तथा आस्ट्रिया ने संधि पर हस्ताक्षर किये। इस संधि के द्वारा आस्ट्रिया ने सदा के लिए तटस्थ रहने की घोषणा की और उसकी संसद ने ऐसा संकल्प पारित किया। इस संधि के द्वारा जर्मनी और आस्ट्रिया का विलय हमेशा के लिए निषिद्ध हुआ और आस्ट्रिया की वही सीमा मान ली गई जो पहली जनवरी सन् 1938 को थी।

जापान के साथ शांति संधि सुदूरपूर्व के हल

एशिया की सबसे बड़ी और एकमात्र साम्राज्यवादी शक्ति जापान ने अब मित्र राष्ट्रों के आगे घुटने टेक दिए तब पराजित एवं अधिकृत जापान की स्थिति जर्मनी की तरह न होकर इटली की तरह बनी अर्थात् मित्र राष्ट्रों में कनन

अमेरिकी फौजों ने पूरे जापान पर कब्जा किया। वस्तुत जैसा हम अन्यत्र बता चुके हैं, सोवियन संघ के साथ साझेदारी न करने का मन बनाकर ही अमेरिका ने अनेक कारणों के साथ इस कारण से भी दो परमाणु बम जापान में छोड़े थे ताकि, युद्ध का फैसला शीघ्रातिशीघ्र हो जाये और उन्हें सोवियत की लाल सेना के साथ उस तरह की भागीदारी न करनी पड़े जैसी जर्मनी में हो गयी थी। पर जापान पर तो अमेरिकी फौजी दस्तों ने एकाधिकार कर लिया। तत्कालीन जापानी 'साम्राज्य' के संपूर्ण भाग पर वे काबिज न हो सके। कोरिया के आधे भाग पर, तथा चीन के मंचूरिया प्रदेश और उन प्रदेशों पर जिन्हें युद्धकाल में सोवियतों को भेंट करना तय हो चुका था, यथा कुरील द्वीप एवं सखालीन द्वीप समूह, पोर्ट आर्थर तथा पोर्ट डेरियन आदि पर सोवियत की लाल सेना ने कब्जा कर लिया।

मित्र राष्ट्रों के बीच जो युद्धकालीन समझौते जापान के सम्बन्ध में हुए थे, यथा काहिरा में, याल्टा में तथा पोटसडम में, उनके अनुसार यह तय हुआ था कि जापान की प्रभुसत्ता चार बड़े तथा कुछ छोटे टापुओं तक सीमित की जायगी, कोरिया को एक स्वाधीन राज्य बनाया जायेगा सोवियतों को वे सारे प्रदेश वापस लौटाये जायेंगे जो जारशाही रूस से सन 1904 में छीने गए थे तथा जापानी सैन्यवाद का उन्मूलन किया जायगा।

संदर्भ

1 फ्लेमिंग वही, पृ 305
2 फ्लेमिंग, वही, पृ 197-980
3 ऐसा ही चर्चिल का मन हो गया था। उन्होंने मिकोलाजाइक से 15 जून को कहा 'हमें अब इसकी परवाह नहीं कि स्टालिन जापान के विरुद्ध युद्ध में आता है या नहीं। हमें अब उसकी जरूरत भी नहीं है।" फ्लेमिंग, वही से उद्धृत।
4 कुछ ऐसे विवेकशील वैज्ञानिक भी थे, जो परमाणु बम के इस्तेमाल का विरोध कर रहे थे, राल्फ०ए० बार्ड और डॉ लियो सिलार्ड-देखिये, फ्लेमिंग, वही, 300 302
5 ब्रिटेन के एडमिरल वाइकाउंट कनिंघम ने अपने भाषण में कहा कि उन्हें इसका हमेशा खेद रहेगा कि बम डाला गया जिसकी ऐसी कोई जरूरत न थी बल्कि, इसकी वजह से परमाणु शक्ति का अन्यथा शांतिमय प्रयोग की बात दब गई—फ्लेमिंग, पृ० 306

6 इनक्यिो, सी तथा अन्य कृत आधुनिक जापान का इतिहास देखिये

7 यह मेरी राय है कि हिरोशिमा और नागासाकी पर इन बबर अस्त्रो के प्रयोग ने जापान के विरुद्ध हमारी लडाई पर कोई बडा भारी फर्क नही डाला" एडमिरल विलियम लीही (आइ वाज देयर, लदन 1950, पृ० 515) —' यह सोचना गलत होगा कि जापान ने—2

8 पृ० 90—
भाग्य का फैसला परमाणु बम न किया-चर्चिल, दि सैकेंड वल्ड वार, खण्ड 5, पृ० 643

9 प्रेसीडेंट ट्रूमेन संस्करण, वही, पृ०

10 इतना ही नही, "125 महत्वपूर्ण सरकारी पदो पर जो अगले 2 वर्षों म नियुक्तिया हुई, उनमे से 49 बकर, उद्योगपति व व्यापारी थे, 31 सेना से सबधित और 17 वकील जिनके व्यापारिक संस्थानो से अच्छे संबंध थे।" देखिये—हावर्ड के स्मिथ कृत मे "स्टेट ऑफ यूरोप", 1949, पृ० 83 तथा पृ० 95

11 विशेषत सोवियत संघ की जमनी से हर्जाने की माग और अरबो डालर उधार देने के प्रस्ताव पर पुनर्विचार शुरू हो गया था देखिये—जार अल्प रोविज "एटामिक डिप्लोमेसी हिरोशिमा ऐण्ड पोट्सडम', पृ० 159

12 सुमनर वेल्स ' व्हेयर आर वी हेडिंग ' 1946, पृ० 375 91

13 देखिए अल्पाबोरिज, पृ० 29-30, जान स्नेल कृत "दि मीनिंग आव याल्टा" पृ० 129, पी० एम० एस० बेलकट "मिलिटरी ऐण्ड पॉलिटिकल कासीक्वेन्सेस आव् एटामिक वेपन्स ।

14 देखिए, फोरेस्टल डायरीज, फ्लेमिंग—"दि कोल्ड वार", डेविड हारोवित्ज "फ्राम याल्टा टु वियतनाम", तीसरा अध्याय, पृ० 51-57, पीछे उदधृत

15 चर्चिल का वक्तव्य, न्यूयार्क टाइम्स, 17 अगस्त 1945

16 फ्लेमिंग, 'दि कोल्ड वार" खण्ड प्रथम, पृ० 281 85

17 10 अगस्त सन 1945 को फ्रासिसी समाजवादी दल के विपक्ष ने सोवियत विरोधी वक्तव्य म ऐसी ही बात कही थी।

18 इन प्रारूपो म अमेरिका ने स्पष्ट किया था कि ये प्रारूप सैद्धांतिक तौर पर ही प्रस्तुत किए जा रहे थे क्योंकि तब तक शाति संधि सम्पन्न नही हो सकती जब तक यहा की सरकारें नियत्रण म मुक्त न हो। य इन तीनो प्रारूपो म इसका जिक्र था कि सारी विदेशी सेनायें संधि समापन होते ही हटा ली जायें।

मोलोतोव न आरोप लगाया कि रूस विरोधी सरकारें स्थापित करने की

योजना बना रहे ह जबकि बायरनीज ने निजी बातचीत म भरोसा दिलाया था कि उनकी मन्शा है कि रूस में प्रति मैत्रीभाव रखनेवाली तथा सभी तत्वा का प्रतिनिधित्व करने वाली सरकारा की स्थापना हो ।

19 फ्लमिग, वही, प 319 20

20 वही, पृ 330, तथा सिनेटर जानसन का वक्तव्य जो उन्होन नवबर 28, 1945 को सिनट मे दिया, "अतएव फिलीपीन स अलास्का तक हवाई अड्डा की सामरिक महत्व की उपस्थिति के साथ, हम क्षणभर की सूचना पर दुनिया में किसी भी सतह पर स्थित जगह पर परमाणु बम गिरा सकते और अपने अड्डे को लौट सकते हैं।"

21 नवम्बर 29, 1945 को दिय गये उनके वक्तव्य का अश, फ्लेमिग, वही, प 331

22 ट्रूमैन सस्मरण, 11 भाग पृ० 552

23 वही,

24 जुलाई मे न्यूयाक टाइम्स मे ब्रुक्स एटकिन्सन ने सोवियत सघ की यात्रा करने के बाद लिखा कि " सोवियत नेता लडाई नही चाहते।" वे युद्ध की विभीषिका के बारे मे हमसे अधिक जानते हैं। वे इस समय विश्व जनमत का विरोध भी नही करना चाहते, जैसा ईरान और तुर्की से हटकर उन्हाने सिद्ध किया 'फ्लेमिग, वही, प० 362

अध्याय-4

सयुक्त राष्ट्र युद्धकालीन साहचर्य और सहयोग का एक और सफल प्रयोग

दूसरे महायुद्ध की भीषण लपटों ने और कुछ नष्ट किया हो न किया हो पर राष्ट्र सघ को तो राख कर ही दिया। उससे बाहर की बडी शक्तियो ने, अमेरिका और सोवियत सघ ने जब विवश होकर युद्ध करने की ठानी, तब उनके लिए यह समव न था कि वे आपसी खींचतान मे जिसका दम ही निकला जा रहा था उस राष्ट्र सघ के झडे के नीचे हो उसके दो सदस्यो के साथ उनके प्रतिपक्ष दो अन्य भूतपूर्व सदस्या जर्मनी और इटली के विरुद्ध लडने का निश्चय करते। इसकी जगह उन्होंने एक नये सघ के नाम से लडाई का बिगुल बजाया और वह घोषणा की नये सयुक्त राष्ट्र के नाम से। यह नाम अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सुझाया था और इसका इस्तेमाल सबसे पहले 1 जनवरी सन 1942 मे हुआ था। जब 26 सयुक्त राष्ट्रों की ओर से यह घोषणा की गई थी कि वे धुरी राष्ट्रो के विरुद्ध एक जुट होकर लडेंगे।

एकजुटता का यह क्रम समय के साथ बढता और गहरा होता गया। जैसे जैसे महायुद्ध गहराने लगा, सयुक्त राष्ट्रो का एका भी इस्पाती शक्ल लेता गया, इन मित्र राष्ट्रो को परस्पर विश्वास, सौहार्द्र सहानुभूति और मित्रता के डोर एक दूसरे को बाधते और निकट लाते गये। युद्ध ने एक दूसरे के प्रति अजनबीपन को बहुत कुछ दूर कर दिया, और आत्मीयता के भाव बढाने शुरू कर दिये। मित्र राष्ट्र अपने इसी एकता और सहकार भाव के बलबूते पर धुरी राष्ट्रो पर एक के बाद दूसरी विजय प्राप्त करते गए और मिल-जुलकर मानव इतिहास के इस भीषणतम युद्ध म विजयी हुए। जैसे जैसे वे जीतते जाते, वे युद्ध लडते लडते एक नये अतरराष्ट्रीय सगठन की नीव के पत्थर रखते जा रहे थे। यह नीव भरने का काम अतर्राष्ट्रीय सगठन के सबध म बुलाए गए उस सयुक्त राष्ट्र सम्मेलन म पूरा हुआ जो सान-फ्रासिसको म 25 अप्रैल से 26 जून सन 1945 के बीच तक चला। इसके पूर्व अगस्त से अक्टूबर सन् 1944 तक डम्बर्टन ओक्स में चार बडो ने चीन

सोवियत सघ, ब्रिटेन और अमेरिका ने इस अतर्राष्ट्रीय सघ का प्रारूप तय किया। बहुत सी बातें इनके बीच वहा तय हो गई थी।

इस प्रकार सयुक्त राष्ट्र का सविधान बनाया गया और उस पर 26 जून, 1945 को हस्ताक्षर हुए। पालेड सम्मेलन मे, भाग नही ल सका। उसकी ओर से बाद मे दस्तखत हुए। ब्रिटेन के ताज की छाया म भारत गुलाम होते हुए भी इसका सस्थापक सदस्य बना। इस प्रकार 51सस्थापक सदस्यो की मदद से सयुक्त राष्ट्र 24, अक्टूबर 1945, को अस्तित्व मे आया जबकि चीन, फ्रास, सोवियत सघ, ब्रिटेन तथा अमेरिका ने 'चाटर' या सविधान को औपचारिक तौर पर मान्यता दी और इनके अलावा बहुसख्यक राज्यो ने इसे स्वीकार किया। तब से 24 अक्टूबर 'सयुक्त राष्ट्र दिवस' के रूप मे दुनियाभर मे मनाया जाता है।

इस प्रकार महादेशो (अर्थात तीन बडा—अमेरिका, सोवियत सघ और ब्रिटेन के) के मध्य महायुद्ध क दौरान एक दूसर के प्रति जितनी आत्मीयता, सौहाद्र, विश्वास और मिलजुलकर भविष्य के लिए कुछ 'रचना' करने की प्रतिभा और इच्छा थी, उसका पुजीभूत प्रतिफल सयुक्त राष्ट्र के रूप मे प्रकट हुआ। अस्तित्व म आ जाने के बाद, छोटे मझोले राष्ट्रो ने इस गाडी के पहिए बनकर इस धीमे धीमे ही सही आगे ठेलते ले चलन का काम किया और इसके अस्तित्व की रक्षा पवित्र को लबा चौडा ही नही किया बल्कि, उस ऐसी गहराई भी दी, जो 'महादशा के आपसी वैमनस्य और सबधा म तनाव के फलस्वरूप उपजी बेचैनी को झेलने की क्षमता रखती थी। इस सबका परिणाम यह रहा है कि समय की प्रवाह के साथ साथ 'सयुक्त राष्ट्र और कुछ नही तो सबकी 'चौपाल' के रूप मे ता ढल ही गया है जहा जहा लोग निभय होकर, बिना लाग लपेट के अपनी बातें एक दूसरे के साथ मिलकर किसी तीसरे से भी कह सकते हैं और कहते है। वे 'सकल्प' पारित करते है कि अमुक के विरुद्ध अमुक ढग की कारवाई की और सबसे बडी बात यह है कि सयुक्त राष्ट्र के रूप मे सपूर्ण मानवता की एक उत्कपशील अतरात्मा ही वह दुबल विकासशील लगे अपनी रचनाशीलता की पहिचान बनाती चली जा रही है। सयुक्त राष्ट्र सघ का निर्माण इस तथ्य को अच्छी तरह प्रकट करता है कि शाति सधिया के अलावा इस क्षेत्र मे भी राष्ट्रा की युद्ध काल मे उपजी औरगहराई मित्रता युद्ध समाप्त होते ही, निष्फल नही हो गई बल्कि, उसकी सजनशीलता उभार पर थी। सयुक्त राष्ट्र सघ का निर्माण और उसकी आज उपस्थिति इस तथ्य का भली भाति प्रमाणित करती है।

सयुक्त राष्ट्र का सगठन

सयुक्त राष्ट्रो के इस सगठन का विधान जिसे 'चार्टर' कहते हैं, यह स्पष्ट करता

है कि सयुक्त राष्ट्र सघ अभी भी एक ढीला ढाला सघीय गठन है, न कि पूर्णत एकीकृत एक केन्द्रीय सगठन। अभी तक यह प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्रो की एक मजबूत गोष्ठी मात्र ही बना हुआ है जो पूरी तरह उन राष्ट्रो की मर्जी पर टिका है जिन पर दो बडी शक्तिया और उनके नेतृत्व मे बने गुट छाये हुए हैं। सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर मे 111 धारायें है, जबकि पूर्ववर्ती राष्ट्र सघ के विधान में मात्र 26 धाराए थी।

उद्देश्य और सिद्धान्त

(1) अतर्राष्ट्रीय शाति और सुरक्षा की व्यवस्था करना,

(2) राष्ट्रो मे परस्पर मैत्री सबध बढाना,

(3) ससार की आर्थिक सामाजिक, सास्कृतिक या अन्य मानवीय समस्याओं को वह हल करने मे अतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा जाति, लिंग भाषा तथा वर्ग भेद के बिना मानव मात्र के लिए मानव अधिकारो और स्वतत्रता के मूल अधिकारो को बढाना और प्रोत्साहित करना, तथा

(4) चौथा और अन्तिम उपर्युक्त उद्देश्यो के लिए राष्ट्रो के प्रयत्नो म तार तम्य स्थापित करना तथा इस रचनात्मक कार्यक्रम का एक प्रभावशाली केन्द्र बन कर कार्य सम्पादित करना है।

स्पष्ट है कि जो प्रमुख उद्देश्य सयुक्त राष्ट्र सघ का माना गया है, वह है शाति के निमित्त राष्ट्रो के एक प्रभावशाली केन्द्र के रूप मे काम करना। सक्षेप में, इसके अन्य उद्देश्य हैं—

(क) राष्ट्रो मे मैत्री सम्बन्ध प्रगाढ करना,

(ख) आर्थिक, सामाजिक सास्कृतिक तथा मानवीय विषयो मे अतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढाना तथा,

(ग) इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए राज्यो के आपसी सम्बन्धो म तालमेल बैठाना है।

सयुक्त राष्ट्र का सविधान तथा उसके मूलभूत सिद्धान्त

चार्टर के अनुच्छेद 2 में सघ के सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ है। उसमे यह कहा गया है कि सघ और उसके सदस्य अनुच्छेद 1 मे दिये गये उद्देश्यो की पूर्ति के लिए निम्नाकित सिद्धान्तो के अनुसार काय करेंगे

(1) सभी सदस्यो की सावभौम समानता का सिद्धान्त पाया गया है। स्मरणीय है कि यह सिद्धान्त उन 5 बडे राज्यो के जो सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य हैं विनिपाधिकार स अनुबधित है।

(2) यह सिद्धान्त माना गया है कि सदस्य राष्ट्र 'चार्टर' के प्रति अपने दायित्वो को निष्ठापूर्वक निभायेंगे।

(3) सभी सदस्य राष्ट्र अपने झगडा को शातिपूर्ण तरीको मे हीसुलझायेंगे।

(4)कोई भी सदस्य राष्ट्र अपन पारस्परिक सबधा मे न तो शक्ति प्रयोग की धमकी ही देंगे और न शक्ति का प्रयोग करेंग।

(5) कोई भी सदस्य राष्ट्र किसी ऐसे राज्य को सहायता नही देगा जिसके विरुद्ध सयुक्त राष्ट्र सघ प्रतिरोधक अथवा अनुरोधक कार्यवाही कर रहा हो।

(6) सयुक्त राष्ट्र सघ यह प्रयत्न करगा कि जो राज्य इसके सदस्य नही है व भी वहा तक इन सिद्धान्ता का पालन करेंगे जहा तक अतर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शाति की स्थापना के लिए आवश्यक हो।

(7) अत म, सयुक्त राष्ट्र सघ उन मामला म हस्तक्षे नही करेगा जो कि राज्य के घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तगत लाते हैं।

इस सदभ म यह ध्यान दने योग्य हैं कि सविधान मे इस मत को स्पष्टत मान्यता मिली है कि अन्तराष्ट्रीय जिम्मेदारिया को स्वीकार करने से प्रभुसत्ता का उल्लघन नही होता है, अपितु प्रभुसत्ता के द्वारा ही इन दायित्वो का वहन सभव हो पाता हो।[1]

सविधान के अन्तगत घरेलू क्षेत्राधिकार म हस्तक्षेप करने का अधिकार सयुक्त राष्ट्र सघ को नही प्राप्त है परन्तु सयुक्त राष्ट्र सघ को अनेक कार्यवाहिया पर एक दृष्टि डालने पर यह पता चलता है कि

(क) सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अतगत किसी देश की सरकार और उसका प्रशासन घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तगत आता है परन्तु जैसा यूनान चेकोस्लोवाकिया व चीन तथा बागला देश के मामले मे हुआ—ऐसे प्रश्न सयुक्त राष्ट्र सघ मे उठाये जाते रहे हैं और प्रश्न उठाने वालो ने इसे हस्तक्षेप नही माना। यद्यपि जब उनका अपना मामला आया तब जैसा फ्रास ने अल्जीरिया मे व ब्रिटेन ने रोडेशिया मे—इस तरह के हस्तक्षेत्र को पसन्द नही किया।

सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता

नये सयुक्त राष्ट्र सघ के निर्माण का पक्का इरादा कर लेने के बाद मित्र राष्ट्रा ने इसकी सदस्यता के प्रश्न पर भी विचार किया। और डम्बरटन ओक्स सम्मलन मे यह निश्चय किया गया कि इसमे (1) वे सभी राष्ट्र शामिल किये जायेंगे जिन्होने ऐटलाटिक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये थ।

प्रस्तावना

सयुक्त राष्ट्र सघ के सविधान का श्रीगणेश एक निरथक प्रस्तावना से होना है जो अमेरिका प्रतिनिधि के जोर देने पर इस रूप मे जोडा गया था। इस प्रस्तावना का प्रारम्भ "हम सयुक्त राष्ट्रो के लोग—" ऐसी शब्दावली स होता

है जिस स ऐसा भ्रम सहज में ही उभरता है कि 'चाटर किसी राज्य के एक सविधान की तरह बनाया गया है जो समस्त ससार के लोगा की महत्वाकाक्षाओ और धार्मिक भावनाओ का न केवल प्रतिनिधित्व करता है बल्कि उनके प्रति समर्पित है। इस म कहा गया था हमारी सरकारें अपने प्रतिनिधियो क रूप म सान फ्रासिसको नगर म एकत्र हुई हैं। इन प्रतिनिधियो न सयुक्त राष्ट्र के इस चाटर को स्वीकार किया है। पर यथाथ म यह चाटर' कोई सविधान नहीं है। न स्रोत की दृष्टि स और न सामर्थ्य की दृष्टि स ही यह एक सावैधानिक दस्तावेज क समकक्ष ठहरता है। यह वास्तव म एक सविदा पत्र मात्र है जो राज्यो के बीच सम्पन्न हुआ। इसक सम्बन्ध म शूमा न ठीक ही लिखा है कि 'सयुक्त राष्ट्र सघ अपने पूववर्ती राष्ट्रसघ न अनेक बातो मे भिन्न होने के बावजूद उसका ही एक छद्म रूप है।'

फिर भी प्रस्तावना का अपना महत्व है क्योकि वह इस सधि पत्र का एक प्रारम्भिक और अविभाज्य अश है। इसके साथ ही सघ के उद्देश्य और सिद्धान्त भी दिये गये हैं। उद्देश्य के रूप म उन सामान्य हितो की घोषणा की गई है जिन पर सयुक्त राष्ट्र सघ के निर्माण का विचार टिका हुआ है। सिद्धान्तो क द्वारा उन प्रक्रियाओ और सचालन सूत्रो को निर्धारित किया गया है जिनके आधार पर अपने सामान्य हितो की पूर्ति के लिए राज्य घटक तथा उनका यह सघ आचरण करगा।[3]

(2) इसके अलावा इसकी सदस्यता के द्वार सभी शाति प्रिय राष्ट्रो के लिए खोल दिये जायेंगे। इस प्रावधान का सम्बन्ध सन 1943 की मित्र राष्ट्रो की उस घोषणा म था जिसमे शातिप्रिय राज्यो की एक सस्था बनाने का निश्चय किया गया था। शाति प्रियता पर इतना जोर देने का कारण यह भी था कि इस आधार पर पराजित सनिक गुट के सदस्य तथा स्पेन का फासी फ्रको सरकार व एसी अन्य सरकारें भी जो युद्ध म मित्र राष्ट्रो के दुश्मनो के साथ भागीदार न बन कर भी उन्हें सहयोग देने के अपराधी थे उन्हे सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता स दूर रखा जा सके।

अनुच्छेद 3 म सस्थापक राज्यो का विवरण दिया गया है। इसमे 51 सदस्य राष्ट्र शामिल किये गये थे जिनमे भारत व फिलीपाइन्स ऐसे पराधीन देश भी थे।[5] इसके अलावा नए सदस्यो के प्रवेश का भी प्रबन्ध किया गया था पर उनके लिए यह शर्त रखी गई कि (1) वे शान्ति प्रिय हो (2) वतमान सविधान म उल्लिखित दायित्वो को स्वीकार करने वाले हो—इतना ही नहीं अपितु (3) सघ के मतानुसार इन दायित्वो को निभा पाने की उनमे क्षमता भी हो (4) सुरक्षा परिषद न तथा सामान्य सभा के 2/3 बहुमत न प्रवेश के प्रश्न पर उन्हे अनुमोदन प्राप्त हो।

इस प्रकार यो तो सयुक्त राष्ट्रसघ म नए सदस्यो का प्रवेश एक सरल बात मालूम पड़ती है पर तु व्यवहार मे अनेक बार यह बहुत जटिल सिद्ध हुई यथा मगोलिया, श्रीलका, साम्यवादी चीन दोना जमनी जो अब शामिल हो चुके हैं तथा दोना कोरिया जो अभी तक शामिल नही हो पाए हैं।

पर इन झझटो के बावजूद सयुक्त राष्ट्रसघ का परिवार बढता गया है। और आज साम्यवादी चीन तथा दोनो जमनी पश्चिमी जमनी और पूर्वी जमनी को मिलाकर सयुक्त राष्टसघ की सदस्या सख्या 155 हो गयी है। अब स्वतत्र राष्ट्रो की पक्ति मे केवल दोना कोरिया व स्विटजरलैंड ही सयुक्त राष्ट्रसघ की चहारदीवारी के बाहर हैं। जिस दीघ कालीन सघष के बाद साम्यवादी चीन को तथा दोनो जमन राष्ट्रो को तथा एकीकृत वियतनाम को सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता मिल पाई है वह एक स्मरणीय प्रसग बन गया है।

(1) सयुक्त राष्ट्रसघ मे चीन का प्रवेश

जब सयुक्त राष्ट्रसघ की नीव डाली गई थी तब चीन को सयुक्त राष्ट्र सघ के पाच बडे निर्माताओ की कोटि म रखा गया था। चीन को तब एशिया के सबसे बडे तथा दुनिया की पाच बडी ताकतो मे शामिल किया गया था। चीन को पच परमेश्वरो के बीच आसीन कराने मे सबसे बडा योगदान अमेरिका ने किया था। रूजवेल्ट का अमेरिका चीन को अपने साथ रख कर तब अपनी प्रशात नीति मे एक नया मोड ला रहा था। पराजित जापान का अत हो रहा था और अमेरिका समर्थित चागकाई शेक के चीन का उदय हो रहा था जो पूरी तरह अमेरिका के प्रभाव मे था। स्मरणीय है कि याल्टा सम्मेलन मे सोवियत सघ को जापान के खिलाफ युद्ध मे लाने के लिए जो गुप्त समझौता हुआ था उसम रूजवेल्ट ने चीनी नताओ स पूछे बिना ही कुछ महत्वपूर्ण सहूलियतें सोवियत सघ को भेंट कर दी थी और यह वचन दिया था कि वे चागकाई शेक म ये सहूलियतें दिलवाने की गारटी लेते हैं।

चागकाई शेक वाले चीन के अ दर ही अन्दर एक क्रातिकारी साम्यवादी आन्दोलन पनप रहा था। उस साम्यवादी सत्ता ने कुओमिन्ताग के साथ सयुक्त मोचा बना कर जापान के खिलाफ युद्ध म शानदार भूमिका निभायी थी और युद्ध क अत होते हाते तक इस शानदार भूमिका न उन्हें चीनी सत्ता मे बराबर का भागीदार बन दिया था परन्तु चागकाई शेक इस मान्यता देने के पक्ष मे नही था। कौरवो की तरह वे साम्यवादियो को बिना युद्ध सुई की नोक बराबर जमीन दने का तैयार नही थ। इस सदभ मे स्मरणीय है कि अमेरिका कुओमिन्ताग और साम्यवादियो क बीच मध्यस्थता कर युद्ध टालने के पक्ष मे था परन्तु जब चाग की जिद पर गहयुद्ध छिड ही गया तब अमेरिका ने चाग के पक्ष को भरपूर मदद की।

है जिस से ऐसा भ्रम सहज में ही उभरता है कि 'चार्टर' किसी राज्य के एक संविधान की तरह बनाया गया है जो समस्त संसार के लोगों की महत्वाकांक्षाओं और हार्दिक भावनाओं का न केवल प्रतिनिधित्व करता है बल्कि, उनके प्रति समर्पित है। इस में कहा गया था 'हमारी सरकारें अपने प्रतिनिधियों के रूप में सान फ्रांसिसको नगर में एकत्र हुई है। इन प्रतिनिधियों ने संयुक्त राष्ट्र के इस 'चार्टर' को स्वीकार किया है। पर यथार्थ में यह चार्टर' कोई संविधान नहीं है। न स्रोत की दृष्टि से और न सामर्थ्य की दृष्टि से ही यह एक सांविधानिक दस्तावेज के समकक्ष ठहरता है। यह वास्तव में एक संविदा पत्र मात्र है जो राज्यों के बीच सम्पन्न हुआ। इसके सम्बन्ध में शूमा ने ठीक ही लिखा है कि 'संयुक्त राष्ट्र संघ अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रसंघ से अनेक बातों में भिन्न होने के बावजूद उसका ही एक छद्म रूप है।'

फिर भी प्रस्तावना का अपना महत्व है क्योंकि वह इस संधि पत्र का एक प्रारम्भिक और अविभाज्य अंश है। इसके साथ ही संघ के उद्देश्य और सिद्धांत भी दिये गये हैं। उद्देश्य के रूप में उन सामान्य हितों की घोषणा की गई है जिन पर संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण का विचार टिका हुआ है। सिद्धान्तों के द्वारा उन प्रक्रियाओं और संचालन सूत्रों को निर्धारित किया गया है जिनके आधार पर अपने सामान्य हितों की पूर्ति के लिए राज्य घटक तथा उनका यह संघ आचरण करेगा।[3]

(2) इसके अलावा इसकी सदस्यता के द्वार सभी शांति प्रिय राष्ट्रों के लिए खोल दिये जायेंगे। इस प्रावधान का सम्बन्ध सन 1943 की मित्र राष्ट्रों की उस घोषणा से था जिसमें शांतिप्रिय राज्यों की एक संस्था बनाने का निश्चय किया गया था। शांति प्रियता पर इतना जोर देने का कारण यह भी था कि इस आधार पर पराजित सैनिक गुट के सदस्य तथा स्पेन की फ्रांसी फ्रैंको सरकार व ऐसी अन्य सरकारें भी जो युद्ध में मित्र राष्ट्रों के दुश्मनों के साथ भागीदार न बन कर भी उन्हें सहयोग देने के अपराधी थे उन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से दूर रखा जा सके।

अनुच्छेद 3 में संस्थापक राज्यों का विवरण दिया गया है। इसमें 51 सदस्य राष्ट्र शामिल किये गये थे जिनमें भारत व फिलीपाइन ऐसे पराधीन देश भी थे।[4] इसके अलावा नए सदस्यों के प्रवेश का भी प्रबन्ध किया गया था पर उनके लिए यह शर्त रखी गई कि (1) वे शांति प्रिय हों (2) वर्तमान संविधान में उल्लिखित दायित्वों को स्वीकार करने वाले हों—इतना ही नहीं अपितु (3) संघ के मतानुसार इन दायित्वों को निभा पाने की उनमें क्षमता भी हो, (4) सुरक्षा परिषद् व तथा सामान्य सभा के 2/3 बहुमत से प्रवेश के प्रश्न पर उन्हें अनुमोदन प्राप्त हो।

इस प्रकार यो तो सयुक्त राष्टसघ मे नए सदस्यो का प्रवेश एक सरल बात मालूम पडती है पर तु व्यवहार मे अनेक बार यह बहुत जटिल सिद्ध हुई यथा मगोलिया, श्रीलका, साम्यवादी चीन दोनो जमनी जो अब शामिल हो चुके हैं तथा दोनों कोरिया जो अभी तक शामिल नही हो पाए हैं।

पर इन झझटो के बावजूद सयुक्त राष्ट्रसघ का परिवार बढता गया है। और आज साम्यवादी चीन तथा दोनो जमनी पश्चिमी जमनी और पूर्वी जमनी को मिलाकर सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्या सख्या 155 हो गयी है। अब स्वतत्र राष्ट्रो की पक्ति मे केवल दोनो कोरिया व स्विट्जरलैंड ही सयुक्त राष्ट्रसघ की चहार-दीवारी के बाहर हैं। जिस दीघ कालीन समय के बाद साम्यवादी चीन को तथ दोनो जमन राष्ट्रो को तथा एकीकृत वियतनाम को सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यत मिल पाई है वह एक स्मरणीय प्रसग बन गया है।

(1) सयुक्त राष्ट्रसघ मे चीन का प्रवेश

जब सयुक्त राष्ट्रसघ की नीव डाली गई थी तब चीन को सयुक्त राष्ट्र सघ के पाच बडे निर्माताओ की कोटि मे रखा गया था। चीन को तब एशिया के सबसे बडे तथा दुनिया की पाच बडी ताकतो मे शामिल किया गया था। चीन को पच परमेश्वरो क बीच आसीन कराने मे सबसे बडा योगदान अमेरिका ने किया था। रूजवेल्ट का अमेरिका चीन को अपने साथ रख कर तब अपनी प्रशात नीति मे एक नया मोड ला रहा था। पराजित जापान का अत हो रहा था और अमेरिका समर्थित चागकाई शेक के चीन का उदय हो रहा था जो पूरी तरह अमेरिका के प्रभाव मे था। स्मरणीय है कि याल्टा सम्मेलन मे सोवियत सघ को जापान के खिलाफ युद्ध मे लाने के लिए जो गुप्त समझौता हुआ था उसमे रूजवेल्ट ने चीनी नेताओ स पूछे बिना ही कुछ महत्वपूण सहूलियतें सोवियत सघ को भेंट कर दी थी और यह वचन दिया था कि वे चागकाई शेक म ये सहूलियतें दिलवाने की गारटी लेत है।

चागकाई शेक वाले चीन के अदर ही अन्दर एक क्रातिकारी साम्यवादी आदोलन पनप रहा था। उस साम्यवादी सत्ता ने कुओमिताग के साथ सयुक्त मोचा बना कर जापान के खिलाफ युद्ध मे शानदार भूमिका निभायी थी और युद्ध के अत होते होते तक इस शानदार भूमिका ने उन्हें चीनी सत्ता मे बराबर का भागीदार बन दिया था परन्तु चागकाई शेक इस मान्यता देने के पक्ष मे नही था। कौरवो की तरह वे साम्यवादियो को बिना युद्ध सुई की नोक बराबर जमीन देने का तैयार नही थे। इस सदभ मे स्मरणीय है कि अमेरिका कुओमिताग और साम्यवादियो के बीच मध्यस्थता कर युद्ध टालने के पक्ष में था परन्तु जब चाग की जिद पर गृह-युद्ध छिड ही गया तब अमेरिका ने चाग के पक्ष को भरपूर मदद की।

है जिस से ऐसा भ्रम सहज मे ही उभरता है कि 'चाटर' किसी राज्य मे एक सविधान की तरह बनाया गया है जो समस्त ससार के लागो की महत्वाकाक्षाओ और हार्दिक भावनाओ का न केवल प्रतिनिधित्व करता है बल्कि, उनके प्रति समर्पित है। इस मे कहा गया था "हमारी सरकारें अपने प्रतिनिधियो के रूप म सान फ्रासिसको नगर म एकत्र हुई है। इन प्रतिनिधियो ने सयुक्त राष्ट्र के इस 'चाटर' को स्वीकार किया है। पर यथाथ म यह चाटर' कोई सविधान नही है। न स्रोत की दृष्टि स और न सामर्थ्य की दृष्टि स ही यह एक सावैधानिक दस्तावज के समकक्ष ठहरता है। यह वास्तव म एक सविदा पत्र मात्र है जो राज्यो के बीच सम्पन्न हुआ। इसके सम्ब ध म शूमा ने ठीक ही लिखा है कि ' सयुक्त राष्ट्र सघ अपने पूववर्ती राष्ट्सघ स अनेक बातो म भि न होने के बावजूद उसका ही एक छदम रूप है।'

फिर भी प्रस्तावना का अपना महत्व है क्योकि वह इस सधि-पत्र का एक प्रारम्भिक और अविभाज्य अश है। इसके साथ ही सघ के उद्देश्य और सिद्धान्त भी दिय गय हैं। उद्देश्य के रूप म उन सामा य हितो की घोषणा की गई है जिन पर सयुक्त राष्ट्र सघ के निर्माण का विचार टिका हुआ है। सिद्धान्तो के द्वारा उन प्रक्रियाओ और सचालन सूत्रो को निर्धारित किया गया है जिनक आधार पर अपन सामान्य हितो की पूर्ति के लिए राज्य घटक तथा उनका यह सघ आचरण करगा।[3]

(2) इसके अलावा इसकी सदस्यता के द्वार सभी शाति प्रिय राष्ट्रो के लिए खोल दिय जायेंगे। इस प्रावधान का सम्बन्ध सन् 1943 की मित्र राष्ट्रो की उस घोषणा स था जिसमे शातिप्रिय राज्यो की एक सस्था बनाने का निश्चय किया गया था। शाति प्रियता पर इतना जोर देने का कारण यह भी था कि इस आधार पर पराजित सैनिक गुट के सदस्य तथा स्पेन का फासी फ्रको सरकार व ऐसी अन्य सरकारें भी जो युद्ध मे मित्र राष्ट्रो के दुश्मनो के साथ भागीदार न बन कर भी उन्हें सहयोग देने के अपराधी थे, उन्ह सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता से दूर रखा जा सके।

अनुच्छेद 3 मे सस्थापक राज्यो का विवरण दिया गया है। इसमे 51 सदस्य[4] राष्ट्र शामिल किय गय थ जिनम भारत व फिलीपाइन ऐसे पराधीन देश भी थे।[5]

इसके अलावा नए सदस्यो के प्रवश का भी प्रबन्ध किया गया था पर उनके लिए यह शत लगाई कि (1) वे शान्ति प्रिय हो (2) वतमान सविधान मे उल्लिखित दायित्वो को स्वीकार करन वाले हो—इतना ही नही अपितु, (3) सघ के मतानुसार इन दायित्वो को निभा पाने की उनम क्षमता भी हो, (4) सुरक्षा परिषद से तथा सामान्य सभा के 2/3 बहुमत से प्रवेश के प्रश्न पर उन्हे अनुमोदन प्राप्त हो।

इस प्रकार यो तो सयुक्त राष्ट्रसघ म नए सदस्यो का प्रवेश एक सरल बात मालूम पडती है पर तु व्यवहार मे अनेक बार यह बहुत जटिल सिद्ध हुई यथा मगोलिया, श्रीलका, साम्यवादी चीन, दोना जमनी जो अब शामिल हो चुके है तथा दोनो कोरिया जो अभी तक शामिल नही हो पाए हैं।

पर इन झझटो के बावजूद सयुक्त राष्ट्रसघ का परिवार बढता गया है। और आज साम्यवादी चीन तथा दोनो जमनी-पश्चिमी जमनी और पूर्वी जमनी को मिलाकर सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्या सख्या 1 5 हो गयी है। अब स्वतत्र राष्ट्रो की पक्ति मे केवल दोना कोरिया व स्विटजरलैंड ही सयुक्त राष्ट्रसघ की चहार-दीवारी के बाहर हैं। जिस दीघ कालीन सघप के बाद साम्यवादी चीन को तथा दोनो जमन राष्ट्रा को तथा एकीकृत वियतनाम को सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता मिल पाई है वह एक स्मरणीय प्रसग बन गया है।

(1) सयुक्त राष्ट्रसघ मे चीन का प्रवेश

जब सयुक्त राष्ट्रसघ की नीव डाली गई थी तब चीन को सयुक्त राष्ट्र सघ के पाच बडे निर्माताओ की कोटि मे रखा गया था। चीन को तब एशिया के सबसे बडे तथा दुनिया की पाच बडी ताकतो मे शामिल किया गया था। चीन को पच परमेश्वरो के बीच आसीन कराने मे सबसे बडा योगदान अमेरिका ने किया था। रूजवेल्ट का अमेरिका चीन को अपने साथ रख कर तब अपनी प्रशात नीति मे एक नया मोड ला रहा था। पराजित जापान का अ त हो रहा था और अमेरिका समर्थित चागकाई शेक के चीन का उदय हो रहा था जो पूरी तरह अमेरिका के प्रभाव मे था। स्मरणीय है कि याल्टा सम्मेलन मे सोवियत सघ को जापान क खिलाफ युद्ध मे लाने के लिए जो गुप्त समझौता हुआ था उसमे रूजवेल्ट ने चीनी नेताओ स पूछे बिना ही कुछ महत्वपूर्ण सहूलियतें सोवियत सघ को भेंट कर दी थी और यह वचन दिया था कि वे चागकाई शेक म ये सहूलियतें दिलवाने की गारटी लेते है।

चागकाई शेक वाले चीन के अ दर ही अ दर एक क्रातिकारी साम्यवादी आ दोलन पनप रहा था। उस साम्यवादी सत्ता ने कुओमि ताग के साथ सयुक्त मोचा बना कर जापान के खिलाफ युद्ध मे शानदार भूमिका निभायी थी और युद्ध के अ त होत होते तक इस शानदार भूमिका न उ ह चीनी सत्ता मे बराबर का भागीदार बन दिया था पर तु चागकाई शेक इसे मा यता देने के पक्ष मे नही था। कौरवो की तरह वे साम्यवादियो को बिना युद्ध सुई की नोक बराबर जमीन दने को तैयार नही थे। इस सदभ मे स्मरणीय है कि अमेरिका कुओमित्ताग और साम्यवादियो क बीच मध्यस्थता कर युद्ध टालन के पक्ष मे था पर तु जब चाग की जिद पर गह युद्ध छिड ही गया तब अमेरिका ने चाग के पक्ष को भरपूर मदद की।

पर इस भीषण गह युद्ध मे साम्यवादियो का ही पलडा भारी रहा और व विजयी हुए। यह तथ्य ध्यान मे रखने लायक है कि तब तक यूरोप में अमेरिका के नतत्व मे शीत युद्ध पूरी तरह छिड चुका था और इधर कम्युनिस्ट चीन की स्थापना हो रही थी तो उधर पश्चिम यूरोप मे एक वहद और अपूव शाति कालीन सनिक सगठन 'नाटो' जन्म ले रहा था जिसकी बागडोर अमेरिकी मुटिठया मे थी। चाग की पराजय को अमेरिका ने अपनी जबदस्त पराजय के रूप मे लिया और उसकी यह मान्यता बनी कि साम्यवादी चीन के उदय का अथ था सोवियत साम्यवादी *सत्ता का विस्तार होना।*[6] (शूमा) *साम्यवादी हो चुके चीन को अब सयुक्त राष्ट्र* सघ मे घुसने न देने की साजिश अमेरिका ने शुरू की और अपने सहयोगियो और पिछलग्गुओ को इस नीति के लिए राजी कर लिया। इस प्रकार अमेरिकी नेतत्व मे पश्चिमी गुट ने साम्यवादी चीन के प्रवेश के प्रश्न को बहुत विवाद ग्रस्त बना दिया।

यह प्रश्न सवप्रथम सन 1949 मे महासभा के समक्ष उपस्थित हुआ। घर म बुरी तरह पिट कर जब चागकाई शेक की सरकार ने अमेरिकी सरक्षण पाकर ताईवान मे शरण ले ली उसके बाद भी चाग के प्रतिनिधि ही दीघकाल तक चीन के प्रतिनिधि के रूप मे सयुक्त राष्ट्र सघ म बैठते रहे। सन् 1950 म सोवियत सघ पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देश तथा एशिया की विलग्न शक्तिया यथा भारत बर्मा, इन्डोनेशिया ने इस प्रश्न को महासभा मे उठाया कि चाग के प्रतिनिधिया की उपस्थिति अवध है।

प्रश्न यह नही था कि चीन को सदस्यता प्रदान की जाए। चूकि, चीन स्थायी सदस्य था, वरन प्रश्न यह था कि साम्यवादी सरकार के प्रतिनिधियो को आमन्त्रित किया जाए, न कि अपदस्थ सरकार के। कोरिया की लडाई म जब चीन को भाग लेना पडा तब इसका बहाना बना कर सन 1951 मे एक प्रस्ताव के द्वारा चीन को आक्राता ठहरा कर उसकी भर्त्सना अमेरिका ने करवाई और इस तथ्य को भी चीन के प्रवेश के प्रश्न के साथ जोड दिया और चीन को सदस्यता से वचित रखने का आधार वनाया गया। पर प्रश्न यह था ही नही। साम्यवादी चीन सयुक्त राष्ट्र सघ मे नए सदस्य के रूप मे प्रवश नही चाह रहा था। वह तो स्थायी सदस्य के रूप म अपने अधिकारो का दावेदार था। माग यह थी कि चीन के सही प्रतिनिधियो को आमन्त्रित किया जाना चाहिए। तबसे लगातार चीन की वास्तविक सदस्यता और प्रतिनिधित्व का प्रश्न महासभा के सामने लाया गया पर तु 1961 तक यह प्रश्न महासभा की काय सूची मे नही रखा जा सका। सन 1962 के बाद जब भी यह कायसूची मे रखा गया, बहुत वर्षो तक यथेष्ट बहुमत के अभाव म यह पारित नही हो सका।

सन 1964 65 के बाद सावियत चीन के बीच आपसी मतभेद कडुवे तीखे

होने लगे और चीन ने सयुक्त राष्ट्र सघ मे प्रवेश के बारे मे एक ओर सोवियत सघ और उसके साथियो का खुला समथन उतना उत्साहपूण नही रहा। साम्यवादी पक्ष की ओर से चीन की वकालत अल्बानिया के द्वारा ही होती रही तो दूसरी ओर चीन की ओर से इस क्षेत्र मे दिलचस्पी और प्रवेश पाने के प्रयास बढने लगे। सास्कृतिक क्राति ने इस प्रश्न को चीन मे पूरी तरह उभरने नही दिया फिर भी सन् 1967 म जब यह प्रश्न महासभा मे आया तो 45 के विरुद्ध 58 मतो से ही यह पराजित हो पाया (18 राष्ट्रो ने मतदान मे भाग नही लिया)। इस अधिवेशन मे बेल्जियम, इटली, लक्सम बग, हालेण्ड तथा चिली ने यह सुझाव रखा कि चीन के प्रतिनिधित्व से सबधित सभी प्रश्नो पर विचार करने के लिए एक समिति गठित की जाए परतु 32 के विरुद्ध 57 मतो से यह अस्वीकृत हो गया तथा 39 राष्ट्रो ने मतदान मे भाग ही नही लिया।

साम्यवादी चीन को महासभा का समथन कुछ थोडी घटा बढी के साथ लगातार मिलता ही गया और ज्यो ज्यो सोवियत चीन के आपसी सघष मे तेजी आती गई चीन की ओर अमेरिका का रुख भी बदलने लगा। निक्सन के पदासीन होने के बाद चीन सबधी 'नया रुख' खुलने लगा। सन 1970 मे 'पिंग पाग' कूटनीति का प्रारभ हुआ। टोक्यो आई एक अमेरिकी टेबुल टेनिस टीम को बीजिंग आने का आमत्रण मिला और एक नया अध्याय चीन अमेरिका के सबधो मे जुडने लगा।

एक ऐतिहासिक मोड

इस प्रकार के घटनाक्रम ने चीन के सयुक्त राष्ट्र सघ में प्रवेश को एक आसान प्रक्रिया बना दिया। जब 1971 मे महासभा का अधिवेशन शुरू हुआ, तब तक यह स्पष्ट दिखाई देने लगा था कि चीन को प्रवेश मिल ही जायेगा। इस बीच किसिंगर की गुप्त वार्ता बीजिंग म सम्पन्न हो चुकी थी और निक्सन को चीन आने का निमत्रण मिल चुका था। महासभा मे चीन के प्रवेश के प्रश्न को लेकर मुख्यत दो प्रस्ताव थे। अमेरिकी प्रस्ताव के अतगत भी यह कहा गया था कि चीन को सयुक्त राष्ट्र सघ म प्रतिनिधित्व तो मिले परतु साथ ही साथ च्याग काइ शेक की सरकार को भी सयुक्त राष्ट्र सघ म सदस्यता प्राप्त हो। अल्बानिया ने दूसरा प्रस्ताव रखा जिसके अतगत साम्यवादी चीन की सरकार की ओर से यह दावा किया गया कि वही मात्र चीन की प्रतिनिधि सरकार है अत उसे ही मात्र प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और ताईवान को पूणतया निष्कासित कर दिया जाना चाहिए।

जब महासभा मे इस बार मतदान हुआ तब ऐतिहासिक निणय हुआ जिसमे अल्बानिया के प्रस्ताव के पक्ष मे 76 मत पडे (केवल 17 सदस्य अनुपस्थित रहे) और अमेरिकी प्रस्ताव को केवल 5 मत मिले। अल्बानिया के प्रस्ताव को 2/3 से

भी अधिक मत मिले। इतनी जबदस्त हार के लिए अमेरिका भी तैयार न था, और न चीन के मित्र ही इतना अधिक आशान्वित थे। यह बात तो बहस के दौरान ही स्पष्ट हो रही थी कि इस बार चीन को प्रवेश मिल कर रहेगा। एक के बाद दूसरे प्रतिनिधि चीन क पक्ष म बोलते गये पर अमेरिका, जापान व फिलीपाइन फिर भी आशान्वित थे कि अमेरिका द्वारा प्रस्तावित 'दो चीन का प्रस्ताव मान्यता प्राप्त कर लेगा। पर आशातीत सफलता चीन के पक्ष को प्राप्त हुई और सोवियत, समाजवादी, तथा भारत ऐसे सभी विलम्नतावादी राष्ट्रों ने, यूरोप व लातिनी अमेरिका के देशो के साथ चीन को अभूतपूव समथन देकर विजयी बनाया और 22 वर्षों के अमेरिकी दुराग्रह पर खडी नीति चकनाचूर हो गई। ताईवान को विश्व सस्था से निष्कासित कर दिया गया।

अमेरिका की साम दाम भेद की अपनी नीति में कही कोई कोर कसर नही रह गई थी। काफी दौड भाग रही। किसी को उत्कोच दिया गया तो किसी को व्यापारिक हितो की याद दिलाई गई, किसी को विशेष विमान से न्यूयाक लाने का (माली के प्रतिनिधि को) प्रयत्न हुआ पर इन सबका कुछ असर नही हुआ। यह देखकर कि अमेरिका खुद नये चीन के साथ अपना नया ताना बाना बुनने की धुन म समझदारा के लिए यह इशारा काफी था। *साम्यवादी चीन अतत सयुक्त* राष्ट्र सघ का सदस्य बन गया और एक बार फिर इस अतर्राष्ट्रीय सगठन की बुनावट पुराने ढग की हो गई।

सदस्यता से निष्कासन

'चाटर म इस का भी प्रावधान किया गया है कि यदि कोई सदस्य निरन्तर सघ के सिद्धान्तो की अवहेलना कर ता उस सघ की सदस्यता स हटाया जा सकता है। यह कायवाही महा सभा सुरक्षा परिषद की सस्तुति पर कर सकती है। चूकि यह महत्त्वपूण प्रश्न है अत महासभा का निणय 2/3 मत स लिया जाता है। यह ध्यान दने योग्य है कि निरन्तर अवहेलना करने पर ही अर्थात गम्भीर मामले म ही यह कायवाही की जायेगी। गुडरिच एड हेमरो' क अनुसार 'चाटर' के प्रावधानो की अवहेलना अनुच्छेद 2 की अवहलना की ओर सकेत करती है।

सदस्यता से प्रत्याहार

राष्ट्रसघ के स विधान मे यह प्रावधान था कि कोइ भी सदस्य दो वष का 'नोटिस' देकर प्रत्याहार कर सकता था। जापान जमनी, इटली ने एसा ही किया। डबूरटन ओक्स के प्रस्तावो मे प्रत्याहार का कोई प्रावधान नही था। सानफ्रासिस्को सम्मेलन म इस प्रश्न को लकर प्रतिनिधियो म आपस मे काफी मतभेद था। इस प्रश्न पर विचार करने के बाद आयोग न (1) यह उदघोषणा स्वीकृत की कि

'चाटर' मे प्रत्याहार के लिए कोई स्पष्ट प्रावधान न रखा जाय। समिति के दष्टि-कोण मे सदस्यो का यह महानतम मन्तव्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय शाति व सुरक्षा की स्थापना म सघ को सहयोग प्रदान करें। किन्तु यदि किन्ही विशेष परिस्थितियों म कोई सदस्य सघ से प्रत्याहार करना आवश्यक समझता है तो यह सघ का उद्देश्य नही है कि उसे सदस्य बने रहने के लिए बाध्य करें। सानफ्रासिसको सम्मेलन म आयोग की इस व्याख्यात्मक घोषणा को स्वीकार किया। इस सबध मे गुडरिच एव हमरो का मत है कि जिस ढग स यह स्वीकार हुई है उससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक होगा कि यह 'चाटर' की भाति बाध्यात्मक रूप मे प्रभावशाली है।[8]

अमेरिकी सेनेट मे विडन वग[9] ने यह विचार व्यक्त किया था कि प्रत्येक सदस्य का एच्छिक प्रत्याहार का अधिकार प्राप्त है और स्मरणीय है कि इसी प्रकार आयोग के समक्ष रूसी प्रतिनिधि ने यह मत व्यक्त किया था कि यदि कोई राष्ट्र किन्ही विशेष परिस्थितिया के कारण सघ की सदस्यता का प्रत्याहार करना चाहे तो ऐसा कर सकता है क्योंकि यह अधिकार उसकी प्रमुखता का द्योतक है।[10] विडन वग का ख्याल था कि प्रत्याहार करने वाले राष्ट्र को अपने कारणो को स्पष्ट करना होगा अन्यथा वह सदस्य राष्ट्रो की नैतिक भत्सना का पात्र होगा। उन्होने कहा कि यदि ऐसा काय औचित्यपूण नही लगता तो सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्य राष्ट्र उसे समझाने का अधिकार रखते हैं किन्तु उसे न तो रोक सकते हैं और न उसके खिलाफ कायवाही कर सकते हैं। किन्तु यदि वह इसके साथ शाति भग करने की कोई कायवाही करता है या ऐसा करने की धमकी देता है तो वह सभी कायवाहियाँ सयुक्त राष्ट्रसघ कर सकता है जो उसक सदस्यता के समय की जा सकती थी।[11]

पर इस प्रकार की कायवाही का प्रावधान अनुच्छेद 2 (6) मे दिया हुआ है जो गर सदस्यो के सम्बन्ध मे की जा सकती है।

इडोनेशिया ने 1, माच, 1965 को सयुक्त राष्ट्रसघ से प्रत्याहार करने की घोषणा की। अन्य कारणो के साथ प्रत्याहार करने का इन्डोनेशिया का यह कदम इस कारण भी उठाया गया था कि उसके तत्कालीन शत्रु मलेशिया को सुरक्षा परिषद के लिए राष्टसघ के प्रावधानो की उपेक्षा करके चयन किया गया था। इन्डोनेशिया की माग थी कि राष्ट्र के महत्त्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय शाति व सुरक्षा को बनाये रखने मे योगदान को ध्यान म रखकर ऐसा चुनाव किया जाना चाहिए था। प्रत्याहार करते समय इन्डोनेशिया ने आश्वासन दिया कि उनकी सरकार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग सबधी 'चाटर' के उद्देश्यो का पालन करती रहगी। सघ के महासचिव ने प्रत्याहार पत्र को सघ के सभी सदस्यो को भेजा। इन्डो-नेशिया का यह कदम सयुक्त राष्ट्रसघ के इतिहास मे एक अपूर्व घटना थी

इ डोनेशिया ने न केवल सयुक्त राष्ट्रसघ स अपना सम्पूण सम्ब ध विच्छेद कर लिया बल्कि राष्ट्रपति सुकण ने एक नय अ तर्राष्ट्रीय सठगन के निर्माण की योजना की भी सूचना दी। उस उदघोषणा से यह लगा कि शायद राष्ट्रपति सुकण चीन, पाकिस्तान व अ य अपने सहयोगी राष्ट्रो की मदद से एक समानातर अ तर्राष्ट्रीय सगठन बनान का प्रयत्न करें। 1965 के सितबर मे पाकिस्तान न भी ऐसी धमकी दी कि वह राष्ट्रसघ छोड देगा पर इ डोनेशिया की तरह सघ छोडने की उसे हिम्मत नही हुई। कालातर मे इ डोनेशिया में एक जबदस्त प्रतिक्राति हुई जिसमे साम्यवादिया का घार दमन हुआ और राष्ट्रपति सुकण ने भी अपनी सत्ता खो दी नई सैनिक सरकार ने सयुक्त राष्ट्रसघ म पुन सदस्यता स्वीकार करने की इच्छा प्रच्छा प्रकट की और 2०, दिसबर 1966 को इ डानेशिया फिर स सघ म शामिल हो गया।

कुछ अन्य बातें

यह ज्ञातव्य है कि 'चाटर' म सदस्यता समाप्त करने का कोई प्रावधान नही जैसा राष्ट्रसघ के विधान मे था। चाटर के उल्लघन करने पर सदस्य राष्ट्र को सघ से निकाला जा सकता है या उस सुविधाओ से वचित किया जा सकता है। सभी सदस्या को अपनी सधिया और समझौतो को सचिवालय म दज करना पडता है। राष्ट्रसघ की तरह सयुक्त राष्ट्रसघ की आमदनी भी सदस्य राष्टो के चदे पर निभर करती है। जहा तक 'चार्टर' मे सशोधन का सबध है। उसके लिए महासभा के 2/3 बहुमत की आवश्यकता पडती है पर इस मे सुरक्षा परिषद के पाच स्थायी बडे सदस्या की सहमति आवश्यक है।[1]

सयुक्त राष्ट्रसघ के अग

सयुक्त राष्ट्रसघ का ढाचा राष्टसघ के समान ही बनाया गया है। उसमे अ तर केवल इतना है कि दो नई परिपदें सयुक्त राष्टसघ के अग के रूप मे जोड दी गई है। इस प्रकार सयुक्त राष्ट्रा के मुख्य अगा की सख्या छ हो गई है। महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक एव सामाजिक परिपद (जो एक सवथा नवीन प्रयोग है), सरक्षण परिपद (जो राष्ट्रसघ के स्थायी सरक्षण आयोग स मिलती जुलती चीज है), अ तर्राष्ट्रीय यायालय (राष्ट्रसघ का अ तर्राष्ट्रीय यायालय उसका मुख्य अग नही था), एव सचिवालय। इन अगो का सगठन और काय विधि का ब्योरा नीचे दिया जा रहा है। अनुच्छेद 7 (2) के मुख्य अगा के काय निर्वाह मे सुविधा की दष्टि से इन *अगा को सहायक अग स्थापित करने का अधिकार भी दिया* गया है। सयुक्त राष्ट्रसघ का कायकारी काय सुरक्षा परिषद, आर्थिक एव सामाजिक परिपद म बाट दिया गया है तथा यास परिपद व सचिवालय महासभा

के अधिकार क्षेत्र मे रख दिये गये हैं। यह ज्ञातव्य है कि अनुच्छेद-57 के अतगत स्थापित विशिष्ट अधिकरण सघ के अग नही माने गय हैं और न ही अध्याय आठ के अतगत स्थापित क्षेत्रीय प्रबधगत सस्थाए भी सयुक्त राष्ट्रसघ का अग मानी गई हैं भले ही इनके सारे सदस्य सयुक्त राष्ट्रसघ के ही सदस्य हो।

यद्यपि मुख्य अगो के जिम्मे अलग अलग ढग के काम सौपे गये हैं फिर भी काफी हद तक वे एक दूसरे पर आश्रित हैं। किसी स्थल पर एक मुख्य अग को दूसरे पर आश्रित किया गया है तो कही दूसरा पहले के और किसी किसी स्थल पर दो अगो के काय सामूहिक रूप मे हैं। यथा आर्थिक एव सामाजिक परिषद तथा न्यास परिषद अनुच्छेद 60 और 85 के अतगत क्रमश महासभा के अधिकार क्षेत्र के अतगत काम करती है और महासभा अनुच्छेद 12 के अतगत सुरक्षा परिषद के अधिकार क्षेत्र स प्रभावित है। नय सदस्यो के प्रवेश, 'चाटर' के सशोधन या महासचिव की नियुक्ति इत्यादि के सम्बन्ध म महासभा और सुरक्षा परिषद मिल जुल कर सामूहिक रूप से काय करते हैं। इस बात का भी प्रबध किया गया है कि एक मुख्य अग दूसरे को सहयोग दें यथा आर्थिक एव सामाजिक परिषद (अनु० 65) तथा न्यास परिषद महासभा को (अनु० 85) सहयोग देती रहगी। कुछ मामलो मे यथा अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा के विषय मे दोनो ही मुख्य अगो को जिम्मेदारी सौंपी गयी है। यद्यपि सुरक्षा परिषद का यह प्राथमिक दायित्व है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा बनाये रखे। परन्तु यह दायित्व उस तक ही सीमित नही है। इन सब बातो स यह स्पष्ट हो जाता है कि 'चाटर' के अतर्गत कोई कठोर काय विभाजन का प्रबध नही किया गया है बल्कि, जो भी काय विभाजन है वह सगठन को अच्छी तरह से चला पाने के लिए है।

महासभा--सयुक्त राष्ट्रसघ की सर्वाधिक प्रतिनिधि मूलक सस्था उसकी महासभा है। सयुक्त राष्ट्रसघ के सभी सदस्य इसके सदस्य है। इस महासभा का गठन बडे लोकतन्त्रात्मक ढग से किया गया है। प्रत्येक सदस्य को एक ही वोट प्राप्त है यद्यपि व अधिक से अधिक पाच प्रतिनिधि सभा मे भेज सकते है। सनेटर वेडन बग ने इसे ससार की एक नगर सभा कहा था। भूतपूव महासचिव हमरशोल्ड का कथन था कि इसका स्वरूप ससदीय सम्मेलन जैसा बन गया है।[13] ऐसा लगता है जैसे यह राष्ट्रो की ससद हो। पर सयुक्त राष्ट्रसघ कोई अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के रूप मे गठित नही की गई है। इसलिए महासभा एक ससद की तरह विधायी का सगठन नही है। यहा सदस्यो के बीच विचार विनिमय होता है और सभा सस्तुति कर सकती है। कोई बाध्यकारी कानून का निमाण नही कर सकती है। इसलिए गुड स्पीड का यह कथन सही है कि यह कूटनीतिज्ञो के सम्मेलन की तरह है।[14] अनुच्छेद 11 म महासभा को 'चाटर' के अधिकार क्षेत्र के अन्तगत सभी विषयो के सम्बन्ध मे विचार विमर्श करने का अधिकार सौंपा गया

है। तथा एक अन्य अनुच्छेद मे ऐसे विषयो एव परिस्थितियो के सम्बन्ध मे इसे सुरक्षा परिषद का ध्यान आकृष्ट करने का अधिकार दिया गया है जिन से अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा के भग होने का खतरा हो।

अधिवेशन यह व्यवस्था की गई है कि महासभा के वार्षिक अधिवेशन नियमित रूप स होगे और आवश्यकता पडने पर विशेष अधिवेशन भी बुलाये जा सकते हैं। ऐसे विशेष अधिवेशन या तो सुरक्षा परिषद की प्रार्थना पर या सयुक्त राष्ट्रसघ के बहुसख्यक सदस्यो की माग पर महासचिव के द्वारा बुलाये जा सकते हैं।[15] वार्षिक अधिवेशन हर वष के सितबर मास के तीसरे मगलवार से शुरु होता है। ये अधिवेशन सघ के मुख्यालय म आयोजित किये जाते हैं परन्तु यदि महासभा का बहुमत तो चाहे वह अन्यत्र भी किया जा सकता है यथा महासभा का तीसरा वार्षिक सम्मेलन पेरिस मे किया गया था। इसी प्रकार यदि सदस्य चाहे तो अधिवेशन स्थगित भी किया जा सकता है यथा 1964 मे बहुसख्यक सदस्यो की राय पर दो बार ऐसा स्थगित किया गया। ऐसी परम्परा भी बन गयी है कि महासभा का अधिवेशन कई भागो मे बाट दिया जाता और इन भागो की बठको के बीच म कई महीनो अतर भी पड सकता है। यद्यपि 'चाटर' मे किसी आपात्कालीन विशेष अधिवेशन बुलाने का प्रावधान नहीं है तथापि महासभा के शाति के लिए सगठन नामक 30 नवम्बर, 1950 को पारित प्रस्ताव 377 (5) खण्ड अ पैरा 1 अनुसार 24 घटे का सूचना पर ऐसा आपात्कालीन अधिवेशन बुलाया जा सकता है। यह अधिवेशन सुरक्षा परिषद के 7 सदस्यो के अनुरोध पर या महासभा के किसी सदस्य के अनुरोध पर जिस बहुमत की स्वीकृति प्राप्त हो बुलाया जा सकता है। अब इस प्रकार के पाच अधिवेशन हो चुके हैं। पहले दो अधिवेशन 1956 मे स्वेज नहर के सकट पर विचार करने के लिए, तीसरा 1958 मे लेबनान की सकटपूर्ण स्थिति पर, चौथा 1960 मे कागो के प्रश्न पर और पाचवा 1967 मे इजरायल के आक्रमण से उत्पन्न स्थिति पर सोवियत सघ के अनुरोध पर जिसे बहुसख्यक सदस्यो का अनुमोदन प्राप्त था। अत इस प्रकार के कुल पाच अधिवेशन हुए ?

अध्यक्ष महासभा अनुच्छेद 21 मे दिये अधिकार के अ तगत अपनी कार्य प्रणाली व नियमावली का स्वय ही निर्धारण करती है। अधिवेशन का सबसे पहला काम अपने अध्यक्ष का चुनना होता है। यह एक परम्परा सी बन गई है कि अध्यक्ष बडी शक्तिया का निवासी नही होता है। इसका कार्यकाल एक वष का होता है। अध्यक्ष के पद को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यद्यपि उसके पास कोई विशेष अधिकार नहीं है वह सभापति की तरह ही कार्य करता है परन्तु अधिवेशन का काम ठीक स चलाने के लिए और सयुक्त राष्ट्र सघ के हित को महासभा के अन्दर की गुटबंदियो व दुष्प्रभाव स मुक्त रखने मे वह बहुत कुछ योगदान कर कर सकता है। वह महासभा की बैठक को स्थगित करने या किसी विषय पर हो रहे

वाद विवाद को स्थगित करने या निलबित करने का सुझाव दे सकता है पर वह मतदान म भाग नही ले सकता है।

महासभा के नियमानुसार अध्यक्ष के अतिरिक्त 17 उपाध्यक्षो और समितियो के सभापतियो के चुनावो की भी व्यवस्था है। उपाध्यक्षो के चुनाव म इस बात का ध्यान रखा जाता है कि इन म जहा तक सम्भव हो 7 व्यक्ति एशियाई अफ्रीकी देशो म एक पूर्वी यूरोप से,दो पश्चिमी यूरोप से तीन लातिनी अमरिका से तथा शेष अन्य देशो से (कैनडा, आस्ट्रेलिया न्यूजीलैंड) से लिए जाय। इसके अलावा सुरक्षा परिषद के पाच स्थायी सदस्य भी इसमे शामिल किए जाते हैं। इस प्रकार इसकी सदस्य सख्या 18 हो जाती है। परन्तु जिस क्षेत्र से अध्यक्ष चुना जाता है उसकी एक सख्या कम कर दी जाती है। यह भी व्यवस्था की गई है कि कम से कम एक उपाध्यक्ष पद एशिया अफ्रीका देशो म से या पश्चिमी यूराप तथा अन्य राज्यो म से या अध्यक्ष पद या सभापति पदो म से एक राष्ट्रमडलीय राष्ट्रो के सदस्यो को दिया जाय। स्पष्ट है कि महासभा ने प्रादेशिक तथा अन्य आधार पर स्थित महासभा के अन्दर की गुटबन्दियो को इस प्रकार मान्यता प्रदान की है।

मतदान जसा कहा जा चुका है महासभा म प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक मत होता है। महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर महासभा अपने 2/3 बहुमत से निर्णय लेती है। इनम निम्नाकित प्रश्न शामिल किये गये हैं —

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा की स्थापना के लिए सस्तुतिया,
(2) सुरक्षा परिषद, आर्थिक एव सामाजिक परिषद तथा न्यास परिषद के सदस्यों का निर्वाचन,
(3) राज्यो का सघ म प्रवेश (सदस्य के रूप म) सदस्यो का सघ म निष्कासन तथा सदस्यता के अधिकारो एव विशेषाधिकारो का विलम्बन'
(4) न्यास परिषद के सचालन सम्बन्धी प्रश्न,
(5) आय-व्यय सम्बन्धी प्रश्न,
(6) तथा वे प्रश्न भी जिन्हें महासभा महत्त्वपूर्ण घोषित कर दे।

समितियां एव सहायक अग महासभा अपना काम समितियो के जरिए करती है। इस दृष्टि से अनुच्छेद 21 म इसे अधिकार प्रदान किये गये हैं। ऐसी समितियो के बिना महासभा के लिए अच्छी तरह विचार कर पाना सभव नही है। अत महासभा कार्य-सूची के प्रत्येक विषय को विचारार्थ तत सम्बन्धी समिति को सौंप देती है। और उनकी सस्तुति के अनुसार फिर निर्णय करती है। प्रमुख समितिया निम्नाकित हैं —

प्रथम समिति राजनीति एव सुरक्षा समिति कही जाती है जो इस सम्बन्ध के मामलो पर विचार करती है,

द्वितीय समिति—आर्थिक एव वित्तीय समिति है जो सघ के आर्थिक और वित्तीय सवाला पर विचार करती है,

ततीय समिति—सामाजिक मानवीय एव सास्कृतिक समिति है जो सघ के एतद विपय प्रश्ना पर विचार करती है,

चतुथ—न्यास समिति है जो महासभा को न्यास परिपद सम्बन्धी कामा मे मदद करती है।

पचम समितिप्र—शासनिक एव आय व्यय समिति है जो सघ के सचिवालय के शासनात्मक एव बजट सम्बन्धी मामलो पर विचार करती है।

षष्टम समिति विधि समिति है जो सघ के कानूनी मामला तथा अभिसमय आदि तैयार करने मे मदद करती है,

सप्तम समिति विशेष राजनीतिक समिति

ये समितिया अपने अध्यक्ष खुद चुनती है और इन्हे उप समितिया बनाने का भी अधिकार है। इसके अलावा दो प्रकार की और प्रक्रिया सम्बन्धी समितिया हैं

सामान्य समिति या साधारण समिति —इसमे महासभा के अध्यक्ष, 17 उपाध्यक्ष और मुख्य समितियो के सभापति होते हैं। यह समिति महासभा की काय सचालन समिति कही जा सकती है। इस समिति का काम काय-सूची निश्चत करना विचार विमश की प्राथमिकता तय करना तथा 7 स्थायी समितिया के कार्यों का समन्वय करना। समिति का काय परामश देना है।

परिचयपत्र समिति इसम 9 सदस्य होते हैं जो अधिवेशन मे चुने जाते हैं यह समिति सदस्यों क परिचय पत्रा की जाच करती है। इस समिति का काय भी परामशदायी है। इसके अतिरिक्त दो स्थायी समितिया भी हैं

प्रशासनिक एव आय व्यय परामश समिति इस मे महासभा द्वारा निर्वाचित 9 सदस्य होते है।

अशुदान समिति इसमे महासभा द्वारा निर्वाचित 10 सदस्य होते हैं यह समिति सदस्या सघ को दिया जाने वाला अशदान निर्धारित करने मे सलाह दती है। इन दोनो समितिया का कायकाल तीन वष का होता है।

इन उपयुक्त समितिया के अलावा महासभा मे अनक एतदथ समितिया की स्थाप, की है जिनम निम्नाकित मुख्य हैं —

(1) स्थायी प्रधान कार्यालय समिति (2) फिलस्तीन समझौता समिति, (3) अणुशक्ति क शाति कार्यों वाली समिति, (4) विशेष बालकान समिति, इत्यादि।

इन एतय समितिया के अलावा महासभा न समय-समय पर अन्य सहायक अगो की भी स्थापना की है यथा (1) अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (2) सयुक्त

राष्टीय प्रशासनात्मक आयोग, (3) शाति निरीक्षण समिति, (4) अतिरम समिति।

महासभा न सघ के प्रारम्भिक काल मे जब सोवियत और अमेरिका के बीच शीत युद्ध छिड गया जिसके फलस्वरूप सुरक्षा परिपद का ठीक से काम चलना मुश्किल हा गया, उस समय महासभा ने 13 नवम्बर 1947 के एक प्रस्ताव के अनुसार एक अतिरम समिति नामक सस्था गठित की। इमी समिति की छोटी 'असेम्बली' या छोटी सभा भी कहा जाता है। सवप्रथम यह एक वप के लिए गठित की गई थी। यह तय किया गया कि जब साधारण सभा का अधिवेशन नही हो रहा हो तब उपयुक्त सभा महासभा के रूप मे काय करती रहेगी। यह सुरक्षा परिषद के दायित्वो पर भी नजर रखती थी। इसमे महासभा के सदस्यो के एक एक प्रतिनिधि रहते थे। सन 1948 मे इसका कार्यकाल एक वप के लिए और बढा दिया गया। सन 1949 म इसकी अवधि अनिश्चित काल के लिए बढा दी गई। परन्तु सन् 1952 के वाद इसकी कोई बैठक नही हुई और इस प्रकार यह एक निष्क्रय परिपद हो गयी सन् 1947 मे कोरिया सम्बन्धी अस्थायी कोरिया आयोग तया बालकाल सम्बन्धी विशेष समिति के साथ परामर्श के लिए व जाच का काम इसे सौंपा गया था। सन् 1948 म इसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की परामश समिति मागने का अधिकार दिया गया। इसको न्यास सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के प्रतिवेदन पर महासभा को रिपोट देने का भी काम सौंपा गया।

सन 1950 मे जब कोरिया म युद्ध शुरू होने के कारण सुरक्षा परिषद का काम चलने मे कठिनाई हो गई तब पश्चिमी राष्ट्रो की ओर से एक प्रस्ताव रखा गया कि ऐसी परिस्थिति म जबकि सुरक्षा परिषद शाति स्थापना सम्बन्धी निणय न ले सके तब महासभा को विचार करने और आवश्यक कायवाही करने का अधिकार दिया जाय। महासभा मे वीटो की कोई व्यवस्था नही है अत 2/3 बहुमत से कोई भी महत्त्वपूण निणय लिया जा सकता है। सघ मे यह आवश्यक है प्रस्ताव पारित हो गया जिसके अनुसार सुरक्षा परिषद के साधारण 7 मतो से अथवा महसभा के सदस्या के बहुमत से 24 घटे का 'नोटिस' देकर आवश्यक विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। यदि विशेपाधिकार के प्रयोग से सुरक्षा परिपद अपना काय न कर सके तो साधारण सभा इस पर तुरन्त विचार कर कर सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय शाति व सुरक्षा के लिए कोई भी कायवाही कर सकती है।

महासभा का कार्यक्षेत्र महासभा को 'चाटर' ने एव सर्वाधिक शक्तिशाली अग के रूप म रखन की योजना नही की थी। महासभा मे सयुक्त राष्ट्र सघ का लोकतन्त्रात्मक और प्रतिनिधि मूलक स्वरूप सुरक्षित है पर कालान्तर म महासभा के काय और अधिकार क्षेत्र मे काफी परिवतन आ गया है। वैसे भी 'चाटर'

ने महासभा को एक विस्तत क्षेत्राधिकार किया था। महासभा को न केवल विचार विमश एव सस्तुतियात्मक काय ही नही सौंपे गये थे बल्कि, उसे पयवक्षण, वित्तीय नियत्रण एव अन्य अंगो के निर्माण काय भूमिका भी सौंपी गयी थी। महा सभा के कार्यों व अधिकारो के क्षेत्र को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नाकित शीषको के अ दर रखा जा सकता है —(1) विचार विमश एव सस्तुतियात्मक काय —महा सभा को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी भी मामले म जो 'चाटर' क अतगत या चाटर के आधनस्थ सयुक्त राष्ट्र सघ क किसी भी अग के अधिकार या काय से सम्बधित है विचार कर सकती है। इस प्रकार इस व्यवस्था के अन्तगत महा सभा का काय काम क्षेत्र इतना विस्तत हो जाता है कि सारे अन्तर्राष्ट्रीय सम्ब ध के मामले महासभा म पेश हो सकते हैं। महासभा सदस्यो का तथा सुरक्षा परिषद को अपनी सस्तुति प्रेषित कर सकती है। इसी विधान के अन्तगत ऐसे मामले अतीत मे उठाय गय जसे 2 अप्रैल, 1947 को ब्रिटेन के प्रति निधि न महासभा के विचाराथ फिलस्तीन का मामला रखा। इसी तरह 9 फरवरी, 1946 को महासभा न स्पन क मामले म यह प्रस्ताव पारित किया कि सदस्य सेन फ्रासिसको एव पोटसडम सम्मेलनो के प्रस्तावा क अनुसार काय करें। (जिस म सदस्यो स यह अनुरोध किया गया था कि वे स्पेन को सयुक्त राष्ट सघ की सदस्यता प्राप्त करन म मदद नही करें) ऐसी ही स्थिति मे यूनान के प्रश्न पर हुई जबकि सुरक्षा परिषद की असमथता के कारण यूनान के प्राथना अमेरिका प्रतिनिधि की सहायता से अक्टूबर 1947 म महासभा के सामने रखी गयी। अनुच्छेद 11 के अ तगत महासभा को अधिकार दिया गया है कि वह अत-राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा के लिए राजनीतिक सहयोग सम्बन्धी किसी प्रश्न पर विचार कर सदस्यो, सुरक्षा परिषद अथवा दोनो को सस्तुति कर सकती है। महा सभा को यह भी अधिकार मिला है कि वह सुरक्षा को ध्यान मे रखते हुए निशस्त्री करण की दिशा मे प्रयास कर सकती तथा वह राष्ट्रो के पारस्परिक सम्बन्धो पर प्रभाव डालने वाली किसी भी स्थिति को शातिपूण ढग से निपटाने के लिए सस्तुति कर सकती है।[16]

महासभा का निरीक्षणात्मक अधिकार अनुच्छेद 15 म महासभा को यह अधिकार दिया गया है कि वह सुरक्षा परिषद से वार्षिक एव विशेष प्रतिवेदन प्राप्त करे। इन प्रतिवेदनो मे सुरक्षा परिषद अपने उन निणयो तथा कायवाहियो का विवरण उपस्थिति करती है जिस अन्तर्राष्ट्रीय शाति व सुरक्षा के निमित्त उठाया गया है। इसी तरह वह सयुक्त राष्ट्र सघ के अन्य अगो से भी इस प्रकार के प्रतिवेदन प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार महासभा को अन्य अगो के काय व्यापार पर विमश करने तथा अपनी राय देने का अधिकार देकर 'चाटर' ने महा सभा को एक महत्वपूर्ण निरिक्षक अग बना दिया है।

सुरक्षा परिषद अपने नियमित अधिवेशन के अ त मे महा सभा को वार्षिक प्रतिवेदन प्रेषित करती है। किंतु महा सभा ने कभी उस पर अपनी सहमति या असहमति प्रकट नही की। औपचारिक रूप से वह एक प्रस्ताव पास करती है कि "महा सभा ने सुरक्षा परिषद का प्रतिवेदन प्राप्त कर उस पर विचार विमश किया और काय अब काय सूची के अगले विषय पर विचार करने हेतु अग्रसर होती है।

अनुच्छेद 98 म महा सचिव की यह जिम्मेदारी मानी गयी है कि वह सघ के काय-कलापो के सम्ब ध मे महासभा को एक वार्षिक प्रतिवेदन करता रहेगा। आर्थिक एव सामाजिक तथा न्याय परिषदो के इस प्रकार के वार्षिक प्रतिवेन का या तो प्रावधान नही है लेकिन यह महा सभा के अधिकार क्षेत्र म है कि वह उन से प्रतिवेदन माग ले। व्यवहार मे ये परिषदें सदैव नियमित प्रतिवेदन महा सभा को भेजती रही हैं। महा सभा परिषदो के कार्यों की आलोचना कर सकती है। सुझाव दे सकती है और सुधार एव विस्तार के लिए निर्देश दे सकती है। यदि वह असतुष्ट है तो अपन असतोष को सस्तुति के रूप मे प्रकट कर सकती है।

वित्तीय काय महासभा इसके अ तगत सघ के बजट पर विचार करती है तथा उसे स्वीकार करती है तथा वह सदस्यो के अशदान को निर्धारित करती है। महा सभा को विशिष्ट अभिकरणो के आय व्यय सम्ब धी प्रब धो के अनुमोदन करने और प्रशासकीय आय व्यय का निरिक्षण करने तथा सस्तुति करने का अधिकार है।

निर्वाचन सम्ब धी काय यह महा सभा की एक महत्वपूण भूमिका है जो उसे सयुक्त राष्ट्र सघ का के द्र सा बना देती है क्योकि उसकी सहायता से ही दूसरे अग अपने सदस्यो का चुनाव करते हैं।

महा सभा सुरक्षा परिषद के अस्थायी असदस्यो, आर्थिक एव सामाजिक परिषद के सदस्यो तथा न्याय परिषद के कुछ सदस्यों का निर्वाचन करती है। महा सभा सुरक्षा परिषद के साथ मिल कर अ तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा न्याया-धीशा का निर्वाचन करती है तथा सुरक्षा परिषद की सस्तुति पर महा सचिव की नियुक्ति का भी उसे अधिकार है।

इन कार्यों के अतिरिक्त महा सभा किसी भी वैधानिक प्रश्न पर अन्तराष्ट्रीय न्यायालय की परामर्शीय सम्पत्ति प्राप्त कर सकती है। महासभा 'चाटर' के सशोधन को अपनी स्वीकृति देती है। इस प्रकार सयुक्त राष्ट्र सघ की महा सभा एक विस्तत अधिकार वाली परिषद मालूम पडती है। परन्तु यह ध्यान रखने लायक है कि इस के अधिकार असीमित नही। यह प्रभुत्ता सम्पन्न संस्था नहीं है। 'चाटर' ने इस अधिकारो को प्रतिबधित कर रखा है। इसमें [illegible] [illegible] मे विचार विमश कर सकते हैं समस्याओ का अध्ययन [illegible] है, [illegible] [illegible]

करते हैं और संस्तुतियां पेश कर सकते हैं। पर वे कोई ऐसा कानून बना सकते जिसे राज्यों को बाध्य होकर मानना पड़े। वे शांति और सुरक्षा परिषद के सामने पेश हो तब तक उस पर कोई विचार नहीं कर सकती जब तक स्वयं सुरक्षा परिषद उस के लिए प्रार्थना न करे।

शांति के लिए संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के कुछ समय पश्चात ही मित्र राष्ट्रों के बीच फूट पड गयी और सोवियत संघ एवं अमरिका गुट के बीच शीत युद्ध छिड गया जिस से सुरक्षा परिषद की कार्यवाही ठप्प पडने लगी। सन् 1946 में ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाओं के सीरिया और लेबनान के सम्बन्ध में तथा 1948 में बर्लिन की नाकेबंदी के समय सुरक्षा परिषद एक निष्क्रिय एवं निस्तेज परिषद बन कर रह गयी। इस से संयुक्त राष्ट्र संघ शांति और सुरक्षा के अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभा सका। इस समस्या से निपटने के लिए 13 नवम्बर, 1947 को महा सभा ने एक अन्तरिम समिति गठित की जिस का वर्णन ऊपर कर चुके हैं। सन 1950 में जब कोरिया में युद्ध छिड गया तब सुरक्षा परिषद के लिए इस विषम परिस्थिति का सामना करना कठिन हो गया। सोवियत संघ लगातार अपना 'वीटो' इस्तेमाल करने लगे। ऐसी स्थिति में पश्चिमी राष्ट्रों की ओर से 3 नवम्बर, 1920 को शांति के लिए एकता प्रस्ताव महा सभा के समक्ष रखा गया जिसे उस ने पारित किया। इस प्रस्ताव के अन्तर्गत यह प्रबन्ध किया गया कि यदि किसी कारणवश शांति एवं सुरक्षा की कार्यवाही में सुरक्षा परिषद अपने को असमर्थ पाती है तब महासभा इस कर्तव्य को वहन कर सकती है। तथा आवश्यक कार्यवाही करने का उसे अधिकार है। इस प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्नांकित हैं —

(1) सुरक्षा परिषद के शांति एवं सुरक्षा की कार्यवाही में असमर्थ रहने पर उसके 7 सदस्यों या महा सभा के बहुमत के अनुरोध पर महा सभा को विशेष आपातकालीन अधिवेशन 24 घण्टे के अन्दर बुलाया जा सकता है।

(2) 14 सदस्यों के एक शांति पर्यवेक्षक दल का निर्माण करना जिसमें सुरक्षा परिषद के पांचों स्थायी सदस्य भी रहेंगे तथा जिस का कार्य शांति भंग के खतरे वाले क्षेत्र में पर्यवेक्षकों को भेजना है ताकि, वे स्थिति को बिगडने से रोकें।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय एवं सुरक्षा को सुदृढ बनाने के साधनों का अध्ययन करने के लिए एक 14 सदसीय सामूहिक सुरक्षा समिति का गठन करना,

(4) यह संस्तुति की गई कि सदस्य अपने साधनों का सर्वेक्षण करें कि वे शांति व सुरक्षा के लिए महासभा को कितनी सहायता दे सकते हैं। वे अपनी सैनिक टुकडियों को प्रशिक्षित करेंगे तथा शस्त्रास्त्रों से 'लैश' रखेंगे ताकि आवश्यकता पडने पर वे उपलब्ध हो सकें। महासचिव को सैनिक विशेषज्ञों की एक सूची तैयार

करने का अधिकार दिया गया जो राज्यो के अनुरोध पर उन्हें तकनीकी परामश देंगे।

सामूहिक सुरक्षा समिति ने 1951-52 और 1954 मे आर्थिक, राजनीतिक एव सनिक अनुसस्तियो सम्बन्धी कई प्रतिवेदन महासभा के सामने प्रस्तुत किये।

सामूहिक शाति रक्षा की कायवाही के अन्तगत महासभा ने 1956 मे पश्चिम एशिया म युद्ध विराम की रक्षा के लिए सेनाए भेजी। 1960 मे कागो तथा 1964 मे साइप्रस मे सेनाए एव 1963 म यमन म निरिक्षक दल भेजे। ऐसे ही अभी अभी पश्चिम एशिया म अरब इजरायली युद्ध विराम के रक्षा के लिए भेजा है। इस सम्बन्ध म यह स्मरणीय है कि सदस्य राष्ट्र शाति रक्षा की इस तरह की कायवाही म किय गये व्यय को सघ का व्यय नही मानते हैं। तथा उस देने को तैयार नही है। यमन और साइप्रस की कायवाहिया स्वैच्छिक अशदान द्वारा पूरी की जा रही हैं। कागो की कायवाही म किय गय व्यय की कोई जिम्मेदारी सोवियत सघ व उसके साथी उठाने के लिए तयार नही हैं। सोवियत सघ सदैव स ऐस प्रस्ताव का विरोधी रहा है और इस उसने असाविधानिक माना है।

अनुच्छेद 19 सयुक्त राष्ट्र सघ के ऐसे सदस्य को जिसने सघ को अपना आर्थिक अनुदान न दिया हो महासभा म मत देने का अधिकार नही होगा। यदि उसकी बकाया रकम पिछले दो वर्षों के अनुदान के बराबर अथवा अधिक होगी। महासभा ऐस सदस्य को मतदान की आज्ञा दे सकती है। यदि उस इस बात से सतोष हो जाय कि रकम न चुका सकने के ऐसे कारण थे जिन पर सदस्य का नियत्रण नही था। ऐस मताधिकार से वचित करने का ऐसा अधिकार सुरक्षा परिषद, आर्थिक एव सामाजिक परिषद तथा न्यास परिषद को प्राप्त नही है।

जब स्वेज और कागो मे सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना के व्यय का भार वहन करने के लिए रूस और फ्रास तथा कुछ अन्य राष्ट्र तयार नही हुए और उनकी बकाया धनराशि दो वष के अनुदान स अधिक हो गयी तब 1964 मे अमेरिका ने इन राष्ट्रो के विरुद्ध ऐसा एक प्रस्ताव रखा। किन्तु बहुमत को अपने पक्ष म न पाकर अमेरिकी प्रतिनिधि ने उसे मतदान के लिए नही सौंपा। फलस्वरूप इस प्रस्ताव पर अमल नही हो सका।[17] इसके अलावा महासभा ने एक अन्य महत्व पूण काय भी किया है यथा महासभा ने फिलस्तीन के बटवारे की योजना बनाई थी और इजरायल के स्वतत्र राज्य का निर्माण किया। इसी प्रकार स्वतत्र कोरिया के निर्माण का प्रयास भी किया गया। यद्यपि वह दक्षिण कोरिया से आगे नही बढ सका। सन् 1967 मे दक्षिण अफ्रीका से दक्षिण पश्चिम अफ्रीका के सरक्षित प्रदेश की सत्ता के हस्तातरण क लिए एक 12 सदस्यो की समिति गठित की गयी। इसी प्रकार बागला देश की मान्यता का प्रश्न भी आजकल महासभा के सम्मुख है।

महासभा का बदलता हुआ स्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं ने जिस रूप में महासभा की कल्पना की थी आज महासभा का स्वरूप और महत्व उससे काफी बदला हुआ है। 'चार्टर' के निर्माताओं ने महासभा को संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक महत्वपूर्ण आधार स्तम्भ बनाया था पर शांति और सुरक्षा के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद को महासभा से अधिक शक्तिशाली और उत्तरदायी बनाया था। वस्तुत जिस प्रकार सुरक्षा परिषद् का संगठन किया गया था उसमें शांति और सुरक्षा के लिए पांच बड़े स्थायी सदस्यों को विशेषत विश्व शांति व सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व सौंपे गए थे पर शीत युद्ध की लपेट में आकर सुरक्षा परिषद पांच बड़ों की आपसी लड़ाई का शिकार हुआ और एक प्रभावशाली परिषद नहीं बन सकी। इस कमी को महासभा ने बहुत कुछ पूरा करने की चेष्टा की। शांति के लिए एकता के प्रस्ताव के बाद महासभा विचार विमर्श और वाद विवाद मात्र करने वाली परिषद ही नहीं रह गई बल्कि, शांति और सुरक्षा के मामले में सुरक्षा परिषद के समाधान न निकाल पाने पर एक महत्वपूर्ण कार्यकारी अंग भी बन गयी है। महासभा के महत्व और शक्ति में निरंतर वृद्धि हुई है। यह केवल इस एकता के प्रस्ताव के परिणाम स्वरूप ही नहीं बल्कि, अन्य कारणों से भी महासभा का स्वरूप कुछ का कुछ हो गया है। एक प्रमुख कारण यह है कि महासभा की सदस्यता के दायरे में आज लगभग पूरे संसार के स्वतंत्र राष्ट्र आ रहे हैं। प्रारम्भिक काल में जब केवल 51 संस्थापक राज्य इस के सदस्य थे तब महासभा 21 लातिनी अमेरिकी राज्यों के दबदबे में थी जिसका लाभ अमेरिकी नेतृत्व उठाता था। लातिनी अमेरिकी देश उनका नेता अमेरिका, कैनडा, पश्चिम यूरोप के पुराने साम्राज्यवादी देश इनको मिलाकर आंग्ल अमेरिकी गुट का वचस्व सहज की स्थापित हो जाता था पर जैसे-जैसे नये सदस्य राष्ट्रों का प्रवेश हुआ और सन 1955 के बाद विशेषत जब एशिया अफ्रिका के नवोदित स्वतंत्र राष्ट्र इसके सदस्य बनते गए तब महासभा के अन्दर का शक्ति संतुलन बिल्कुल ही बदल गया और यह संसार की वास्तविक प्रतिनिधि संस्था के रूप में ढलने लगी जिसमें बहुसंख्यक सदस्य विश्व जनमत का प्रतिनिधित्व करने का दावा ठोस आधार पर कर सकते हैं। इसी के फलस्वरूप आज बड़े राष्ट्रों की दादागिरी महासभा में नहीं दिखाई पड़ती जब कि सुरक्षा परिषद ही ऐसी परिषद रह गई है जिसमें वे अपनी दादागिरी आजमा सकते हैं। आज इस के सदस्यों की संख्या 155 तक पहुंच गयी है और अब संसार के लगभग आधा दजन देश ही इसकी सदस्यता से वंचित रह गए हैं। इस अर्थ में महासभा का स्वरूप अब मानव समाज के संसद की तरह बन गया है आज यदि शांति और सुरक्षा के प्रश्नों का समाधान विश्व जनमत के सहारे शांतिपूर्ण ढंग से आपसी विचार विमर्श के बाद निकालना सम्भव हो सका है तो उस में महासभा के इस बदलते रूप में एक अच्छा खासा योगदान

किया है। महासभा के इस प्रतिनिधि मूलक स्वरूप के कारण आज छोटे मोटे राष्ट्रो की भी हिम्मत और आत्म विश्वास बढ गया है और वे बडे राष्ट्रो का वचस्व और दबदबे को महासभा की ढाल बनाकर बहुत कुछ रोक पाने मे समथ हो रहे हैं। इस महासभा म ससार की सभी समस्याओ पर विचार होते रहते हैं और यह उल्लेखनीय है कि महासभा ने शाति और सुरक्षा के अनेक मसलो को सुलझाने मे श्लाघनीय प्रयत्न किया है।

सुरक्षा परिषद सयुक्त राष्ट्र सघ के 'चाटर' के निर्माताओ ने महासभा को एक विचार विमश करने वाली परिषद के रूप मे बनाया था और सयुक्त राष्ट्र सघ की कायकारिणी की तरह तीन अ य अगा का निर्मित किया था। व तीन अग हैं न्यास या सरक्षण परिषद, आर्थिक एव सामाजिक परिषद, तथा सुरक्षा परिषद। इनमे सुरक्षा परिषद को शाति और सुरक्षा के मामलो के लिए जिम्मेदार एक प्रभावशाली कायकारी अग के रूप मे ढाला गया था। इस के सदस्या की सख्या को भी 'चाटर' के द्वारा निर्धारित किया गया था जबकि पुराने राष्ट्रसघ की 'काउसिल' की कोई निश्चित सदस्यता नही थी। 'चाटर' न इसे अनुच्छेद 23 (1) के अनुसार एक ग्यारह सदस्या वाली परिषद के रूप मे बनाया था जिनमे पाच बडे राष्ट्रो को स्थायी रूप स सदस्यता सौंपी गयी थी। वे पाच थे सोवियत सघ, सयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, चीन और फ्रास। बाकी छ सदस्य अस्थायी रूप से दो वष के लिए महासभा के 2/3 मतो से निर्वाचित होते थे। जब सयुक्त *राष्ट्र सघ की सदस्य सख्या निरतर बढती गई और एशिया अफ्रिका के अनेक* नवोदित राष्ट्र इसके सदस्य बनते गए तब सुरक्षा परिषद की सदस्य सख्या बढाने की भी माग उठी। इसके फलस्वरूप अगस्त 1965 मे 'चाटर के इस भाग का सशोधन किया गया जिसके अनुसार अस्थायी सदस्यो की सख्या छ की जगह 10 कर दी गई। महासभा ने यह निणय किया कि 10 अस्थायी सदस्या मे से पाच एशियाई अफ्रिकी राज्या मे से लिए जाय, एक पूर्वी यूरोप मे से, दो लातिनी अमेरिकी राज्यो मे से व शेष दो पश्चिमी यूरोप व अ य राज्यो से लिए जाए। 'चाटर' मे यह कहा गया कि दो वष के कायकाल के समाप्त होने पर किसी सदस्य राष्ट्र को तुर त ही दुबारा निर्वाचन के लिए खडे होने का अधिकार नही होगा। इस प्रकार सन 1965 क सशोधन से अस्थायी सदस्यो की सख्या मे वृद्धि हो गई है *जिसके परिणामस्वरूप सुरक्षा परिषद मे भी एफो एशियाई तथा लातिनी* अमेरिकी देशो का प्रभाव बढा है तथापि यह उल्लेखनीय है कि स्थायी सदस्या की सख्या ज्यो की त्या ही बनी रह गई है। यद्यपि ससार के अ य देशा मे इन 5 बडे राष्ट्रो की तुलना म जापान, जमनी, भारतवष ऐसे राष्ट्रो का महत्व इन 5 बडे राष्ट्रो से विशेषत फ्रास, ब्रिटेन और चीन से कुछ कम नही है तथापि, ये अस्थायी सदस्यता ही प्राप्त कर सकते है। इस प्रकार चाटर के इस सशोधन ने सदस्यता

ने इस पहलू को भी उदघाटित कर दिया है।

सुरक्षा परिषद के प्रत्यक सदस्य को या तो मवल एक मत दन का अधिकार है। परिषद म प्रक्रिया सम्बन्धी विषयो पर 9 मत स निणय लिया जाना है लकिन प्रक्रिया के अलावा अन्य विषयो पर इन 9 मतो म 5 स्थायी सदस्यो के मतो का होना भी आवश्यक है। यदि इन पाचो म स एक भी बडे राष्ट्र का मत विपक्ष म या विरोध मे हो तो वह प्रस्ताव किसी भी प्रकार के बहुमत क बावजूद अस्वीकत हो जाएगा। पाच बडे राष्ट्रो म प्रत्येक क मत को मिल हुए इस वचस्व को ही निषेध का अधिकार कहत हैं। इस प्रकार सुरक्षा परिषद म प्रस्तावो क पास होन व उन के अमल मे लाये जाने के लिए यह नितात जरूरी है कि न कवल 9 मत उसके पक्ष म गिर बल्कि, एक एक पाच बडे राष्ट्र उस प्रस्ताव स अपनी सहमति प्रकट करें जिस का अथ यह होता है कि यदि एक भी बडा राष्ट्र सुरक्षा परिषद की कायवाही का विरोधी हो तो वह उस सारी कायवाही को ही खत्म कर सकता है। अरनाल्ड फास्टर न ठीक ही लिखा है 'निषेधाधिकार का भय सम्पूण व्यवस्था पर छाया हुआ है। ऐसी व्यवस्था के शरीर मे ही पक्षाघात है। यह उस 'कार' के समान है जिसका 'स्टाटर' किसी भी समय उस की यन्त्र व्यवस्था म गडबड करके उसके इजिन को रोक सकता है।"

सुरक्षा परिषद की काय प्रणाली व अधिकार क्षेत्र

सुरक्षा परिषद का इस तरह गठन किया गया है कि यह सदैव कायरत रहने वाली परिषद बन गयी है। इस क प्रत्येक सदस्य का प्रतिनिधि मुख्यालय म रहता है। इस कारण सुरक्षा परिषद के बैठकें आवश्यकतानुसार तुरन्त ही बुलायी जा सकती है और सुरक्षा परिषद उन के माध्यम से तुरन्त कायवाही कर सकता है। वैस सामान्यत सुरक्षा परिषद की बैठक प्रत्येक पखवाडे म होती है अर्थात दो बैठको के बीच 14 दिन से अधिक का अन्तर नही होना चाहिए। इस परिषद की बैठकें अध्यक्ष आमन्त्रित करता है अध्यक्ष निम्नाकित परिस्थितियो मे परिषद की बैठक आमन्त्रित करता है।

1 सुरक्षा परिषद के किसी भी सदस्य राष्ट्र की प्राथना पर,
2 सुरक्षा परिषद का ध्यान किसी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव की स्थिति की ओर 'चाटर के अनुच्छेद 11 (3) अथवा अनुच्छद 35 के अन्तगत ध्यान आकर्षित किए जाने पर,
3 यदि महासभा अनुच्छेद 11 (2) के अन्तगत परिषद का ध्यान किसी प्रश्न या विवाद की ओर आकर्षित करती है अथवा इस अनुच्छेद के अन्तगत परिषद की बैठक की सिफारिश करती है,
4 यदि सघ का महा सचिव अनुच्छेद 99 के अन्तगत परिषद के अध्यक्ष को

सूचना देता है कि किसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय तनाव की स्थिति पैदा हो गयी है,

इसके अलावा अनुच्छेद 28 (2) के अन्तगत सुरक्षा परिपद की सामूहिक बैठकों के बुलाये जाने का भी प्रबन्ध किया गया है जिसमे साधारण प्रतिनिधि के स्थान पर विशेष मनोनीत प्रतिनिधि भाग ले सकते हैं। सुरक्षा परिपद की प्रक्रिया नियमावली मे इस तरह की बैठकें साल मे दो बार की जा सकती हैं। इस प्रबन्ध को कार्यान्वित करने के लिए 1950 व 1955 म महासचिव ने सुझाव दिय थे। सन 1966 67 के वार्षिक प्रतिवेदन मे महासचिव यू थाट ने भी इस के उपयोग का सुझाव दिया था ताकि इस प्रकार की बैठकों म परिपद के सदस्यो को उच्च स्तरीय वार्ता का अवसर मिल जाता है। महासभा और सुरक्षा परिषद ने भी समय समय पर एसा सुझाव दिया।

सुरक्षा परिषद अपने अध्यक्ष का स्वय चुनाव करती है। परिपद का अध्यक्ष प्रति मास राष्ट्रो के अग्रेजी वणमाला के अक्षरा के क्रम स चुना जाता है। अध्यक्ष का काय परिपद की बैठका को नियमानुसार बुलाता व उस का सचालन करता है। अध्यक्ष को ध्यानाकषण का निणय करने तथा अन्य निर्देश देने का अधिकार है। लेकिन परिपद अध्यक्ष के निर्देश के विरुद्ध भी निणय कर सकता है। अध्यक्ष महासचिव द्वारा निर्धारित प्रारम्भिक काय सूची को तैयार करता है। उन विवादा मे जो ऐम राज्य स सम्बन्धित हो जहा का अध्यक्ष नागरिक है, उस स्थिति म वह अध्यक्षता नही करता। इसके अलावा अध्यक्ष अपन व्यक्तिगत प्रभाव का उपयोग कर कभी कभी निपेधाधिकार का प्रयोग रोकने के लिए आपसी विचार-विमश द्वारा सदस्या का अभिमत जानन का प्रयत्न करता है जसा काश्मीर और वियत-नाम के मामले म किया गया।

यह ध्यान देन योग्य है कि परिपद को यह भी अधिकार है कि जब वह किसी एस मामल पर विचार कर रही है जिस से सम्बन्धित पक्ष परिपद मे उपस्थित न हो तब भल ही वह राष्ट्र समुक्त राष्ट्र सघ का सदस्य हो या न हो उस बैठक म भाग लने के लिए आमन्त्रित कर सकती है पर उन सदस्य को मतदान का अधिकार नही होगा। यथा 1962 क्यूबा सकट की घटा म क्यूबा को आमन्त्रित किया गया था तथा 1964 मे टाकिन खाडी की घटना क सबध मे उत्तरी वियतनाम को आमन्त्रित किया गया।

सुरक्षा परिषद को अपनी प्रक्रिया नियमावली बनान का अधिकार है।

समितियां व आयोग

सुरक्षा परिपद न अपन काम को सुचारू रूप स चलान क लिए अनक समितियों व आयोगो का गठन किया है।

(1) सैनिक मग समिति यह समिति अनुच्छेद 47 के अधीन स्थापित की गयी है। यह समिति सुरक्षा परिषद को सशस्त्र सनिक कायवाही, सशस्त्र सनाओ के सचालन, सना सम्बन्धी आवश्यकताओ, शस्त्रा की व्यवस्था एव निशस्त्रीकरण आदि के विषयो मे सहायता और सलाह देती है। इस समिति मे सदस्य परिषद क स्थायी सदस्या क सनापति अथवा उनके द्वारा मनोनीत व्यक्ति होते हैं। यह समिति रूस तथा अन्य स्थायी सदस्या के बीच गहरे मतभेद के कारण कायशील नही हो सकती।

(2) अणु शक्ति आयोग अनुच्छेद 29 के अतगत महासभा के 24 जनवरी, 1946 क प्रस्ताव क आधार पर अणु शक्ति आयोग की स्थापना की गई। इसका काय परमाणु शक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण के सम्बन्ध म परिषद को परामश दना तथा परमाणु शक्ति का शाति क कार्यों के लिए प्रयोग करन म मदद देना है। इसम सुरक्षा परिषद के सभी सदस्या के अलावा कैनडा है।

(3) विध्वसक शस्त्रायोग इस आयोग की स्थापना 13 फरवरी, 1947 मे हुई इसका काम महा सभा के 14 दिसम्बर, 1946 के प्रस्ताव को कार्यान्वित करने का है जिसक अन्तगत शस्त्रो के नियमन और उनमे कटौती करने क बारे म परिषद का राय देना है। सुरक्षा परिषद के सभी सदस्य इसक सदस्य हैं। इसके अलावा परिषद की दो स्थायी समितिया भी जिनमे परिषद के सभी सदस्य रहते हैं (1) नए सदस्यों के प्रवेश की समिति यह समिति उन प्रार्थना पत्रो पर विचार करती है और अपनी सस्तुति देती है जो नए सदस्य सयुक्त राष्ट्र सघ मे प्रवेश पाने के लिए प्रस्तुत करत हैं (2) विशेषज्ञों की समिति यह परिषद की काय प्रणाली के सम्बन्ध मे नियमा एव प्राविधिक मामलो मे परिषद को अपनी सलाह दती है।

इसके अलावा परिषद समय समय पर आयोगो एव एतदथ समितियो का निर्माण करती रहती है यथा इन्डोनेशिया के सम्बन्ध मे राष्ट्र सघ आयोग (25 अगस्त, 1947) भारत के लिए राष्ट्र सघ आयोग (20 जनवरी 1948) यूनान क मामले म आयोग तथा फिलस्तीन के मामले मे राष्ट्र सघ आयोग।

अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा

सुरक्षा परिषद का काय क्षेत्र 'चार्टर' के अनुसार सुरक्षा परिषद सयुक्त राष्ट्र सघ का वह कायकारी अग है जिसके जिम्मे विश्व म शाति एव सुरक्षा की व्यवस्था करना है। 'चार्टर' के अनुच्छेद 29 के अनुसार सुरक्षा परिषद के अधिकारा व कार्यों का निर्धारण किया गया है। चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद के प्राथमिक दायित्व के रूप म अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा का भार उस पर सौंपा गया है। यह उल्लेखनीय है कि चार्टर सुरक्षा परिषद को प्राथमिकता प्रदान करता है न कि

सम्पूण उत्तरदायित्व जो केवल सघ मे निहित है 'चाटर' की 33-38 अनुच्छेद तक अन्तर्राष्ट्रीय झगडो के शातिपूण निपटारे के सम्ब ध मे तथा 39 स 51 अनुच्छेद तक अन्तर्राष्ट्रीय शाति को खतरे मे डालने से इसे भग करने या आक्रमण को रोकने की कायवाही के सम्बन्ध मे वणन किया गया है। सुरक्षा परिषद को अपने शाति और सुरक्षा की स्थापना के उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए अध्याय 6 7, 8, और 12 के अन्तगत कायवाही करने का अधिकार है। अनुच्छेद 24 के द्वारा राष्ट्र सघ के सदस्या का कत्तव्य निश्चित किया गया है कि वे परिषद के निणया को स्वीकार करेंगे और उन्ह कार्यान्वित करेंगे। जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय शाति के भग होने का खतरा हो या ऐसी तनावपूण स्थिति पैदा हो जाय तब (1) महासभा के द्वारा (2) अथवा महा सचिव के द्वारा या (3) परिषद का कोई भी सदस्य ऐसी विस्फोटक स्थिति की ओर परिषद का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं परन्तु सुरक्षा परिषद स्वय यह निश्चय करती है कि अमुक परिस्थिति मे तथाकथित आक्रामक कायवाही या धमकी किस हद तक नीति भग करन वाली मानी जाय। क्योकि अन्तत अन्तर्राष्टीय शाति व सुरक्षा की पुन स्थापना के लिए कायवाही करने का उसे अधिकार है। ऐसा करने के पूर्व परिषद उक्त विवाद से सम्बन्धित राज्यो को निर्देश दे सकनी है कि वे तनाव को दूर करने के लिए अतिम हल तय होने से पूव कुछ अस्थायी व्यवस्था स्थापित कर लें।

यदि स्थिति नही सभलती तो परिषद अपने निणयो को लागू करने के लिए तथा शाति स्थापना के लिए दो तरह की कायवाही कर सकती है। (1) ऐसी कायवाही जिसमे शक्ति का प्रयोग न हो यथा परिषद सदस्यो को आदेश द सकती है कि सदस्यगण आक्रामक के साथ अपना आर्थिक सम्बन्ध पूणत या अशत विच्छेद कर दें। या ऐसे आक्रामक को यातायात, डाक व तार व व्यापार की अन्य सुविधाओ से वचित कर दें एव उसकी कूटनीतिक मान्यता रद्द कर दें।

(2) जल, थल एव वायु सेना के द्वारा सशस्त्र कायवाही हालात बिगडने पर परिषद नाकेबन्दी वायु थल एव नौसेना के द्वारा सैनिक कायवाही भी कर सकती है। 'चाटर' के अतगत सयुक्त राष्ट्र सघ के सभी सदस्यो ने परिषद की ऐसी सुरक्षात्मक कायवाही के लिए सैनिक सहायता देने का वचन दिया है इसी प्रकार उन्ह सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना को आवागमन की सुविधा दनी होगी यह परिषद तय करेगी कि इस तरह की सैनिक कार्यवाही मे सभी सदस्य राज्यो का भाग लेना अनिवाय है या नही। यदि कोई राज्य आक्रमण की स्थिति म अपनी सुरक्षात्मक कदम उठाता है तब इसकी सूचना तुरन्त ही सुरक्षा परिषद को देनी होगी।

(2) विवादों का निपटारा चाटर के अध्याय 6 मे सुरक्षा परिषद को यह भी जिम्मेदारी सौपी गयी है कि वह विवादो का शातिपूण हल निकाले। ु
33 मे यह दिया है कि यदि दो पक्षो के बीच कोई ऐसा विवाद उठ ाह

जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो जाने की आशका है तो उस विवाद को वार्ता, जाच मध्यस्थता, सराधन(कन्सीलियशन) विवाचन (आरबिट्रेशन) न्यायिक निणय क्षेत्रीय प्रबन्ध इत्यादि अन्य शातिपूण तरीको से हल निकाले। अनुच्छेद 37 मे यह कहा गया है कि यदि पक्ष अपने विवाद को इस तरह सुलझाने मे सफल नही होते तो उन्ह इसे सुरक्षा परिषद को सौप देना चाहिए। बर्लिन की नाकेबन्दी का सवाल अमरिका, ब्रिटेन और फ्रास मे सुरक्षा परिषद के सामने यह कह कर ही रखा दिया था कि शान्तिपूण तरीको से इसका हल सम्भव नही है। अत यह शाति और सुरक्षा के लिए खतरा हो गया है। इस पर रूसी विरोध के बावजूद इस सवाल ने सुरक्षा परिषद की कार्य सूची म स्थान पा लिया था। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने योग्य है कि अनुच्छेद 34 के अन्तगत यदि सुरक्षा परिषद किसी विवाद को अन्तर्राष्ट्रीय शाति के लिए खतरा पैदा करने वाला माने तो वह विवाद या स्थिति की जाच करवा सकते हैं। यूनान और भारत पाकिस्तान विवादो मे अनुच्छेद 34 क अन्तर्गत जाच आयोग की स्थापना की गयी है। इस बारे मे मतभेद है कि यह जाच की कायवाही प्रक्रिया सम्बन्धी प्रश्न है या महत्वपूण प्रश्न माना है और चेकोस्लोवाकिया क प्रश्न पर निषेधाधिकार का प्रयोग किया।

(3) अन्य काम सदस्यता सम्बन्धी नये सदस्यो का प्रवेश, उनका निलम्बन तथा निलम्बन की समाप्ति और उनका निष्कासन सुरक्षा परिषद के सहमति के बिना सम्भव नहीं।

न्यास प्रशासन कुछ न्यास प्रशासन मे कुछ क्षेत्र सामरिक महत्व के निर्धारित किये गये हैं। ये क्षेत्र प्रशात महासागरीय द्वीप समूह हैं (माशल आइलैंड) इनके प्रशासन का उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद पर डाला गया है। जो न्यास समझौता को स्वीकार करती है और अपने निरीक्षणात्मक अधिकार के अन्तगत सालाना रिपोर्ट प्राप्त करती है।

नियुक्ति सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो के न्यायाधीशो की नियुक्ति सुरक्षा परिषद की सम्तुति पर महासभा के द्वारा की जाती है। इसी प्रकार सुरक्षा परिषद की सस्तुति पर सयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव की नियुक्ति महासभा के द्वारा की जाती है।

सुरक्षा परिषद महत्वपूण मामलो म अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्श मूलक सम्मति ले सकती है और यदि कोई पक्ष न्यायालय के निणय स जन्मे दायित्वो का पालन नहीं करता तो परिषद उस मनवाने के लिए उचित कायवाही कर सकती है।

सुरक्षा परिषद विवादो के शातिपूण हल तथा प्रवतनात्मक कायवाही के लिए क्षेत्रीय प्रबन्ध के अन्तगत सयोजित सगठनो का उपयोग कर सकती है इस सम्बन्ध

मे यह माना गया है कि ऐसे सगठन शाति और सुरक्षा के निहित जो भी कायवाही करेंगे उसकी सूचना सुरक्षा परिषद को देना आवश्यक है।

अन्त मे, सुरक्षा परिषद पर यह तय करने की जिम्मेदारी छोडी गयी है कि यदि कोई राज्य जिसने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सविधान पर अपनी सहमति नही है वह यहा मुकदमा लाना चाहे ता किन परिस्थितियो मे ला सकता है।

सुरक्षा परिषद के निणय और निषेधाधिकार का प्रश्न

सयुक्त राष्ट्रसघ के निर्माताओ ने सुरक्षा परिषद को एक अत्यन्त महत्वपूण और सबसे अधिक शक्तिशाली अग के रूप मे निर्मित किया था। दूसरे विश्व युद्ध की विभीषिका के बीच सयुक्त राष्टसघ के ये निर्माता एक ऐसी युद्धोत्तर व्यवस्था बनाने के लिए कृत सकल्प थे जो विश्व शाति और सुरक्षा को सुदढ आधारो पर टिका दे और युद्ध की सम्भावनाओ को समाप्त प्राय कर दे। वे सभी दिलोजान से ऐसी योजना बनाने मे जुटे और उसका ही प्रतिफल सुरक्षा परिषद का सगठन था। जिस मूलभूत विचार पर सुरक्षा परिषद का निर्माण हुआ वह यह था कि दुनिया की वास्तविक बडी शक्तियो के पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही ससार की शाति और सुरक्षा की व्यवस्था निर्मित की जा सकती है। युद्ध की सम्भावना उस स्थिति मे पैदा हो जाती है और बढ जाती है जबकि कुछ बडी ताकतें अन्य बडी ताकत के विरुद्ध ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठना को प्रयोग मे लाती हैं। जिन सगठना के जिम्मे शाति और व्यवस्था सौंपी गयी है राष्ट्रसघ का कटु अनुभव यही शिक्षा द रहा था कि जब ब्रिटेन और फ्रास ने राष्ट्रसघ को अन्य शक्तियो के विरुद्ध हथियार बनाना शुरू किया और दूसरी ताकता ने राष्ट्रसघ स बाहर निकल कर या उससे निष्कासित होकर उसके प्रति वैमनस्यता और उदासीनता तो राष्ट्रसघ का भी ढेर हो गया और युद्ध जनक स्थितिया बढती चली गयी। इसलिए इस बार युद्धोत्तर व्यवस्था मे शाति और सुरक्षा की मूलभूत जिम्मेदारी पाच बडी शक्तियो की पचायत पर छोड दी गयी थी और यह प्रबन्ध किया गया कि इन पाचो बडी शक्तियो का न केवल सुरक्षा परिषद म स्थायी उपस्थिति रहेगी बल्कि इनमे एक एक भी अगर सुरक्षा परिषद द्वारा सुझायी गयी कायवाही का विरोध करे तो वह कायवाही नही की जा सकेगी। अथात सयुक्त राष्ट्रसघ रूपी अस्त्र का प्रयोग इन पाच पचो के सहयोग स तो किया जा सकता है। इनमे से एक की भी असहयोग करने पर यह अस्त्र बेकार हो जायेगा। इस प्रकार सयुक्त राष्ट्रसघ के निर्माताओ का यह विचार था कि ससार की शाति और व्यवस्था सामर्थ्यवान और शक्तिवान राष्ट्रो के भरोसे ही सफल हा सकती है अन्यथा नही। जिस समय राष्ट्रसघ का निर्माण हो रहा था उस समय तीन बडा का, अमेरिका, सोवियत सघ और ब्रिटेन का वचस्व सभी को मान्य था। अमेरिका

के राष्ट्रपति रूजवेल्ट के ओर दबाव पर चीन को इन बडो मे शामिल किया गया तो ब्रिटेन के ऐसे ही दबाव पर फ्रास को भी इस शिविर मे ले लिया गया और इस प्रकार ये पाच बडी "ताकतें" सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्य बना दी गयी और उन्हें वह अधिकार दे दिया गया जिसे निषेधाधिकार कहा जाने लगा। साराश यह कि सुरक्षा परिषद वाली सम्पूर्ण व्यवस्था इस विचार पर आधारित की गयी कि सयुक्त राष्ट्रसघ के माध्यम से शाति और सुरक्षा के नाम पर जो भी कार्यवाही हो वह केवल इसलिए न हो कि सदस्य राष्ट्रो के बहुमत मे वैसी इच्छा प्रकट की है बल्कि, वह, तभी हो जब महा शक्तियों का पूर्ण समर्थन और सहयोग उसे प्राप्त हो क्योंकि वास्तव मे तभी वह स्थायी ढग की व्यवस्था हो सकती है। रूजवेल्ट, स्टालिन व चर्चिल तीनो इसी मत के थे और इसी मत को सयुक्त राष्ट्रसघ मे मान्यता मिल गयी।

युद्धोत्तर परिस्थितियो मे तत्काल यह विचार बडा आकर्षक लगा। इस भारी टूटफूट के बाद वास्तव मे दो ही शक्तिया समर्थ शक्तियो के रूप मे दिख रही थी। उनके नेताओ के हृदय सौहार्द्र और मित्रता के भावो से भरे हुए थे। युद्ध काल मे ये नेतागण एक दूसरे के काफी निकट आ चुके थे और सम्बन्धो मे पुराना अनजानापन बहुत कुछ खत्म हो चुका था। अनेक युद्धकालीन निर्णय तथा युद्धोत्तर योजनाओ के निर्माण मे विचार विमर्श के दौरान एक दूसरे के पक्ष को समझने और अपने आग्रहो पर बल न देकर दूसरे पक्ष से समझौता करने के अनेक प्रमाण मिल चुके थे। वस्तुत सुरक्षा परिषद की कल्पना मे तीन राष्ट्रो के नेताओ की सहमति इसका एक ज्वलत प्रमाण थी। यह विचार वैसे भी व्यावहारिक दृष्टि से उचित मालूम पडता था कि सुरक्षा व्यवस्था मे उसकी भूमिका मुख्य और निर्णायक होनी चाहिए जिसके पास सुरक्षा और शाति स्थापित करने की शक्ति यदि छोटे राष्ट्र किसी ऐसी कार्यवाही करने का निर्णय ले लें जो बडे राष्ट्रो को पसद नही या किसी एक बडे राष्ट्र को पसद नही तो बिना इन बडे राष्ट्रो के सहयोग से कार्यवाही कैसे हो सकती है। चूकि सुरक्षा परिषद के पास न कोई अपनी सेना है और न शस्त्रास्त्र। किसी भी निर्णय को अमल मे लाने के लिए जिस शस्त्र बल की आवश्यकता होगी वह बडे राष्ट्रो से ही प्राप्त हो सकता था बडे राष्ट्रो के विरुद्ध नही। इसी तरह यदि बडे राष्ट्र आपस मे लडने को उद्यत हो ही जाए तो बहुसख्यक होकर भी छोटे राष्ट्र अपने सारे सकल्पो के बावजूद इस लडाई को रोक कैसे सकते थे। इस प्रकार किसी भी व्यावहारिक दृष्टि से सुरक्षा और शाति की व्यवस्था पर विचार करने पर यही उचित मालूम पडता था कि शाति और सुरक्षा की जिम्मेदारी महा शक्तियो की पूर्ण सहमति और सहयोग पर आश्रित की जाय। इसी विचार ने सुरक्षा परिषद के सगठन के रूप मे जन्म लिया।

पर युद्ध समाप्त होने और सयुक्त राष्ट्र सघ के निर्माण के कुछ ही समय बाद

महा शक्तिया, विशेषत सोवियत सघ और अमेरिका के बीच युद्धकालीन सोहाद्र और सहयोग की भावना तेजी से तिरोहित होने लगी और उनके बीच अपने प्रभाव क्षेत्रो को सगठित करने और बढाने के लिए प्रतिस्पर्द्धा बढने लगी। ब्रिटेन के कूट-नीतियो से प्रेरित ट्रूमेन का अमेरिकी प्रशासन, सोवियत सघ और उसके द्वारा मुक्त किय गये पूर्वी यूरोप के क्षेत्रो के विरुद्ध लगातार सैनिक और आर्थिक दबाव बनाने की नीति अपनायी गयी और आग्ल-अमेरिकी गुट के पक्ष मे विश्व का शक्ति सतुलन स्थापित करने का अभियान अमेरिकी नेतत्व मे चलाया गया। इसे ही बाद मे शीत युद्ध की सज्ञा दी गयी जिसके अन्तगत अमेरिकी नेतत्व मे सैनिक और आर्थिक सगठनो का निमाण पश्चिम यूरोप मे तेजी से किया जाने लगा। और अयत्र भी इस शीत युद्ध ने ससार को दो गुटो मे बाटने की प्रक्रिया शुरू कर दी। ऐसी विषम स्थिति मे सुरक्षा परिषद एक विफल परिषद के रूप मे प्रकट होने लगी। सुरक्षा परिषद न जब जब सोवियत सघ या उनके मित्र राष्ट्रो के विरुद्ध कायवाही का प्रस्ताव आता तब तब सोवियत सघ अपने निषेधाधिकार का प्रयोग का प्रयोग कर उस निष्फल कर देता। सयुक्त राष्ट्र सघ म चूकि आग्ल-अमेरिकी गुट के सदस्या का बहुमत था इसलिए सोवियत सघ को अनेक बार इसे निषेधा-धिकार का प्रयोग करना पडा। सोवियत विरोधी वातावरण मे सुरक्षा परिषद केवल एक बहस करने वाली पर बेकार परिषद सिद्ध होने लगी और इससे यह विवाद उठने लगा कि निषेधाधिकार की वजह से सारे सयुक्त राष्ट्र सघ की व्यवस्था ही ठप्प पड गयी पर बात वास्तव मे ऐसी थी नही। जैसा हम ऊपर बता चुके हैं सुरक्षा परिषद के मूल म जो विचार था वह यह नही था कि सुरक्षा परिषद का अस्त्र कभी भी किसी बडी ताकत के विरुद्ध इस्तेमाल हो, बल्कि, सुरक्षा परिषद की सारी बुनावट की ही ऐसी गयी थी कि वह महा शक्तियो की मदद से न कि उनके विरोध मे इस्तेमाल की जाय। वह ऐसे तत्वो से बनी ही नही थी और न इस इरादे से बनाई गयी थी कि कभी उसका इस्तेमाल किसी भी एक बडी ताकत के खिलाफ हो सके। इसलिए सोवियत सघ के द्वारा बार-बार निषेधाधिकार के इस्तेमाल के खिलाफ जो हो हल्ला मचाया गया वह सयुक्त राष्ट्र के निर्माण मे लगी हुई पूरी समझ की जमा पूजी के बाहर की बात थी। वस्तुत जसा ए० ई० इस्टोवेस ने लिखा था 'निषेधाधिकार हमारी कठिनाइयो का आधार भूत का कारण नही है। यह रूस के लोगा के साथ हमारे दुभाग्यपूर्ण मतभेदा का प्रतिबिंब मात्र ही हैं।' यदि हम सकट से बचना चाहते हैं तो हमे उन मतभेदो को तय करना चाहिए। केवल मतदान की विधि को बदलना यथेष्ट न होगा। मतैक्य के नियम का जम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओ से हुआ है। यदि पाच महान राज्य किसी मामले पर राजी नही होते तो उनमे से किसी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग एक बडे युद्ध को जम देगा। सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना

इसी सम्भावना से बचने के लिए हुई थी।"[18]

आर्थिक और सामाजिक परिषद

प्रथम महायुद्ध के बाद जिम अन्तर्राष्ट्रीय कहे जाने वाले राष्ट्र सघ की स्थापना की गयी थी उसके सविदा म ऐम किसी अग की स्थापना नही की गयी थी जो आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र मे मदद करे। केवल व्यापार मे उचित तरीके अपनाय जाए उसका ही जिक्र था पर धीरे धीरे राष्ट्र सघ से सम्बन्ध रखने वाले करीबन सात आठ सौ शासकीय व अशासकीय सस्थायें अस्तित्व म आ गई थी। वैसे राष्ट्र सघ के जीवन के प्रारम्भिक काल मे तीन तकनीकी सगठनो का गठन किया गया था – स्वास्थ्य सगठन। वित्तीय तथा आर्थिक सगठन तथा सचार और यतायात सगठन। स्मरणीय है कि मई 1923 तक स्थायी स्वास्थ्य की योजना ही नही बनायी जा सकी। उस वष सितम्बर मे राष्ट्र सघ की महासभा ने उसका अनु मोदन किया। इसी प्रकार आर्थिक सगठना का हाल रहा।[19] सचार व यतायात के बारे मे भी पहला सम्मेलन माच 1921 म हुआ और उसके प्रति चार वष बाद उसकी सभायें होती रही। इसी प्रकार राष्ट्र सघ ने श्रमिको की समस्याओ के सबध मे *अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ का गठन किया, अन्य ऐसे ही सगठन समय समय* पर बने यथा विस्थापियो से सबधित (1921) या 1926 म स्थापित एक बुद्धि जीवी सहयोग सस्थान।

सयुक्त राष्ट्र के अन्तगत आर्थिक एव सामाजिक काय

इस उपयुक्त पष्ठभूमि मे द्वितीय महायुद्ध के बाद सयुक्त राष्ट्र सघ के तत्वा धान मे ही राज्यो के आपसी आर्थिक व सामाजिक प्रगति को व्यवस्थित करने के लिए एक महत्त्वपूण अग के रूप मे चाटर की 61वी स 72वी धाराओ म आर्थिक तथा सामाजिक परिषद की व्यवस्था की गयी है। सयुक्त राष्ट्र सघ के चाटर का निमाण करने वाले सान फ्रासिसको के सम्मेलन के गठन के समय तक कुछ विशेष सस्थायें बन चुकी थी और कुछ प्रस्फुटित हो रही थी। अत चाटर मे इस तथ्य का मान्यता दी कि आर्थिक, सामाजिक व सास्कृतिक क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सुविधा देने तथा तत्सबधी कार्यों को सपादित करने के लिए जो विशिष्ट सस्थायें पल्लवित व अकुरित होगी वे अपने कायकलापो के लिए बहुत हद तक स्वतत्र होगी। 'चाटर' ने इन विशिष्ट सगठनों व उनकी कायवाहियो के समन्वय के लिए सघ के प्राधिकारों की विशेष रूप मे व्याख्या की गई और यह भी प्रावधान किया गया है कि उपरोक्त लक्ष्यो की पूर्ति के लिए जहा उपयुक्त एव आवश्यक होगा सघ नई विशिष्ट सस्थाओ की स्थापना के लिए राष्ट्रो से वार्ता करेगा। यह भी 'चाटर' मे स्पष्ट किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय सहमति स स्थापित इन विशेषज्ञ

सस्थाओ (विशिष्ट अधिकरणो) के अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वो की व्याख्या उनके अपने सविदा पत्रो म होगी और वे सघ से सबधित होगी। सघ उनकी नीतियो व कायवाहियो को समन्वय के करने के लिए सस्तुति करेगा। और इन उत्तरदायित्वो को निभान का का काम महासभा को सौंपा गया और उसकी निगरानी के अतगत *आर्थिक एव सामाजिक परिषद मे निहित किया गया है।*

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद

सगठन आर्थिक एव सामाजिक परिषद का सगठन उन 18 सदस्यो से होता था जो महासभा के द्वारा 2/3 बहुमत से चुने जाते थे इसमे प्रत्येक सदस्य तीन वष के लिए चुना जाता है और उसके पुर्ननिर्वाचन म कोई बाधा नही है। ध्यान देने योग्य है कि पाच बडे राष्ट्रो को न तो इसमे कोई विशेष स्थान है या अधिकार प्राप्त हैं न ही उनको स्थायी सदस्यता या निषेदाधिकार प्राप्त है। वैसे सदस्यो की योग्यता आदि के बार मे कोई निर्देश नही है तथा महासभा भौगोलिक आधार पर समान वितरण का ध्यान रखती है। 1965 म 'चाटर' मे जो सशोधन हुआ उसके अनुसार *आर्थिक तथा सामाजिक परिषद के सदस्यो की सख्या 18 से बढाकर 27* कर दी गयी और इस प्रकार वढे हुए नौ स्थानो का बटवारा भौगोलिक आधार पर या कर किया गया —7 सीटें एशिया आफ्रिकी देशो के लिए एक लातिनी अमेरिकी देशो को और एक पश्चिम यूरोपीय देशो को दी गयी।

काय और अधिकार आर्थिक और सामाजिक परिषद को सयुक्त राष्ट सघ के तत्वावधान में आर्थिक, सामाजिक। सास्कृतिक, शैक्षिणक। स्वास्थ्य सबधी तथा विविध अन्य कार्यों को सम्पादित करने की जिम्मेदारी सोंपी गयी है। (1) यह परिषद इससे सबधित विषयो का अध्ययन करती है और अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है। तथा इन विषयो के सबध मे अपनी सस्तुति महासभा को या सघ के सदस्यो या विशिष्ट अधिकरणो को देती है। (2) महासभा के अधिकार क्षेत्र मे आने वाले विषयो के सबध मे मसासभा के सामने प्रस्तुत किये जाने वाले सविदा या समझौतो के प्रारूपो एव आलेखो को तैयार करती है। (3) महासभा को सस्तुतियो को कार्यान्वित करने के लिए उचित कायवाही करती है (4) महासभा के अनुमोदन पर सघ के सदस्यो तथा विशिष्ट अधिकरणा की प्राथना पर सेवाओ का सम्पादन करती है। (5) सुरक्षा परिद को उम उसकी प्राथना पर सहायता प्रदान करती है एव वाछित सूचनाए देती हैं। (6) वह मानव अधिकारो तथा मूल स्वतन्त्रताओं के पालनाथ एव उसके प्रति सम्मान बढाने के लिए सस्तुतिया करती है। ( )वह अपने अधिकार क्षेत्र मे आने वाले विषयो पर सघ द्वारा नियमित नियमो के अनुसार अन्तराष्टीय सम्मेलना का आमन्त्रित करतो है। (8) वह विशिष्ट अधिकरणा की कायवाही म परामश देकर या उन्ह महासभा और सघ के

सदस्यो को अपनी सस्तुति देकर समन्वय करती है (9) अनुच्छेद 57 के अन्तगत वह किसी भी अधिकरण के साथ समझौता कर सकती है तथा उन शर्तों को निर्धारित करती है जिसके अन्तर्गत वे अधिकरण सयुक्त राष्ट्र सघ स सबधित होग। पर इन समझौता का महासभा की स्वीकृति पाना आवश्यक है। (10) विशिष्ट अधिकरणो म प्रतिवदन प्राप्त करने के लिए आवश्यक कायवाही करती है तथा महासभा और अपनी सस्तुतियो को कार्यान्वित करने के लिए उठाय गये नयेकदमो के सबध मे उनसे प्रतिवेदन प्राप्त करती है और उस प्रतिवेदन पर अपनी टिप्पणी के साथ महासभा को भेज सकती है (11) अन्त मे, वह ऐसे भी काय सम्पादित करती है जो 'चाटर' के अन्तगत महासभा उस सौप देती है या 'चाटर' मे कहीं अन्यत्र दिये गये हो।

परिषद की कायवाही परिषद का प्रथम अधिवेशन लदन मे 23 जनवरी से 26 फरवरी 1946 तक हुआ था।

परिषद की प्रक्रिया नियमावली म यह व्यवस्था की कि वष मे कम से कम तीन अधिवेशन किये जायेंगे पर बाद मे इनकी सख्या घटा कर दो कर दी गयी। परिषद के बहुसख्यक सदस्य महासभा एव सुरक्षा परिषद की माग पर कभी भी विशेष अधिवेशन 30 दिन के नोटिस पर आमन्त्रित कर सकते हैं। सामान्य अधिवेशन महासभा के वार्षिक अधिवेशन से पूव तथा शरद ऋतु मे होता है। अधिवेशन 4 से 6 हफ्ते तक चलते हैं और इनकी बैठकें आम होती हैं अर्थात् जन-साधारण के लिए खुली होती हैं। लेकिन जब भी परिषद चाहे ये बैठकें गुप्त हो सकती हैं।

अधिवेशन के प्रारम्भ म परिषद अपने अध्यक्ष तथा पहले और दूसरे उपाध्यक्ष को चुनती है। आम तौर से अध्यक्ष के पद के लिए छोटे राष्ट्रो स प्रतिनिधि चुने जाते हैं और उनके पुन निर्वाचित होने का भी अधिकार है। परिषद अपने नियमो की खुद निर्मात्री है और अध्यक्ष परिषद के नियमो का पालन कराता है। परिषद 'एजेन्डे' या काय सूची के लिए सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य, अन्य अग महासचिव या विशिष्ट अधिकरण या अन्य सगठन विषय प्रस्तुत करते हैं। परिषद अनेक स्रोतो से प्राप्त प्रतिवेदन पर विचार करने के लिए और सस्तुति करने के लिए सदस्यो की समितिया गठित करती है। अधिवेशना का अधिक समय इस विभिन्न अधिकरणो और सहयोगी निकायो के प्रतिवेदन सुनने मे लग जाता है।

सहायक अग 'चाटर' ने आर्थिक तथा सामाजिक परिषद को आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रो मे समुचित रूप से काय सचालन के लिए आयोग तथा मानव-अधिकार आयोग की स्थापना का अधिकार दिया तदनुसार, परिषद ने निम्नाकित आयोगो की स्थापना की जिनमे कुछ क्षेत्रीय आयोग हैं। पाच विशेष निकायो तथा समय समय पर एतदथ समितियो का निर्माण भी किया गया।

आयोग आर्थिक एव सवा योजना, (2) यातायात तथा सचार आयोग,

(15 सदस्य) (3) साख्यिकीय आयोग (15 सदस्य) महिलाओ के अधिकार सबधी आयोग (18 सदस्य) ' मानव अधिकार आयोग (18 सदस्य), मादक द्रव्य सबधी आयोग (18 सदस्य), अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु व्यापार आयोग (18 सदस्य) जनसख्या आयोग (15 सदस्य) सामाजिक आयोग (18 सदस्य)। जो प्रादेशिक या क्षेत्रीय आयोग हैं, वे इस प्रकार हैं – (1) यूरोपीय आर्थिक आयोग, (2) एशिया तथा सुदूरपूर्व आर्थिक आयोग, (3) लातिनी अमेरिकी आर्थिक आयोग, (4) मध्य-पूर्व के लिए आयोग, (5) अफ्रिका सबधी आयोग।

इन आयोगो की सदस्यता 18 से 21 तक होती है और इनका कायकाल 2 स 4 वप तक का होता है। 1946 मे परिषद ने यह निणय लिया था कि इसके सदस्य विशेषज्ञ न होकर राज्यो के प्रतिनिधि होगे। इनका चुनाव परिषद करती है—केवल मादक पदार्थ सबधित आयोग के प्रतिनिधियो को, जो उ ही राष्ट्रो से आते हैं जो या तो उत्पादक हैं या निर्माता या जहा इन वस्तुओ का अवैध व्यापार होता है, सीधे सरकारा द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

इस परिषद के द्वारा एक उप आयोग भी गठित किया गया है जिसका काम है भेदभाव की रोकथाम करना। इसका नाम ही भेदभाव की रोकथाम एव अल्प सख्यक सुरक्षा सबधी आयोग है।

इन आयोगा पर एक दृष्टि डालने से यह पता चलता है कि ये आयोग तीन प्रकार के हैं (1) कुछ ऐसे है जिनका मुख्य काय समस्याओ का अध्ययन करना और परिषद के लिए प्राविधिक सूचनाए एकत्रित करना है यथा साख्यिकीय, जन-सख्या, तथा अन्तराष्ट्रीय वस्तु व्यापार आयोग, (2) कुछ ऐसे आयोग हैं जो सामाजिक समस्याओ के बार मे परामर्श देते हैं और सस्तुतिया उपस्थित करते हैं यथा मानव अधिकार और महिलाओ के स्तर सम्बधी आयोग,

(3) ऐसे आयोग हैं जिनका काम न केवल परामश देना है बल्कि, निरिक्षण करना भी है यथा मादक द्रव्य आयोग।

इन आयोगा म परिषद की तरह ही काय होता है अर्थात प्रतिवष अध्यक्ष, उपाध्यक्ष का चयन होता है और निर्णय साधारण बहुमत से लिए जाते हैं। कुछ आयोगो की बैठकें दो वप मे एक बार होती हैं यथा मानव अधिकार सहयोग, मादक आयोग इत्यादि।

जहा तक क्षेत्रीय आर्थिक आयोगो का सम्बन्ध है, यह ज्ञातव्य है कि यूरोपीय आर्थिक आयोग तथा एशिया और सुदूर पूव आयोग का निर्माण सन 1947 म हुआ था। लातिनी अमेरिकी आयोग सन् 1948 मे गठित किया गया था और अफ्रिका आयोग की स्थापना सन 1958 मे की गई थी। इन विभिन्न आर्थिक आयोगो की सदस्यता पर भी एक दृष्टि डालने पर कुछ मनोरजक तथ्य उभरते हैं यथा सदस्यता इस प्रकार है—

(1) यूरोपीय आर्थिक आयोग—यूरोप के राष्ट्रो के अलावा अमेरिका भी इसका सदस्य है,

(2) एशिया और सुदूर पूव मे यहा के सदस्यो के अलावा (अब चीन भी भी शामिल हो गया है) आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेंड, फ्रास, नीदरलेंड, सोवियत सघ, ब्रिटेन और अमेरिका भी सदस्य है।

(3) लातिनी अमेरिकी आयोग म अमेरिकी गोलार्द्ध के सदस्य राष्ट्रो के अलावा फास, ब्रिटेन और नीदरलेंड भी सदस्य हैं।

(4) इसी प्रकार अफ्रिकी आयोग मे अफ्रिकी सदस्यो के अलावा स्पेन, फ्रास व ब्रिटेन है। पुर्तगाल को 1963 मे परिषद द्वारा सदस्यता के अलग कर दिया था और इसी प्रकार जाति भेद की कुत्सित नीति क कारण दक्षिण अफ्रिका को भी जो इसवा सदस्य था निलबित कर दिया।

य आयोग भी अपने सहयोगी अगो, समितियों और सम्मेलनो के माध्यम से काम करते हैं।

परिषद ने इसके अलावा पाच स्थायी समितियों की स्थापना की है। ये इस प्रकार हैं—

(1) अराजकीय सगठन समिति यह समिति अराजकीय सगठनो क बारे मे सचिवालय द्वारा प्रस्तुत सूचनाओ पर विचार कर परिषद को अपनी सिफारिशें देती हैं। इसमे 7 सदस्य होते हैं।

(2) उद्योग विकास समिति इसम परिषद के सभी सदस्यो के अतिरिक्त 12 और सदस्य होते हैं। यह समिति अविकसित क्षेत्रो के औद्योगिक विकास का बढावा देने के बारे मे सलाह देती है। यह औद्योगिकरण की नई विधिया नये बाजार और वित्तीय वितरण क बारे मे गोष्ठिया सगठित करती हैं और सूचनाए एकत्रित करती हैं,

(3) गृह और आयोजन समिति—यह गृह निर्माण योजना तथा ऐसी अन्य सुविधाओ के विषय म अपना प्रतिवेदन सामाजिक आयोग के माध्यम स देती रहती हैं। इसकी स्थापना सन 1962 मे हुई थी और इसके 18 सदस्य हैं।

(4) वैज्ञानिक एव प्राविधिक परामर्श सम्बन्धी समिति इसका काम भी विकास के वैज्ञानिक एव प्राविधिक सूचनाओ को एकत्रित एव वितरित करना है। यह वैज्ञानिक एव प्राविधिक सस्थाओ के प्रयत्नो को बढावा देती है और उनके कार्यों को समर्थन करती है। अविकसित क्षेत्रो के विकास के लिए भी सहयोग प्रदान करने मे यह प्राथमिकता का ध्यान रखती है।

इस का गठन सन 1963 में किया गया था। इसम 18 सदस्य होते हैं जिन्हें महासचिव न केवल उनकी व्यक्तिगत योग्यताओ क आधार पर चयन करता है बल्कि, भौगोलिक वितरण की समानता का भी ध्यान रखता है,

(5) सम्मेलन के कायक्रम सम्बन्धी अतरिम समिति इसमे चार सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति परिषद का अध्यक्ष करता है। यह सम्मेलन के कार्यक्रम को निर्धारित करने के लिए महासचिव स सलाह मशविरा करती रहती है।

इन स्थायी समितिया क अलावा परिषद न अपने काम को ठीक स चलाने के लिए कुछ निकायो की भी स्थापना की है यथा अन्तर्राष्ट्रीय मादक द्रव्य निकाय जो 1965 म स्थापित हुआ। इसम 10 सदस्य होत हैं जिनम 3 अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सगठन क द्वारा नामाकित व्यक्तिया म से चुने जाते हैं और 8 सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्या व अन्य अभिकरणा के द्वारा। मादक द्रव्य औषधि आयोग इसका नीति निर्धारक अग है।

सयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय बाल कल्याण निधि इसकी स्थापना दिसम्बर 1946 को हुई। इसका उद्देश्य शिशु कल्याण के विविध कार्यों तथा बच्चो के स्वास्थ्य और शोषण के कायक्रमो को चलाना है। सन 1964 65 मे प्राविधिक माग निर्देशन कायक्रम के अन्तगत इसने स्कूलों को सहायता तथा औद्योगिक प्रशिक्षण का कायक्रम भी चलाया था।

सामान्य रूप स निधि के द्वारा साजोसामान और अन्य वस्तुआ के रूप मे सहायता दी जाती है। यह निधि अपने आर्थिक काप के अशदान तथा व्यक्तियो के व्यक्तिगत दान पर निभर करती है।

इस निधि का एक कायकारी निदेशक होता है। यह कायकारी निर्देशक एक 30 ससदीय कायकारी निकाय की सहायता से निधि का प्रशासन करता है। परिषद इस कायकारी निकाय के सदस्यो का चुनाव 3 वष के लिए करती है जिस मे वह अशदान दने वाल व्यक्तिया तथा सदस्य राष्ट्रा और उनका भौगोलिक प्रति निधित्व का ध्यान रखती है।

विस्थापित उच्चायुक्त कार्यालय — द्वितीय महायुद्ध के दौरान और उसके बाद जो अनेक स्थानों म विस्थापिता के रूप मे मानव समुद य प्रकट हुए उनकी खोज और पुनर्वास के लिए एक सयुक्त राष्ट्रीय विस्थापित उच्चायुक्त कार्यालय की स्थापना सन 1950 म की गई। इस कार्यालय के जिम्मे यह काम सौपा गया कि यह विस्थापितो की समस्या का कोई स्थायी हाल निकाले। एक 25 सदस्यीय कार्यकारी समिति के अधीन यह कार्यालय काम करता है जो जिनेवा स्थित उच्चायुक्त को उसके काय मे सहायता देती है। सन 1946 मे महासभा ने उच्चायुक्त का कायकाल 5 वष के लिए कर दिया है। इसका प्रशासकीय खर्चा तो सयुक्त राष्ट्र चलाता है पर अन्य कार्यों के लिए निजी ऐच्छिक दानो के सहारे काम चलाया जाता है। बागला देश के सिलसिले मे उच्चायुक्त प्रिस सदरुद्दीन भारत और बागला देश गय थे बाकी कोई खास सहायता विस्थापितो को नही मिली।

सयुक्त राष्ट्र सघ विकास कायक्रम 1965 मे परिषद ने महासभा की सस्तुति पर एक सयुक्त राष्ट्र सघीय विकास कायत्रम की भी स्थापना की थी। इस कार्यक्रम के अतगत प्राविधिक सहायता तथा 1958 मे सस्थापित विशेष निधि के कार्यक्रमा को एक म मिला दिया गया था। इसका एक अपना परामश दात्री निकाय है और एक 36 सदस्यो की शासकीय परिषद जिसमे 19 विकसित देशो के और 17 विकासशील देशो के प्रतिनिधि हैं। इस निकाय मे उन विशिष्ट अभिकरणो के प्रधान भी होते हैं जिनका इस कायक्रम म सम्बध है। सदस्य दो वष क लिए चुने जाते हैं और उसका नीति निर्देशन करते हैं और उनके लिए धन जुटाते हैं।

विशिष्ट अभिकरण आर्थिक एव सामाजिक परिषद का बहुत सारा महत्त्वपूण काय उसके द्वारा स्थापित विशिष्ट अभिकरणा के जरिए होता है। निम्नाकित विशिष्ट एजेंसियो का सयुक्त राष्ट्रसघ से समझौता हुआ है। ये अभिकरण उस प्रकार के सगठन हैं जिनकी स्थापना अत शासकीय अनुबधो के द्वारा हुई है। ये अनुबध महासभा आर्थिक एव सामाजिक परिषद एव सम्बध सस्थाओ के द्वारा अलग अलग स्वीकार किए जाते हैं। तथा आर्थिक एव सामाजिक परिषद इन कायकलापो और नीतियो का समन्वय करती रहती है। जैसा ऊपर बता चुके हैं ये अभिकरण सयुक्त राष्ट्रसघ की विस्तृत प्राविधिक सहायता योजना मे भाग लते हैं और परिषद की प्राविधिक सहायता परिषद मे इनको प्रतिनिधित्व मिला है। इन की सख्या 12 है

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन,
(2) अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति अभिकरण,
(3) विश्व डाक सघ,
(4) विश्व स्वास्थ्य सगठन,
(5) खाद्य एव कृषि सगठन,
(6) सयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान एव सास्कृतिक सगठन,
(7) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष,
(8) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
(9) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक,
(10) विश्व ऋतु विज्ञान सगठन
(11) अन्तर्राष्ट्रीय दूर सचार सघ,
(12) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन सगठन।

इसके अलावा एक अत शासकीय सामुद्रिक परामशदाता सगठन की स्थापना भी की गई है और जैसा बताया जा चुका है —एक मानव अधिकार सहयोग गृह से ही काम कर रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन सयुक्त राष्ट्र सघ से सम्बन्धित यह अभिकरण वस्तुत सयुक्त राष्ट्र सघ से कहीं अधिक पुराना सगठन है। इसकी स्थापना प्रथम विश्व युद्ध के बाद की गयी थी और इसे तब राष्ट्र सघ अर्थात 'लीग' ऑव् नेशन्स से जोड दिया गया। इस अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के सबध मे यह ज्ञातव्य है कि यह सगठन प्रथम महायुद्ध के पूव यूरोप के पूजीवादी देशो की सत्ताधारियो के द्वारा व समाजवादी एव श्रमिक आदोलना के बीच हुए निरन्तर भीषण अन्तद्वन्द्व को रोकने के लिए किये गये पूजीवादियो एव सशोधनवादियो के युद्ध पूव के प्रयासो की परिणिति इस रूप मे हुई। श्रमिको के निमम शोषण पर सुधारवाद का लेबिल चिपकाने के प्रयत्न श्रमिका की समस्याओ से सम्बन्धित सम्मेलना के रूप मे हुए यथा 1890 मे बर्लिन मे फिर 1906 मे बन मे सम्मेलन हुए। इसी प्रकार 1905 और 1913 मे प्राविधिक सम्मेलन ने भी कुछ समझौतो के प्रारूप तैयार किये। 1916 म लस्डस के श्रमिक सघो के प्रतिनिधियो का सम्मेलन हुआ। व 1917 मे एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ काग्रेस बन म बुलाई गई और। 1918 के एक अत मित्र राष्ट्रीय श्रम तथा समाजवादी सम्मेलन बुलाया गया जिसके ओर स सरकारो को अपील भेजी गई कि वे शाति सधियो मे एसी व्यवस्था करें जिससे श्रमिक वग को भी अपने सगठन बनाने तथा लोक कल्याण के काय जसे सामाजिक बीमा, उचित काम के घटे स्वास्थय रक्षा व अन्य ऐसे ही मजदूरो की दशा सुधारने वाले प्रयास किये जा सके। रूस मे हुई अपूर्व सोवियत क्राति ने जिसकी चिनगारियो यूरोप भर म फैल गई थी, इन श्रमिक सुधारको को ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को जल्दी स जल्दी स्थापित करने के लिए बाध्य किया ताकि, इस सुधारवादी मुखौटे को ओढकर वे सोवियत क्राति चिनगारियो से पूजीवाद के लडखडाते सगठन को नष्ट होने से रोक सकें तदनुसार पेरिस के शाति सम्मेलन म अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विधान पर एक आयोग बनाया जिसने दो माह के अन्दर इस श्रमिक सघ के सविधान को बना दिया जो वर्साय सधि के 13वें भाग के रूप मे सम्मिलत हो गया। फलस्वरूप मध की धारा 392 म यह प्रबध किया गया कि एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय राष्ट्र सघ के मुख्यालय पर राष्ट्र सघ के एक अग के रूप मे स्थापित किया जाय। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ से सम्बन्धित पर एक स्वायत्तता पूण अग के रूप मे स्थापित किया गया।

यह श्रम सघ 1921 से 1939 तक जेनेवा मे काय करता रहा। फिर यूरोप मे युद्ध की आशका के निरतर बढने पर सन 1940 मे इसका कार्यालय केनडा के मानट्रियल शहर मे भेज दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद सन 1944 मे फिलाल्डेफिया मे इसका एक सामान्य सम्मेलन बुलाया गया जिसमे इसके उद्देश्यो और सिद्धान्तो की घोषणा की गई जिसे फिलाल्डेफिया 'चाटर' भी कहते हैं।

सयुक्त राष्ट्र सम्मेलन म यह प्रस्ताव किया गया था कि 'चाटर'

श्रम सगठन को ऐसे अभिकरण के रूप म जगह दी जाय जो श्रमिको की आर्थिक और सामाजिक स्थिति का मुख्यत सुधारने क लिए उत्तरदायी सस्था है। सम्मेलन म इसके स्वायत्त रूप को बनाये रखने की सिफारिश की गई। परिवर्तित सविधान मे सगठन को सयुक्त राष्ट्र सघ से सबधित किया गया और इसके सम्बध म राज्यो के दायित्वो का विस्तार किया गया। इस प्रकार सिद्धान्त रूप मे यह अभिकरण प्राय उसी रूप म है जिस रूप मे वह 1919 मे स्थापित किया गया था। पर यह ज्ञातव्य है कि यह सयुक्त राष्ट्र सघ स जोडा जाने वाला पहला अभिकरण है। (14 दिसम्बर 1946) पहले की अपेक्षा व्यवहार म इसके कामधाम काफी बदल और बढ गये हैं।

इस अभिकरण के निम्नांकित सिद्धान्त बताये जाते हैं

1 श्रम कोई क्रय विक्रय की वस्तु नही है अर्थात यह सिद्धा त माना गया कि वस्तुओ का उत्पादन एक सामाजिक कृतित्व है,
2 अभाव और दरिद्रता सभी देशो की समृद्धि के लिए घातक है,
3 अत अभाव और दरिद्रता को सवत्र दूर करने के लिए सभी को कटिबद्ध होना चाहिए,
4 पर अतर्राष्ट्रीय स्तर पर उद्योगपतियों, श्रमिको व सरकारी प्रतिनिधियो के पारस्परिक सहयोग के आधार पर इसे लोकतान्त्रिक ढग स खुले विचार विनिमय के आधार पर तय करना चाहिए।

उद्देश्य इस संस्था के प्रमुख उद्देश्य निम्नांकित हैं

1 श्रमिको के लिए पूर्ण रोजगार की व्यवस्था और उनके जीवन-यापन के स्तर को ऊचा किया जाय,
2 श्रमिको को स्वेच्छापूवक एसे कामो मे लगाना जहा उनके श्रम का उचित उपयोग हो,
3 श्रमिको के प्रशिक्षण, स्थानान्तरण और सस्थापन की पूरी गारटी दिलवाना,
4 काम के घटे, मजदूरी और काम के सम्बध मे दूसरी शर्तों की समुचित व्यवस्था करना ताकि, उन्हें अपना उचित योगदान का अश प्राप्त हो सके। और न्यूनतम जीवनोपयोगी वतन मिल सके,
5 सामूहिक सौदबाजी के अधिकार को मान्यता मिल और उत्पादन की क्षमता को बढाने तथा सामाजिक और आर्थिक नीतियो में मालिको और मजदूरो का पारस्परिक सहयोग मिल सके,
6 प्रत्येक श्रमिक को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना तथा रोगी और घायल श्रमिको की चिकित्सा की व्यवस्था करना,
7 बाल विकास तथा शिशु और माता की सुरक्षा की व्यवस्था करना,
8 श्रमिको को पोषणदायी भोजन आवास, सास्कृतिक एव मनोरजन के साधनो

को उपलब्ध कराना,

9 सघ इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सरकार को तकनीकी सहायता देता है तथा श्रमिक समस्याओ के बारे मे पत्रिकाए निकाले, औद्योगिक एव मजदूरो की समस्याओ का अध्ययन कर और प्रतिवेदन प्रस्तुत करे।

सगठन अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सघ के तीन प्रमुख अग हैं

(1) अतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन,

(2) शासन निकाय तथा

(3) श्रम कायालय।

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन** यह सघ का सबसे शक्तिशाली अग है। इसका सगठन अपने ढग से होना है। इसम प्रत्येक सदस्य राष्ट्र 4 प्रतिनिधि भेजते हैं जिसम सरकारी की आर से दो प्रतिनिधि होते है राज्य के उद्योगपतियो और मालिको की ओर से एक प्रतिनिधि होता है और श्रमिक सगठनो की ओर से एक प्रतिनिधि। हमार दश के मजदूर प्रतिनिधियो मे राष्ट्रीय काग्रेस से सबधित सत्ताधारी दल की राष्ट्रीय मजदूर काग्रेस का एक प्रतिनिधि भेजा जाता है। प्रत्यक सदस्य के साथ दो परामशदाता भी भेजे जाते है। इस सम्मेलन का मुख्य काय ससमयो की स्थापना करना है (कनवनशन्स) और सस्तुतिया भेजना हैं।

(2) **शासन निकाय** यह एक कायकारी परिषद है जिसमे 48 सदस्य होते हैं। जिनम 24 राज्यो के प्रतिनिधि होते है, 12 उद्योगपतिया और मिल मालिको के तथा 12 श्रमिक सघा के प्रतिनिधि होते हैं। 24 सरकारी प्रतिनिधियो मे 12 ऐसे राज्यो के प्रतिनिधि स्थायी सदस्या के रूप मे होते हैं जो औद्योगिक महत्व के माने गये है। ये राज्य हैं अमेरिका, सोवियत सघ, ब्रिटेन, फ्रास, जमनी, जापान इटली, चीन और भारत। ये तीन वष क लिए चुने जाते हैं। (अस्थायी सदस्य)।

यह निकाय महानिदेशक की नियुक्ति करती है तथा अनेक समितिया व आयोगो तथा श्रम कार्यालय के कामा की देखभाल करती है तथा श्रम सम्मेलन के लिए काय सूची बनाती है तथा उसकी बैठकें बुलाती है। आय व्यय का ब्यौरा तैयार करती है तथा सदस्या का अशदान निधारित करती है, व समस्याओ के अध्ययनाथ समितिया इत्यादि गठित करती है।

(3) **श्रम कार्यालय** पहले का ही तरह श्रम सगठन का मुख्य कार्यालय जिनेवा मे है। इसकी शाखाए यूयाक, बेंगलूर, मध्य पूव स्ताम्बूल मैक्सिको, लीमा (पेरू) तथा यूरोप और एशिया के अन्य देशा के स्थित हैं। जैसा बता चुके हैं इसका प्रधान प्रशासक महानिदेशक होता है। वही इसके काय व्यापार के लिए जिम्मेदार होता है। वह काय सूची के विषयो से सम्बन्धित प्रतिवेदनो को सदस्यो को भेजता है। वह सस्तुतियो और ससमयो मे अध्यक्ष के साथ-साथ हस्ताक्षर करता है। वह शासन निकाय द्वारा नियुक्त समितियों एव आयोगो के प्रतिवेदनो

को शासन निकाय को भेजता रहता है। इस कार्यालय का काम श्रम सम्बन्धी समस्याओ के लिए सूचनाए इकट्ठा करना उन्हें वितरित करना और उन पर विचार करवा कर उन्हें समय निर्माण मे मदद करना है।

सदस्यता व कुछ महत्वपूर्ण समय कोई भी राज्य इस सघ का सदस्य हो सकता है। वे सारे राज्य जो एक नवम्बर 1945 को इसके सदस्य थे इसमें शामिल कर लिए गये। इसके अलावा 2/3 बहुमत से तथा 2/3 सरकारी के प्रतिनिधियो के बहुमता से कोई भी राज्य इसका सदस्य स्वीकार किया जा सकता है। इसमें यह जरूरी नही कि सयुक्त राष्ट्र सघ का सदस्य ही इसका सदस्य बन सके यथा सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता पाने के पहले ही पश्चिम जमनी को इसकी स्थायी सदस्यता प्राप्त थी। इसी प्रकार कोई भी सदस्य दो वष की नोटिस देकर इससे अलग हो सकता है। 1964 मे सम्मेलन ने यह सशोधन स्वीकार किया कि कोई भी ऐसा सदस्य राष्ट्र जो जाति भेद की नीति अपनाये, इसकी सदस्यता से निलबित या निष्कासित किया जा सकता है। इस पर दक्षिण अफ्रीका ने सदस्यता छोडनी चाही परन्तु महानिदेशक ने इस दो वर्ष वाली शत के आधार पर उसे अलग नही किया। सन् 1961 मे श्रमिको की समस्याओ का अध्ययन करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थान की स्थापना की गई है तथा माच 1963 में श्रमिको को विशेष प्राविधिक और औद्योगिक प्रशिक्षण देने के लिए एक केंद्र की स्थापना की गयी। बहुत से ऐस क्षेत्रीय परामशदात्री 'मिशन' स्थापित किये गये है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सहिता सम्बन्धी लगभग 150 समयो अर्थात कनवन शनस अपनाये जा चुके हैं। और लगभग इतनी ही सस्तुतिया (रिकमेन्डेशनस) श्रम सम्मेलनों ने भेज रखी हैं। इन सभी को लगभग 1500 सतुष्टिया प्राप्त हो चुकी हैं। अब तक अपनाये गये कुछ महत्वपूर्ण 'कनवेन्शन्स' इस प्रकार रहे हैं

(1) 1919 उद्योगो के कार्यो के घटे सम्बन्धी रात्रि मे महिलाओ से काम न लेने के बारे मे तथा युवको से भी ऐसा काय न लेने के बारे मे,

(2) 1921 सामूहिक व्यापार मे लगे युवको की डॉक्टरी जाच के बारे मे,

(3) 1927 बेगार सम्बन्धी, 1917 उद्योगो में बीमारी बीमा नियोजन

(4) 1933 वृद्धावस्था पेन्शन,

(5) 1934 बेरोजगारी सम्बन्धी,

(6) 1946 समुद्री व्यापार मे लगे श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा योजना,

(7) 1949 श्रम निरिक्षण योजना सेवा सविदा समिति,

(8) 1948 सगठन निर्माण की स्वतन्त्रता और सगठन आयोजित करने सुरक्षा,

(9) 1949 सावजनिक सविदा मे श्रम सम्बन्धी प्रावधानो को स्थान देना,

(10) 1952 बेगार सम्बन्धी 'कनवेन्शन'।

इसी प्रकार सम्मेलन ने सौ से भी अधिक संस्तुतियां स्वीकार की हैं जो सेवा दुर्घटना, मालिकों द्वारा सेवाओं से हटाये जाने का प्रावधान, औद्योगिक दुर्घटनाओं को रोकना एवं श्रम निरीक्षण आदि प्रावधान सम्बन्धी हैं।

ये संस्तुतियां 2/3 बहुमत से स्वीकृत होती हैं। इसके बाद सम्मेलन के अध्यक्ष तथा महानिदेशक उस पर हस्ताक्षर करते हैं फिर ये सदस्य राष्ट्रों को उनकी संवैधानिक प्रक्रिया द्वारा संतुष्ट होने के लिए भेज दिये जाते हैं। संपुष्ट हो जाने पर राज्यों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उनको कार्यान्वित करें। धारा 26 के अन्तर्गत किसी समसमय को संपुष्ट करने वाला राष्ट्र यदि उसका पालन संतोषजनक रूप से नहीं करता है तो इस संगठन के किसी भी सदस्य को यह अधिकार है कि वह इसकी शिकायत श्रम कार्यालय को भेजे जहां शासन निकाय कार्यवाही करता है और आवश्यकता पड़ती है तो जांच के लिए आयोग को भेज सकता है। यथा सन 1962 में घाना ने पुर्तगाल के विरुद्ध शिकायत की थी कि वह बेगार को समाप्त करने वाले सनसमय का पालन नहीं कर रहा था। दूसरे में पुर्तगाल ने ऐसी ही शिकायत लीबिया के बारे में धारा 24 के अन्तर्गत उद्योगपति या श्रमिक के संगठन शासन निकाय को सरकार के विरुद्ध शिकायत के रूप में भेज सकते हैं कि वे संपुष्ट किये जाने के बाद भी समसमयों का पालन नहीं कर रहे हैं।

इस प्रावधान का भी सात बार उपयोग किया गया है। श्रम संगठन की एक समिति है जो प्रतिवेदनों पर विचार करती है और अपना मत साधारण सम्मेलन को भेजती है और जो सदस्य राष्ट्रों से संस्तुतियां व समसमयों पर कार्यवाही न करने के लिए स्पष्टीकरण मांग सकती है। सन 1964 में समिति ने 63 राज्यों से इस प्रकार का स्पष्टीकरण मांगा था जबकि एक वर्ष पूर्व ऐसे 73 मामले उनके सामने आए। अब तक लगभग 300 शिकायतें सुनी जा चुकी हैं। इस प्रकार श्रम संगठन भरसक संघ के सदस्यों की दिशा में की जा रही उपेक्षा, गैरजिम्मेदारी व दुर्व्यवहार को रोकने या कम करने के प्रयत्न में लगा ही रहता है।

सारांश यह है कि पूंजीवादी दायरे के अन्दर प्रारम्भिक वर्षों में पुराने साम्राज्यवादियों व तथाकथित लोकतन्त्रवादियों के नेतृत्व में यह संस्था श्रमिकों की दशा सुधारने में यत्किंचित योगदान करती रही। जब से एशिया अफ्रिका के नवोदित राष्ट्र इस के सदस्य बने हैं तब से इसकी गति में कुछ तेजी आ गई और आजकल की परिस्थियों में सोवियत संघ तथा उस के समर्थक राष्ट्रों की ओर से होने वाला विरोध और उपेक्षा बहुत कुछ कम हो गई है। जैसे राष्ट्रीय सीमा के अन्दर वैसे ही इस अखाड़े में भी पूंजीपति वर्ग व संशोधनवादी मजदूर नेतृत्व एक समझौतावादी नीति अपना कर इसका महत्व बढ़ाते रहे हैं।

इस सस्था का मुख्य उद्देश्य अणु शक्ति के शाति पूर्ण कार्यों के लिए उपयोग को बढावा देना है, उस की खोज करना है तथा इसका समस्त ससार की शाति, स्वास्थ्य एव समृद्धि के लिए विस्तृत प्रयोग करना है। इस सस्था के दो अग हैं ?

(1) साधारण सभा,

(2) इसका अधिशासी निकाय।

सगठन इसके तीन प्रमुख अग हैं—

(1) विश्व डाक परिषद या सघ,

(2) कायकारिणी या सम्पर्क समिति,

(3) अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो।

कायकारिणी एव सम्मक समिति म 20 सदस्य होते हैं जो विश्व डाक परिषद द्वारा निर्वाचित किये जाते थे। फरवरी 1964 को इस की सदस्य सख्या 27 कर दी गई।

अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो इस प्रकार प्रधान महानिदेशिक होता है तथा वह स्वय सरकार की दखरेख मे काम करता है। व डाक सनसमयो के अन्तगत विवादा के सुलझाने मे मध्यस्थता करता है। 1964 मे इस सघ की सदस्य सख्या 126 थी।

विश्व स्वास्थ्य सगठन राष्ट्रसघ के कायकाल मे रोगा विशेष कर महामारियो व छुआछूत के रोगो की रोकथाम के नियन्त्रण के लिए एक राष्ट्रीसघीय स्वास्थ्य सस्थान की स्थापना हुई थी। इसी क्रम को द्वितीय महायुद्ध के बाद सान फ्रांसिसको सम्मेलन म सुविस्तृत और सुसगठित करने का विचार किया गया और फलस्वरूप एक विश्व स्वास्थ्य सगठन की स्थापना की गई। सामाजिक और आर्थिक परिषद ने एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्मेलन बुलाकर (जिस मे 61 सदस्यो ने भाग लिया) इस सगठन के सविधान इसकी स्थापना कर दी गयी और 10 जुलाई, 1948 का निर्माण किया और 7 अप्रैल, 1948 को इस सयुक्त राष्ट्रसघ से जोड दिया गया।

सगठन इस सस्था का काय तीन अगो की सहायता स चलाया जाता है—

1 विश्व स्वास्थ्य सम्मेलन,

2 सम्मेलन द्वारा चुने गये 18 व्यक्तियो का एक कायकारी निकाय, तथा

3 सचिवालय।

इस सगठन के अन्तगत अमेरिका, अफ्रीका, दक्षिण पूर्वी एशिया, पूर्वी भूमध्य सागर एव पश्चिमी प्रशात महासागर के क्षेत्रो के लिए अलग अलग प्रादेशिक सगठन भी बनाय गये हैं। इसका मुख्य कार्यालय जिनेवा मे है जिसका प्रमुख महानिर्देशक होता है।

विश्व स्वास्थ्य सगठन का उद्देश्य दुनिया को और मानव मात्र का शारीरिक, मानसिक और सामाजिक दृष्टि से स्वास्थ्य उपलब्ध करना है और व्याधियो से

मुक्त रखना है। इस उद्देश्य से, सस्था निम्नाकित काय करती है—

(1) स्वास्थ्य के क्षेत्र मे अ य सगठनो राज्यो के स्वास्थ्य सगठनो तथा चिकित्सक सघो से सहयोग प्राप्त करना।

(2) महामारियो व बीमारियो के उन्मूलन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास को सगठित करना

(3) स्थानीय वातावरण के अनुकुल स्वास्थ्य, भोजन, आवास एव स्वच्छता की दशाओ को बढावा देना,

(4) शिशुओ एव माताओ के स्वास्थ्य तथा कल्याण कार्यो को प्रोत्साहित करना,

(५) इस सस्था स्वास्थ्य सम्बन्धी अनुस धान को दुनिया के अनेक भागो मे अनुसधान शालाओ को स्थापित कर बढायी है और इस म कसर और हृदय रोग पर विशेष बल दिया जा रहा है,

(6) खाद्य पदार्थो तथा औषधिया के सम्ब ध मे एक अन्तराष्ट्रीय मानक निर्धारित करने मे प्रयत्नशील है।

(7) इसी प्रकार चिकित्सा सम्ब धी मानदण्ड स्थापित करने मे प्रयत्नशील है,

(8) मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र मे भी योगदान कर रही है,

(9) सदस्यो के अनुरोध पर उन्हें स्वाथ्य सम्बन्धी प्राविधिक सहायता एव परामश उपलब्ध कराने का प्रयत्न करती है।

प्रतिवप इसका एक बार नियमित अधिवेशन होता है। 6 क्षेत्रीय कार्यालयो म एक नई दिल्ली मे स्थिति है। (दक्षिण पूव एशिया का)।

विश्व स्वास्थ सगठन को यद्यपि बडे और समथ देशा का हार्दिक सहयोग नही मिला है तथापि इसने विकासशील देशो के हित मे कुछ उल्लेखनीय काय किये हैं यथा छुआछूत स फैलने वाली बीमारिया और महामारियो की रोकथाम मे इसका योगदान महत्वपूण रहा है यथा मलेरिया उन्मूलन के अन्तगत इसने भारत, श्रीलका, इजरायल, जाडन, लेबनान, सीरिया 'यूनान इत्यादि 40 देशो मे काय किया है और अनेक जगहा मे इस उल्लेखनीय सफलता मिली है। इसी प्रकार इन्फुलजा के लिए लदन, एटलाटा, जार्जिया मे इस सगठन क द्वारा केन्द्र अच्छा काम कर रहे हैं। क्षय या टी बी रोग के निवारण के लिए इस सगठन ने अनक देशो की बडी सहायता की है। अकेले भारत म ही 55 क्षय निरोधक दलो को प्रशिक्षण देकर तथा इसकी सहायता से भारत के राष्ट्रीय क्षय सस्थान से लगभग 600 डाक्टर प्रशिक्षण पा चुके हैं। 'ट्रकोमा' के लिए टीके के अनुसधान तथा अन्य औषधियो के अनुसधान मे यह सगठन पर्याप्त रुचि लेता है और काय करता है। सन 1964 मे इसक 118 सदस्य थे (सोवियत सघ, बुलगारिया, रूमानिया और हगरी इसके

सहायक सदस्य के रूप मे ही बने रहे)।

खाद्य और कृषि सगठन

'एटलाटिक' घोषणा पत्र म प्रकट होता है। वस्तुत खाद्य और कृषि सगठन की स्थापना का बीजाकु प्रक्रिया वहा स शुरू होती है। जब आस्ट्रेलिया के प्रतिनिधि ने इस तरह क एक खाद्य और कृषि क्षेत्र म प्राविधिक आयोग की स्थापना का सुझाव अक्तूबर 1942 मे ब्रिटेन, अमेरिका व केनडा को दिया। रूजवेल्ट क द्वारा इस सुझाव म काफी रुचि ली गई। और स्वय ने एक दीघकालीन योजना प्रस्तुत की। तन्नुसार मई 1943 म खाद्य और कृषि पर एक सम्मलन अमेरिका म हुआ और इस सम्मेलन ने ऐसे एक सगठन के विधान के निर्माण के लिए एक आयोग की स्थापना की सिफारिश की जो जुलाई मे बना। उसके आधार पर इस सगठन का निर्माण 16 अक्तूबर, 1945 को हुआ। यह सस्थान राष्ट्रसघ क एक विशिष्ट अभिकरण के रूप मे 14 दिसम्बर, 1943 को जोड दिया गया।

सगठन खाद्य और कृषि सगठन क तीन प्रमुख अग हैं—

(1) सभा अथवा सम्मेलन

(2) परिषद

(3) सचिवालय।

उद्देश्य इस सगठन के निम्नाकित उद्देश्य बताये गये हैं

(1) खाद्यान्नो वनस्पति वन सम्पत्ति तथा मछलियो के उत्पादन म अभिवद्धि करना और इनके क्रय विक्रय का प्रबन्ध करना।

(2) जीवन यापन एव आहार के स्तर को बढाने तथा उसके सम्बन्ध मे वैज्ञानिक प्राविधिक सामाजिक एव आर्थिक पहलुओ पर शोध करना।

(3) अपने कायक्षेत्र मे प्रशिक्षण देना।

(4) प्राकृतिक साधनो का सरक्षण करना।

(5) भूमि धारण व्यवस्था की विभिन्न पद्धतियो का सुधार करना एव कृषि के लिए साख की व्यवस्था करना।

(6) वितरण की उचित व्यवस्था म सहायता करना।

कार्य

इस सगठन के निम्न काय हैं

(1) भूमि तथा जल के स्रोतो के विकास मे सहायता प्रदान करना।

(2) उत्पादक वस्तुओ के लिए सुदृढ अन्तर्राष्ट्रीय बाजार बनाने के लिए प्रोत्साहित करना।

(3) खाद्य एव कृषि सम्बन्धी आवश्यक सूचनायें एकत्रित करना एव उन्हे प्रकाशित करना।

(4) प्रतिवष विश्व खाद्यान्नो का सर्वेक्षण करना।

(5) कृषि सम्बन्धी समस्याओ पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलना को आयोजित करना।

(6) खाद्य एव कृषि की प्रत्येक समस्या पर देशा को प्राविधिक सहायता एव परामश देना।

(7) अल्पविकसित दशा की राष्ट्रीय विकास योजनाओ मे सहायता देने के लिए विशेषज्ञ भेजना।

(8) भूमि रक्षा, पशुओ की बीमारी पर नियत्रण एव मछली पालन आदि समस्याओ का विशेष अध्ययन करना।

(9) सदस्य राष्ट्रो या अन्य राष्ट्रो के अनुरोध पर प्राविधिक सहायता प्रदान करना।

(10) नये ढग के पौधो को एक देश स दूसरे देश मे भेजने को प्रोत्साहित करना।

(11) उपयुक्त पद्धतिया का समस्त ससार मे प्रचार करना।

सयुक्त राष्ट्रीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक एव सास्कृतिक सगठन (यूनेस्को)

यह सगठन सयुक्त राष्ट्र का सर्वाधिक उपयोगी और लोकप्रिय सगठन बन गया है। इस सगठन के क्रिया कलाप दुनिया के प्राय सभी देशो के सास्कृतिक, वज्ञानिक, एव शिक्षा सम्बन्धी काय क्रमो मे योगदान दते आ रह हैं। इस सगठन की स्थापना 4 नवम्बर 1946 को लदन मे हुए नवम्बर 1945 के सम्मेलन द्वारा प्रस्तुत किये विधान के अनुसार की गई और इसे 14 दिसम्बर 1946 को सयुक्त राष्ट्रसघ के साथ जोड दिया गया। शुरू शुरू मे इसके लगभग 20 सदस्य थे लेकिन आज यह सर्वाधिक लोकप्रिय सस्था सिद्ध हुई है और इसकी सदस्य सख्या 130 से भी अधिक पहुच गयी है।

उद्देश्य सयुक्त राष्ट्रसघ के 'चाटर' मे इस बात का उल्लेख किया गया है कि जाति, लिंग, भाषा या धम के भेदभाव के बिना दुनिया के सभी लोगो को मानव अधिकार एव मौलिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। इसके सविधान मे तदनुसार इस सस्था का उद्देश्य शिक्षा, विज्ञान, एव सस्कृति के माध्यम से न्याय, कानून के शासन, मौलिक अधिकार एक स्वतन्त्रताओ के प्रति सभी लागो मे जाति, धम और लिंग के भेद भाव के बिना आदर की भावना उपजाना है। इसके सविधान की प्रस्तावना मे कहा गया है कि 'युद्ध मनुष्य के मस्तिष्क मे जनम लेता है। इसलिए शाति को सुरक्षित रखने की आधार शिलाए भी मनुष्य के मस्तिष्क मे बनाई जानी चाहिए।" अत यह सस्था इसी उद्देश्य को लेकर अपने अस्तित्व को न्याय-सगत ठहराती है। यह सस्था शिक्षा, विज्ञान, सस्कृति के क्षेत्र म राष्ट्रो के

बीच मेल जोल बढाने इस प्रकार शांति और सुरक्षा की स्थायी नीव डालने का प्रयत्न करती है।

सगठन यह तीन अगो वाली सस्था है जो क्रमश

(1) साधारण सभा या सामान्य सम्मेलन,

(2) प्रशासन निकाय या कार्यकारणी तथा

(3) सचिवालय।

सामान्य सभा या सम्मेलन म प्रत्येक राष्ट्र का एक प्रतिनिधि रहता है। इसकी बैठक साल म एक बार होती है। यह सघ की नीति निश्चित करती है, उसका बजट स्वीकार करती है तथा प्रशासन निकाय का निर्वाचन करती है। प्रशासन निकाय म सम्मेलन के द्वारा चुने गये 24 सदस्य होते हैं और इस चुनाव मे इस बात का ध्यान रखा जाता है कि ऐसे ही व्यक्ति चुने जाए जो शिक्षा, समाज सना विज्ञान एव कला मे निपुण हो और उन्हे इस क्षेत्र मे सवाओ का अनुभव हो और दक्षता प्राप्त हो ताकि वे यूनेस्को' के कामो का ठीक से कर सके इसके साथ ही विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रो और सास्कृतिक क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व भी हो। प्रधान को छोडकर किसी राष्ट्र के दो सदस्य निकाय मे नही रखे जा सकते। निकाय यूनस्को के कायक्रम को लागू करती है और वर्ष म इसकी दो बार बैठकें होती है। इसका एक सचिवालय है जो पेरिस म स्थित है और जिसकी अध्यक्षता एक महासचिव करता है।

कायक्रम यह सस्था अपने समूचे काय क्रम को छ भागो म बाट कर चलाती है। वे छै प्रकार के काय इस प्रकार हैं

(1) शिक्षा (2) प्राकृतिक विज्ञान (3) सामाजिक विज्ञान (4) सास्कृतिक काय (5) सामूहिक शिक्षा एव प्रचार के साधन (6) प्राविधिक सहायता।

शिक्षा शिक्षा के क्षेत्र मे 'यू०एन०ओ० ने अपना उद्देश्य शिक्षा का प्रसार उसका उन्नयन और विश्व समाज के निर्माण व विश्व नागरिकता को बढाने वाली शिक्षा। इसम यूनेस्को' ने साक्षरता और प्रौढ शिक्षा पर बल दिया है। अनक कार्यक्रम अपनाये गये हैं यथा 1964 म 8 चुने हुए दशो म शिक्षा-प्रचार के लिए 'पाइलट प्रॉजिक्ट' तैयार किये गये तथा दो क्षेत्रीय सम्मेलन किये गय(एक आबिद जन, दूसरा काहिरा मे) प्रौढ शिक्षा के क्षेत्र मे सेनेगल म ऐसा ही पाइलट प्रोजेक्ट चलाया गया। अफ्रिका मे माध्यमिक शिक्षको के प्रशिक्षण के लिए एक सस्था स्थापित की गई तथा एक शोध केन्द्र अकारा मे खोला गया। पाठय पुस्तको के बारे म केमरून म एक केन्द्र स्थापित किया गया तथा सूडान म विद्यालय भवन का निर्माण केन्द्र खोला गया। इसी प्रकार 66 विशेषज्ञो का एक दल कागो भेजा गया। शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्रीय कार्यालयो की स्थापना बैंकाक तथा फिलीपाइस मे खोला गया जिसका प्रधान कार्यालय दिल्ली मे है। यह स्मरणीय है कि सामू

हिक शिक्षा तथा अनिवाय नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था पर 'यूनेस्को' ने वडा बल दिया और अपना मुग्य उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र म उन सारी प्रवत्तियो से लडना और उन्हें दूर करना निश्चित किया है जो युद्धो को भडकाती हैं या पनपाती हैं यथा जातीय द्वेष और साम्प्रदायिक विष वमन। लेकिन यह ज्ञातव्य है कि युद्धो का मूल कारण साम्राज्यवाद और पूजीवाद का शोषण इसके सौम्य जकड से बाहर की बात है।

प्राकृतिक एव सामाजिक विज्ञान इस क्षेत्र मे भी 'यूनेस्को' ने उल्लेखनीय काय किया और मुख्यत अपना ध्यान विकासशील देशा की समस्याओ पर लगाया है यथा सन 1963 मे विकासशील दशो के विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान के उपयोग के लिए जिनेवा म एक सम्मेलन सगठित किया गया और दो विभागो की स्थापना की गई। इसी प्रकार लागोस मे एक बैठक म यह योजना बनाई गई कि 15 वर्षों मे वैज्ञानिको की सख्या अफ्रिका मे 15 गुनी की जाय। इसी प्रकार पेरिस की एक बैठक म ज्वाला मुखी एव भूकम्प आभयत्रण सम्बन्धी योजना बनाई तथा विश्व के ज्वालामुखी क्षेत्रा का नक्शा बनाने प्रतिस्थापित शोधशालाओ को और सबल बनाने एव भूकम्पीय क्षेत्र मे ऐसे भवन-निर्माण करने जिन पर उनका असर न हो। इस सम्बन्ध के शोध की योजना स्वीकार की।

सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र म 18 राष्ट्रा क विशेषज्ञो का एक सम्मेलन मास्को म जातिवाद के प्रकार तथा जाति भेदा पर शरीर विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करने क लिए सगठित किया गया (सन् 1964 म) इसी प्रकार यह सस्था विचार गोष्ठिया को आयाजित करती है और साहित्य प्रकाशित करती है। और एक अन्तर्राष्ट्रीय स्मारक परिषद का सन 1964 मे गठन किया जिसका उद्देश्य सास्कृतिक सम्पत्ति की रक्षा करना है यह सस्था एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज, विज्ञान बुलेटिन निकालती है।

सास्कृतिक एव सामूहिक शिक्षा व प्राविधिक सहायता के क्षेत्र मे ही इसने सराहनीय काय किया है। सामान्य सचार के साधनो क विकास और इनकी स्थापना के लिए प्रशिक्षण फेलोशिप तथा क्षेत्रीय गोष्ठिया आयोजित कर सहायता देकर अनक देशो मे रेडियो, टेलिविजन, प्रेस सर्विस, समाचार-पत्र सवा तथा सूचना सवाआ आदि की स्थापना मे यह सहायता देती रहती है और इस सम्बन्ध की गोष्ठिया आयोजित करती रहती हैं यथा रेडियो पत्रिकारिता की गोष्ठी सन 1964 म फ्रास मे की गई तथा 10 सप्ताह का प्रशिक्षण केन्द्र खोला गया जिसमे 12 देशो के 84 विद्यार्थियो ने भाग लिया।

इस प्रकार यह सगठन शिक्षा विज्ञान व सास्कृतिक क्षेत्रा म अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व सहायता के काय क्रमा को कार्यान्वित कर महत्वपूर्ण योगदान करता है। लेकिन यह ज्ञातव्य है कि 'यूनस्को की गतिविधिया विकासशील देशो को भी

प्रभावित करने वाली गतिविधियां हैं और चाहे वह तकनीकी सहायता हो व अन्य सांस्कृतिक व सामाजिक कार्यक्रम सर्वत्र ही विकसित और विकासशील देशों के बीच दाता और मंगता का सम्बन्ध है।

आर्थिक क्षेत्र के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वितीय महायुद्ध के दौरान पूंजीवाद व साम्राज्यवाद के सगठक नेता अमेरिका ब्रिटेन को राजनीतिक नेतृत्व अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था व सम्बन्धों को अपने अनुकूल बनाये रखने के लिए सर्वाधिक रूप से चिंतित था। उन्हें अपनी दृष्टि से सुरक्षा और शांति की समस्या का सबसे महत्वपूर्ण रूप दुनिया की पूंजीवादी व्यवस्था और उपनिवेशवादी व्यवस्था को अपने अधीन रखना ही था क्योंकि वे सोवियत संघ के साथ युद्ध में सहयोग कर रहे थे इसलिए वे युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय गठन में सोवियत संघ के सहयोग की अपेक्षा रखते थे। फलस्वरूप वे ऐसे आर्थिक ढांचे बनाने के लिए प्रयत्नशील रहे जो यथार्थ में उनकी पूंजीवादी व साम्राज्यवादी व्यवस्था को यथावत बनाये रख कर भी अपने स्वरूप में लोक-कल्याणकारी लगे तदनुसार 3 4 ऐसे अभिकरण अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के रूप में बनाये गये और वे संयुक्त राष्ट्रसंघ से जोड़ दिये गये। ऐसे संगठनों में प्रमुख निम्नांकित हैं

(1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
(2) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संगठन,
(3) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम,
(4) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इस कोष की स्थापना 27 सितम्बर, 1945 (दिसम्बर ?) की गई व इसे 15 नवम्बर 1047 को संयुक्त राष्ट्रसंघ से जोड़ दिया गया।

इस मुद्रा कोष की स्थापना की प्रक्रिया का प्रारम्भ तब से हुआ जब अमेरिकी गणतन्त्रों के विदेश मन्त्रियों ने जनवरी सन 1942 में रिओदीजनेरो में अपने एक सम्मेलन में यह प्रस्ताव पास किया कि एक मुद्रा स्थिरता कोष बनाया जाय ताकि मुद्रा सम्बन्धी संकट का सामना किया जाय। उसी वर्ष अगस्त में ब्रिटेन ने एक अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ की स्थापना के प्रस्थापना के प्रस्ताव का प्रारूप अमेरिका को भेजा और इस प्रकार इन प्रकार इन दोनों पूंजीवाद के नेताओं के बीच पारस्परिक विचार विमर्श हुआ साथ ही इन्होंने सोवियत संघ, कैनडा, चीन तथा अन्य सरकारों से विचारों का आदान प्रदान किया। अगले वर्ष वाशिंगटन में एक बैठक बुलाई गई पर ब्रिटेन और अमेरिका आपस में सहमत न हो पाये फिर अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवल्ट ने ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर राष्ट्रों की एक सम्मेलन बुलाया जिसकी बैठक जुलाई 1 1944 से 22 जुलाई, 1944 तक चली जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना का संकल्प किया गया जो ब्रिटेन और

अमेरिका के प्रस्तावो के मेल का परिणाम था। यह निश्चय किया गया कि कोष को 80 प्रतिशत साधन दने वाले राष्ट के द्वारा सपुष्ट किये जाने पर इसकी स्थापना की जाय। 27 सितम्बर, 1945 को 29 राष्ट्रा ने ऐसी सपुष्टि कर दी। इस प्रकार कोष क 80 प्रतिशत भाग के जमा हा जाने के बाद इसकी स्थापना हो गई और इस सयुक्त राष्ट्रसघ से जोड दिया गया। जून 1966 को इस कोष की सम्पत्ति 3585 लाख डॉलर (स्वण मे), 866 लाख डॉलर (च द मे) तथा 19960 लाख डॉलर राष्ट्रीय मुद्रा मे थी।

उद्देश्य इस मुद्रा कोष के निम्नाकित उद्देश्य बताय जाते ह

(1) अन्तराष्ट्रीय मुद्रा सम्ब धी सवाला पर सलाह दना व सहयोग बढाना,

(2) स्वतत्र विश्व व्यापार के सतुलित एव विस्तत विकास की सुविधाओ को सगठित करना,

(3) अ तर्राष्टीय भुगतान म जो कृत्रिम रुकावटें आ जाती हैं, उनको हटान और नियोजित विनिमय को बढाने तथा विनिमय सम्ब धी प्रतियोगिता का रोकना।

(4) सदस्यो को विदेशी मुद्रा के आदान प्रदान म सहायता करना तथा आर्थिक विकास क लिए व जीवन स्तर को उठाने क लिए किए जाने वाले आर्थिक प्रयत्नो मे मदद करना।

(5) यह कोष सदस्या की विदेशी मुद्रा की देय शक्ति को बढाने के लिए सहायता दता है।

इस प्रकार यह कोप विदशी मुद्रा के विनिमय सम्ब धी सवालो पर विचार करने और ब्रिटेन अमेरिका के नेतत्व मे उनका समाधान खोजने का एक मच है। इसक सभी सदस्य यह स्वीकार कर चलते हैं कि वे अपनी मुद्रा का विनिमय मूल्य कोष के द्वारा सहमति प्राप्त कर चलेंगे और उसे बनाये रखेंगे। तथा 10 प्रतिशत मूल्य मे अधिक का परिवतन करने पर कोप स पूछेंगे। सदस्यगण [illegible] अपने स्वण तथा विदेशी मुद्रा अ तर्राष्ट्रीय व्यापार, विनियाग [illegible], राष्ट्रीय आय तथा मूल्यो इत्यादि के सबध म सूचनाए दत रहत हैं। [illegible] व समस्या के समाधान म बडो को आसानी रहे। कोष [illegible] मुद्रा के रूप मे दी जाती है और सदस्य राष्ट्र जितनी [illegible] वाना चाह वह उतने ही मूल्य की अपनी मुद्रा [illegible] आशा की जाती है कि 3 साल या अधिक मे [illegible] को स्वय या पुन डॉलर या कोप की [illegible] कर लेंग। इस धनराशि पर कुछ [illegible] व जितने समय के लिए ली जाय [illegible]

जाता है कि इस कोष स निकाली गई मुद्रा का प्रयोग सैनिक खच के लिए या आर्थिक विकास के लिए न होकर भुगतान की कठिनाइयां को दूर करना होगा। पर विकासशील देशा को कभी कभी यह छूट दी जाती है कि वे अपनी अस्थायी भुगतान की कठिनाइया के कारण इसका प्रयोग आर्थिक विकास के लिए भी कर सकते हैं। इस प्रकार सक्षेप म कोष के कायक्रम निम्नाकित है

(1) विदेशी मुद्रा एव स्वण को व्यापार के लिए सदस्या को वेचना,

(2) विदेशी विनिमय की बाधाओ को दूर करन वाले वित्तीय एव कोष सम्बधी उपाय बतलाना,

(3) मुद्रा सम्बधी समस्याओ के बारे मे सलाह दना,

(4) मुद्रा स्फीति को रोकने के प्रयत्न मे मदद करना,

(5) आर्थिक समस्या के समाधान के लिए विशेषज्ञो का प्रबध करना,

(6) विश्व की वित्तीय स्थिति के बार मे (पूजीवादी विश्व की) सदस्यो को सूचना देते रहना एव

(7) प्राविधिक सहायता का प्रबध करना।

कोष का प्रत्येक सदस्य अपना चदा जो निर्धारित कर दिया जाता है और जिस वह अशत स्वण व अशत मुद्रा मे देता है निश्चित किया जाता है और इसी धनराशि के आधार पर उसके मतदान की शक्ति व विदशी विनिमय की रकम जो वह निकाल सकता है तय की जाती है।

सगठन इस मुद्रा कोष के सगठन क तीन अग इस प्रकार हैं

(1) अधिशासी मडल या बोड ऑव गवनरस',

(2) अधिशासी निदेशक

(3) प्रब धकारी निदशक व,

(4) सचिवालय।

अधिशासी मडल कोप को सर्वोच्च अधिकारी है। इसमे प्रत्येक सदस्य के द्वारा नियुक्त एक अधिशासी व एक वैकल्पिक अधिशासी होता है। इसे ही काप के समस्त अधिकार प्राप्त है। निम्नाकित विपयो म केवल अधिशासी मडल ही अधिकार का प्रयोग करता है बाकी वह अधिशासी निर्देशको को सौप सकता है।

(1) सदस्यो क प्रवश या उन्हे अलग करना,

(2) कोष की आय के वितरण करने,

(3) सदस्यो की मुद्रा के मूल्य म एक समान परिवतन एव नियति राशि को स्वीकृति देना,

(4) कोप को समाप्त करने का निणय,

अधिशासी निर्देशको की कुल सख्या 20 है जिसमे पाच सदस्य अमेरिका, ब्रिटेन, जमनी फ्रास और भारतवष हैं। जिनका कोषदान सबसे अधिक है। शेष

15 अधिशासियो का चुनाव सदस्यो द्वारा किया जाता है। इसका एक प्रबन्ध निर्देशक है व उसकी सहायता के लिए उप प्रबन्ध निर्देशक है। अधिशासी निर्देशको की बैठक जिसमे प्रबन्ध निर्देशक या उप प्रब ध निर्देशक सभापति का आसन ग्रहण करते है अधिशासी मण्डल कहलाता है। अधिशासी निर्देशका की पहली बैठक मई 6 1 46 म हुई थी। इसका मुख्य कायालय वाशिगटन म हैं। 30 जून, 1966 तक 83 सदस्यो मे से 61 सदस्या ने इस मुद्रा कोष मे 12 265 लाख डालर की धनराशि अपने अपने देशा की मुद्रा मे निकाली। इसी प्रकार जनवरी 1962 मे कोष म औद्योगिक देशो के 6 अरब डॉलर ऋण देन की सिफारिश की और इसकी अवधि चार वष तक बढा दी गई। बहुधा सदस्यो की विदेशी विनिमय देय शक्ति को मजबूत बनाने के लिए 72 घण्टे की सूचना पर सहायता दी गई। कोष भामान्यत आगामी एक वष के लिए दी जाने वाली सहायता की सूचना द दता है।

कोष का एक काय प्राविधिक सहायता देना भी है। एतदथ वे सदस्य राष्ट्रा के बैंकिग सस्थानो को उनके आर्थिक और बजट सम्ब धी सस्थाओ को सुधारने व आर्थिक सूचनाए इकट्ठा करने म सहायता देने हेतु विशेषज्ञ भेजता है। मई 1954 म अतर्राष्टीय मुद्रा कोष सस्थान की स्थापना की गइ जिसका उद्देश्य या प्राविधिक सहायता के रूप मे सदस्या राष्ट्रा के हित म वित्त मत्रालया व बैंक के कमचारियो को प्रशिक्षण देना। यह कोष समय समय पर साहित्य प्रकाशित करता है जिसमे महत्वपूण साहित्य है वार्षिक प्रतिवदन विनिमय प्रतिब धा के सम्बन्ध म वार्षिक प्रतिवदन तथा दा मासिक अन्तर्राष्ट्रीय सांख्यिकीय सूचनाए। अन्तर्राष्ट्रीय पुन निर्माण एव विकास बैंक के सहयोग स कुछ अन्य पत्रिकाए भी निकालता है।

(कोष की समस्याए मुख्यत यह रही हैं कि अमेरिकी व ब्रितानी, फ्रासिसी तथा जमन साम्राज्यवादी इस कोष के सहारे अपनी इच्छा क अनुकूल विनिमय दरो को इस प्रकार निश्चित करना चाहत रहे हैं कि विकासशील देशा को अधिक से अधिक लूट सकें जिसका विकासशील देश विरोध करते आ रहे हैं। इस प्रकार प्रभुसत्ता और स्वतत्रता की भावना आडे आई है। ऐसा कहा जाता है कि सदस्य राष्ट्रा द्वारा योजना और सम्पत्ति के स्वामित्व पर अधिकाधिक अधिकार करने की भावना मे भी कोष के उद्देश्य की पूर्ति म बाधा डाली)

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बक ब्रिटेन वुडस म जो उपयुक्त सयुक्त राष्ट्रीय मुद्रा कोष का आर्थिक सम्मेलन बुलाया गया था उसम अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इस सगठन को बनाने का सुझाव सुझाया। यह प्रस्ताव जब 29 राष्ट्रा के द्वारा सपुष्ट हो गया तब 27 दिसम्बर 1945 को इसकी स्थापना की गई और 15 नवम्बर, 1947 को इसे सयुक्त राष्ट्र सघ म जोड दिया गया। इसक सदस्या की सख्या 106 के लगभग है।

सगठन विश्व बैंक का काय चलाने के लिए तीन अगो की स्थापना की गई।
(1) अधिशासी मण्डल,
(2) अधिशासी निर्देशक,
(3) सचिवालय एव अध्यक्ष।

अधिशासी मण्डल म प्रत्येक देश द्वारा नियुक्त एक अधिशासी तथा एक वैकल्पिक सदस्य होता है। बक की सारी शक्तिया इसी मण्डल को प्राप्त है। प्रत्येक राष्ट्र को उसके अशदान के अनुपात से मतदान का अधिकार है। इसका नियमित अधिवेशन वष म एक बार होता है। अधिशासी निदेशक 20 होते हैं जिनमे पाच सर्वाधिक अशदान देने वाले राष्ट्रो द्वारा नियुक्त होत हैं। तथा शेष 15 अन्य राष्ट्रो के अधिशासिया द्वारा निर्वाचित होते हैं।

कार्यालय का प्रधान अधिशासी निर्देशको के द्वारा चुना जाता है। वह अधिशासी निर्देशको का अध्यक्ष होता है तथा बक कमचारियों का प्रधान होता है। बैंक के सचालन की जिम्मेदारी उस मिली होती है और वही कमचारिया अधिकारियो की नियुक्ति करता है व उन्हे हटाता है। अमेरिका के भूतपूव रक्षामत्री मैंकनामरा इसके वतमान अध्यक्ष है। इसका मुख्य कार्यालय वाशिगटन म है।

उद्देश्य एव काय इस बक के निम्नाकित उद्देश्य एव काय उल्लेखनीय हैं।
(1) उत्पादक कार्यों के लिए सदस्य राष्ट्रो को पूजी उपलब्ध कराता है।
(2) विदेशा मे निजी पूजी लगाने मे सहायता देता है।
(3) विश्व व्यापार मे सतुलन स्थापित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को बढावा देता है।

इसके प्रमुख काय इस प्रकार हैं
(1) यह निजी उद्योगो को सहायता देता है एव प्राविधिक सहायता प्रस्तुत कराता है।
(2) अपनी शर्तों पर यह विकास कार्यों के लिए ऋण दता है तथा,
(3) विश्व मे ऋण ग्राहिना (ऋण देने वाले और ऋण लेने वालो के हितो) मे सामजस्य पैदा करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक के सदस्या ने 14 मई 1955 को इस अन्तराष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना का प्रस्ताव रखा जिस 24 जुलाई 1956 को स्थापित कर दिया गया और 20 फरवरी 1950 को यह सयुक्त राष्ट्र सघ से जोड दिया गया। यह सस्था विश्व बक के सभी राष्ट्रो के लिए खुली हैं। इसकी वतमान सदस्यता 80 के करीब है।

सगठन यह निगम 3 अगो म बटा है (1) अधिशासी निकाय, (2) निर्देशक निकाय, (3) सचिवालय। इस निगम के समस्त अधिकार सचालक परिषद के पास हैं अर्थात निर्देशक निकाय मे हैं।

प्रत्येक सदस्य राष्ट्र एक सचालक एव एक वैकल्पिक सदस्य भेजता है । इसके अधिकार और कर्त्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के समान है और इसका अधिवेशन विश्व बक के साथ साथ होता है । सचिवालय का प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी प्रबन्ध निर्देशक होता है और इसका स्थायी सचिवालय वाशिगटन मे है ।

उद्देश्य व काय इस सस्था का प्रमुख उद्देश्य सदस्य राष्ट्रा विशेष कर विकासशील देशा की निजी पूजी को बढावा दना और उसका सरक्षण व पोषण करना है । इसके लिए यह सदस्य राष्ट्रो को आसान दर पर पर्याप्त पूजी उपलब्ध कराती है । वह स्वय पूजी लगाती हैं ऋण नही देता है । निश्चित व्यवस्था के अन्तगत निजी पूजी (विदश एव उस देश की अपनी) पूजी के लिए शमा शोधन (क्लीयरग हाऊस) का काम करती है ।

दिसम्बर 1965 मे इस सस्था ने 34 दशो के निजी क्षेत्रो की 112 योजनाओ म 150 लाख डॉलर की पूजी लगाई । इसकी अधिकृत पूजी 150 लाख डॉलर है । निगम सम्पूण योजना व्यय की आधी पूजी लगाता है एव एक लाख स दो लाख डॉलर के बीच दता है और यह पूजी अमेरिकी डॉलर मे दी जाती है। (सन 1967 तक इसने 36 राज्या की 108 कम्पनिया मे 20 करोड डॉलर की पूजी लगा रखी थी और यह पूजी मुख्यत स्पात, लोहा, कागज कपडा व खाद्य निर्माण उद्योग म थी । आयोग की सदस्यता 84 राज्यो ने स्वीकार की)।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सगठन यह विश्व वक की एक सहायक सस्था है । इस की स्थापना 1960 म की गई । इसका मुख्य उद्देश्य विकासशील देशो को उनकी उत्पादन क्षमता बढाने के लिए आसान शर्तो पर ऋण दना है । ऐसा कहा जाता है कि यह सगठन बक विकास के लक्ष्यो की पूर्ति म मदद देता है। इस सगठन द्वारा दिये गए ऋण 50 वर्षो मे अदा किये जाते हैं जिसम प्रथम 10 वर्षो मे कोई अदायगी नही होती और न ही ब्याज लिया जाता है। दूसरे 10 वर्षो मे एक प्रतिशत ब्याज लिया जाता है तथा शेप 30 वर्षो मे मूल धन पर 3 प्रतिशत ब्याज लिया जाता है । इस प्रकार इस सगठन के अनेक विकासशील देशा मे अपनी पूजी लगाई तथा दिसम्बर, 1965 तक 30 राष्ट्रो को 79 विकास ऋणा के रूप मे 112 लाख डॉलर दिये और 1968 तक यह राशि 750 करोड डॉलर तक बढ गई । इस रकम की तीन चौथाई अकेले एशिया और मध्य पूव के राज्यो मे लगी हुई है । बाकी अफ्रिका और दक्षिण अमेरिकी राज्या मे लगी हुई है । इसकी सदस्य सख्या 99 है ।

न्यास परिषद या सरक्षण परिषद तथा पराधीन क्षेत्र

सयुक्त राष्ट्र सघ का चौथा महत्वपूण अग न्यास परिषद या सरक्षण परिषद है । जिसके सम्बन्ध मे सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रथम महासचिव ट्रिग्वेली ने कहा था

कि ससार म यह पहला अवसर है कि सरकारी प्रतिनिधियो की एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय समिति म उस पिछड़े लोगो की भलाई के लिए काम करेगी। एक माने म यह सरक्षण परिषद एक सवथा नया प्रयोग है और वह इस मान म कि यह सस्था सयुक्त राष्ट्र सघ की एक प्रमुख अग के रूप म गठित की गई सस्था है। लेकिन दूसरे अथ म यह उस प्रयोग का भी विकास मात्र है जो प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्र सघ के अन्तगत मडेट प्रणाली या समादेश प्रणाली के रूप म लाई गई थी और जिसके अन्तगत प्रथम महायुद्ध म हार हुए साम्राज्यवादियो के उपनिवेशो को राष्ट्र सघ के माध्यम से जीते हुए साम्राज्यवादियो ने हथिया लिया था और अपने शोषण व्यवस्था के अन्तगत रख लिया था। आज की व्यवस्था म यह अन्तर है कि द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त इन्ही पराधीन क्षेत्रो को पूरी तरह सयुक्त राष्ट्र सघ की निगरानी म रख दिया गया था यद्यपि ये न्यास क्षेत्र अलग अलग साम्राज्य वादियो के हाथ म रहने दिये गये थे। दूसरा महत्त्वपूर्ण भेद यह था कि इस बार सयुक्त राष्ट्र सघ के अन्तगत इन पराधीन क्षेत्रो के विकास का लक्ष्य माना गया कि वे कालान्तर म स्वाधीन बनाये जायेंगे और प्राय य सभी पराधीन क्षेत्र आज स्वाधीन कर दिये गये हैं। इस प्रकार पुराने साम्राज्यवादी स्वरूप पर एक मुलम्मा चढाया गया था और इस पुरानी साम्राज्यवादी समस्या को इस बार इस सिद्धान्त के रूप म पेश किया गया कि आज के ससार म कुछ ऐसे प्रदेश हैं जिनके निवासी अविकसित और पिछड़े हुए हैं तथा उनकी उन्नति तब तक सम्भव नही है जब तक सभ्य व उन्नत देश उनका हाथ पकडकर उन्हें ऊपर न उठायें। और इस तरह ये सभ्य उन्नत देश इन अविकसित लोगो के हितो को ध्यान म रख एक न्यासी (ट्रस्टी) की तरह देखभाल करते रहे जब तक कि वे अपने पैरो पर खडे होने लायक न हो जाए। यह सिद्धान्त कुछ कुछ गाधीजी के उस 'ट्रस्टीशिप सिद्धान्त' की तरह है जो वे राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था मे लागू करना चाहते थे।

न्यास व्यवस्था का प्रारम्भिक विचार न्यास व्यवस्था के विचार का सूत्रपात अमेरिकी के द्वारा सन 1942 म तब हुआ जब अमेरिकी को जमनी के विरुद्ध युद्ध के मैदान म उतरना पडा। अमेरिकी नेतृत्व यह चाहता था कि पराधीन उपनिवेश जो उसके मित्रो के हाथ म थे वे कही जमन नात्सियो व जापानी सैन्य शासको के शिकार न बने। इस दुघटना को रोकने के लिए एक आकषक योजना अन्तर्राष्ट्रीय सरक्षण परिषद के रूप म एक प्राविधिक समिति के द्वारा सन् 1942 म तयार की गई जिसकी अध्यक्षता अमेरिकी सचिव वेल्स ने की। इसकी महत्वपूण बात यह थी कि यह योजना सारे गर स्वायत्तता शासी क्षेत्रो पर लागू होनी थी और इसका निणय सयुक्त राष्ट्र सघ पर छोडा जाना था कि कौन सा क्षेत्र कब स्वाधीनता के लिए उपयुक्त हो गया है और उसे कब एसी स्वायत्तता दी जाय। जापानी सरकार के द्वारा पश्चिमी उपनिवेशवाद के विरुद्ध जो जहर उगला जा रहा था और जिस

तरह जापानी अधिनायकवादी अपने आपको एशिया का मुक्तिदाता घोषित कर रहे थे उससे अमेरिकी साम्राज्यवादी बहुत चितित थे। जापान एक के बाद दूसरी जगहों पर कब्जा किये चला जा रहा था और ऐसा स्पष्ट हो रहा था कि बिना एशियाई लोगो के हार्दिक सहयोग के जापानी बाढ को रोकना असभव होगा इसलिए अमेरिकी साम्राज्यवादी इन क्षेत्रो मे राष्ट्रीय आदोलन को अपने पक्ष मे करना चाहते थे। 'एटलाटिक चाटर' मे इसीलिए पहले भी इस बात की घोषणा की गई थी कि मित्र राष्ट्र किसी प्रकार का क्षेत्रीय विस्तार नही चाहते है पर अंग्रेज साम्राज्यवादी यद्यपि 'एटलाटिक चाटर' की इस घोषणा से तो सहमत थे वह आगे और कोई प्रदेश नही चाहते पर वे साथ ही यह भी नही चाहते कि जो कुछ उनके पास है उसे उन्हे खोना पडे यह वह समय था जब कि अमेरिकी दबाव से चर्चिल ने सर स्टेफड क्रिप्स को भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओ से समझौता वार्ता के लिए भेजा था पर जसा चर्चिल ने स्पष्ट कहा था वे इसलिए प्रधान मत्री नही बने हैं कि वे साम्राज्य के विघटन का नेतत्व करें। इस प्रकार अमेरिकी साम्राज्यवादी और उनके निकटतम सहयोगी अंग्रेज साम्राज्यवादियो के बीच पूण सहमति नही हो पा रही थी। पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट सीमित क्षेत्र मे न्यास पद्धति लागू करने के पक्ष म थे और 14 जुलाई, 1943 को प्रकाशित अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के अमेरिकी प्रारूप म कहा गया था कि ऐसे गर प्रशासित क्षेत्र जहा के लोग अभी स्वतत्रता पाने के योग्य नही हो पाये है वहा न्यास व्यवस्था का सिद्धान्त लागू किया जायगा जिसके अन्तगत स्थानीय लोगो के हितो को सर्वोपरि मान कर अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की देख रेख मे इन प्रदेशो को रखा जायेगा और इस प्रबन्ध का अतिम लक्ष्य यह होगा कि राजनीतिक परिपक्वता आने पर इन्हे स्वाधीन बना दिया जायेगा। 1944 म इस पर पुन विचार किया गया। यद्यपि डम्बटन ओक्स की बैठक मे इस व्यवस्था के सम्बन्ध मे कोई विचार नही हुआ (अमेरिकी सैन्य दल इस प्रबन्ध से सहमत नही था—इसलिए राष्ट्रपति ने डम्बटन ओक्स की कार्यसूची से निकाल दिया) इस प्रश्न पर फिर याल्टा सम्मेलन मे विचार किया गया जहा तीन बडे (अमेरिकी, सोवियत और ब्रितानी) राष्ट्रो ने यह तय किया कि सुरक्षा परिषद मे पाच बडे राष्ट्र स्थायी सदस्यता पायेंगे और सयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के पूर्व वे आपस म न्यास पद्धति के बारे म विचार करेंगे और उनम यह भी तय हुआ कि यह पद्धति निम्नाकित क्षेत्रो पर लागू की जायेगी—

(1) राष्ट्र सघ के तत्कालीन समादेशित क्षेत्र,
(2) पहले की तरह ही इस बार शत्रुओ स छीने जाने वाले प्रदेश और
(3) ऐसे कोई अन्य प्रदेश जिन्हे मित्र राष्ट्र (साम्राज्यवादी) स्वेच्छापूर्वक इस पद्धति के अन्तगत सौंपना चाहे।

तदनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ के 'चार्टर' के अनुच्छेद 77 में इस कथन को लागू किया गया — और इन तीन कोटि के पराधीन क्षेत्रों को न्यास पद्धति के अन्तर्गत रखा गया और अनुच्छेद 78 में इस बात की घोषणा की गई कि पराधीन राष्ट्रों के वे प्रशासक जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं उनके कोई भी क्षेत्र न्यास पद्धति के अन्तर्गत नहीं लिए जायेंगे। यह ज्ञातव्य है कि ये प्रदेश अपने आप ही इस पद्धति के अन्तर्गत नहीं आये बल्कि अनुच्छेद 79 के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र संघ से इस प्रकार का समझौता करना है जो महासभा के द्वारा स्वीकृत होने पर लागू किया जाता है।

पुराने राष्ट्र संघ के समादेशित प्रणाली के अन्तर्गत निम्नांकित क्षेत्र आते थे

प्रथम श्रेणी	समादेशक
1 लेबनान	फ्रांस
2 सीरिया	फ्रांस
3 फिलस्तीन	ब्रिटेन
4 ट्रांस जोर्डन	ब्रिटेन
5 ईराक	ब्रिटेन
द्वितीय श्रेणी	**समादेशक**
1 टोगोलैंड	फ्रांस
2 टोगोलैंड	बेल्जियम
3 टनगानिका	बेल्जियम
4 केमरून	बेल्जियम
5 केमरून	फ्रांस
6 रूआन्डा उरून्डी	ब्रिटेन
तृतीय श्रेणी	**समादेशक**
1 दक्षिण पश्चिमी अफ्रिका	दक्षिण अफ्रिका संघ
2 मैरीनास कारोलीन मार्शल द्वीप समूह	जापान
3 न्यू गिनी (उत्तरी भाग) न्यू आयरलैंड न्यू ब्रिटेन और सोलोमन द्वीप समूह	आस्ट्रेलिया
4 नारू	आस्ट्रेलिया
5 पश्चिमी समाओ	न्यूजीलैंड

ईराक 1932 में स्वतंत्र कर दिया गया था। सीरिया व लेबनान 1936 में स्वशासी क्षेत्र घोषित हुआ तथा 13 दिसम्बर, 1945 को पूर्ण स्वतंत्र घोषित

किये गये। ट्रासजोडन 17 जनवरी, 1946 को स्वतत्र हो गया। फिलस्तीन 1948 म स्वतत्र हो गया न विभाजित कर समाप्त कर दिया गया।

शेष द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के समादेशित क्षेत्रो मे स 10 न्यास पद्धति के अतगत आ गय। वे थे —

क्षेत्र का नाम	श्रेणी	प्रशासक	प्रशासक प्राधिकारी न्यास पद्धति के अतगत
1 टोगोलैंड	बी	फ्रास	फ्रास
2 टोगोलैंड	बी	बेल्जियम	बल्जियम
3 रूआडा उरुन्डी	बी	ब्रिटेन	ब्रिटेन
4 केमरून	बी	फ्रास	फ्रास
5 केमरून	बी	ब्रिटेन	ब्रिटेन
6 टागानिका	बी	ब्रिटेन	ब्रिटेन
7 नारू	सी	न्यूजीलैंड	ब्रिटेन
8 न्यूगिनी	सी	आस्ट्रेलिया	आस्ट्रेलिया
9 पश्चिमी समाओ	सी	न्यूजीलैंड	न्यूजीलैंड
10 नाथ पैसिफिक द्वीप समूह	सी	जापान	अमरिका

इनमे मेरीयानस मासलस और केरोलीना द्वीप समूह वाला क्षेत्र ऐसा था जो जापान स छीना गया था उसे अमेरिका के प्रशासनातगत कर दिया गया और यह व्यवस्था की गई कि अनुच्छेद 82 के अतगत इन्हे सामरिक महत्व का घोषित कर दिया जाय अत 17 फरवरी, 1947 को अमेरिकी ने सुरक्षा परिषद की स्वीकृति के लिए एक समझौते का प्रारूप रखा और कुछ सरकारो के विरोध के बावजूद सुरक्षा परिषद ने छोटे मोटे परिवतन के साथ इस स्वीकार कर लिया। यह ध्यान देने योग्य है कि इस समझौते म अमरिकियों को यहा के मूल निवासियो की अपेक्षा आर्थिक मामलो म प्राथमिकता प्राप्त है और यह भी अधिकार मिला हुआ है कि सुरक्षा के हित मे वह किसी भी क्षेत्र को निरीक्षण के लिए मना कर सकता है।[19] इस प्रकार चाटर मे दो तरह के न्यासो का प्रावधान हो गया। वे हैं

(1) असनिक न्यास क्षेत्र तथा

(2) सैनिक महत्व के न्यास क्षेत्र।

असैनिक न्यास क्षेत्रो को महासभा के अधिकार क्षेत्र के अतगत रखा गया जबकि सैनिक महत्व के क्षेत्र अर्थात जो अमेरिकी के शासनातगत हैं सुरक्षा परिषद के अधीन किये गये हैं ताकि, अमेरिकी अपने हितो की रक्षा के लिए

निषेधाधिकार का प्रयोग कर सके। यह स्मरणीय है कि वैसे इसका प्रबन्ध किया गया था कि यदि स्वेच्छा से कोई साम्राज्य अपने अन्तगत किसी अस्वशासी प्रदेश को न्यास परिषद क अन्तगत रखना चाहे तो रख सकता है। परन्तु किसी भी साम्राज्य देश ने कोई ऐसा प्रदेश न्याय व्यवस्था को नही सौंपा।[20]

न्यास परिषद सगठन व काय राष्ट्रसघ के अन्तगत जो समादशित प्रबन्ध चलता था वह राष्ट्रसघ को कोई अविभाज्य अग न था बल्कि, यह एक सहायक अग के रूप म काम करता था तथा इसम विशेषज्ञ लोग ही सदस्य के रूप म नियुक्त किये जाते थे जो कवल परामश ही द सकते थे। सयुक्त राष्ट्र की यह न्यास व्यवस्था इस माने म अपनी पूववर्ती व्यवस्था से भिन्न है कि (1) न्यास परिषद सयुक्त राष्ट्रसघ का एक प्रधान अग है और इसके सगठन की व्यवस्था 'चाटर' के अन्तगत की गयी है जिसके अनुसार न्यास सभालने वाले राष्ट्रो के बराबर सख्या के दूसरे राष्ट जो महासभा क द्वारा चुन जात हैं इसके सदस्य होते हैं। इस अपने सारे अधिकारो का प्रयोग महासभा के तत्वावधान म ही करने का अधिकार है। यह परिषद महासभा के निर्देश पर ही काय करती है तथा सैनिक महत्व के न्यास क्षेत्रो के बारे मे इस सु ा परिषद का निर्देश मानना पडता है। अनुच्छेद 86 के अनुसार इसमे तीन प्रकार के सदस्य है —(1) वे प्रतिनिधि जो न्यास प्राप्त राज्यो के द्वारा नियुक्त किए जाते हैं, (2) सुरक्षा परिषद के वे स्थायी सदस्य जो किसी ऐसे न्यास क्षेत्र के प्रशासक नहा है, (3) एस अन्य सदस्य जिनकी सख्या उन राष्ट्रो के प्राधिकारी प्रतिनिधिया के बराबर होगी जो न्यास प्रशासक हैं। ऐसे सदस्य महासभा के द्वारा तीन वर्षो के लिए चुने जाते है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने प्रतिनिधि के साथ साथ एक वैकल्पिक सदस्य और एक सलाहकार भेज सकता है आवश्यकता पडने पर ऐस राष्ट्र भी जो परिषद के सदस्य नही है विशेष आमत्रण पर प्रतिनिधिया को भेज सकते हैं।

अनुच्छेद 87 के अनुसार महासभा और उसके तत्वावधान म काम करने वाले न्यास परिषद निम्नाकित काय सम्पन्न करती है—

1 यह प्रशासनिक अधिकारी द्वारा तैयार किय गए प्रतिवदनो पर विचार करती है। एक प्रश्नावली तैयार की जाती है और उसके आधार पर न्यास क्षेत्र के प्रशासन के बार मे सूचनाए एकत्रित की जाती हैं तथा इस प्रशासन के सबध म विस्तत जानकारी प्राप्त की जाती है

2 यह उन याचिकाओ को प्राप्त करती है और प्रशासनिक अधिकारी की मदद स उन पर विचार करती है जो याचिकाए न्यास प्रदेश के लोगों के द्वारा या वहा क सगठनो के द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। 1951 म तक इसके सामने 700 याचिकाए आई थी पर उनकी सख्या बढती गयी और अकेले सन् 1959 म परिषद को 1235 ऐस प्रतिवेदन मिले ,

3 न्यास परिषद प्रशासनिक अधिकारी द्वारा महूमत समय पर न्यास क्षेत्र का दौरा भी करती है व मौके पर जाकर निरिक्षण करती है। यह प्रबन्ध है कि प्रत्येक यास प्रदेश मे वष मे कम से कम एक बार अवश्य निरिक्षण मण्डल भेजा जाता है।

4 इसके अलावा न्यास समझौते के अनुसार वह इन प्रतिवदनो और याचिकाओ पर कायवाही करती है।

न्यास परिषद के अ तगत इस प्रकार 11 प्रदेश लाये गये थे जिनका क्षेत्रफल 907660 वग मील व जनसख्या 1,74,75 647 थी। आज इन प्रदेशो मे से सिवाय प्रशा त महासागरीय द्वीपा को छोडकर जो अमेरिका के अधीन हैं बाकी सारे क्षेत्र स्वशासन प्राप्त कर चुके हैं और इस प्रकार सयुक्त राष्ट्रसघ का यही एक मात्र ऐसा अग हैं जिसने चाटर' मे उल्लखित ध्येय की पूर्ति की है और उप निवेशवाद की समाप्ति मे एक महत्वपूण कदम उठाया है। इस सदभ मे यह उल्लेखनीय है कि अभी भी दुनिया मे ऐम क्षेत्र बाकी हैं जो स्वशासन नही प्राप्त कर सके यथा पुतगाल के अधीन उपनिवेश अगोला, मौजम्बिक, पुतगाली गिनी तथा दक्षिण रोडेशिया और दक्षिण पश्चिमी अफ्रिका। इस सदभ म 14 दिसम्बर, 1960 म महासभा के द्वारा पास किया गया वह प्रस्ताव उल्लेखनीय है जिसम उपनिवेशवाद को समाप्त करने का सकल्प किया गया था। एसा कहा जाता है कि इस सकल्प ने भी उपनिवेशवाद को न्यास व्यवस्था के अ तगत और उसके बाहर भी समाप्त करने मे काफी योगदान दिया। ऐसा कहा जाता है कि न्यास परिषद ने अपनी उस पद्धति क द्वारा जिसके अ तर्गत याचिकाए सुनी जाती थी तथा शिष्ट मडल भेजे जाते थे अस्वशासित क्षेत्रो के लोगो को काफी कुछ लाभ पहुचाया। इसी को दष्टि मे रखकर मिश्री प्रतिनिधि मुहमद एल० कौली ने यह टिप्पणी की थी कि न्यास पद्धत्ति समादशित पद्धत्ति से कही ज्यादा सुधरी हुई व्यवस्था है क्योकि वह शिष्ट मडला के द्वारा देखभाल का काम ज्यादा अच्छी तरह स कर सकती है। इसके बारे मे सन 1947 मे शिष्ट मडल के प्रतिवेदन पर न्यूजीलेंड ने अपने अधीन क्षेत्र समाओ के प्रशासन म सधार किय। ऐसे ही आस्ट्रेलिया ने भी सन 1962 मे न्यूगिनी के क्षेत्र म प्रतिवेदन के आधार पर क्षेत्रीय प्रतिनिधियो की व्यवस्थापिका सभा का प्रब ध किया। इन शिष्ट मडलो के द्वारा न्याम परिषद चाहे तो यह सूचना बडी अच्छी तरह इक्टठा कर सकती थी कि राजनीतिक सस्थाओ, सावजनिक सेवाओ उद्योग धधे वगार तथा स्वास्थ्य और कृषि सम्बन्धी बातो मे प्रशासक राज्य क्या क्या कायवाही कर रहे है उनकी सूचनाए कहा तक विश्वसनीय ह और उनके विरुद्ध शिकायतें कहा तक सही हैं। सयुक्त राष्ट्रसघ ने इसके अन्तगत जनमत सग्रह भी करवाय यथा ब्रिटश टोगा लेंड व ब्रिटश केमरून मे जनमत सग्रह का निरीक्षण किया जिससे वहा सघ द्वारा मान्यता प्राप्त टोगोलेंड

तथा गोल्डकोस्ट को मिलाकर घ ना सघ की स्थापना हुई। इसी प्रकार के जनमत गणना के द्वारा पश्चिमी सभाओ के लिए नया सविधान स्वीकार किया गया और यह सन् 1962 म स्वतत्र कर दिया गया। फासिसी तोगोलड, रूआडा और उरुडा मे स्वशासन म पूव चुनावो क समय सयुक्त राष्ट्रसघ क प्रेक्षक दल भेजे गए। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अपन सीमित दायर के अन्दर राष्ट्रसघ न इस अग न प्रशसनीय काय किया जिस आशिक रूप न उपनिवशवाद की समाप्ति का काय कहा जा सकता है क्योकि उपनिवशवाद का कोढ अभी भी पूरी तरह से समाप्त नही हुआ है।

समादशित प्रणाली व न्यास व्यवस्था—गूमा न न्यास व्यवस्था के बारे म यह मार्क की बात कही थी कि यह पुरानी समादशित प्रणाली का ही सशोधित रूप है। लेकिन समादशित प्रणाली और उस व्यवस्था न बहुत कुछ साम्य होते हुए भी कुछ मामलो म यह उससे भिन्न रही है। यह अन्तर निम्नाकित आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है—

1 न्यास व्यवस्था अधिक विस्तत है। सैद्धातिक रूप म यह व्यवस्था पुरानी व्यवस्था स अधिक विस्तत मानी गई थी क्योकि समादेशित व्यवस्था केवल उन क्षेत्रो और उपनिवेशो मे लागू होनी थी जो प्रथम युद्ध के फलस्वरूप जमनी या तुर्की स छीन गए थे जबकि न्यास व्यवस्था मे केवल शत्रु के अधीन प्रदेशो को ही शामिल नही किया गया था बल्कि यह व्यवस्था की गई थी यदि उपनिवेशो के स्वामी अपने अधीन अस्वशासित किसी प्रदश को न्यास व्यवस्था के अधीन रखना चाह तो रख सकते हैं। पर एसा कोई प्रदेश न्यास व्यवस्था के अन्तगत नही आया। इसलिए व्यवहार मे दोनो व्यवस्थाओ के बीच कोई अन्तर नही पडा। नई व्यवस्था का विस्तार इस प्रकार क्षेत्र सम्बन्धी न होकर अधिकार या सामर्थ्य सम्बन्धी है।

न्यास परिषद सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रमुख अग के रूप मे उभरी

प्रारम्भ स ही इस नए अन्तराष्ट्रीय सगठन मे न्यास परिषद को एक महत्वपूण अग के रूप म गठित करने की योजना रखी गयी थी। पुरानी समादेशित प्रणाली राष्ट्रसघ को कोई अभिन्न अग नही थी। बल्कि वह विशेषज्ञो वाला एक स्थायी सरक्षण या समादशित आयोग के रूप मे चलने वाली समिति जसी था और इस प्रकार वह एक निम्न स्तर का सगठन थी। इस बार न्यास परिषद के रूप म इस बहुत महत्व दिया गया था और राष्ट्रसघ ने अभिन्न अग के रूप म रखा गया था जिसम न केवल निषेधाधिकार प्राप्त पाच वडे राष्ट्रो को सदस्य बनाया गया था बल्कि यह व्यवस्था की गयी थी कि महासभा के द्वारा चुने हुए सदस्य भी इसम रह। इस प्रकार यह एक प्रतिनिधि मूलक और उत्तरदायी सस्था बन गइ।

अधिक शक्तिशाली और नियत्रण निरीक्षण करने वाला अग

वतमान न्यास परिषद न केवल प्रतिनिधि मूलक और अधिक जिम्मेदारी निभाने वाली परिषद रही है बल्कि, उस अपने पूववर्ती समादेशित आयोग स कही अधिक निरीक्षण नियत्रण की शक्ति मिली हुई थी। वह आयोग की तरह एक लाचार समिति न थी बल्कि, प्रशासक राज्यो स रपट मागन वाली, उनकी प्रशासन की छानबीन करने वाली और ययावश्यक महत्वपूण और सूक्ष्म से सूक्ष्म सूचनाए एकत्रित कर सकने वाली परिषद सिद्ध हुई।

इस सदभ म यह स्मरणीय है कि राष्ट्र सघ के अ तगत आयोग को अपने आप छान बीन करने का अधिकार न था जबकि वतमान चाटर' के अ तगत यह प्रब ध किया गया है कि 3 वष म कम से कम एक बार न्यास परिषद के प्रतिनिधि न्यास प्रदेशा का दौरा अवश्य करेंगे। इस दौरे के बारे मे प्रशासक राज्यो को सचेत रहना पडता था क्याकि न्याम परिषद मौके पर जाकर खुद ही बहुत सारी सूचनाए इस तरह प्राप्त कर सकती थी और उसकी रपट महासभा को देती थी।

निश्चित लक्ष्य वाली पुराने राष्ट्र मघ के अ तगत जो सरक्षण व्यवस्था अपनायी गयी थी उसमे सरक्षित प्रदशो के लिए स्वाधीनता का कोई लक्ष्य नही निर्धारित किया गया था और य प्रदश वस्तुत परोक्ष रूप म प्रशासक साम्राज्य के अग से ही थे जबकि सयुक्त राष्ट्रसघ के अन्तगत यास प्रदेशो के लिए यह पहले स ही तय किया गया कि वे प्रदेश स्थायी तौर पर सरक्षित प्रदेश ही नही बने रहेंगे बल्कि, सयुक्त राष्टसघ के निर्देशन म अ ततोगतवा स्वशासन पा जायेंगे। और हुआ भी यह जिसके फलस्वरूप आज प्राय व सार प्रदश जो न्यास व्यवस्था के अ तगत रखे गए थे, स्वशासन प्राप्त कर चुके हैं। इस प्रकार यह व्यवस्था अधिक फलदायी सिद्ध हुई और कोरा उपनिवेशवाद का भ्रष्ट सस्करण नही रह गई।

महासभा के प्रति उत्तरदायी पुरानी सरक्षण व्यवस्था राष्ट्रसघ की परिषद की निगरानी व नियत्रण म काम करती थी। पर तु न्यास व्यवस्था पर महासभा का सीधा नियत्रण है। महासभा स्थायी सदस्या को और प्रशासक राज्यो के अलावा अपने सदस्यो को चुन कर इसमे भेजती है। महासभा इस न्यास परिषद पर नियत्रण रखती है इसकी रपट सुनती हैं प्रतिवेदनो पर विचार करती है तथा इन प्रदशा स आई हुई याचिकाओ की सुनवाई करती है और चूकि, प्रशासक राज्यो की कायवाही अपन पूरे ब्योरे के साथ महासभा के आगे प्रस्तुत की जाती हैं इसलिए प्रशासक राज्य भी महासभा की इस कायवाही स घबराते रहते हैं और उन पर महासभा एक अकुश का काम करती है।

उपयुक्त आधारो पर यह कहा जा सकता है कि न्यास व्यवस्था यद्यपि कोई

आदर्शवादी व्यवस्था नही थी परन्तु वह सरक्षण व्यवस्था का नया सस्करण भी नही थी। वह पुरानी सरक्षण व्यवस्था से कही अधिक दूरदर्शी और परिवर्तन कामी सिद्ध हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय राष्ट्रो के बीच समय समय पर उठने वाले विवादो को निपटाने की समस्या चिरकाल स रही है। यूरोप मे इस समस्या के सुलझाने के लिए जो प्रयत्न आधुनिक काल म हुए उनकी शुरुआत सन 1899 मे हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना स हुई जिसम विभिन्न देशो के 132 विधि शास्त्रियो के नामो की सूची रहा करती थी। इसके अनुसार हेग समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले देशों के बीच जब कभी विवाद उठ खडा होता तो इस सूची मे दिये हुए नामो म स कुछ को चुनकर एक न्यायालय सा बना दिया जाता था जो अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो की केवल व्याख्या करता तथा यह बताता कि अमुक सधि भग हुई है या नही। विवादास्पद मामलो मे यह निर्णय नही देता था।

दूसरे हेग सम्मेलन म जो 1907 मे हुआ अमेरिका देशो ने एक अमेरिकी न्यायालय की स्थापना की जिसे 10 वर्षों के लिए स्थापित किया गया। इसमे 5 न्यायाधीश होते थे तथा प्रत्येक मध्य अमेरिकी राज्य एक न्यायाधीश की नियुक्ति 5 वर्ष के लिए करता था। इसी सम्मेलन ने तय किया कि मध्य अमरिकी राज्यो के बीच उठने वाले प्रश्नो को इसके सामने रखा जायेगा। इस न्यायालय ने 1917 तक दस मामलो पर अपने निर्णय दिये थे। प्रथम महायुद्ध के पहले इस प्रकार यूरोप और अमेरिकी देशो मे यह न्यायालय की पूर्व पीठिका तैयार हो रही थी। प्रथम महायुद्ध के बाद पेरिस के शान्ति सम्मेलन मे अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर एक न्यायालय की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया जो राष्ट्रसघ की सविदा की धारा 14 मे स्थान पा गया। विचार विमर्श के बाद महासभा के द्वारा सन 1920 के 13 दिसम्बर को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय वाला प्रस्ताव स्वीकार किया गया और 1922 को यह स्थायी न्यायालय हेग मे विधिवत स्थापित हो गया। सयुक्त राष्ट्र सघ के 'चार्टर' ने इसी न्यायालय के पुनर्जीवित कर दिया है।

पुराने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे प्रारम्भिक वर्षो मे 11 न्यायाधीश और 4 उप-न्यायाधीश होते थे जिनकी सख्या 1921 मे 15 कर दी गई। इस न्यायालय के दोनो ही प्रकार के अधिकार क्षेत्र थे। एक ऐच्छिक और दूसरा अनिवार्य। करीब 20 राज्यो ने कुछ मामलो मे यथा सधियो की व्याख्या इत्यादि के बारे मे अनिवार्य अधिकार क्षेत्र स्वीकार कर लिया था। अपने 20 वर्ष के कार्य काल म इस न्यायालय ने करीब 65 मामलो पर विचार किया जिनमे से 32 मामलो म निर्णय दिये और करीब 27 परामर्श दिये।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय एक अर्थ म नया न्यायालय है चूकि 18 अप्रल, 1936 को महासभा के निर्णयानुसार पुराना

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय समाप्त कर दिया गया तथा नये न्यायाधीशों की नियुक्ति की गई। यह प्रबन्ध किया गया कि इस न्यायालय मे 15 न्यायाधीश होंगे जिनकी नियुक्ति सयुक्त राष्ट्र सघ की साधारण सभा और सुरक्षा परिषद करती है। इस न्यायालय के न्यायाधीश होने के लिए उम्मीदवार का न केवल अच्छे चरित्र का व्यक्ति होना चाहिए बल्कि, उस अपने राज्य के कानून और अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जानकार भी होना चाहिए। न्यायाधीशों के निर्वाचन की प्रणाली कुछ इस प्रकार है कि उम्मीदवार उस सूची म से चुन जाते हैं जिसे सयुक्त राष्ट्र के सदस्य राष्ट्र बनाते है। फिर इसी सूची के उम्मीदवार जिन्हे साधारण सभा और सुरक्षा परिषद मे पूर्ण बहुमत मिलने से हो चुना जाना सम्भव होना है। सामान्यत सबसे पहले सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों की सहमति जरूरी हो जाती है। वैसे इस बात का ख्याल रखा जाता है कि जहा तक सम्भव हो ससार के सभी विधि व्यवस्थाओ के प्रतिनिधि बुलाये जाए पर किसी एक राज्य के दो न्याया-धीश नही होने चाहिए। न्यायालयो का कार्यकाल 9 वर्ष का होता है। पर वे पुन इसी अवधि के लिए चुने जाते हैं। न्यायाधीश मण्डल 3 वर्ष के लिए अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का चुनाव करते है तथा अपने अधीन काम करने वाले निबन्धक तथा अन्य पदाधिकारियो की नियुक्ति खुद करता है।

न्यायालय का कार्य सचालन इस प्रकार होता है कि सभी न्यायाधीश मिल कर मामले की सुनवाई करते हैं यद्यपि यदि वे चाहे तो सुविधा की दृष्टि से पाच सदस्यो का एक खडपीठ बना लें। न्यायालय की गणपूर्ति कम मे कम 9 न्यायाधीश की उपस्थिति से बनती है तभी वे निर्णय या राय देते हैं। जिस देश का मामला पेश होता है उस देश से सम्बन्धित न्यायाधीश भाग नही लेता पर यदि किसी ऐसे राज्य का मामला पेश हो जिसका प्रतिनिधित्व न्यायालय मे नही है तो उस देश के न्यायाधीशों को भी कार्यवाही मे भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जाता है पर वे निर्णय मे भागीदार नही हो सकते हैं।

न्यायालय की भाषा अग्रेजी और फ्रासिसी है। यह स्मरणीय है कि न्याया लय के सम्मुख केवल राज्य ही पक्ष हो सकते हैं। तीन कोटि के राष्ट्र न्यायालय के सामने पक्ष के रूप मे हाजिर हो सकते हैं।

(1) सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य जो क्रमश न्यायालय की सविधि के भी सदस्य हो सकते हैं।

(2) सयुक्त राष्ट्र सघ के जो सदस्य नही हैं वे भी उन शर्तों पर सविधि के सदस्य हो सकते हैं जिन्हें महासभा सुरक्षा परिषद की सस्तुति पर निर्धारण करती है। स्विटजरलेण्ड की प्रार्थना पर महासभा ने अपने पहले अधिवेशन मे य निम्नाकित शर्तें तय की थी—

(क) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि को स्वीकार करना,

(ख) चार्टर' के अनुच्छेद 94 के अंतर्गत राष्ट्र संघ के सदस्यता के दायित्वों को स्वीकार करना,
(ग) महासभा द्वारा निर्देशित न्यायालय के व्यय में अनुदान का देना।
(3) ऐसे राज्य जो संविधि के सदस्य नहीं हैं, सुरक्षा परिषद द्वारा निर्देशित शर्तों के आधार पर एक पक्ष के रूप में उपस्थिति हो सकते हैं किन्तु, उन्हें यह घोषणा करनी पड़ती है कि वे न्यायालय के निर्णयों और नियमों का मानेंगे। 'कर्फ्यू चैनल' के मामले में अल्बानिया को इसी रूप मे उपस्थिति होने दिया था

अक्टूबर 1946 मे सुरक्षा परिषद ने निम्नांकित शर्तें निर्धारण की थी—
(1) कि एक राज्य पहले न्यायालय के निबंधक के पास समयक के अनुसार न्यायालय के अधिक्षेत्र की स्वीकृति की घोषणा करते हैं तथा सदस्यता से न्यायालय के निर्णयों तथा संसमय के अनुच्छेद 94 के अनुसार संघ के दायित्वों का पालन करना स्वीकार करते हैं।
(2) यह उद्घोषणा सामान्य या विशेष हो सकती है। विशेष उद्घोषणा में किसी विवाद के सम्बन्ध मे न्यायालय के अधिक्षेत्र को स्वीकार किया जाता है जबकि सामान्य मे सभी विवादों के लिए इस प्रकार की उद्घोषणा की वैधता या प्रभाव सम्बन्धी प्रश्नों पर न्यायालय निर्णय लेता है।

न्यायालय का अधिकार क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार काफी व्यापक है और वह अधिकार सम्बन्धी प्रश्न का खुद ही निर्णायक है। संयुक्त राष्ट्र संघ के भी सदस्य और यदि चाहे तो गैर सदस्य भी इस न्यायालय के सम्मुख अपने मामले ला सकते हैं। निम्नांकित तीन प्रकार के विवादों पर उसे निर्णय का अधिकार प्राप्त हैं—
( ) जब सम्बन्धित पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में विवाद को प्रस्तुत किये जाने के लिए आपस में सहमत हो। यह उसका ऐच्छिक क्षेत्राधिकार है।
(2) यदि किसी विवाद मे सम्बन्धित दोनों पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्र को मान चुके हैं तो इन पक्षों में से कोई भी पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष अपना मामला पेश कर सकता है।
(3) संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य राष्ट्रों पर यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कोई अनिवार्य क्षेत्राधिकार नहीं लागू कर सकता। संघ के सदस्य अपना मामला न्यायालय में लाने के लिए मजबूर नहीं किये जा सकते परन्तु 'चार्टर की धारा 36(2) मे यह दिया हुआ है कि चार्टर के सदस्य किसी समय भी न्यायालय के अनिवार्य अधिकार क्षेत्र को आपस के समझौते के द्वारा निम्नांकित चार प्रकार के विवादों के सम्बन्ध में स्वी

कार कर सकते हैं।

(1) किसी सधि की व्याख्या करने के सम्बन्ध मे,

(2) अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रश्न को तय करन के लिए।

(3) किसी एसी बात के उठने पर जिसकी वजह स अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के भग होने का खतरा हो,

(4) किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के भग होन पर जो मुआवजा दना पडे उस की मात्रा व स्वरूप को तय करना। इस प्रकार वैकल्पिक धारा के अन्तगत अनिवाय अधिकार क्षेत्र को स्वीकार किया गया है। इसमे यह भी प्रावधान किया गया है कि जिन राज्या ने किसी सधि के अन्तगत अपने मामले स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को भेजना स्वीकार किया था व सभी मामले अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को अनिवाय क्षेत्राधिकार के अन्तगत भेज दिये जायेंगे।

इसक अलावा न्यास पद्धति के अन्तगत हुए समझौता मे यह प्रबन्ध है कि प्रशासक राज्य और सघ क अन्य सदस्या के बीच हुए समझौतों की व्याख्या और कार्यावयन सम्बन्धी विवाद को निपटाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने ऐसे मामल भेजे जायेंगे। यही बात कुछ विशिष्ट अभिकरणा के सम्बन्ध मे भी है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि की धारा 36 (3) मे प्रावधान है कि सभी कानूनी विवाद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को फैसले के लिए भेजे जायेंगे। यह स्मरणीय है कि व सारे मामले जो घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तगत आते हैं, न्यायालय की परिधि से बाहर हैं।

परामश सम्बन्धी अधिकार

अतर्राष्ट्रीय न्यायालय केवल फैसला करने वाला ही न्यायालय नही है बल्कि 'चाटर के अन्तगत उसे सयुक्त राष्ट्र सघ के विविध अगो को परामश देने का अधिकार मिला हुआ है। महासभा और सुरक्षा परिपद किसी भी वैधानिक मामले पर इसकी सलाह मान सकती है परन्तु सयुक्त राष्ट्र सघ के य अग उस सलाह को मानने के लिए बाध्य नही है। ऐसे ही दूसर अग और अभिकरण की सलाह ले सकते हैं।

निणय हो जाने पर कोई भी पक्ष निणय को कार्यान्वित कराने के लिए सुरक्षा परिपद स कायवाही कराने के लिए अनुरोध कर सकता है। और सुरक्षा परिपद उसे कार्यान्वित कराने के लिए 'चाटर' के अनुच्छेद 94 के अन्तगत आवश्यक कायवाही कर सकती है।

न्यायालय द्वारा तय किए हुए कुछ मामले

(1) न्यायालय ने अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तगत आय कुछ महत्त्वपूण

मामले तय किए हैं जिनमे 'कफर्यू चैनल' का मामला, कोलम्बिया पीरू राजनीतिक शरण का मामला, आग्ल नार्वे मछली मारने का मामला, आग्ल ईरान तेल कम्पनी का मामला, बेल्जियम डच सीमा सम्बन्धी प्रभुसत्ता का मामला, हवाई दुघटना सम्बन्धी 27 जुलाई, 1955 का मामला, दक्षिणी पश्चिमी अफ्रिका का मामला, भारतीय क्षेत्र से यातायात की सुविधा का मामला प्रिय विहार मदिर का मामला ऐसे मामले हैं।

इसी तरह परामर्श सम्बन्धी मामले भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने तय किये जिनमे प्रमुख है

(1) राज्यो के सयुक्त राष्ट्र सघ मे प्रवेश सम्बन्धी प्रश्न (17 नवम्बर, 1948)।

(2) सयुक्त राष्ट्र सघ की सेवा मे हुए नुकसार के भुगतान का प्रश्न (दिसबर 1948)।

(3) सघ की सदस्यता म प्रवेश सम्बन्धी महासभा की क्षमता (22 नवम्बर, 1949)।

(4) दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति (दिसम्बर 1949)।

(5) अन्तर राज्य जहाजरानी परामर्श सघ की जहाजरानी सुरक्षा समिति के गठन का प्रश्न।

(6) सयुक्त राष्ट्र सघ के शाति स्थापना कार्यो पर व्यय (सन 1961)।

इस प्रकार अनेक मामलो मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने मूल्यवान एव विवाद ग्रस्त हर तरह की सम्मतिया दी हैं। वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय न्याय लय ने अन्तराष्ट्रीय विधि के विकास में महत्त्वपूण योगदान दिया है। इस न्यायालय ने अब तक लगभग 50 विवादो मे स 29 पर अपने निणय दिए हैं जो भले ही जन प्रिय न हो पाय हो पर बहुसख्यक राष्ट्रो मे उनका बहुत कुछ समथन किया है। यह कहा जा सकता है कि जहा तक अन्तर्राष्ट्रीय शाति व सुरक्षा का विषय है यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कोई भी महत्त्वपूण भूमिका नही निभा सकता है। क्योंकि विवादी राष्ट्र अपने मामले को तय कराने के लिए इसका सहारा नही खोजत।

द्वितीय महायुद्ध के बाद जितने बडे बडे मामले और विवाद उठे, विवादी पक्षो ने अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के बजाय अन्य राजनीतिक तरीको स अपने हल खोजने के प्रयत्न किय अनेक विस्फोटक विवादो म क्यूबा सकट वियतनाम सकट और ऐसे ही अन्य विस्फोटक मामलो म सयुक्त राष्ट्र सघ और उसक अग इसकी स्थान वाली भूमिका भी नही निभा सकते। पक्ष विपक्ष म अपना हल खोजने म अन्त र्राष्ट्रीय न्यायालय की शरण नही ली। वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का महत्त्व अपने पूववर्ती स भी कम सिद्ध हुआ। एक दूसरी बात भी ध्यान देने योग्य है कि सयुक्त राष्ट्र सघ और उसके अगो द्वारा भी इसका कम ही उपयोग हुआ और

मामले तय किए हैं जिनमे 'कर्फ्यू चैनल' का मामला, कोलम्बिया पीरू राजनीतिक शरण का मामला, आग्ल नार्वे मछली मारने का मामला, आग्ल ईरान तेल कम्पनी का मामला, बल्जियम डच सीमा सम्बन्धी प्रभुसत्ता का मामला, हवाई दुर्घटना सम्बन्धी 27 जुलाई 1955 का मामला, दक्षिणी पश्चिमी अफ्रिका का मामला, भारतीय क्षेत्र से यातायात की सुविधा का मामला, प्रिय विहार मदिर का मामला ऐसे मामले हैं।

इसी तरह परामर्श सम्बन्धी मामले भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने तय किये जिनमे प्रमुख है

(1) राज्यो के सयुक्त राष्ट्र सघ मे प्रवेश सम्बन्धी प्रश्न (17 नवम्बर, 1948)।

(2) सयुक्त राष्ट्र सघ की सेवा मे हुए नुकसान के भुगतान का प्रश्न (दिसबर 1948)।

(3) सघ की सदस्यता मे प्रवेश सम्बन्धी महासभा की क्षमता (22 नवम्बर, 1949)।

(4) दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति (दिसम्बर 1949)।

(5) अन्तर राज्य जहाजरानी परामर्श सघ की जहाजरानी सुरक्षा समिति के गठन का प्रश्न।

(6) सयुक्त राष्ट्र सघ के शाति स्थापना कार्यो पर व्यय (सन् 1961)।

इस प्रकार अनेक मामलो म अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने मूल्यवान एव विवाद ग्रस्त हर तरह की सम्मतिया दी हैं। वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय न्याय लय ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इस न्यायालय ने अब तक लगभग 50 विवादो मे से 29 पर अपने निर्णय दिए हैं जो भले ही जन प्रिय न हो पाये हो पर बहुसंख्यक राष्ट्रो म उनका बहुत कुछ समर्थन किया है। यह कहा जा सकता है कि जहा तक अन्तर्राष्ट्रीय शाति व सुरक्षा का विषय है यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कोई भी महत्त्वपूर्ण भूमिका नही निभा सकता है। क्योकि विवादी राष्ट्र अपने मामले को तय कराने के लिए इसका सहारा नही खोजते।

द्वितीय महायुद्ध के बाद जितने बडे बडे मामले और विवाद उठे विवादी पक्षो ने अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के बजाय अन्य राजनीतिक तरीको स अपन हल खोजने के प्रयत्न किय अनेक विस्फोटक विवादो म क्यूबा सकट, वियतनाम सकट और ऐसे ही अन्य विस्फोटक मामलो मे सयुक्त राष्ट्र सघ और उसके अग हावी होने वाली भूमिका भी नही निभा सके। पक्ष विपक्ष म अपने हल खोजने म अन्त र्राष्ट्रीय न्यायालय की शरण नही ली। वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का महत्त्व अपने पूर्ववर्ती म भी कम सिद्ध हुआ। एक दूसरी बात भी ध्यान देने योग्य है कि सयुक्त राष्ट्र सघ और उसके अगों द्वारा भी इसका कम ही उपयोग हुआ और

चूकि राज्यों के अलावा नागरिक अपने मामले इसके समक्ष नही ला सकते थे और
राज्य सारे महत्त्वपूण मामलो को अपने घरेलू क्षेत्राधिकार के अ तगत रखना
पस द करते थे इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय यायालय क पास काम बहुत थोडा रह गया।
यह भी उल्लेखनीय है कि जहां पुराने यायालय क अनिवाय अधिकार क्षेत्र को
44 देशो न स्वीकार किया था वहा इतनी भारी सख्या म स्वतन्त्र देशा के गठित
होने के बाद भी सन 1967 तक केवल 43 राज्या ने ही ऐसा अनिवाय क्षेत्र स्वी
कार किया था। फिर यह भी देखा गया कि अ तर्राष्ट्रीय यायालय के निणय को
लागू करना इतना आसान सिद्ध नही हुआ जो इस यायालय ने निणय दिये
विवादी पक्षा न उसकी भी अपेक्षा की। यथा कफ्यू चनल' क निणय म यायालय
ने अल्बानिया को ब्रिटेन का हर्जाना देना तय किया परन्तु अल्बानिया ने उसे नही
चुकाया। यही स्थिति घाना की सैनिक कायवाही के खच के प्रश्न पर यायालय
द्वारा दिय गय परामश पर हुई या दक्षिण पश्चिम अफ्रीका क मामल म ऐसी ही
अवहेलना हुई। सुरक्षा परिषद और महासभा ने भी कानूनी मामलों म इसको
अधिक तरजीह नही दी और जहा कही विवादी छोटे राष्ट्रा ने ऐसा सुझाव दिया
कि मामल को यायालय के सुपुद किया जाय वहा इसकी उपेक्षा की गई।

सचिवालय पुराने राष्ट्र सघ के जिस अग को लगभग ज्या का त्यो रख लिया
गया है वह अग है अ तर्राष्ट्रीय सचिवालय। चाटर के 15 वें अध्याय मे अनुच्छेद
97 स 101 तक इसक गठन का वणन किया है। अनुच्छेद 7 क अ तगत इस सघ
का मुख्य अग बनाया गया है। इसका गठन इस प्रकार किया जाता है कि यह
अपना बहुराष्ट्रीय रूप बनाये रखे। इसका प्रधान प्रशासनिक अधिकार महासचिव
है जो सघ का एक बहुत उत्तरदायी प्रशासक है वही सघ के समस्त कमचारिया
को नियुक्त करता है जिनस आशा की जाती है कि वे अपने राष्ट्र के नागरिक
रहत हुए भी सचिवालय म काम करते समय अ तर्राष्ट्रीय सगठन के प्रति निष्ठा
वान रहेंगे और निष्पक्ष होकर अपना उत्तरदायित्व निभायेंगे।

महासचिव सयुक्त राष्ट्र सघ के 'चाटर' के अनुच्छेद 97 म कहा गया है कि
सचिवालय म एक महासचिव तथा सघ की आवश्यकता के अनुसार अ य कम
चारी होगे जि हें महासचिव नियुक्त करेगा। महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा
परिषद की सस्तुति पर महासभा के द्वारा की जाती है। इस प्रकार पुरान राष्ट्र
सघ की परम्परा का अनुमोदन किया गया है। पर तु यह उल्लखनीय है कि पुराने
राष्ट्र सघ के अ तगत महासचिव की जो स्थिति थी उससे कही अधिक शक्ति
सम्प न वतमान सयुक्त राष्ट्रसघ का महासचिव है। राष्ट्र सघ की व्यवस्था के
अ तगत महासचिव को राजनीतिक कार्यों का अधिकार न था यद्यपि व्यवहार मे
वह ऐसे काय करने लगा था लेकिन जसा प्रथम महासचिव ड्रमड ने स्वीकार किया
था —'यह काय उसे परदे के पीछे रहकर करना पडता था। परन्तु नय 'चाटर' के

अंतर्गत महासचिव को यह अधिकार दिया गया है कि वे शांति और सुरक्षा के गम्भीर खतरे के उपस्थित होने पर सुरक्षा परिषद का ध्यान आकर्षित कर सकें।

वैसे भी जैसा क्लाइड ईगलटन ने ठीक ही कहा है कि महासचिव का पद प्रशासक पद से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यह पद इतना प्रभावशाली और व्यापक महत्व का हो सकता है जितना इसमें पदासीन व्यक्ति उसे बनाने में समर्थ हो सके क्योंकि लिखित प्रावधान की सीमायें भले ही निर्धारित हों लेकिन व्यवहार में उन सीमाओं को फैलाया भी जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव के बारे में त्रिगवली के नाम की संस्तुति 30 जनवरी, 1946 को सुरक्षा परिषद ने की जिसे महासभा ने 3 मतों के विरुद्ध 46 से पास किया पर महासभा साधारण बहुमत से ही इसे पास कर सकती थी। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि डम्बरटन आक्स के सम्मेलन में चीनी प्रतिनिधि ने यह प्रस्ताव सुझाया था कि महासचिव के पद के लिए छोटे राष्ट्रों से ही उम्मीदवार लिये जायें यद्यपि इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया गया परन्तु व्यवहार में यही परम्परा पड़ गई। त्रिगवली के बाद शीत युद्ध के काल में उन्हें दुबारा कार्यकाल मिलना अधिक कठिन हो गया और वे अपना दूसरा कार्यकाल पूरा नहीं कर पाये। और उनकी पुनः नियुक्ति न करके उनके कार्यकाल को 14 राष्ट्रों के प्रस्ताव के अनुसार 3 वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया था। पर जब ली ने कोरिया युद्ध के दौरान सन 52 में इस्तीफा दे दिया तो उनके उत्तराधिकारी की खोज में तटस्थ राष्ट्रों की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई और तब डाग हेमरशोल्ड को सुरक्षा परिषद ने प्रस्तावित किया जो अपना कार्य भार अधिक प्रभावशाली ढंग से चला सके और उनकी निष्पक्षता अधिक मान्य ठहरी। फलस्वरूप उनकी पुनर्नियुक्ति की संस्तुति में वह अड़चन नहीं पड़ी जो ली के बारे में हुआ था। डाग हेमरशोल्ड काफी सफल महासचिव सिद्ध हुए यद्यपि कांगो कार्यवाही के दौरान वह रूसी पक्ष में लोकप्रिय नहीं रह गये पर भारत समेत सभी विलग्न और तटस्थ राष्ट्रों का उन्हें सदा ही भरपूर सहयोग मिला। उनकी हवाई दुर्घटना में 18 सितम्बर, 1961 को मृत्यु हो गई। तत्काल ही उनके उप महासचिव को कार्यकारी महा सचिव बना दिया गया। यह वह समय था जबकि रूस अपने मशहूर 'ट्रोइका' प्रस्ताव पर जोर दे रहा था जिसके अनुसार एक महासचिव की जगह तीन महा सचिवों का मण्डल सुझाया गया था। हेमरशोल्ड की मृत्यु के बाद रूस ने फिर सुझाया कि 4 अनुसचिवों का एक निर्देशक मण्डल नियुक्त किया जाय जिसमें एक को उसका अध्यक्ष चुन लिया जाय और बारी बारी से वे अपने अध्यक्ष चुनते रहें। इससे नई नियुक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ेगी पर अन्य सदस्यों ने इस प्रस्ताव को नहीं माना। फिर रूस और अमेरिका अंतरिम नियुक्ति के लिए राजी हो गये और इस प्रबन्ध के लिए भी सहमत हो गये कि अंतरिम महासचिव

की सहायता के लिए 4 या 5 अनुसचिव नियुक्त किये जाय जिनसे महासचिव अपनी इच्छानुसार परामर्श कर सके बर्मा के प्रतिनिधि यू थाट के नाम पर सहमत हो गयी पर यू थाट ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया कि पाच अनुसचिव उस तरह से नियुक्त किये जाए जैसा रूस अमेरिका ने प्रस्तावित किया है अर्थात एक-एक अनुसचिव अमेरिका, रूस लातिनी अमेरिका अफ्रिका का हो और महासचिव एशिया का। अन्त मे रूस और अमेरिका इन अनुसचिवो की नियुक्ति यू थाट पर छोडने को राजी हुए और उन्होने सचिवालय मे काय करने वाले पाच व्यक्तियो को उन पदो पर नियुक्त कर दिया। साथ ही शपथ ग्रहण करने के बाद अपने कार्य मे सहयोग के लिए कुछ परामश दाताओ के चुनने की बात कही जो सचिवालय के बाहर के भी हो सकते हैं। उनमे सबसे पहले अमेरिका के राल्फ बुच और रूस के जाज जी, आकदेव नियुक्त हुए। अपने अतरिम काल को सफलता पूर्वक व प्रभावशाली ढग से निभाने के बाद उन्हे 3 नवम्बर, 1962 को सुरक्षा परिषद की सस्तुति होने पर 4 वष के लिए महासचिव नियुक्त कर दिया गया। यू थाट ने अपना कायभार हेमरशोल्ड से भी अधिक सफलता के साथ निभाया। वे बहुत ही लोकप्रिय महासचिव सिद्ध हुए। उनकी निष्पक्षता, सरल हृदयता और कायकुशलता की धाक जम गई पर वे दूसरे काय काल के लिए अनिच्छुक रहे और ऐसी अनिच्छा उन्होने पहले ही प्रकट कर दी थी। परन्तु बडे और छोटे, विलग्न और सलग्न राष्ट्रो के अत्यन्त आग्रह पर यू थाट पुन पाच वष के लिए कायभार सभालने को राजी हो गये। इस काय काल के समाप्त होने पर फिर यह समस्या उठी और उनके उत्तराधिकारी की खोज होने लगी। यह उल्लेखनीय है कि उम्मीदवारो की सूची मे प्राय सभी नाम तटस्थ या विलग्न राष्ट्रो के थे और अन्त मे, उत्तराधिकारी के रूप म कुत वालधेम चुने गये जो यूरोप के तटस्थ राज्य आस्ट्रिया के नागरिक हैं। वालधेम यू थाट के योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हो रहे हैं और उन्होने अपनी निष्पक्षता निभयता और सहकारिता भावना की एक अच्छी छाप सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्यो पर छोडी है। वियतनाम, बागलादेश, पश्चिम एशिया मे अरब इजरायली युद्ध, ईरान ईराक युद्ध ऐसी अनेक विस्फोटक स्थितियो म वालधेम ने एक प्रभावशाली और महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

महासचिव के काय सयुक्त राष्ट सघ मे महासचिव का पद बडे महत्व का सिद्ध हुआ। प्रारम्भिक आयोग मे महासचिव के निम्नाकित काय बताय है

(1) सामान्य प्रशासन तथा कायकारी काय,
(2) प्राविधिक काय,
(3) वित्तीय काय,
(4) सचिवालय सगठन एव प्रशासन,
(5) प्रतिनिधित्व का काय,

(6) राजनीतिक काय ।

(1) सामान्य प्रशासन तथा कायकारी काय 'चाटर' के अनुसार महा सचिव सयुक्त राष्ट्र सघ का मुख्य प्रशासक अधिकारी है। वही सघ और उसके सदस्यो के बीच सम्पक-सूत्र का काम करता है। सयुक्त राष्ट्र सघ और उसके अग और अभिकरणो तथा सघ के सदस्यो के बीच सारा पत्र व्यवहार उसके माध्यम से होता है। इस दृष्टि म वह एक सुनहली कडी है जो सघ को उसके विशिष्ट अभिकरणो म जोडती है महा सचिव ही सघ के सभी अगों के निर्णयों को कार्यान्वित करने, उन्ह परस्पर समन्वय करने की व्यवस्था करता है। वह सघ के आर्थिक कायक्रमो को विकसित करने व लागू करने के लिए तथा उनमें तालमेल बैठाने के लिए मुख्य भूमिका अदा करता है। पारस्परिक हितो के कार्यों के सम्बन्ध मे आर्थिक व सामाजिक परिषद के अनुरोध पर उसने एक सहकारी समिति गठित कर ली है जिसका वह प्रधान होता है तथा अभिकरणो के प्रशासनिक अधिकारी उसके सदस्य होते हैं।

वह सुरक्षा परिषद की बैठको मे महा सचिव की तरह स्वय भाग लेता है और महासभा की प्रक्रिया नियमावली के अन्तगत वह या उसका प्रतिनिधि महा सभा मे भाग ले सकते हैं और लिखित या मौखिक वक्तव्य दे सकते हैं। वह महा सभा को सघ के कार्यों के सम्बन्ध मे वार्षिक प्रतिवेदन या रपट देता है। गुडरिच और हैम्बो के अनुसार इस अनुच्छेद के अन्तगत (97) महा सचिव को इतने विस्तृत अधिकार प्राप्त है कि दूसरे अनुच्छेदो के अन्तगत काय भी उसमे समा जाते हैं। इस अनुच्छेद के अन्तगत उसे दो प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं

(1) प्रशासनिक एव प्राविधिक काय सम्बन्धी।

(2) वह काय जिन्हें वह अपने विवेकाधीन अधिकारो से करता है।

पहले प्रकार के काय के अन्तर्गत निम्नांकित बातें आती हैं

(1) नियमानुसार विशेष अधिवेशन आमन्त्रित करना,

(2) सदस्यो को सूचनाए भेजना,

(3) बैठको की कायवाही रखना,

(4) कमचारियो की नियुक्ति करना और उन्हे काय सम्बन्धी निर्देश देना,

(5) वक्तव्य, प्रतिवेदन, प्रस्ताव, दस्तावेज आदि छपवाना, अनुवाद करवाना तथा उन्ह सभाल कर रखना।

(6) चाटर के अन्तगत अन्य निर्धारित कार्यों को करना तथा महा सभा सुरक्षा परिषद द्वारा शान्ति एव सुरक्षा परिषद सम्बन्धी कायवाही करने या उसे सुरक्षा परिषद से हटाये जाने की महा सभा को सूचना देना।

दूसरे प्रकार के कार्यों के अन्तगत वह निम्न काय करता है

(1) महा सभा, सुरक्षा परिषद, न्यास परिषद तथा आर्थिक व सामाजिक परिषद की अन्तरकालीन काय सूची तयार करता है तथा उन सूचनाओ को भी उनमे शामिल कर सकता है जिन्हे वह आवश्यक समझता है।

(2) महा सचिव को सबसे महत्वपूण अधिकार यह प्राप्त है कि वह अनुच्छेद 99 के अन्तगत ऐसे मामलो की सूचना सुरक्षा परिषद को देता है या सुरक्षा परिषद का ध्यान उन मामलो की ओर आकृष्ट कर सकता है जिसे वह अपने विवेकानुसार अन्तर्राष्ट्रीय शाति व सुरक्षा के लिए खतरनाक समझे। ऐसे अधिकार पुराने राष्ट्र सघ के महा सचिव को प्राप्त नही थे।

सघ के अगो के समक्ष अपने लिखित या मौखिक वक्तव्यो के द्वारा या जिस तरह से वह स्थितियो की व्याख्या प्रस्तुत करते है उसके द्वारा वे राष्ट्र सघ के विविध अगो की कायवाही को प्रभावित करते है। महा सचिव का यह भी काम माना जाता है कि वे प्रतिनिधियो के सदस्यता के परिचय पत्रो की जाच करें। चीन की साम्यवादी सरकार की स्थापना के बाद नये प्रतिनिधि की नियुक्ति पर त्रिगवेली ने सुरक्षा परिषद को अपनी सम्मति से परिचित कराया। सन 1956 मे हगरी और सन 1958 मे ईराक के प्रतिनिधि के नियुक्ति के सवाल पर भी महा सचिव ने पहले अडगा लगाया पर फिर स्थिति बदलने पर नई नियुक्तियो को मान्यता दे दी।

(2) प्राविधिक काम महा सचिव इसके अन्तर्गत उन सभी सवालो का अध्ययन करवाता है, प्रतिवेदन बनवाता है, टिप्पणिया व सर्वेक्षण करवाता है जो महा सभा के समक्ष लाये जाते हैं। महा सचिव सघ के सदस्यो तथा सघ के अगो को अपनी विशेषज्ञता की सेवा का लाभ पहुचाता है। वह आर्थिक एव सामाजिक परिषद के अनुरोध पर विकासशील देशो की आर्थिक स्थितियो को सुधारने के लिए समस्याओ का अध्ययन तथा उसके सम्बन्ध मे समाधान खोजने का प्रयत्न करता है।

इस परिषद के अनुरोध पर महा सचिव ने सचिवालय के अन्दर एक सांख्यिकीय इकाई का गठन कर रखा है जिसका काम है हर तरह की सूचनाए इकट्ठी करना, उनकी परीक्षा करना, उनका समीक्षात्मक रूप मे रखना तथा विशिष्ट अभिकरणो की ऐसी ही सांख्यिकीय कायवाहियो का समन्वय करना। सचिवालय का अपना एक सूचना कार्यालय है जिसकी शाखाए ससार के लगभग 40 केंद्रो मे स्थापित है जो सूचनाए इकट्ठा करती हैं और वितरित करती हैं। यही कार्यालय सघ के कायवाहियो तथा प्रतिवेदनो की छपाई के लिए जिम्मेदार है।

वित्तीय काय महा सचिव के जिम्मे वित्तीय प्रशासन भी सौंप गया है। वह महा सभा के अधिकार क्षेत्र के अन्तगत तथा उससे सम्बन्धित नियमो के अधीन सघ के आय-व्यय तैयार करने, धन के वितरण, खच के नियत्रण, सदस्यों से धन

एक वास्तविक अ तर्राष्ट्रीय प्रशासन सेवा का उदघाटन किया गया है। यद्यपि व्यवहार मे अनेक बार सदस्य राष्ट्रो के राजनीतिक अध्यक्षो ने सचिवालय मे काम कर रहे अपने नागरिक कमचारियो को सचिवालय से हटाने म और इस तरह उसमे लगाने मे सफल हस्तक्षेप किये हैं।

राजनीतिक काय महासचिव केवल एक प्रशासकीय अधिकारी ही नही है बल्कि, अनुच्छेद 99 महासचिव को राजनीतिक अधिकार भी प्रदान करता है। इसीके अ तगत वह किसी भी ऐसी विस्फोटक राजनीतिक परिस्थिति की ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान कभी भी आकृष्ट कर सकता है जो उसकी दृष्टि मे अ तर्राष्ट्रीय शाति और सुरक्षा को खतरे मे डाल रही हो। ऐसा अधिकार पुराने राष्ट्सघ के महासचिव का नही प्राप्त था। इस अधिकार के अ तगत महासचिव का दर्जा सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यो की तरह हो जाता है जो उस अनहोनी स्थिति मे जबकि सुरक्षा परिषद का कोई भी सदस्य किसी एक विशेष खतरे के बारे मे प्रश्न न उठाना चाहे तब अपनी जबदस्त भूमिका निभाते हुए महासचिव उस मामले को सुरक्षा परिषद मे ला सकते है अपने प्रभाव का उपयोग कर सकते हैं। वैसे महासचिव को ऐसा अधिकार महासभा के बारे म नही प्राप्त है। परतु प्रक्रिया नियमावली के नियम 62 के अ तगत वह लिखित वक्तव्य दकर या मौखिक रूप से अपनी ओर स समस्या उठा सकता है तथा अपने वार्षिक प्रतिवेदन मे भी इसका उल्लेख कर सकता है यथा सन 1965 से यू थाट ने वियतनाम की स्थिति क सम्ब ध म अपने वार्षिक प्रतिवेदन म कहा था कि वहा पर सैनिक कायवाही के द्वारा शाति नही स्थापित हो सकती है और उस समस्या का समाधान केवल वार्ता लाप के द्वारा ही हो सकता है—इत्यादि।[23]

महासचिव का बढता हुआ राजनीतिक प्रभाव

वस्तुत प्रारम्भ से ही महासचिव को राजनीतिक प्रभाव के बढने का क्रम शुरू हो गया था। प्रथम महासचिव त्रिगवेली ने शीत युद्ध स उत्पन्न परिस्थिति मे अपने राजनीतिक प्रभाव का उपयोग करना शुरू किया था यथा ईरान की शिकायत के बारे मे उसे सुरक्षा परिषद की काय सूची से हटाये जाने पर उन्होने एक कानूनी प्रतिवेदन करवाया था जिसमे यह सुझाव था कि सुरक्षा परिषद का यह कदम न्याय-सगत था। इसी प्रकार फिलस्तीन के मामले को सुलझाने मे उनका प्रयास चला। 1950 मे साम्यवादी चीन को सघ की सदस्यता प्रदान किये जाने के बारे मे जो गतिरोध उत्पन्न हुआ उसे दूर करने मे भी उनकी भूमिका यद्यपि सफल नही हुई पर उन्होने प्रभाव डाला।[4] उन्होने यह सुझाया था कि सुरक्षा परिषद इस बात की जाच कराए कि चीन की कौन सी सरकार सघ के दायित्वो के पालन करने मे समथ है। कोरिया मे युद्ध की स्थिति होन पर कोरियाई आयाग

दान की वसूली और सघ के धन की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी है। वह सघ क आय-व्यय को प्रशासकीय एव आय व्यय परामर्शीय समिति द्वारा जांच के लिए महा सभा की पचम समिति को विचाराथ सौंपता है और उसके बाद महा सभा की स्वीकृति के लिए सौंपता है। महा सभा म भी वह आय-व्यय को पारित कराने म प्रभावशाली भूमिका अदा करता है। इसी प्रकार विशिष्ट अभिकरणो के आय व्यय के सम्बन्ध म विचार विमश करता है और निर्धारित समझौते के अनुसार इस महा सभा के सामन प्रस्तुत करता है (दिसम्बर 1961 म महा सचिव ने स्थायी सदस्यो को सूचित किया कि सघ दिवालिया होन जा रहा है और वह अपने काय सचालन क लिए 25 वर्षीय 2 प्रतिशत ब्याज पर सयुक्त राष्ट्र सघीय बाण्ड को राष्ट्रीय कार्यालयो एव राष्ट्रीय बको को बेचने के लिए तैयार है और महा सचिव 200 लाख डालर के बाड बेचे जाने के लिए महा सभा को राजी करन म सफल हुए तथा 150 डालर मूल्य के बांड उन्होने बेचे भी। इस प्रकार आय-व्यय सम्बन्धी कार्यों म महा सचिव महत्वपूर्ण भूमिका निभाते आये हैं। अनेक शाति स्थापना के कार्यों मे खच के बारे म जो कठिनाइया समय समय पर उठी उन्हें हल करने मे महासचिव ने अपने प्रभाव का अच्छा उपयोग किया।

सघ के प्रतिनिधि के रूप मे महासचिव अन्तर्राष्ट्रीय सस्था का प्रतिनिधित्व करता है। वही सघ क अतगत सघ की ओर स पत्र व्यवहार करता है राजनयिको का स्वागत करता है अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे सघ का प्रतिनिधित्व करता है सदस्य राष्ट्रो के प्रधान जब कभी सयुक्त राष्ट्र सघ क मुख्यालय मे आते हैं तो वही उनका स्वागत करता है। सघ की ओर से राष्ट्रो को बधाई और शोक सवेदना भी उसके ही माध्यम से की जाती है। सघ की ओर से सविदाओ पर वही हस्ताक्षर करता है। सघ के प्रतिनिधि के रूप मे महीने मे एक बार वह पत्रकार सम्मेलन बुलवाता है।

सचिवालय सगठन एव प्रशासन सयुक्त राष्ट्र सघ के अनुच्छेद 101 म महासचिव को यह अधिकार दिया गया है कि वह महासभा द्वारा निर्धारित नियमो के अधीन योग्यता दक्षता क्षमता सत्यनिष्ठा तथा विस्तत भौगोलिक वितरण को ध्यान मे रखकर सचिवालय के कमचारियो की नियुक्ति करेंगे। इन नियुक्तियो म सघ के अन्य अगो के कमचारी भी शामिल हैं। ये सारे कमचारी महासचिव के निर्देश म रहते हैं। अनुच्छेद 100 मे यह प्रावधान किया है कि महासचिव व उसके कमचारी अपने कत्तव्य के निर्वाह मे न तो किसी सत्ता के आदेश को मानेंगे न प्राप्त करेंगे। और न वे ऐसा कोई काय करेंगे जिसस उनके अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी होने या केवल सघ के प्रति उत्तरदायी होने की भावना पर कोई आघात पहुचेगा। महासचिव को ही सचिवालय के निर्देशनेव सचालन के लिए उत्तरदायी बनाया गया है और सभी कमचारी उसके अनुशासन रहते हैं। इस तरह

एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन सेवा का उदघाटन किया गया है। यद्यपि व्यवहार म अनेक बार सदस्य राष्ट्रो के राजनीतिक अध्यक्षो ने सचिवालय मे काम कर रहे अपने नागरिक कमचारियो को सचिवालय से हटाने मे और इस तरह उसमे लगाने म सफल हस्तक्षेप किये हैं।

राजनीतिक काय महासचिव केवल एक प्रशासकीय अधिकारी ही नही है बल्कि, अनुच्छेद 99 महासचिव को राजनीतिक अधिकार भी प्रदान करता है। इसीके अन्तगत वह किसी भी ऐसी विस्फोटक राजनीतिक परिस्थिति की ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान कभी भी आकृष्ट कर सकता है जो उसकी दृष्टि म अन्तर्राष्ट्रीय शाति और सुरक्षा को खतरे म डाल रही हो। ऐसा अधिकार पुराने राष्ट्रसघ के महासचिव को नही प्राप्त था। इस अधिकार के अन्तगत महासचिव का दर्जा सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यो की तरह हो जाता है जो उस अनहोनी स्थिति मे जबकि सुरक्षा परिषद का कोई भी सदस्य किसी एक विशेष खतरे के बारे म प्रश्न न उठाना चाहे तब अपनी जबदस्त भूमिका निभाते हुए महासचिव उस मामले को सुरक्षा परिषद म ला सकते हैं अपने प्रभाव का उपयोग कर सकते हैं। वैसे महासचिव को ऐसा अधिकार महासभा के बारे मे नही प्राप्त है। परतु प्रक्रिया नियमावली के नियम 62 के अन्तगत वह लिखित वक्तव्य देकर या मौखिक रूप से अपनी ओर स समस्या उठा सकता है तथा अपने वार्षिक प्रतिवेदन मे भी इसका उल्लेख कर सकता है यथा सन 1965 स यू थाट ने वियतनाम की स्थिति के सम्बन्ध म अपने वार्षिक प्रतिवेदन म कहा था कि वहा पर सैनिक कायवाही के द्वारा शाति नही स्थापित हो सकती है और उस समस्या का समाधान केवल वार्तालाप के द्वारा ही हो सकता है—इत्यादि।[23]

महासचिव का बढता हुआ राजनीतिक प्रभाव

वस्तुत प्रारम्भ से ही महासचिव को राजनीतिक प्रभाव के बढने का क्रम शुरू हो गया था। प्रथम महासचिव त्रिगवेली ने शीत युद्ध स उत्पन्न परिस्थिति म अपने राजनीतिक प्रभाव का उपयोग करना शुरू किया था यथा ईरान की शिकायत के बारे म उसे सुरक्षा परिषद की काय सूची से हटाये जाने पर उन्होने एक कानूनी प्रतिवेदन करवाया था जिसमे यह सुझाव था कि सुरक्षा परिषद का यह कदम न्याय सगत था। इसी प्रकार फिलस्तीन के मामले को सुलझाने मे उनका प्रयास चला। 1950 मे साम्यवादी चीन को सघ की सदस्यता प्रदान किय जाने के बारे मे जो गतिरोध उत्पन्न हुआ उसे दूर करने मे भी उनकी भूमिका यद्यपि सफल नही हुई पर उन्होने प्रभाव डाला।[4] उन्होने यह सुझाया था कि सुरक्षा परिषद इस बात की जाच कराए कि चीन की कौन सी सरकार सघ के दायित्वो के पालन करने में समथ है। कोरिया मे युद्ध की स्थिति होन पर कोरियाई आयाग

स प्रमाणित करा कर उन्होने दक्षिण कोरिया पर तथाकथित उत्तर कोरिया के हमल की सूचना सदस्या म फैलाई (महासभा म उन्होंने यह स्पष्ट किया कि उनकी यह कायवाही अनुच्छेद 99 के अन्तगत की गई थी) यही स्थिति यूनान के सम्बन्ध म और बलिन के नाक बन्दी दूर कराने के बारे म दोना पक्षा को बातचीत क लिए राजी कराने म उनकी भूमिका निभा रहा है। सयुक्त राष्ट्र के द्वारा शाति स्थापित करन के सम्बन्ध मे उन्होने एक 10 सूत्रीय 20 वर्षीय कायक्रम की भी घोषणा की थी। जिसे महासभा ने अपन पचम अधिवेशन म 5 के विरुद्ध 51 मतो से स्वीकार किया था और महासचिव के काय का सराहा था।

इस प्रकार प्रथम महासचिव के कायकाल म राजनीतिक महत्व की जिम्मेदारी का दायरा त्रिगवली ने काफी बढा दिया था पर इस प्रक्रिया मे वे शीत युद्ध की राजनीति के शिकार हो गये और उनक विरुद्ध सोवियत खेमे का लगातार विरोध उनके पुनर्निवाचन म जबदस्त दीवार बनकर खडा हो गया। उनके उत्तराधिकारी स्वीडन के डाग हैमरशोल्ड इस अथ म उनस कही अधिक सफल महासचिव सिद्ध हुए क्योंकि जहा उन्होन अपने पूववर्ती की तरह राजनीतिक प्रभाव का काफी उपयोग किया और महासचिव के पद की गरिमा और क्षमता को काफी बढाया वहा अपन पूववर्ती स अधिक कूटनीतिक चातुय गहरी सूझ बूझ और व्यापक सहानभूति का परिचय भी दिया। उन्होंने महासचिव के बढते हुए उत्तरदायित्व और क्षमता के दृढ स्तम्भा का निर्माण किया और इन दृढ स्तम्भों के निर्माण मे उन्होन तटस्थ और विलग्न राष्ट्रो के योगदान का अधिकाधिक प्रयोग किया। इससे व अल्पकाल म ही एशिया, अफ्रिका के पुराने और नवोदित तटस्थ और विलग्न राष्ट्रा के अत्य त स्नेह भाजन बन गय। इनके ही सहारे वे शीत युद्ध के बडे ताकतो के दाव पेच स अपने को बचाने मे समय बन सके। यह कहा जा सकता है कि महासचिव के तथा सघ की अधिशासी वतमान शक्ति को उन्हाने ही सही माने मे प्रतिष्ठित कर दिया। उनकी यह धारणा थी जिसे उन्होने अपनी 1961 के वार्षिक प्रतिवेदन मे प्रकट भी किया था कि जब 'चाटर' का निमाण हुआ था उस समय सयुक्त राष्ट्र सघ का स्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन रूपी सस्थान की तरह का था जो क्रमिक विकास कर अब ससदीय सम्मलन के रूप मे हो गया है। जब 'चाटर बना था उसम अधिशासी प्रबन्ध के सम्बन्ध म बहुत ही कहा गया था क्योंकि तत्काल सघ का सगठन सम्मेलनात्मक भावना पर टिका हुआ था परन्तु बदली हुई परिस्थिति म यदि सघ को विश्व जनमत की भावना तथा 'चाटर मे दिये हुए अपने दायित्वा के अनुरूप काय करना है तो सघ को अपने अधिशासी प्रबन्ध को विकसित करना होगा।

सदर्भ

1 शूमा – इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स, प० 207
2 देखिए केलसन का लेख जरनल आव पॉलिटिक्स 134 59
समिति (1) के अन्तगत हुए विवचन मे यह स्वीकारा गया है कि प्रस्तावना, उद्देश्य (अनुच्छेद 1) और सिद्धान्त (अनुच्छेद 2) मे स्पष्ट अन्तर निर्धारित करना कठिन है।
3 इसम सोवियत सघ के दो गणराज्य बाइलो रशा तथा यूक्रेन भी शामिल किए गये हैं। फ्राको स्पेन के प्रवेश मे पहले तो बडा अडगा डाला गया लेकिन शीत युद्ध के चलने के बाद फ्राकोस्पेन अमेरिकी राजनीति का मोहरा बन गया और उसका प्रवेश आगल अमेरिकी गुट ने आसान बना लिया।
4 लियाग एडमीशन आव इडियन स्टेट टु यू एन, 43 अमेरिकन जरनल ऑव इन्टरनेशनल लॉ कहा गया कि गत युद्ध मे महत्वपूण योगदान को दृष्टि मे रखकर सस्थापको (प 133 144, 154) ने पराधीन रहते हुए भी भारत को मूल सदस्यो की सूची मे रख लिया।
5 शूमा, वही प
6 गुडरिच एव हेम्ब्रो (कमेन्ट्री आन यू० एन० चाटर 1949, पृ० 41)
7 वही, पृ० 144
8 हीअरिंग बिफोर दि कमेटी आन फारिन रिलेशन आन दि यू० एन० चाटर जुलाई 2 1945, प० 237
9 यू० एन० सी० आई० ओ० वरबेटिम मिनिटस आदि पृ० 8, डाक्यूमेन्ट 8, पृ० 619
10 हीअरिंग बिफोर वही, पृ० 237
11 राष्ट्रसघ के विधान मे सशोधन के लिए सभी सदस्य राज्यो की सहमति जरूरी थी।
12 सन् 1961 के अपने वार्षिक प्रतिवेदन म हेमरशोल्ड ने यह कहा।
13 गुड स्पीड, नेचर ऐंड फक्शन ऑव इन्टरनेशनल आगनाइजेशन 1967
14 पाच अधिवेशन अब तक बुलाये जा चुके हैं। पहला फिलस्तीनी समस्या पर सन 1947 मे दूसरा इसी समस्या पर सन 1948 मे तीसरा हगरी की स्थिमि पर सन 1956 मे, चौथा सन 1963 मे सघ के आर्थिक सकट पर, पाचवा मई 1967 म दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के सरक्षित प्रदेश के प्रशासन के हस्तातरण पर विचार करने के लिए बुलाया।
15 राष्ट्र सघ के आर्थिक कायकलापो पर टिप्पणी करत हुए लियोनाड ने लिखा है कि लगभग 20 वर्षों मे ही सरकारें अपक्षाकृत समान आर्थिक व

वित्तीय समस्याओ के दृष्टिकोण से अलग-थलग रहने की नीति को छोडकर अ तर्राष्ट्रीय सगठन द्वारा अत्यधिक सहयोग की नीति पर आ गये हैं। इतिहास म पहली बार अ तर्राष्ट्रीय सभाओ की काय सूची म इतने अधिक आर्थिक प्रश्न चुनी मदी कच्चे माल की प्राप्ति के साधन—वित्तीय पुनर्निर्माण इत्यादि रखे गये हैं। इसका अथ यह नही है कि इन सभी क्षेत्रों म योजनायें बनायी गई हैं अथवा ठोस नीतिया सामने आई हैं तो भी वह बहुत महत्वपूर्ण था कि उनके द्वारा स्थापित किये।

16 दक्षिण पश्चिमी अफ्रिका भी एक समादेशित प्रदेश था जो दक्षिण अफ्रिका के शासनातगत रखा गया था। न्यास व्यवस्था बनने के बाद दक्षिण अफ्रिका ने इसके सम्बन्ध म समझौता करने से इन्कार कर दिया। महासभा के लगातार आदेशो के बावजूद दक्षिण अफ्रिका इस सम्बन्ध म विरोध ही करता रहा। अ तर्राष्ट्रीय न्यायालय को मामला सौंपा गया तो न्यायालय ने सम्मति दी कि दक्षिण अफ्रीका इस प्रदेश को न्यास पद्धति म रखने के लिए बाध्य नही पर उसका कत्तव्य है कि वह इस क्षेत्र के सम्बन्ध म वार्षिक प्रतिवेदन देता रहे और यहा के निवासियो की याचिकाए महासभा को भेज तथा सयुक्त राष्ट्र सघ को इस प्रदेश के निरीक्षण का अधिकार प्राप्त है। 1965 म अपने निणय म न्यायालय ने महासभा के इस अधिकार को भी माना कि वह मौलिक याचिकाए भी सुन सकती हैं। पर दक्षिण अफ्रिका ने इन सबको सुना अनसुना कर दिया।

17 स्वेच्छा से प्राप्त न्यास प्रबन्ध के मामले मे पश्चिमी ईरियान का क्षेत्र कुछ समय के लिए रखा गया था। महासभा के दूसरे अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधि ने यह प्रस्ताव रखा था कि अस्वशासी प्रदेश समझौतो के द्वारा स्वच्छा पूवक न्यास व्यवस्था के अ तगत रखे जाय और यह आशा प्रकट की कि ऐसे प्रदेशो के प्रशासक राष्ट्र उक्त समझौते का प्रारूप प्रस्तुत करेंगे। यह प्रस्ताव स्वीकार भी कर लिया गया लेकिन बाद मे महासभा मे यह आपत्ति उठायी गई कि इस दो तिहाई बहुमत से नही पास हुआ। बाद म फिर मतदान हुआ और उसमे बराबर बराबर मत पडने से यह प्रस्ताव ना पास हो गया।

18 शुमा —इन्टरनेशनल पोलिटिक्स लिंगवट मुरे के अनुसार यह समादेशित व्यवस्था का एक सशोधित और विकसित रूप है जबकि जनरल स्मटस ने (दक्षिण अफ्रीका के) इसे समादेशित व्यवस्था से अधिक व्यापक बताया है। सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रथम महासचिव त्रिगवेली के अनुसार ससार मे यह पहला अवसर था जबकि सरकारी प्रतिनिधियो की एक अ तर्राष्ट्रीय स्थायी समिति केवल पिछडे हुए लोगो की भलाई के काय के लिए गठित की गई।

19 न्यास परिषद के प्रथम अध्यक्ष बी० सयरे न कहा था 'जब तक एशिया और अफ्रीका मे पिछडे हुए प्रदश हैं, हम स्थायी शान्ति की नीवो का अभाव रहेगा न्यास व्यवस्था पिछडे हुए लोगा मे ऐसी क्राति की प्राप्ति का व्याव हारिक यत्र प्रदान करती है।
20 सिच वेविल स्टीफेस दि एस० जी० आव् दि यू० एन० 1952 पृ० 19
21 प्रथम महासचिव त्रिगवली ने अपने इस राजनीतिक अधिकार का काफी उपयोग व दुरूपयाग किया यथा ईरान की शिकायत के बारे म या फिलस्तीन के प्रश्न को सुधान के लिए व 1950 मे साम्यवादी चीन की सघ की सदस्यता के प्रश्न पर जिम म उन्होन सुझाया—सुरक्षा परिषद इस बात की जाच कराए कि चीन की कौन सी सरकार सदस्यता के दायित्वा का पालन करने मे समथ है। कोरिया के बारे मे महासचिव न अपन राजनीतिक अधिकार का दुरुपयोग करत हुए दक्षिण कोरिया पर उत्तर कोरिया की तथाकथित आक्रमण की सूचना की पुष्टि कोरियाई आयाग से कराकर सुरक्षा परिषद की बठक बुलाई।
22 'The people of China have a constitutionl right under the charter to be representated by the government that has power to be representative there of'
23 उस दस सूत्री कायक्रम म अनक प्रमुख बातें थी।

नई लडाई की शुरुआत : एक ठण्डी लडाई : शीत युद्ध

1945 का साल बीतने नही पाया कि दूसरा विकराल महायुद्ध समाप्त हो गया। जैसा हम बता चुके हैं, पहले यूरोप के मोर्चे पर नाजी और फासी शक्तिया पराजित हुई, फिर जापान पर दो परमाणु बम के गिरते ही उस मोर्चे म भी लडाई खत्म हो गई और जापान न अमरीकी सेना के आगे घुटने टेक दिए। सभी मोर्चों पर इस प्रकार लडाई ठण्डी पड गई। कुछ समय तक मित्र राष्ट्रो म युद्धकालीन मत्री और पारस्परिक सहयोग का भाव बना रहा। इस बीच यूरोप के पराजित देशो (जमनी और आस्ट्रिया को छोडकर) के साथ राष्ट्रा ने सदभावपूण ढग से सधिया सम्पन्न की और फिर लोगो न देखा कि मित्र राष्ट्रो के बीच एकता और मैत्री के भावो म जसे एक झटके म ही दरार पड गई हो। मित्रता के स्वर तेजी स अमैत्री और अमगल सूचक स्वरो म बदल गये। लडाई ठण्डी पडी न थी कि जसे एक ठण्डे ढग की लडाई का शखनाद सुनाई पडने लगा।

नई दुनिया नये सदभ

दूसरे महायुद्ध न यूरोप की कमर तोड कर रख दी। वह यूरोप जहा से व्यापारी और पादरी व्यापार और धमप्रचार के नाम पर समुद्र पार कर एशिया और अफ्रीका तथा पश्चिमी गोलाद्ध म पहुचे थ और जो इनकी विजय दुदुभी बजाता सारी दुनिया की अयव्यवस्था और राजनीति का केन्द्र बन गया था, अपना एतिहासिक वचस्व खो बठा। सरदार पनिकर के शब्दो 'वास्को डिगामा' युग का अत हो गया, पश्चिमी साम्राज्यवाद का लगभग पूण अवसान।

सदियो से चली आ रही निमम शोषण व्यवस्था द्वितीय महायुद्ध की लपटा की भेंट हो गई और अन्तराष्ट्रीय राजनीति का यूरोपीय दृष्ट केन्द्र टूट-टूट कर

बिखरता गया। यह कोई आकस्मिक घटना न थी। विचारवान लोग एशिया व अफ्रीका मे इस प्रकार के अत की भविष्यवाणी कर चुके थे, 'भारत छोडो' आन्दोलन इसकी ही एक सबल अभिव्यक्ति था। एक सवदनशील भारतीय नेता, जवाहरलाल नेहरू ने अपने ग्रथ विश्व इतिहास की झलक' के अन्तिम प्रकरण म लिखा था

'इग्लैंड जो इतन दिनो से विश्व की अगुआ शक्ति था, अब अपनी पुरानी व सबसे ऊची हैसियत खो चुका है और जो कुछ बचा है, उसे कायम रखने की भरपूर कोशिस कर रहा है।'[2]

वस्तुत साम्राज्यो के विघटन की प्रक्रिया प्रथम महायुद्ध के बाद से ही शुरू हो गई थी जिसन यूरोपीय साम्राज्यो की चूलें हिला दी। तुर्की आस्ट्रीया, हगरी और जारशाही रूस पूरी तरह विघटित हो गये थ। जमनी का साम्राज्य तो नष्ट कर दिया गया और कुछ छीन लिया गया। युद्ध अपराधी ठहरा कर जमनो को भारी दण्ड दिया गया, उनके प्रदेश छीन गय और हरजाने के लिए बाध्य किया गया जिसने उसकी कमर तोड दी और एक भयानक कुबडे नाजीवाद का ज म लेन दिया गया।

न केवल यूरोप मे साम्राज्यो की ऐसी दुर्गति हुई बल्कि, विजयी और पराजित यूरोपीय साम्राज्यो के उपनिवेशो मे भी एक सिरे से दूसरे सिर तक स्वाधीनता के आन्दोलनो की आग लग गई। एशिया और अफ्रीका मे स्वाधीनता के आन्दोलनो की हलचल न अक्तूबर क्राति के विस्फोट के द्वारा लाय गए भूकम्प के द्वारा हिलाई जा रही साम्राज्यी व्यवस्था को डावाडोल कर दिया।

दो महायुद्धो के अन्तराल का समय ही वह समय है जबकि एशिया अफ्रीका के लोगो के मन साम्राज्यवादियो के मायाजाल से बाहर निकलन के लिए छटपटान लगे। यही वह समय है जबकि ब्रितानी राजभक्त केसर हिन्द मडल स विभूषित गाधी जलयानावाला बाग के नृशस काड का खिलाफत स जोड कर अपने ढग का एक अहिसक सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाकर भारत के लोगो को विद्रोह के रास्ते पर लाने की चेष्टा करते है। यही वह समय है जबकि पश्चिम के तब तक के प्रशसक सुनयात सेन चीन के लोगो को समझाता है कि पश्चिमी साम्राज्यवादियो से किसी भी तरह के सद्व्यवहार की आशा करना व्यर्थ है। यही वह समय है जबकि पश्चिम एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया मे साम्राज्यवाद विरोधी स्वाधीनता के आन्दोलन जोर पकडन लगते है और सोवियत क्राति और समाजवादी विचारो के प्रभाव का विस्तार एशिया म तेजी से होन लगता है और जगह जगह साम्यवादी दलो का गठन राष्ट्रवादी स्वाधीनता आन्दोलन के अदर एक 'घटक' के रूप म और उसस बाहर स्वतन्त्र

रूप स भी गठित होकर अपन विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का अग बनता है।

एशिया म हम इसी अन्तराल म एशिया की एकमात्र साम्राज्यवादी शक्ति जापान का अपने घिनौन साम्राज्यवादी विस्तार के अभियान के द्वारा एशियाई मुक्ति आंदोलन क स्वस्थ वातावरण को गदला करते पात हैं जो परोक्ष साम्राज्यवाद विरोधी एक वृहत्तर मार्च क निर्माण म और सामाजिक विकास की प्रक्रिया का वस्तुगत दृष्टि से समझन म एशियाई लोगो को बडी मदद दता है। जापान एशिया का होन हुए भी अपना' नही था, क्रान्तिकारी रूस और यूरोप का जाग्रत मजदूर वग एशिया का अग न होत हुए भी कितना अपना बन गया था, इसकी समझ बढ़ रही थी।

इसी वस्तुगत समझ न भारत म राष्ट्रीय आंदालन की वह दिशा निर्धारित करने म नेहरू और उनके साथियों को मदद की और दूसरी ओर इसके अभाव न सुभाष और उनके साथियो का मुक्ति आंदोलन स अलग थलग पड जाने की भूमि तयार कर दी। 'अपने पराये का निणय अब जाति या नस्ल या रग क आधार पर करना समझदारी की बात न थी, उसका आधार 'वर्ग' था—चीन मे सुनयात सेन और साम्यवादी इसी क्रातिकारी विचार के वाहक बन, हिंदुस्तान म भी राष्ट्रीय आदोलन के अन्दर नहरू क नेतृत्व म तथा उससे बाहर साम्यवादी और समाजवादी आंदालना के नतृत्व के अन्तगत उभरने लगा—यह एक एसे अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रदय के निर्माण की भूमिका बनाने लगा जिसके अन्तगत सबको राष्ट्रीय मुक्ति आदालना की समस्याओ को समझन और उन्ह मूल्यान म आसानी हान लगी। यही कारण था कि जब दूसरा युद्ध छिडा तब तक गांधी और नहरू का वैसा ही हाल हो चुका था, जसा प्रथम महायुद्ध क बाद सुनयातसेन का हुआ था। पश्चिम के सभी साम्राज्यवादी और जापान एक ही थैली के चट्टे-बट्टे तो थे। ब्रिटेन का विरोधी होकर न जमन साम्राज्यवाद अपना था, न जापानी साम्राज्यवाद। मुक्ति आदोलना को यदि कहीं से भी यत्किंचित मदद की आशा बधती थी, और वस्तुगत और मनोगत इस आशा का आधार उभरता दिख रहा था, तो वह यूराप का एक मात्र बोल्शेविक क्रान्ति का केन्द्र था और यूराप म उभरता जनवादी और समाजवादी आन्दोलन था।

अमेरिका की स्थिति फिर भी भिन्न थी

इस परिस्थिति म भी अमरिका की ओर एशिया और अफ्रीका के जनवादी आन्दोलनो का नेतृत्व आशा भरी दृष्टि स दखत थ। लगता था कि वह यूरोपीय साम्राज्यवाद का अग न था। लातीन अमरीका म वह क्या कर रहा था फिली

पाइस द्वीप समूह म उसकी क्या भूमिका थी, यह सब यहा दष्टि से ओझल था। उसकी अलग ही राजनीति विकसित हो रही थी, जिसे यूरोपीय साम्राज्य वादी कोढ ऐसा लगता था, ने अभी तक छुआ नही था। वह राष्ट्रसघ से अलग बना रहा। साम्राज्यवादी खुली धमाचौकडी म शामिल न होता हुआ, अपनी विकासशील औद्योगिक और व्यापारिक क्षमता को वह बढाता चला जा रहा था। हम अयत्र स्पष्ट कर चुके है कि औद्योगिक शक्ति के रूप कैसे अमेरिका शीपस्थ हो चुका था। लोकत त्र का अभी भी वह एक गढ मा लग रहा था। प्रथम महायुद्ध मे निर्णायक भूमिका अदा करने के बाद भी, वह नौसेना को छोडकर अय 'सैनिक तत्र' के आधार को नही बढा रहा था। 'सनिक तत्रो' का जिस तरह का आसुरी बढाव हिटलरी जमनी और साम्राज्यवादी जापान मे उभर चुका था, उसके कारण भी अमेरिका की ओर लोग आशाभरी दृष्टि से देख रहे थे।

रूजवेल्ट का नया नेतृत्व

महामदी की गहरी चपेट म आए हुए अमेरिका म जब रूजवल्ट न राष्ट्रपति के रूप मे 'नया कायक्रम' (यूडील) चलाया जिसम महामदी से त्रस्त लोगो का कुछ कुछ राहत मिलन लगी। बेरोजगारो को रोजगार मिलन लगा और ठप्प पडे कल कारखाने सरकारी मदद पाकर फिर अपने पैरो पर खडे होने के लिए उठन लगे, इस रूजवेल्टी अमेरिका ने तब अमेरिका का एक नया रूप निखार दिया, एक असैनिक, लोक कल्याण कार्यो म तत्पर, अमेरिका एक ऐसा अमेरिका जो पडोसिया के लिए भी भय का कारण नही रह गया जो घर मे और बाहर भी, छोटे तबका, छोटे-छोटे लोगो और उनके समाज को सहारा दने का भरोसा दे रहा था। इस अमरीका न सोवियत क्रांति को मा यता दकर इस भाव को पुष्ट ही कर दिया कि अमरीका, 'प्रति क्राति' का न तो अडडा था और न साम्राज्यवादी यूरोप का पश्चिम गोलार्द्धीय विकसित सस्करण। द्वितीय महायुद्ध के शुरू होते समय अमरीका की 'भल मनसाहत वाली यही मूरत उसे सभी के आकषण का केन्द्र बना रही थी। ब्रिटन और उसके साम्राज्यवादी मित्र इस अमरीका को अपना सहारा मान रहे थे, तो हिटलरी जमनी मुसोलिनी की फासी इटली और स्पन के गणतत्र का विध्वसक फ्राको तक 'नकद दो और ले जाओ' नीति के अन्तगत अमरीकी शस्त्रागार स शस्त्रास्त्र खरीद रहे थे। अमरीका इनका भी एक ढग से 'अपना' ही था—दाम चुका कर जो अपन पास नही उसे प्राप्त कर लो। यह अमरीका सोवियत क्रातिकारियो का भी मित्र बन रहा था। उन्होने अब क्राति को मान्यता दे दी थी और उसे अपने उद्योग धधे विकसित करन मे तकनीक और

पूजी की मदद भी दने लग थे। इस अमरीका से एशिया और अफ्रीका के जनवादी आ दोलन भी आशा लगाये बठे थे। जापानी साम्राज्यवाद स आक्रात जनवादी चीन अमरीकी सहायता की बाट जोहता था तो भारत का राष्ट्रवादी आदोलन भी आशाभरी दृष्टि से उस देखता था। पल हावर के बदरगाह पर अमरीकी नौसेना पर जब जापान ने बमबारी कर उस महायुद्ध म घसीट ही लिया तब अमरीका की यही नवतोमुखी क्षमता मित्र राष्टो के लिए वरदान सिद्ध हुई। रूजवल्ट के अमरीका ने विश्व राजनीति म इस तरह इतनी बडी साख बना ली थी। चीन को जापान के विरुद्ध लडाइ म एक मददगार मिल गया तो स्तालिन और चर्चिल को यूरोपीय रणक्षेत्र म हिटलर और मुसोलिनी के विरुद्ध एक जबदस्त सहभागी मिला। हि दुस्तान के स्वाधीनता आदोलन के वरिष्ठ नेता भी अमरीका से आशा करने लग कि वह साम्राज्यवादी ब्रिटन पर दवाव डालकर उस स्वाधीनता के रास्ते पर ला दगा—क्रिप्स मिशन क पीछ यही आशा की किरण फूट रही थी। एक खयाल था कि अपन मित्र साम्राज्यवादियो पर दवाव डाल कर रूजवेल्ट उपनिवशवाद को समाप्त करा देंगे। वह फिलीपाइन्स पर अमरीकी उपनिवशवाद को मटन का सकल्प घोषित कर चुक थे और फासिसी साम्राज्यवाद की समाप्ति के बार म भी अपनी यह राय व्यक्त कर चुक थे यथा इलियट रूजवल्ट के शब्दो म—

'सन 1944 म राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने उस हि द चीन क हल क लिए सबसे अच्छा हल यह बताया था कि वहा याय व्यवस्था स्थापित कर दिया जाय और साम्राज्यवादी फास के द्वारा निमर्मता पूर्ण दोहन क लिए उसे लौटाया न जाये।'[3] मार्च सन 1943 म रूजवल्ट न ब्रिटेन के पर राष्ट्र म त्री ईडन को भी यह सुझाया था कि युद्धोपरा त फासिसी उपनिवेशवाद को जिलान के बजाय एक अ तर्राष्ट्रीय याय व्यवस्था क अ तगत हिन्द चीन को स्वत त्रता के लिए तयार किया जाय।[4] स्पष्ट है कि यह सुझाव अग्रजो को पस द न था। रूजवेल्ट ने फरवरी सन् 1945 म याल्टा सम्मलन म कहा भी था कि यदि हिन्द चीन को आजादी मिली तो उनका अपना साम्राज्य भी कहीं फूट न पड़े चूकि हिन्द चीन के स्वाधीन होते ही बर्मी लोग भी इसी रास्ते जा सकते है।[5] हम अन्यत्र इसका जिक्र कर चुके है कि किस प्रकार रूजवल्ट क पीठ पीछे स्तालिन और चर्चिल न पूर्वी यूरोप और भू मध्य सागरीय प्रदश म प्रभाव क्षत्र आपस म बाट लिय थे। रूजवल्ट की इसम सहमति न थी। बाद म व इस नजरअन्दाज कर गय यह बात अलग है। युद्ध के अन्तिम चरण म उन्होंने स्तालिन से समझौता चीनी हितो की कीमत पर कर लिया और स्तालिन को चीन से कुछ सहूलियतें पोर्ट आर्थर और डेरियन के बदरगाह मचूरिया की रलवे लाइन म हिस्से दिलवान का वायदा कर, एक गुप्त समझौता कर लिया, यह

भी उनका दर्जा स्तालिन से नीचे नहीं होने देता। यह कहना कि वे कोरे आदर्शवादी नहीं थे, दूसरों की कीमत पर अपना लाभ लेना चाहते थे, उनकी भर्त्सना करना नहीं होगा। वस्तुत न साम्राज्यवादी ढंग से उन्होंने कहीं भी चर्चिल की तरह दूसरों का छीना झपटने और अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने की पहल की, न सोवियत नेताओं की तरह अपने आदर्श से गिरकर ऐसा निदय आचरण किया। उनके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि यदि स्तालिन और चर्चिल आपस में साँठगाँठ कर इस तरह के साम्राज्यवादी दाव पेच न लगाते तो रूजवेल्ट अपनी ओर से बंदर बाँट के लिए अपने साम्राज्यवादी और समाजवादी मित्रों को इस प्रकार के 'शिकार' के लिए आमन्त्रित करने वाले न थे।

उनके रहते ही मित्र राष्ट्रों के सम्बन्ध में कुछ तनाव पैदा होने लगे थे पर वे भरसक कोशिश करते रहे कि ऐसे तनाव मिटें और मित्र राष्ट्रों का सहयोग और सौहार्द्र का आधार मजबूत होता चले। अपने अन्तिम दिनों में वे इसी प्रयास में थे। युद्ध की समाप्ति जैसे जैसे नजदीक आती दिख रही थी, वैसे वैसे रूजवेल्ट ने अपने घर की राजनीति को ऐसा मोड़ देना शुरू कर दिया ताकि युद्ध से लौटने पर, उनकी वैसी दुर्गति न हो, जैसी प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्रपति विल्सन की हुई थी कि वे अपनी काँग्रेस से युद्ध के बाद की सन्धियों और राष्ट्रसंघ के संविदा के पत्रों पर सहमति नहीं प्राप्त कर सके। इसी नीति के अंतर्गत उन्होंने अपने मित्र हेनरी वैलेस को छोड़ उस ट्रूमेन का उप राष्ट्रपति का उम्मीदवार चुना जो सिनेट में डिमोक्रेटिक दल के नेता थे और उनके डेलीगेशनों और मंचों के लिए प्रतिद्वंदी पार्टी, रिपब्लिकन दल के नेताओं का चुनाव सिनेटर वैंडेनबर्ग और जान फास्टर डलेस ऐसी ही मूर्तियाँ थीं। पर रूजवेल्ट के निधन होते ही उन तमाम तत्वों और शक्ति के छोटे मोटे केंद्रों पर जो रूजवेल्टी शासन की धुरी बने हुए थे, उनकी नीति के विरोधियों का वर्चस्व स्थापित हो गया जिससे अमरीकी राजनीति की दिशा और शैली दोनों में पहले बहुत तेजी से ऐसा बदलाव शुरू हुआ जो दो तीन वर्ष बीते भी न थे कि सोवियत विरोधी ऐसे मोर्चे में परिणत हो गई जिसका नेतृत्व अमरीका के हाथ में था, पर दिशा बोध उसे अंग्रेज और उनके साथी साम्राज्यवादी देने लगे। चर्चिल के लिए जो आसान बात थी कि स्तालिन का साथ छोड़कर ट्रूमेन के अमरीका के गले जा मिलें, वही बात स्तालिन के लिए पहले दुष्कर बनी और फिर असंभव सी हो गई।

नया रुख

धीमे-धीमे एक नया रुख अमरीकी शासकों ने अपनाना शुरू कर दिया जिसका अर्थ था कि महासमर के दौरान रूजवेल्ट के नेतृत्व में विकसित हुई

अमरीकी परराष्ट्र नीति म उलटफेर शुरू हो गया था। शूमां के शब्दो म 'यद्यपि य दोनो एक ही राजनीतिक दल स आए थ, पर रूजवल्ट क प्रशासन से ट्रूमन क प्रशासन की ओर सक्रमण कुछ अर्थो म सन् 1921 म हुए विल्सन प्रशासन स हार्डिग प्रशासन की ओर सक्रमण का याद दिलाता था।"[6]

नय राष्ट्रपति ट्रूमैन शुरू शुरू म बड विनम्र और जिज्ञासु रह पर जसे जसे उनम आत्मविश्वास की मात्रा बढनी गई, उन्होने अपना शासन तत्र बद लना शुरू किया और कुछ ही दिना म व एसे सलाहकारा स घिर गए जिनकी रूजवल्टी "नई नीति स कोई सहानुभूति न थी बल्कि जो बडे-बडे बकशाह थ और सनिकतत्र क अधिकारी थे यथा फोरेस्टल जो सुरक्षा सचिव बने, व डिल्लन रीड एड कपनी क अध्यक्ष रहे जहा सना के उपसचिव मिस्टर ड्रेपर उपाध्यक्ष थे। हेनरी वलेस के उतराधिकारी एवरेल हैरीमन, जो करोडपति खानदान के थे, ब्राउन ब्रदश हैरीमन तथा कम्पनी के सस्थापक थे। इसी प्रकार सहायक सचिव परराष्ट्र विभाग क, चाल्स साल्टजमान न्यूयाक स्टाक एक्सचेंज के उपाध्यक्ष थे। जनवरी सन् 1948 तक उन सार पदा म जिनम सामान्यत असनिक पदाधिकारी हाते थ सभी ऐस लोग नियुक्त हो गए जो युद्धकला के विशारद थे। विलियम लीही, परराष्ट्र सचिव लाज मार्शल साल्टजमान सना सचिव कैनथ रायल, जमनी क गवनर रिल्के, जापान क गवनर जनरल मकार्थर, चीन मे राजदूत वेडे मयर रूस म राजदूत वाल्टरस्मिथ ऐसे अनेक अधिकारी ट्रूमन क शासनतत्र के अग बन गए थे।[7]

युद्ध समाप्त हुए दो वष नही बीते थे कि ट्रूमन का अमरीका युद्धास्त्रो म लगभग 10 अरब डालर सालाना खर्च कर रहा था और बढ रहा था। जहा तक प्रशासन और काग्रेस की नीतिया पर किन्ही वगहितो के जबदस्त प्रभाव की बात थी, अमरीकी गणतत्र बड बडे व्यावसायियो और सनिक विशेषज्ञो के द्वारा अनुशासित हो रहा था।[8] कहने का तात्पय यह कि राज्य की बागडोर ऐसे लागो के हाथा म आ गई थी जिन्हे "आदेश देने और अनुशासन स्थापित करन की आदत थी और जिनकी दिमागी रुझान वर्षो के सैनिक प्रशिक्षण की अभ्यस्त थी—एक ऐसी आदत जो भौतिक बल के प्रयोग करने क आदी थे।'[9] शूमा न ठीक ही लिखा है कि परराष्ट्र नीति के क्षत्र म जो जो घट रहा था यदि अधिकारियो और उद्देश्यो के बारे म जो बदलाव हुआ था उस पर ध्यान न दिया जाए ता वह बदलाव समझ म नही आ सकेगा।[10]

युद्ध का समाप्त हुए साल भर भी नही बीते थ कि अमरिका म उच्च अधिकारी इस तरह के वक्तव्य देन लगे तथा जाज ब्रल ने अप्रल 26 सन् 1946 को अमरीकी जनता का उदबोधन किया

नात्सियो स कही बडा खतरा सोवियत रूस है। अमरिका को आत्मरक्षा

—

के लिए रूस के प्रत्येक कस्बे शहर और गांव को नेस्तनाबूत करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। (पुन अक्टूबर 10, सन 1947 को) क्रमालन पर एक अच्छा-सा छोटा परमाणु बम और साढ़े सोलह करोड़ रूसी लाश चिथड़े चिथड़े होकर इधर-उधर बिखर जायेंगे "11

बात सोवियत हमले की न थी बात कुछ और ही थी

बड़ी चतुराई के साथ एक जबर्दस्त सोवियत हमले की आशंका का हौवा खड़ा किया गया। तमाम प्रचार माध्यमों के जरिये दम्भनापूर्वक घर में और बाहर यह फैलाया गया कि सोवियत की लाल सेना बर्लिन से कूचकर पूरे यूरोप को हथियाने और फिर भूमध्य सागरीय इलाकों को कब्जे में लेकर एशिया और अफ्रीका की ओर अपने लाल साम्राज्य के विस्तार करने की तैयारी में लगी हुई है। तरह-तरह के 'तथ्य' और 'सत्य' गढ़ गए और इस झूठ को सभी के मन के नीचे उतारने के उपाय सोचे गए और उन पर अमल शुरू हो गया। यह प्रचारित किया जाने लगा कि वस्तुत यह झगड़ा विरोधी मूल्यों मान्यताओं और समाज व्यवस्थाओं का है, साम्यवादी व्यवस्था और लोकतन्त्री व्यवस्था का। फुल्टन में ट्रूमन के सभापतित्व में जो सभा हुई उसमें चर्चिल ने अपने भाषण में पहला गोला दागा यह कहकर कि एक अभूतपूर्व लोहे का पर्दा इस पार में उस पार स्तालिन के रूस ने डाल दिया है, यह कि वे मित्र राष्ट्रों की युद्ध-कालीन सभी को नष्ट कर तानाशाही आरोपित कर सोवियत साम्राज्य का विस्तार कर रहे हैं कि उन्होंने पूर्वी यूरोप में लोकतन्त्र की शक्तियों पर दमन चक्र चला दिया है इत्यादि। इसके बाद ही ट्रूमेन ने अपने सिद्धान्तों की घोषणा की तथा तुर्की और यूनान की रक्षा व्यवस्था करने के लिए कदम उठाने की बात कही जिसके अन्तर्गत एक अमरिकी युद्धपोत भूमध्य सागर को रवाना किया गया और उसी वर्ष अर्थात सन 1947 के प्रारम्भ में पश्चिमी यूरोप के जीर्णोद्धार और उसे पुन गठित करने के लिए मार्शल योजना की घोषणा की गई। एक ठण्डी लड़ाई का बिगुल इस तरह बजने लगा। ब्रिटेन ने फ्रांस के साथ डनकर्क की संधि सम्पन्न कर सैनिक गठबन्धन की नींव डालनी शुरू की जिसका दूसरा कदम था ब्रुसेल्स की संधि जिसमें फ्रांस और ब्रिटेन के अलावा अन्य पश्चिमी यूरोप के देश भी लाये गए और इसी वर्ष बर्लिन के गलियारे को लेकर जो संकट पैदा हुआ, उसके साथ-साथ शांतिकाल के एक अभूतपूर्व सैनिक गठबन्धन की नींव डालते हुए एक "उत्तर अटलांटिक संधि संगठन" खड़ा कर लिया गया जिसके सदस्य अटलांटिक सागर से दूर, उस पार स्थित तुर्की और यूनान ही न थे बल्कि फ्रांस का अल्जीरियाई हिस्सा भी था। सबसे मार्के की बात तो यह हुई कि अमरीका और ब्रिटेन ने (तब फ्रांस तो बस भी परापजीवी था)

जमनी के उन टुकडो को जा उनकी सेना के अधीन थे मिलाकर एक 'जरासध' खडा कर लिया — पहले उन क्षेत्रो मे मुद्रा परिवतन कर जिससे जमन टुकडा की एकता बढाने वाली अथ व्यवस्था को छिनभिन्न कर दिया, फिर अपने अधीन एक 'जमन गणतन्त्र की स्थापना कर उस पूर जमनी का दावेदार बनाकर अपने गठबन्धन का अग बना लिया। सभी मोर्चों पर रूजवेल्टीय नीति की तोड मरोड शुरू हो गई — हिन्दचीन म फ्रास की पुन वापसी, इदोनेशिया मे डचो को और इसी तरह अन्य एशियाई भागा मे और अफ्रीका म नवोदित स्वाधीन उपनिवेश विरोधी, रगभेद विरोधी शक्तियो को दबान कुचलन का अभियान छिड गया। हिदुस्तान भी इस शीत युद्ध की चपट मे लाया जा रहा था। वह ता गनीमत थी कि पडोसी देश चीन मे जो गहयुद्ध छिडा हुआ था, उसम अमरीका और ब्रिटेन क पुराने मित्र च्यागकाई शेख और उनका दल पराजित हो गया और साम्यवादी शक्ति पूर चीन पर छा गई। इस तथ्य न जहा एक आर हिदुस्तान के टूटे हुए पर अब आजाद बन टुकडा को अग्रेजी 'राष्ट्रमडल' मे शामिल करा दिया वहा चीन म कम्युनिस्टा की विजय न भारत क नतत्व वग का शीत युद्ध के बदले समीकरण म अपना महत्व प्राप्त करन क अवसर भी खोल दिए। जहा एक ओर च्यागकाई शेक की दुगति दखकर भारतीय नेता इतिहास का यह ताजा सबक सीख रहे थ कि भारत अमरीकी गठबधन उन्ह कसे खाई म ढकेल देगा वहा आग्ल अमरीकी गुट्ट भी सावधानी बरत रहा था कि दबाव भले ही जारी रहे पर सीध हस्तक्षेप से कुछ का कुछ न हा जाए जैसा चीन म हा गया था। आग्ल अमरीकी गुट्ट की यह नीति तब से जारी रही कि दबाव डालना बन्द न किया जाए पर इतनी मात्रा और इस प्रकार का दबाव भी न डाला जाय कि बात विगड ही जाय। राष्ट्रमडल की सदस्यता से दोनो आर कुछ राहत मिल गई — राष्टमडल आखिर एक 'गोष्ठी' स बढकर तो कुछ था नही, कोई सनिक गठबन्धन ता था नही, जो भारत की स्वतन्त्र परराष्ट्र और गह नीति के आडे आए पर सपक साधने का एक निर्दोष सा माध्यम था जहा साल भर म एक बार राष्ट्रमडल के प्रधानमत्री मिल लेते थ, बातचीत कर लेत थ प्रीतिभाज म शामिल हो लेत थे और ऐसे महत्व के वक्तव्य भी गाहबगाहे छपवा लेते थे जसे सन् 1948 म ब्रुसेल्स गठबधन क पक्ष म निकाला गया था जब उत्तर एटलाटिक सधि का समथन किया गया था जब कोरियाई युद्ध म सयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान म जब मोर्चा खुला तब घायलों की मरहम पट्टी करन के लिए भारत की ओर से भी 'सयुक्त राष्ट्र' की सहायता के रूप कुछ डाक्टर, नस और दवाइया भेजी गइ और बाद म जब कोरियाई युद्ध म चीन के कूद पडन पर गहराने लगा, तब सयुक्त राष्ट्र का साथ छोड भारत सुलहनामा कराने के लिए आगे आगे हो लिया।

शीत युद्ध का नजरिया   समझौता नहीं झगडा बढाया जाए

बात सोवियत हमले के डर की थी ही नही। जाज यफ कैनन[1] जो शीत-युद्ध के शुरु के दिना मे इस नीति के वडे हिमायती थ कि सोवियत शक्ति की रोकथाम की जाए, इस बात से इ कार करते है कि सोवियत हमले का कोई डर था। सोवियत सघ न युद्ध के लिए तैयार था, न उसके नता या उनकी माक्सवादी समम इसके लिए उ ह प्रेरित कर रही थी। वास्तविक खतरा, कनन साहव के अनुसार, यूरोप म क्राति की सभावना का था जा एक पडय न्त्र कारी अल्पसख्यक (कम्युनिस्ट दल) के माध्यम से हो सकता था 'जि ह आशा थी कि व अपन राष्ट्रीय दायरो मे सत्ता हथिया लेगे तथा तानाशाही तरीके से उसे कायम रखेंगे। इसीलिए कैनन और उनके जस बुद्धिजीविया ने माशल याजना और पश्चिमी यूरोप की अथव्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था को सुदढ करने की नीति का समथन किया था, न कि नाटो' जैसे सनिक सगठन बनान का[2] कनन के अनुसार 'नाटो' की सरचना के पीछे केवल उ ही विचारा के लाग हो सकते थ जा इस दिशा म अपना चितन दौडाते थे कि यूरोप का अच्छा भविष्य तभी बन सकता है जब कि सोवियता की पूण सामरिक पराजय हो जाय या ऐसा कुछ घट कि भले ही, जिसका कारण न बता सकें या जो अभी सभव नही लग रहा हो ऐसा सोवियत नताओ का राजनीतिक सकल्प और इच्छा शक्ति भरभरा कर ढह जाए। राष्ट्रपति ट्रूमेन और उनके कुछ निकटस्थ सलाहकार इसी मडली के नेता और सदस्य थे जो वलपूवक हल निकालने को उद्यत हा रहे थे। इनम चर्चिल ऐसे यूरोपीय नेता भी शामिल थे। ट्रूमेन का वह वक्तव्य दृष्टव्य है जो उ होन अपने परराष्ट्र मत्री वायरनीज को भेजा था

'मेरे दिमाग मे जरा भी सशय नही है कि रूस टर्की पर आक्रमण और काले सागर की भूमध्य सागर मे खुलती खाडियो पर कब्जा करना चाहता है। यदि रूस का मुकाबला लौह मुठ्ठी और कठोर भाषा से नही किया गया ता एक नये युद्ध की शुरुआत हो सक्ती है   मेरी समझ म अब आपका समझौते की नीति पर और अधिक विलकुल भी नही चलना चाहिये   हम रूमानिया और वलगारिया को तव तक मा यता नही देनी चाहिये जब तक वे हमारी मागें नही मान लेते   हम अपनी ईरान की नीति स्पष्ट कर देनी चाहिय हमे लगातार इस माग पर डटे रहना चाहिये कि कील नहर, राइन डेन्यूब जलमाग तथा काला सागर की खाडियो को अतर्राष्ट्रीय घोषित कर दिया जाये और हम जापान तथा प्रशात महासागर पर पूरा आधिपत्य रखना चाहिय हम 'उधार खाते' वाले ऋण के समझौते के लिए रूस पर दबाव डालना चाहिये—मैं रूस को बच्चों की तरह पालने म झुलाते-झुलाते तग आ गया हू।"[13]

जर्मनी के उन टुकड़ों को जो उनकी सेना के अधीन थे मिलाकर एक 'जरासंघ' खड़ा कर लिया — पहले उन क्षेत्रों में मुद्रा परिवर्तन कर जिससे जर्मन टुकड़ों की एकता बढ़ाने वाली अर्थ व्यवस्था को छिन्नभिन्न कर दिया फिर अपने अधीन एक 'जर्मन गणतन्त्र' की स्थापना कर उसे पूरे जर्मनी का दावेदार बनाकर अपने गठबंधन का अंग बना लिया। सभी मोर्चों पर रूजवेल्टीय नीति की तोड़ मरोड़ शुरू हो गई — हिन्दचीन में फ्रांस की पुन वापसी, इण्डोनेशिया में डचों की और इसी तरह अन्य एशियाई भागों में और अफ्रीका में नवोदित स्वाधीन उपनिवेश विरोधी, रंगभेद विरोधी शक्तियों को दबाने कुचलने का अभियान छिड़ गया। हिन्दुस्तान भी इस शीत युद्ध की चपेट में लाया जा रहा था। यह तो गनीमत थी कि पड़ोसी देश चीन में जो गृहयुद्ध छिड़ा हुआ था उसमें अमरीका और ब्रिटेन के पुराने मित्र च्यांगकाई शेक और उनका दल पराजित हो गया और साम्यवादी शक्ति पूरे चीन पर छा गई। इस तथ्य ने जहां एक ओर हिन्दुस्तान के टूटे हुए पर अब आजाद बने टुकड़ों को अंग्रेजी 'राष्ट्रमंडल' में शामिल करा दिया, वहां चीन में कम्युनिस्टों की विजय ने भारत के नेतृत्व वर्ग को शीत युद्ध के बदले समीकरण में अपना महत्व प्राप्त करने के अवसर भी खोल दिए। जहां एक ओर च्यांगकाई शेक की दुर्गति देखकर भारतीय नेता इतिहास का यह ताजा सबक सीख रहे थे कि भारत अमरीकी गठबंधन उन्हें कैसे खाई में ढकेल देगा वहां आंग्ल अमरीकी गुट्ट भी सावधानी बरत रहा था कि दबाव भले ही जारी रहे पर सीधे हस्तक्षेप से कुछ का कुछ न हो जाए जैसा चीन में हो गया था। आंग्ल अमरीकी गुट्ट की यह नीति तब से जारी रही कि दबाव डालना बन्द न किया जाए पर इतनी मात्रा और इस प्रकार का दबाव भी न डाला जाय कि बात बिगड़ ही जाये। राष्ट्रमंडल की सदस्यता से दोनों ओर कुछ राहत मिल गई — राष्ट्रमंडल आखिर एक 'गोष्ठी' से बढ़कर तो कुछ था नहीं, कोई सैनिक गठबंधन तो था नहीं जो भारत की स्वतन्त्र परराष्ट्र और गृह नीति के आड़े आए पर संपर्क साधने का एक निर्दोष सा माध्यम था, जहां साल भर में एक बार राष्ट्रमंडल के प्रधानमंत्री मिल लेते थे बातचीत कर लेते थे प्रीतिभोज में शामिल हो लेते थे और ऐसे महत्व के वक्तव्य भी गाहेबगाहे छपवा लेते थे जैसे सन् 1948 में ब्रूसेल्स गठबंधन के पक्ष में निकाला गया था जब उत्तर एटलांटिक संधि का समर्थन किया गया या जब कोरियाई युद्ध में संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में जब मोर्चा खुला, तब घायलों की मरहम पट्टी करने के लिए भारत की ओर से भी 'संयुक्त राष्ट्र' की सहायता के रूप कुछ डाक्टर, नर्स और दवाइयां भेजी गई और बाद में जब कोरियाई युद्ध में चीन के कूद पड़ने पर गहराने लगा, तब संयुक्त राष्ट्र का साथ छोड़ भारत सुलहनामा कराने के लिए आगे आगे हो लिया।

तब वास्तव में साम्राज्य : बाजार हो गये थे

लेकिन जो चीज वास्तव म इन्हे तंग कर रही थी, वह थी अमरीकी साम्राज्यवाद के फैलाव के मार्ग जगह जगह अवरुद्ध हो रहे थे। प्रथम महायुद्ध के बाद तुर्की और आस्ट्रिया हंगरी के साम्राज्यों के विघटन के बाद आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर जो पूर्वी यूरोप का नया नक्शा बना था और जिसका लक्ष्य नाजी जर्मनी से झगड़ा बढ़ा, ब्रिटेन, फ्रांस का यह 'प्रभाव क्षेत्र' सोवियत प्रभाव मे आ गया था और वहां से पूंजीवाद की नीव का सफाया हो गया था। नाजी जर्मनी का एक अच्छा खासा टुकड़ा सोवियत क्षेत्र म चला गया था और वस्तुत यूरोप म भी पूंजीवादी शक्तियों का वर्चस्व लड़खड़ा रहा था। इसस खतरा यह बढ़ रहा था कि एशिया अफ्रीका की मुक्ति आन्दोलन की बाढ़ का सामना मुश्किल क्या, असंभव हो जाय—चीन म हिन्द चीन म, इण्डोनेशिया म, मलाया में बर्मा म, पश्चिम एशिया म और भारत म—सभी जगह जबदस्त उथल पुथल थी। इतने बड़े बाजार कहा जायेंगे। रूजवेल्ट के समय एक दूसरा विकल्प सभव बन रहा था कि तेजी से बढ रही अमरीकी औद्योगिक, कृषि और व्यापारिक शक्ति सबके काम आ जाये और अमरीका का एक भलमनसाहत वाले व्यापारी का विश्वव्यापी प्रभाव क्षेत्र बन जाये जो युद्ध-कालीन मित्रराष्ट्रों के साहचर्य और सदभाव की स्वाभाविक परिणति होती। सोवियत का रुख अमरीकी पूजी और उनके नेताओं से सहयोग का रुख था पश्चिम यूरोप के साम्यवादी दल के नेता जो मिली जुली सरकार म भाग ले रहे थे इस प्रकार के सहयोग के लिये तैयार थे—मार्शल योजना का स्वागत करने म उन्हे सकोच न होता—वस्तुत उन दिनो ऐसी सभावना दिख रही थी कि समाजवादी शक्तियो और सकटग्रस्त अस्तव्यस्त पूंजीवादी शक्तियो के बीच कहीं संगम न हो जाए। ट्रूमेन शासन ने इस सभावना की जान ले ली उसके तेवर और अन्दाज उस खूनी बाज के तेवर और अन्दाज बन गये जो शान्ति के कबूतरो को निश्चित होकर इधर उधर उड़ते देखकर तंग आ गया हो। हिन्द चीन को फ्रांसीसी साम्राज्य को न लौटाने का विचार प्रकट करने वाले रूजवेल्ट के अमरिका की जगह अब ट्रूमन का अमरीका था जिसके अनुसार (अमरीकी राष्ट्रीय सुरक्षा समिति की बैठक म 23 दिसंबर सन् 1949को दिये गए उदगार के अनुसार)—

"एशिया ऐसे महत्वपूर्ण कच्चे और अधपके माल का एक बड़ा स्रोत है जिसमे से कुछ सामरिक महत्व के है। इसके अलावा अतीत मे ... म विकसित देशो के पक्के माल का ... रहा है और ... के लिए पूंजी निवेश से और अन्य प्र... कमाई के स्रोत रहा है।"[15]

इस पुराने साम्राज्यवादी शोषण के स्रोतो पर नये सिरे से कब्जा करना अमरीकी परराष्ट्र नीति का प्रमुख लक्ष्य हो गया। कुण्ठ ग्रस्त गोरी सभ्यता का भार अब अमरीका के प्रशस्य कधो पर आ पड़ा था। रुजवेल्ट का अमरीका जो उपनिवेशो के लोगो को तरह-तरह से मुक्ति की आशा बधाए हुए था उनके साथ ही विलीन हो गया—और एक ऐसा अमरीका एक भयावन दत्य की तरह अन्तर्राष्ट्रीय रगमच पर आ खडा हुआ जिसके तीन लाख नागरिक तो युद्ध की भेंट हुए पर पूरा प्रदेश बमो की ओर स अछूता रहा, जिसके कल कारखाने दसियों गुना उत्पादन म रात दिन लगे रहे और फलस्वरूप जिसका कुल राष्ट्रीय उत्पादन करीब 91 हजार कराड डालर से (सन 1941 म) बढकर एक सौ छियासठ करोड डालर (सन 1945 म) तक पहुच गया (91 billon स 166 billon तक) जिसम दूसरा को दिय उधार खात म ही करीब 30 हजार कराड डालर दज था।[15] अतएव द्वितीय महायुद्ध अधिकाश अमरीकियो के लिए न तो कठिनाई और न तकलीफ लेकर आया बल्कि वह उनक लिए बेहतर जिन्दगी ले आया।[16]

युद्ध खतम हुआ तो यही बेहतर जिन्दगी खतरे म पडती दिखाई दी। उन्हे डर लगने लगा कि दुनिया के अनक विदेशी बाजारो उद्योगो और कच्चे माल के स्रोतो म उनकी घुसपैठ रोकन की कोशिश होगी। सोवियत प्रभाव क्षेत्र तो उनके लिये अवरुद्ध होगा ही, ब्रितानी और फ्रांसीसी भूतपूर्व और तत्कालीन साम्राज्यो के क्षेत्र भी पहुच से बाहर हो सकते थे— इसी 'बधन' को तोडन का सिलसिला ब्रिटन बुडस समझौते से शुरू होकर, मार्शल योजना, और उसके आगे तक चलता रहा जिसक अन्तगत ईरान, यूनान तुर्की, पश्चिम एशिया के क्षेत्र, दक्षिण पूर्व एशिया के इलाके सभी आ गय जिसम सैनिक राजनीतिक और आर्थिक हर तरह का वचस्व स्थापित करन का अभियान छेड दिया गया जिसका सामूहिक नाम था शीत युद्ध।[17]

इस सम्बन्ध मे ट्रूमैन काल के विदेश सचिव डीन अचेसन का निम्नाकित वक्तव्य द्रष्टव्य है

"यदि आप अमेरिका के सपूर्ण व्यापार और आमदनी पर नियत्रण करना चाहते है जिसका अथ होगा लोगो की जिन्दगी नियत्रित करना, तब सभवत आप यह तय करेंगे कि यहा (अमेरिका म) जो भी उत्पादन होता है, उसकी खपत भी यही हो लेकिन तब यह बात हमारे सविधान को ही पूरी तरह बदल देगी, हमारे सम्पत्ति के प्रति सबध को, मानवीय स्वतत्रता तथा कानून की अवधारणा को ही बदल देगी और यह कोई भी नही सोचता। इसलिए अन्य यह पाते हैं कि आप दूसरे बाजारों की तरफ नजर डालें और बाजार सारे बाहर है।"[18]

यह है अमेरिकी परराष्ट्र नीति मे 'खुले द्वार' या 'अनौपचारिक साम्राज्य' का उद्गम स्थल और इसीलिए अमरीकी परराष्ट्र नीति मे 'विश्व को अमरीका मय कर दो' अभियान का मूल इसी म ढूढा से मिलेगा। राष्ट्रपति ट्रूमन के शब्दो म'

"सारी दुनिया को अमरीकी व्यवस्था अपनानी चाहिए अमरीकी व्यवस्था अमरीका म भी तभी टिकी रह सकेगी जब यह ससारव्यापी व्यवस्था हो जाए"[13] शीत युद्ध छेडन की धुन के पीछे यही मन है।

सदभ

1 देखिए, सरदार के० यम० पनिक्कर कृत एशिया एण्ड वस्टन डामिनेन्स भूमिका
2 नहरू विश्व इतिहास की झलक पृ 1312
3 इलियट रूजवेल्ट, 'एज ही सा इट' (न्यूयाक 1946), पृ 251
4 काडल हल, सकरण (न्यूयाक 1948) खड 11 पृ 1595 (—) 98
5 आथर सिसलिगर जूनियर, द ब्रिटिश हेरिटेज (लन्दन 1967) पृ 11
6 शूमा, वही, पृ. 806
7 वही, " " , "
8 शूमा, वही, पृ 806
9 वही " " ,
10 वही, पृ 807
11 वही उदधत पृ 807
12 जाज, यफ, कनन सन 1946 तक मास्को स्थित अमरीकी दूतावास म एक अधिकारी थे। तत्पश्चात व राष्ट्पति ट्रूमेन के परराष्ट मत्रालय के 'नीति आयोजन स्टाफ' के निदशक थे—उन्होन सन 1965 म जेनेवा स्थिति ग्रेजुयट इ स्टीटयूट आफ इटरनेशनल स्टडीज म भाषण देन हुए य बातें स्पष्ट की। जाज यफ कनन ने उस नीति के निर्माण म महत्वपूण भाग लिया था जिसके अ तगत अमरीका ने सोवियत शक्ति की रोकथाम के लिए कदम उठाय।

13 ट्रूमेन सस्करण 2 खड, पृ 552
14 प्रतिनिधि सभा सशस्त्र सेवाओ की समिति की बठक, खड 8 पृ 225-61
15 देखिए गाडन राइट पृ 265 द यूनाइटेड स्टेट्स बिकम एन एकानामिक ट्रूमेन, पब्लिक पेपर्स, जाइंट 1947, पृ 168
16 रिचाड पोलेनवग, वार एण्ड सोसायटी, द यूनाइटेड स्टेटस, 1941 45, 1972 पृ 131-2
17 देखिए, स्टीफन ई एम्ब्रोज, राइज टू ग्लोबातिस्य अमरिकन फारेन पालिसी सिस 1938, लन्दन 1971 पृ 18
18 कोल्का, द पालिटिक्स आफ वार, पृ 254
19 एम्ब्रोज, वही, पृ 19

अध्याय 5A

शीत युद्ध और अमेरिका-सोवियत सबधो का अतर्द्वद्व

अन्तर्राष्ट्रीय सबन्धो की व्यवस्था एक प्रारूप

अतर्राष्ट्रीय राजनीति और उसकी सहज गतिशीलता का अवसर दो प्रकार के उपागमो से समझा जाता है। प्रथम, बहुप्रचलित स्वरूप मे अधिकाशत विदेश नीतियो के अध्ययन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को स्पष्ट किया जाता है। इस उपागम म किसी राष्ट्र विशेष को केन्द्र मानकर उसकी विदेश नीति के आधार और अन्य राष्ट्रो के प्रति उसकी नीति का विवेचन किया जाता है। उदाहरणत भारत की विदश नीति, सोवियत की विदेश नीति अथवा अमेरिका की विदेश नीति। दूसरी एव गुणात्मक रूप से भिन्न प्रक्रिया मूलत विदेशनीति क अध्ययन से हटकर राष्ट्रो के परस्पर सबधो को अपना 'केन्द्र बिंदु' बनाती है। विश्लेषण का एमा दृष्टिकोण कि ही दो या दो स अधिक राष्ट्रो के बीच परस्पर स बन्धो की प्रक्रिया को स्पष्ट करता है। ऐसी स्थिति मे उन राष्ट्रो की विदेशी नीति के आधारो का भी परीक्ष समवेश सम्भव हो जाता है। परस्पर सम्बन्धो की स्थितियो को अध्ययन का 'केन्द्र बिंदु' मानने से एक सीधी उपयोगिता के रूप म विषयवस्तु की पुननावृत्ति स बचा जा सकता है वसे तो आतरिक राजनीति म भी यह बात खरी उतरती है, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न पहलू और उनकी गतिशीलता सजीव रूप से जुडी होती है। अत किसी एक पहलू पर विचार करन की प्रक्रिया के अन्य पहलुओ का समावश भी अत्यत आवश्यक हो जाता है। उदाहरणके तौर पर जब हम अमेरिका की विदेश नीति का अध्ययन करते है तब अमेरिका और सोवियत के सम्बन्ध जो कि अमेरिका की विदेश नीति क लिए प्राथमिक महत्व के है, का अध्ययन भी विस्तार म आवश्यक है।

ऐसे ही जब हम सोवियत की विदश नीति का पथक अध्ययन करेंतो अमेरिका के साथ सबध पुनरावृत करना होगा लकिन यदि अध्ययन का आयोजन परस्पर सम्बन्धो के आधार पर ही कर लिया जाए तो ऐसी पुनर्रावत्ति मे स्पष्ट रूप से मुक्त हुआ जा सकता है। जहा तक प्रस्तुत, अध्ययन का प्रश्न है, हम इस दूसरे

दष्टिकोण की उपादेयता को अधिक साथक मानते हैं। राजनीतिशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष को उभारने के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बधो की राजनीति को एक व्यवस्था के रूप मे देखने के लिए, ऐसे दृष्टिकोण के अनेक उपादय आयाम है।

परस्पर सबधो का अध्ययन एक वाछित विकल्प

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धा की राजनीति के अध्ययन मे विदेशनीति के अध्ययन की प्रणाली स हटकर राष्ट्रा के परस्पर सम्बन्धो को केन्द्र बनाने का दृष्टिकोण निम्न रूप स साथक एव औचित्यपूण है।

1 विदशनीति के अध्ययन की प्रणाली म अध्ययन का केन्द्र बिन्दु उस राष्ट्र विशष की नीति हो जाता है एव अध्ययन का सारा रुझान और समीक्षा उसी एक केन्द्र पर आश्रित होती है। जबकि यदि राष्ट्रा के परस्पर सम्बधो पर बल दिया जाये तो अध्ययन की परिधि स्वत ही विस्तत हो जाती है और अध्ययन का प्रमुख स्रोत किसी राष्ट्र विशेष पर केन्द्रित न होकर, उन सम्बन्धो की पारस्परिकता पर बल देता है।

2 विदेशनीति को केन्द्र बिन्दु मानने मे मूल्याकन और समीक्षा म भी स्वाभाविक अवरोध आता है। किसी नीतिविशेष का सही अथवा गलत होना, साथक अथवा निरथक होना—उस राष्ट्र विशेष के सम्बन्ध मे आका जाता है। इसके विपरीत जब हम राष्ट्रा के परस्पर सम्बन्धो को केन्द्र बनात है तो उनका मूल्याकन किसी एक राष्ट्र क हितो के पूवग्रहा स ग्रसित नही हो पाता।

3 अन्तर्राष्टीय राजनीतिक मे तुलनात्मक अध्ययन के प्रारूप को प्रस्तुत करन के दष्टिकोण स भी, परस्पर सम्बन्धा के अध्ययन की प्रक्रिया अधिक साथक बनती है। प्रत्यक राष्ट्र अन्तराष्ट्रीय राजनीति मे अनेक सामयिक प्रश्नो पर अपनी प्रक्रिया व्यक्त करता है। एसी स्थिति मे तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा ही इन प्रक्रियाओ का एक व्यवस्थित स्वरूप समझा जा सकता है। परस्पर सम्बधो पर अध्ययन का दष्टिकोण ऐस अध्ययन के लिए अधिक सुलभ है।

4 इस सम्बध मे अत्यधिक महत्व का जो प्रश्न है वह इस बात से सम्बन्धित है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बध अपने आप मे एक व्यवस्थित स्वरूप लिए हुए है। सतही तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गतिशीलता भ्रामक लगती है, और विभिन्न घटनाओ मे किसी भी सततता को रेखाकित कर पाना बहुदा कठिन लगता है। लकिन अपने बाहरी आचरणा के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धा की राजनीति की अपनी स्वय की एक निश्चित व्यवस्था होती है। इस व्यवस्थागत स्वरूप को समझने के लिए और उसका सही विश्लेषण करने के लिए राष्टो के परस्पर सम्बन्धो का दष्टिकोण अत्यधिक महत्व का है।

कहने का तात्पय यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बधो की एक निश्चित व्यवस्था

अध्याय 5A

शीत युद्ध और अमेरिका-सोवियत सबधो का अतर्द्वंद्व

अन्तर्राष्ट्रीय सबन्धो की व्यवस्था एक प्रारूप

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और उसकी सहज गतिशीलता को अक्सर दो प्रकार के उपागमो से समझा जाता है। प्रथम बहुप्रचलित स्वरूप मे अधिकाशत विदेश नीतियो के अध्ययन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को स्पष्ट किया जाता है। इस उपागम मे किसी राष्ट्र विशेष को केन्द्र मानकर उसकी विदेश नीति के आधार और अन्य राष्ट्रो के प्रति उसकी नीति का विवेचन किया जाता है। उदाहरणार्थ भारत की विदेश नीति सोवियत की विदेश नीति अथवा अमेरिका की विदेश नीति। दूसरी एव गुणात्मक रूप से भिन्न प्रक्रिया मूलत विदेशनीति के अध्ययन से हटकर, राष्ट्रो के परस्पर सबधो को अपना 'केन्द्र बिंदु' बनाती है। विश्लेषण का ऐसा दृष्टिकोण किन्ही दो या दो से अधिक राष्ट्रो के बीच परस्पर सम्बन्धो की प्रक्रिया को स्पष्ट करता है। ऐसी स्थिति म उन राष्ट्रो की विदेशी नीति के आधारो का भी परीक्ष समवेश सम्भव हो पाता है। परस्पर सम्बन्धो की स्थितियो को अध्ययन का 'केन्द्र बिंदु' मानने से एक सीधी उपयोगिता के रूप म विषयवस्तु की पुनरावृत्ति से बचा जा सकता है वैसे तो आन्तरिक राजनीति मे भी यह बात खरी उतरती है, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न पहलू और उनकी गतिशीलता सजीव रूप से जुडी होती है। अत किसी एक पहलू पर विचार करने की प्रक्रिया के अन्य पहलुओ का समावेश भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। उदाहरणके तौर पर जब हम अमेरिका की विदेश नीति का अध्ययन करते हैं तब अमेरिका और सोवियत के सम्बन्ध जो कि अमेरिका की विदेश नीति के लिए प्राथमिक महत्व के है, का अध्ययन भी विस्तार म आवश्यक है।

ऐसे ही जब हम सोवियत की विदेश नीति का पृथक् अध्ययन करें तो अमेरिका के साथ सबध पुनरावृत करना होगा लेकिन यदि अध्ययन का आयोजन परस्पर सम्बन्धो के आधार पर ही कर लिया जाए तो ऐसी पुनरावृत्ति से स्पष्ट रूप से मुक्त हुआ जा सकता है। जहा तक प्रस्तुत, अध्ययन का प्रश्न है, हम इस दूसरे

दृष्टिकोण की उपादेयता को अधिक साथक मानते हैं। राजनीतिशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्षों को उभारने के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की राजनीति को एक व्यवस्था के रूप मे देखने के लिए, इस दृष्टिकोण के अनेक उपादेय आयाम है।

परस्पर संबंधो का अध्ययन एक वांछित विकल्प

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की राजनीति के अध्ययन मे विदेशनीति के अध्ययन की प्रणाली से हटकर राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों को केन्द्र बनाने का दृष्टिकोण निम्न रूप से साथक एव औचित्यपूर्ण है।

1 विदेशनीति के अध्ययन की प्रणाली मे अध्ययन का केन्द्र बिन्दु उस राष्ट्र विशेष की नीति हो जाता है एव अध्ययन का सारा रुझान और समीक्षा उसी एक केन्द्र पर आश्रित होती है। जबकि यदि राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों पर बल दिया जाय तो अध्ययन की परिधि स्वत ही विस्तृत हो जाती है और अध्ययन का प्रमुख स्रोत किसी राष्ट्र विशेष पर केन्द्रित न होकर, उन सम्बन्धों की पारस्परिकता पर बल देता है।

2 विदेशनीति को केन्द्र बिन्दु मानने मे मूल्यांकन और समीक्षा मे भी स्वाभाविक अवरोध आता है। किसी नीतिविशेष का सही अथवा गलत होना, साथक अथवा निरथक होना—उस राष्ट्र विशेष के सम्बन्ध मे आंका जाता है। इसके विपरीत जब हम राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों को केन्द्र बनाते हैं तो उनका मूल्यांकन किसी एक राष्ट्र के हितों के पूवग्रहों म ग्रसित नहीं हो पाता।

3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मे तुलनात्मक अध्ययन के प्रारूप को प्रस्तुत करने के दृष्टिकोण से भी, परस्पर सम्बन्धों के अध्ययन की प्रक्रिया अधिक साथक बनती है। प्रत्येक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अनेक सामयिक प्रश्नों पर अपनी प्रक्रिया व्यक्त करता है। ऐसी स्थिति म तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा ही इन प्रक्रियाओ का एक व्यवस्थित स्वरूप समझा जा सकता है। परस्पर सम्बन्धों पर अध्ययन का दृष्टिकोण ऐसे अध्ययन के लिए अधिक सुलभ है।

4 इस सम्बन्ध मे अत्यधिक महत्व का जो प्रश्न है वह इस बात से सम्बन्धित है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अपने आप मे एक व्यवस्थित स्वरूप लिए हुए है। सतही तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गतिशीलता भ्रामक लगती है और विभिन्न घटनाओं मे किसी भी सततता को रेखांकित कर पाना बहुधा कठिन लगता है। लेकिन अपने बाहरी आचरणों के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की राजनीति की अपनी स्वय की एक निश्चित व्यवस्था होती है। इस व्यवस्थागत स्वरूप को समझने के लिए और उसका सही विश्लेषण करने के लिए राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों का दृष्टिकोण अत्यधिक महत्व का है।

कहने का तात्पय यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक निश्चित व्यवस्था

1 ध्रुवीय सम्बन्ध एक सामूहिक अस्तित्व के रूप मे सम्पूण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को निर्धारित करते हैं।

2 महाद्वीपीय सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप म ध्रुवीय सम्बन्धा से निश्चित होते हैं, लेकिन उपमहाद्वीपीय सम्बन्धा से भी जुडे होते हैं।

3 उपमहाद्वीपीय सम्बन्धा के निधारण मे ध्रुवीय एव महाद्वीपीय समीकरणो का स्पष्ट प्रभाव है जो कि पदसोपान की प्रक्रिया का परिचायक है।

4 व्यवस्था का स्वरूप पद सोपान का होत हुए भी सम्बन्धो की प्रक्रिया एकपक्षीय नही है बल्कि उनम द्वन्द्वात्मक परस्परता (डाइलेक्टिकल रस्पोस) है। अर्थात एक ओर जहा ध्रुवीय एव महाद्वपीय सम्बन्ध उपमहाद्वीपीय सम्बन्धो का प्रभावित करत हैं वही दूसरी ओर उपमहाद्वीपीय एव महाद्विपीय सम्बन्ध भी ध्रुवीय सम्बन्धा के निश्चित समीकरणा को निर्देशित करते हैं।

5 ध्रुवीय सम्बन्ध सामूहिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म प्रमुत्व दर्शाते हैं लेकिन साथ ही साथ प्रत्यक ध्रुवीय शक्ति द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय स्तर पर अन्य राष्ट्रा से भी सलग्न रहती है।

अध्ययन का विश्लेषणात्मक प्रारूप

उपरोक्त विवेचन से कुछ मूलभूत बातें उभरकर सामने आई हैं। यह कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धा के अध्ययन मे विदेशनीति केन्द्रित दष्टिकोण की तुलना मे परस्पर सम्बन्धपरक उपागम अधिक साधक होगा। ऐसे उपागम के द्वारा अन्त र्राष्ट्रीय सम्बन्धो की राजनीति को एक व्यवस्थागत रूप मे समझा जा सकेगा जिसके अन्तगत विभिन्न राष्ट्रो के परस्पर सबधो को एक पदसोपान की रूपरेखा मे आयोजित करना भी सम्भव हो सकेगा। साथ ही साथ इस पूरी प्रक्रिया मे एक तुलनात्मक पद्धति का प्रारूप भी उभरेगा।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

विगत म हमने एक वैचारिक परिवेश प्रस्तुत किया है ताकि, हम अतर्राष्ट्रीय सम्बधा के जगत मे विद्यमान पदसोपान व्यवस्था के सदर्भ मे इस सारे घटना क्रम को समझ सकें। हमारा आशय यह है कि जब तक कि हम किसी वैचारिक उपागम की मदद से आगे नही बढ़ेंगे तब तक हमारा दृष्टि कोण दिशावान नही हो पाएगा।

इसी परिप्रेक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए हमने सर्वप्रथम सोवियत अमेरिका सबधो (विशेषत शीतयुद्ध के सदर्भ म) को समझने का प्रयास किया है। स्मरणीय है कि अनेक पाठय पुस्तको म इन्हें पथक पथक विदेश नीतियो मे शीर्षक के अतगत विस्तार से प्रस्तुत किया जाता है जिनम कि पिष्ट पोषण तथा पुनरावृत्ति के अलावा नया कुछ भी नही होता है और विद्यार्थी भी किंकर्त्तव्यविमूढ होकर रह जाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अतर्राष्ट्रीय राजनीति एक गुणात्मक ध्रुवीकरण के साथ प्रस्तुत हुई। यह ध्रुवीकरण गुणात्मक और अपूव था, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की राजनीति मे किसी एकछत्रीय महत्वपूण बदलाव को रखांकित करने को कहा जाये तो, बिना किसी सशय क ध्रुवीकरण की इस प्रक्रिया की ओर ही इगित करना होगा। इसके राजनीतिक आर्थिक एव वचारिक सभी पक्ष प्रबल थ।

द्वितीय विश्वयुद्ध स पहले की अतर्राष्ट्रीय राजनीति मूलत शक्ति के विकेन्द्रीकरण की राजनीति थी। यह सही था कि ब्रिटेन का एक बडा साम्राज्य था लेकिन उसम भी स्पष्ट रूप से दरारे पडने लगी थी। यूरोपीय शक्ति क रूप मे ब्रिटेन को चुनौती देने वाली शक्तिया भी तीव्र रूप स उभरी। जर्मनी एव इटली का उदय सवज्ञात है। ऐसी स्थिति म किसी भी एक शक्ति को एकछत्रीय शक्ति की औपचारिक अथवा अनौपचारिक मान्यता मिल पाना असम्भव था। प्रत्येक यूरोपीय राष्ट्र अपने आप म साम्राज्यवादी बटवारे की होड मे था। द्वितीय विश्व युद्ध की परिस्थिति इन तमाम उभरते हुए अतर्विरोधो की साक्षी है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की स्थिति अतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक नवीन अध्याय है। यूरोपीय राष्ट्रो की आर्थिक शक्ति के आधार डोलने लगे जिसकी अभिव्यक्ति उनकी राजनीतिक शक्ति पर भी स्पष्टरूप स परिलक्षित हुई। आर्थिक और राजनीतिक सकट से घिरा यूरोप अब विश्व राजनीति का रगमच नहीं रहा। शक्तिशाली यूरोप को अन्य सम्बल की आवश्यकता थी। उसे उभारने के लिए और उसके पुनउत्थान के लिए एक सशक्त नवसाम्राज्यवादी शक्ति का नेतत्व आवश्यक था। यह नेतत्व अब तक 'प्रबुद्ध' अलगाव की नीति अपनाने वाले राष्ट अमेरिका ने दिया। साम्राज्यवाद का स्वरूप गुणात्मक परिवतन कर चुका था।

राजनीतिक सत्ता स्थापित करने के लिए अब भौगोलिक नियत्रण की आवश्यकता नही थी। बदली हुई परिस्थितियो मे आवश्यकता प्रभाव क्षेत्रा की थी जिनके माध्यम से आर्थिक और राजनीतिक उपागमा द्वारा परोक्ष रूप से नियन्त्रण हो सके। भौगोलिक क्षेत्रो से हटकर प्रभाव क्षेत्रो की प्रतिद्वंद्विता इस बदलते हुए ध्रुवीकरण का एक अभूतपूर्व आयाम था।

प्रतिद्वद्वी व्यवस्था एव विचारधारा वाला सोवियत सघ इस नये ध्रुवीकरण की दूसरी धुरी बना। 1917 म बोल्शेविक क्रान्ति के बाद दो महाद्वीपा को समेटे हुए इस राष्ट्र म समाजवाद की स्थापना हुई। विश्व का एक मात्र प्रतिद्वद्वी व्यवस्था वाला राष्ट्र होने के नाते स्वय रूस की नीति मे प्रारभिक रूप स एक सुरक्षात्मक दष्टिकोण बना रहा। वैचारिक रूप म विश्व स्तर पर व्यवस्था बदलाव का पक्षधर होते हुए भी रूस मे इस हेतु क्षमता नही थी। प्राथमिक आवश्यकता रूस मे समाजवाद की स्थापना और उसे साम्राज्यवादी हस्तक्षेप से सुरक्षित रखना था। द्वितीय विश्वयुद्ध और उसस तात्कालिक पूर्व की घटनाओ मे रूस ने एक गहन राजनीतिक साम्राज्यवाद के उभरते अन्तरविरोधो का, अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए फायदा उठाया गया। निर्णायात्मक स्थितियो मे, युद्ध मे सम्मिलित होने का निर्णय इस सूझबूझ की पराकाष्ठा थी।

1945 का सोवियत सघ 1917 के सोवियत सघ के मुकाबिले कही अधिक सक्षम था। यूरोपीय द्वार की ओर अब उसकी सहयोगी व्यवस्थायें थी। एशियाई द्वार की ओर चीन मे क्रान्ति की सशक्त सम्भावनायें उत्पन्न हो रही थी और उपनिवेशवाद के समापन की प्रक्रिया के फलस्वरूप भारत व अन्य उपनिवेशो की स्वतन्त्रता भी करीब निश्चित थी। ऐसी परिस्थितियो मे सोवियत का अभ्युदय न सिर्फ वैचारिक प्रतिद्वंद्विता के रूप मे भी हुआ। अमेरिका और सोवियत के नतत्व मे ध्रुवीकरण सवव्याप्त बन गया।

युद्धोत्तर काल

द्वितीय विश्वयुद्ध के पटाक्षेप के बाद सोवियत और अमेरिका के बीच के सम्बन्ध मात्र दो राष्ट्रो के बीच के सम्बन्ध नही थे बल्कि, युद्धोपरात के ध्रुवीकरण की स्पष्टतम अभिव्यक्ति थे। विश्वयुद्ध के बाद का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विकास इन सम्बन्धो के विकास से अन्तरग रूप से जुडा है। इन सम्बन्धो म महत्वपूर्ण प्रवत्तियो को विकास की दष्टि से और इन प्रवत्तियो को एक ऐतिहासिक रूप से क्रमबद्ध करने के उद्देश्य से, सोवियत और अमेरिका के सम्बन्धो को निम्न चरणो मे विभाजित किया जा सकता है—

1 1945 मे 1955—दुराग्रही दशक,
2 1955 से 1963—सक्रमण सप्तक,

3 1963 से 1973—शाति सदभाव का दशक
4 1973 स वतमान—भूमिकाओ के बदलाव का काल

प्रथम चरण 1945 से 1955 दुराग्रही दशक

अमेरिका सोवियत सम्बधो मे इस प्रथम चरण की प्रमुख प्रवृत्ति को शीत युद्ध की सज्ञा स भी विभूषित किया जाता है। इस काल म युद्ध क बाद उभर शक्ति के सतुलन के प्रति दोना ही राष्ट्र अत्यधिक सहिष्णु और सचत रहे। इस बदले हुए शक्ति के समीकरण म अधिक चिता की स्थिति पश्चिमी राष्ट्रा की था, जो कि सोवियत की तुलना म द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रक्रिया स पहिल के मुकाबल अधिक कमजोर हो गये थ। इन राष्ट्रा की मानसिकता म एक विशष अनिश्चितता और सुरक्षा की आवश्यकता की भावना व्याप्त थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एकमात्र परमाणु शक्ति क राष्ट के रूप म अमरिका मे भल ही एक आत्मविश्वास था लकिन यूरोपीय राष्ट्रो की चिता उस खा रही थी। जहा तक सोवियत का सम्बध है वह अपनी बढी हुई क्षमता के प्रति जागरूक था, लेकिन उसकी आवश्यकता तात्कालिक रूप स प्रभाव क्षेत्र को स्थायित्व प्रदान करने की थी न कि इस प्रभाव क्षत्र को बढाने की। पश्चिमी राष्ट्रा से अतर्विरोधो क बावजूद सोवियत की नीति तुलनात्मक रूप स अधिक सयम की नीति थी। इसके विपरीत राजनीतिक पहल की आवश्यकता पश्चिमी राष्ट्रा के लिए अधिक थी।

शीतयुद्ध क्या है? इस प्रश्न के परिभाषा के स्तर पर अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं। इस अक्सर वाक्युद्ध की सज्ञा भी दी जाती है कुछ समीक्षका द्वारा इसम युद्ध की सम्भावनाओ का समावेश भी किया गया है। परिभाषा के विवाद म न उलझकर शीत युद्ध के वास्तविक तथ्य को समझना अधिक अनिवाय है। इस सदभ मे शीत युद्ध द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की वह राजनीति है जिसका उद्देश्य भौगोलिक आधिपत्य नही अपितु प्रभाव क्षेत्र कायम करना है। अत शीत युद्ध के विभिन्न उपागमो मे वाक्युद्ध राजनीतिक प्रतिद्वद्विता आर्थिक उपकरण सनिक उपकरण आदि सभी का आवश्यकतानुकूल समावेश है। किन्ही विशेष परिस्थितियो म सीमित युद्ध की नीति भी समाहित की जा सकती है। अत शीत युद्ध की राजनीति युद्ध की विभिषिका स बचते हुए भी परस्पर प्रतिद्वदी व्यवस्थाओ विचारधाराओ और हितो की टकराहट की राजनीति है। इस प्रतिद्वद्विता के विकास मे घटनाओ का एक विस्तत चक्र है।

ट्रू मेन के बारह सूत्र

द्वितीय विश्व युद्ध के तुरत बाद तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमेन ने

अमेरिका के भावी विदेश नीति के नीतिपरक बारह सूत्रो की घोषणा 28 अक्टूबर 1945 को यह कह कर की कि—

1 अपने स्वार्थों के लाभ के लिए अमेरिका प्रादेशिक विस्तार नहीं चाहता और इस सम्बन्ध मे अमेरिका किसी भी बडे और छोटे राष्ट्र पर आक्रमण नहीं करेगा ।

2 किसी भी राष्ट्र की सम्प्रभुता को बलपूवक छीनना [illegible] राष्ट्रो को अपनी सम्प्रभुता पाने का पूरा हक है।

3 मित्र राष्ट्रो म ऐसे तमाम प्रादेशिक परिवतन (जो कि [illegible] की स्वतन्त्र सहमति के अभाव मे किये गए हो) अस्वीकार्य हैं।

4 विश्व के सभी राष्ट्रो को अपने आन्तरिक [illegible] किसी विदशी हस्तक्षेप के निणय का अधिकार है। [illegible] के साथ साथ यूरोप, एशिया और अफ्रिका के राष्ट्रों के [illegible] लागू हो।

5 अमेरिका की कामना पराजित [illegible] शासन की स्थापना करना है। उसकी [illegible] है।

6 विदेशी शक्ति के हस्तक्षेप [illegible] सरकार को मान्यता नहीं मिलेगी।

7 समुद्रो मे आवागमन की [illegible] समान एव स्वतन्त्र अधिकारो की [illegible]

8 सभी राष्ट्रो को [illegible] खरीद और व्यापार सबधी [illegible]

9 जहा तक पश्चिमी [illegible] नीय है और विवादो का [illegible] करना चाहिए।

निश्चित राजनीतिक अभिप्राय था। विश्वयुद्ध के दौरान पश्चिमी राष्ट्रा की सनाओ और सोवियत की सना के आधिपत्य के अनेक क्षेत्रा म अब भी विवाद सुलझाने बाकी थे। इन बारह सूत्रो का प्रमुख उद्देश्य इन विवादो के प्रति अमेरिकी दृष्टिकोण को स्पष्ट करना था। शासन के स्वरूप को निर्धारित करने के अधिकार का सूत्र अथवा पराजित देशो म शातिपूर्ण लोकतात्रिक शासन की स्थापना का सूत्र अथवा स्वतन्त्र जनसहमति द्वारा प्रादेशिक बदलाव का सूत्र, यह सभी स्पष्ट रूप स उन विवादो की ओर इगित करते थे जो पश्चिमी राष्ट्रो और सोवियत के बीच सुलझाने बाकी थे। इन बारह सूत्रो का महत्व इस बात से भी था कि ऐतिहासिक अलगाव की नीति स हटकर प्रथम बार इन सूत्रो द्वारा अमेरिका की भावी सक्रिय योगदान की नीति को परिभाषित किया गया। इस नई नीति का आधार एक तरफ पश्चिमी गोलार्द्ध मे अमेरिका प्रमुत्व की असदिग्धता थी तो साथ ही साथ पश्चिमी गोलार्द्ध से परे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ म और विवादो मे अमरिका की भावी भूमिका की योजना भी थी।

दुराग्रह का विकास

ट्रूमेन के 12 सूत्र एक तरफ अमरिकी विदेश नीति का दूरगामी प्रारूप प्रस्तुत करता था तो साथ ही साथ सोवियत सघ को द्वितीय विश्वयुद्ध के उपजे विवादो क सम्बन्ध म चेतावनी भी था। इस परोक्ष चेतावनी की सोवियत सघ मे मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। एक ओर जहा तक पूर्वी यूरोप म प्रभाव का प्रश्न था सोवियत नीति अविचलित रहन का दृढ सकल्पित थी। अन्यत्र प्रभाव के प्रश्न सोवियत नीति के लिए खुले प्रश्न थे। इस प्रकार की सोवियत प्रतिक्रिया मे अमरिकी और विशेषत यूरोपीय राष्ट्रा को और अधिक विचलित किया। उनके बीच एक निश्चित समझ उभर कर सामने आई जिसका कि मूल अभिप्राय साम्यवाद के विस्तार की नाकेबदी करना था।

5 मार्च 1946 को अपनी अमरिका यात्रा के दौरान ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल ने फुल्टन नगर म एक ऐतिहासिक भाषण दिया। इस वक्तव्य म निहित विचारो ने साम्यवाद परिसीमन के सिद्धान्त को जन्म दिया। इस नई नीति का प्रमुख उद्देश्य रूस के बढते हुए प्रभाव क्षेत्र के विरोध के साथ साथ इसके भावी विस्तार को रोकने की योजना तैयार करना था। चर्चिल के इस कथन के बाद अमेरिका के ऊपर नतत्व का दायित्व था कि वह इस नई नीति के क्रियान्वयन को ठोस अभिव्यक्ति दे। इस नवीन आवश्यकता के दोहरे पक्ष थे। प्रथम आर्थिक सहायता एव राजनीतिक सरक्षण के द्वारा पश्चिमी गुट के सभी राष्ट्रो और विशेषत यूरोपीय राष्ट्रो को उनके पुनरुत्थान म सक्रिय सहयोग दिया जाय। दूसरी ओर विवादग्रस्त क्षेत्रो म जहा साम्यवाद के प्रसार की तात्कालिक आशकायें हो सैनिक

हस्तक्षेप की नीति भी अपनाई जाय। इन दोहरे दायित्वा का निर्वाह अमेरिका न सभाला।

ट्रूमेन सिद्धात एव मार्शल योजना

इस नये दायित्व के निर्वाह के लिए माच 1947 म राष्ट्रपति ट्रूमेन ने अमेरिकी काग्रेस के समक्ष एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसे ट्रूमेन सिद्धात के नाम से जाना जाता है। इस प्रतिवेदन का मूल उद्देश्य विवादग्रस्त क्षेत्रो को आर्थिक और सैनिक सहायता दना था। तात्कालिक रूप से इस प्रतिवेदन के द्वारा यूनान को 25 करोड डॉलर और टर्की को 15 करोड डालर की सहायता दने का प्रस्ताव रखा गया। यह प्रतिवेदन स्वीकार हुआ, और अमेरिकी विदेश नीति की एक नई परिपाटी प्रारम्भ हुई। ट्रूमेन सिद्धात विगत मे घोषित किये गये बारह सूत्रो का एक प्रकार से व्यावहारिक पक्ष था। पहले घोपित सूत्रा मे अतराष्ट्रीय राजनीति म अमरिका के सक्रिय हस्तक्षेप की बात निहित थी। ट्रूमेन सिद्धात द्वारा उसे क्रियान्वित करने की पहल हुई। एक दृष्टि से, एतिहासिक रूप स प्रसिद्ध 'मुनरो सिद्धात' जिसमे पश्चिमी गोलार्द्ध पर अमेरिका के एक छत्र प्रभाव की घोषणा की थी, की विस्तृत अभिव्यक्ति हम ट्रूमेन सिद्धात म पाते हैं।

अमेरिकी नीति के इस नये दायित्व के दूसरे पक्ष का निवाह मार्शल योजना के अतगत हुआ। इसकी घोपणा 5 जून, 1947 को की गई। इस योजना का प्रमुख उद्देश्य पश्चिमी यूरोप क आर्थिक पुनरुत्थान मे सक्रिय सहयोग करना था। अतरग रूप स इसका यह मुख्य उद्देश्य होते हुए भी, इस योजना को कतिपय वैचारिक एव परोपकारी स्वरूप प्रदान कर दिया गया था। इस योजना की घोषणा करते हुए तत्कालीन विदश मत्री मार्शल न कहा कि "हमारी नीति किसी देश या सिद्धात के विरुद्ध नही है। यह भूख, दरिद्रता, निराशा और अव्यवस्था के विरुद्ध है। इसका उद्देश्य विश्व म एक एसी अर्थव्यवस्था को तैयार करना है, जिसस स्वतत्र सस्थाओ को विकसित करन वाली राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितिया उपस्थित हो सके। सयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार द्वारा यूरोप को सहायता दिये जान से यह वाछनीय है कि यूरोपीय देशा की इस सम्बन्ध मे आवश्यक्ता के विषय मे कोई समझौता हो सके। अमेरिकी सरकार के लिए न तो यह उचित होगा और न ही प्रभावशाली कि वह यूरोप को अपने पैरा पर खडा करने वाले आर्थिक उपागमो का निमाण करे। यह काय मूलत यूरोपीयहै, जिसकी पहल यूराप से ही हानी चाहिए। हमारा दायित्व तो मात्र सहायतादना है।"

मार्शल याजना की घोपणा म यूरोपीय राष्ट्रा म उत्साहपूण प्रतिक्रिया हुई। इस घोषणा के मन्तव्य को जल्दी स जल्दी क्रियान्वित करने हेतु यूरोपीय राष्ट्र इच्छुक थे। ब्रिटेन और फ्रास ने इस सबध म पहल की। इसके फलस्वरूप जुलाई,

1947 म पेरिस मे 16 यूरोपीय राष्ट्रो का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन के फलस्वरूप यूरोपीय राष्ट्रो मे परस्पर आर्थिक सहयोग की आधार शिला रखी गई। सम्मेलन मे एक "यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति' का गठन किया गया। इस सम्बन्ध मे एक 4 वर्षीय परस्पर सहयोग की रूपरेखा तैयार की गई। इस समिति न अमेरिका के समक्ष एक रिपोट प्रस्तुत की, जिसमें यह प्रस्ताव रखा गया कि यदि अमेरिका 1 3 बिलियन डॉलर धनराशि खच करने का आश्वासन दे तो 1951 की समाप्ति तक एक ऐसी यूरोपीय अथव्यवस्था स्थापित की जा सकती है जो कि पूणत आत्मनिभर हो।

पश्चिमी राष्ट्रो के इस आर्थिक प्रतिवेदन को सिद्धान्तत स्वीकार किया गया और इस सम्बन्ध म एक विस्तृत प्रस्ताव दिसम्बर 1947 म अमेरिकी कांग्रेस के सामने प्रस्तुत किया गया। इस आर्थिक प्रस्ताव को "माशल योजना" अथवा 'यूरोपीय राहत कायक्रम' के नाम से जाना गया। इसके अन्तगत तात्कालिक 15 माह के लिए 6 अरब 80 करोड डॉलर की व्यवस्था की गई और अगले 4 वर्षों के लिए 17 अरब डॉलर का प्रावधान रखा गया। इस प्रस्ताव क औचित्य पर बल देते हुए ट्रूमेन न कहा "इन 16 राज्यो को जो कि उसी की तरह स्वतन्त्र सस्थाओ की सुरक्षा एव राष्ट्रो के बीच स्थाई शान्ति के लिए सकल्प बद्ध हैं, अमेरिका इन्हे इनके पुर्नानर्माण कार्यों मे सहायता देकर विश्वशान्ति एव अपनी स्वय की सुरक्षा मे योगदान कर।"

यूरोपीय राहत हेतु इस आर्थिक सहायता की नियोजित क्रियान्विति के लिए यूरोपीय राष्ट्रो का एक सगठनात्मक स्वरूप आवश्यक था। अत 1948 मे "यूरोपीय आर्थिक सहयोग सगठन' की स्थापना की गई। माशल-योजना के क्रियान्वयन से प्रेरित यूरोपीय राष्ट्रो के बीच एक आर्थिक सहयोग की प्रक्रिया प्रारभ हुई जिसम की भविष्य मे यूरोपीय आर्थिक समुदाय के आयोजन की आधारशिला भी रखी। माशल योजना का आर्थिक एव राजनीतिक प्रभाव स्पष्ट रूप म यूरोपीय राष्ट्रो पर पडा। एक ओर इस नीति के द्वारा यूरोपीय राष्ट्रो और अमेरिकी अथव्यवस्था म दूरगामी सामूहिक हितो का जन्म हुआ दूसरी ओर अमेरिका यूरोपीय राष्ट्रो मे अपनी इच्छा स राजनीतिक बदलाव म भी सक्षम रहा। फ्रास और इटली जहा सरकारो मे साम्यवादी भी सम्मिलित थ, वहा इस प्रभाव के फलस्वरूप साम्यवादियो को पदमुक्त कर दिया गया। अत अमेरिकी पहल द्वारा यूरोप पर आर्थिक एव राजनीतिक प्रभाव स्थापित हुआ।

सोवियत प्रयास

अमरिका के नतत्व मे हो रही उन विभिन्न चेष्टाओ के विरोध मे और कुछ इसके समानान्तर सोवियत के प्रयास भी रह। शीतयुद्ध के सदभ में वस्तुत

सोवियत और अमेरिका के सम्बन्धो की समय परोक्ष रूप स किये गय प्रयासो मे ही देखने को मिलती है। परस्पर सम्बन्धो मे स्थिरता इस प्रारम्भिक काल मे दोनो राष्ट्रो के बीच का द्वद्व परोक्ष माध्यमो का द्वद्व था। विश्वयुद्ध के दौरान हुए विभिन्न शाति समझौतो मे याल्टा का समझौता अत्यधिक राजनीतिक महत्व का था। अनेक विषयो पर सहमति के बावजूद इस शिखर सम्मेलन म भी बहुत से विवाद के प्रश्न बच गये थे। इन प्रश्ना ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अनेक वर्षों तक अपनी तात्कालिकता बनाये रखी। सोवियत की नीति के दो पक्ष थे। प्रथम तो यह कि असदिग्ध रूप से उसके प्रभाव मे आ चुके क्षेत्रो पर किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप सहन न किया जाये और इन क्षेत्रो को प्राथमिक रूप से द्विपक्षीय वार्ताओ व सधियो द्वारा स्थायित्व दिया जाय। द्वितीय, उनके आर्थिक विकास को समाजवादी व्यवस्था के अनुकूल विकसित कर सोवियत आर्थिक व्यवस्था से अन्तरगता से जोडा जाय।

सन 1946 स लेकर 1949 तक सोवियत सघ ने 17 द्विपक्षीय समझौते किय। युद्ध के दौरान ही पोलेण्ड से सधि हो चुकी थी। जुलाई, 1947 मे चेकास्लोवाकिया के साथ भी एक सधि की गई। फिनलण्ड के साथ 1947 मे शाति-सधि और उसके उपरान्त अप्रैल 1948 मे एक मैत्री सधि स्थापित हुई। फिनलैंड के साथ किय गये समझौत से सोवियत की एक विशेष नीति स्पष्ट हुई। वह यह कि, ऐस राष्ट्रा स भी जिनम समान व्यवस्था लागू करना व्यावहारिक न हो उनके साथ भी शाति स्थापित की जाय अथात, जिन्हे स्पष्ट रूप म प्रभाव म म ला सके उन्ह कम से कम तटस्थ बनाने का प्रयास तो किया जाये। सधिया के इस उभरते स्वरूप से, सोवियत की नीति का एक और पक्ष भी उदघाटित होता है इस दृष्टिकोण क अनुसार यह प्रतीत होता है कि सोवियत प्रारंभिक रूप से बहुपक्षीय सनिक गठबन्धनो के पक्ष मे नही था अपितु इसकी तुलना मे वह द्विपक्षीय आधार पर समझौतो द्वारा राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र का स्थायित्व चाहता था।

राजनीतिक स्तर पर द्विपक्षीय प्रक्रिया की तुलना मे आर्थिक प्रश्ना के सबध मे सोवियत का दष्टिकोण भिन्न था। आर्थिक पुनउत्थान और एकीकरण की योजना को सोवियत बहुपक्षीय प्रारूप दने का पक्षधर था। 1947 से ही सोवियत ने पूर्वी यूरोपीय राष्टो की औद्योगिक विकास और इसकी अथव्यवस्थाआ को सोवियत अथव्यवस्था से जोडने का मतव्य व्यक्त किया। ऐसे प्रारूप का प्रस्ताव 'मॉलोतोव योजना' के अतगत किया गया। 1947 से 1949 के बीच तात्कालिक आवश्यकताआ वाले कुछ द्विपक्षीय आर्थिक समझौत भी किये गये। लेकिन माशल योजना के सक्रिय होने के बाद सोवियत न भी 1949 म भी सभी पूर्वी यूरोपीय राष्ट्रो की एक आर्थिक परिषद गठित की जिसे कोमिकॉन' अथवा 'पारस्परिक

आर्थिक सहायता परिषद की सज्ञा मिली।

आतरिक रूप म सोवियत सघ ने तीव्र आर्थिक विकास की विस्तन योजना तयार की। इसका उद्देश्य सोवियत की आर्थिक क्षमता को जो कि ऐतिहासिक कारणा स पश्चिमी राष्ट्रा की तुलना म पिछडी हुई थी शीघ्र स शीघ्र पश्चिम के समक्ष लाना था अ यथा सोवियत क लिए आन्तरिक और पूर्वी यूरोपीय राष्ट्रो के आर्थिक दायित्वा का निर्वाह करना मुश्किल था। आर्थिक विकास पर अत्यधिक रूप स बल दना सोवियत की यथार्थवादी एव दूरदर्शी दृष्टि का परिचायक था।

अपने वचारिक दायित्वा के निर्वाह क लिए भी अपने सीमित ससाधनो क बावजूद सावियत कुछ कुछ सक्रिय रहा। ततीय अन्तर्राष्ट्रीय अनुभवो स सीखते हुए सोवियत क वैचारिक प्रसार की नीति न अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया। 1947 म वारसा म समस्त पूर्वी यूरोपीय और कुछ पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रो क साम्यवादी दला का एक सम्मलन हुआ। इस सम्मलन म एक नय मच कामिन फाम अथवा साम्यवादी सूचना सस्थान की स्थापना की गई बलग्रेड म इसका मुख्य क द्र स्थापित हुआ। इस सस्था की स्थापना क प्रमुख उद्देश्य को रखा कित करत हुए इसक घोषणा पत्र म कहा गया कि द्वितीय विश्वयुद्ध म अमरिका का सम्मिलित होना विश्व बाजार क बटवार की प्रतियोगिता म अपने हितो को सर्वोपरि बनान क उद्देश्य स प्रेरित था जबकि सोवियत सघ का यूरोप म युद्ध मे साझेदारी स्वतन्तता और लाकतन्त्र क पुनर्स्थापन स प्रेरित थी। कामिन फाम का दायित्व साम्यवादी आन्दोलन को वैचारिक नेतत्व देना और पश्चिमी विचार धारा का प्रत्युत्तर दना था।

इन विभि न चष्टाआ म अमेरिका क प्रत्युत्तर क रूप म सोवियत की नीति के विभिन्न आधार स्पष्ट होत हैं। अन्यत्र विचारधारा क प्रसार का प्रश्न माध्यमिक वरीयता का हो जबकि प्रभाव क्षेत्रो म आर्थिक एकीकरण का प्रश्न प्राथमिक दायित्व का हो। इन क्षेत्रो म भी राजनीति एव सनिक एकीकरण स पूर्व आर्थिक एकीकरण पर महत्व की नीति सोवियत के एक विशिष्ट दृष्टिकोण की परिचायक है।

विस्फोटक राजनीतिक स्थितिया

अपन अपन प्रभाव क्षेत्रा को सुनिश्चित एव एकीकृत करने का सोवियत और अमेरिका की नीति समा तर रूप से जारी रही। ये चेष्टायें चूकि स्वय क प्रभाव क्षेत्रा स सबधित थी और कि ही अन्य राष्ट्रो पर सीधे प्रभाव वाली नही थी अत इन घटनाओ के प्रति सोवियत और अमेरिका मे परस्पर विरोध होते हुए भी यह विरोध विस्फोटक नही बना। कि तु इस काल की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म कुछ ऐसे राजनीतिक प्रकरण भी आये जि होने सोवियत और अमेरिका के सम्बन्धो म

स्पष्ट रूप से विस्फोटक स्थितियां पैदा कीं। ऐसी कुछ स्थितियां जिनके द्वारा दो महाशक्तियों के बीच शीतयुद्ध की राजनीति विकसित हुई प्रमुख रूप से निम्न लिखित हैं।

जर्मन विवाद इस शृंखला की सबसे महत्त्वपूर्ण और दूरगामी प्रभाव वाली स्थिति थी। द्वितीय विश्वयुद्ध की सामरिक नीति के फलस्वरूप जर्मनी के पूर्वी भाग पर रूस का आधिपत्य था तो पश्चिमी भाग पर यूरोपीय सत्ताओं का। याल्टा शिखर सम्मेलन में भी इस संबंध में सर्वसम्मति से बनाए गए नियम से बढ़कर कोई अंतिम निर्णय सम्भव नहीं हो सका था। सन् 1947 की ट्रूमैन घोषणा और मार्शल योजना के साथ-साथ पश्चिम जर्मनी के टुकड़ों को जोड़कर फिर 'जर्मन शक्ति' को खड़ा करने का पश्चिमी देशों का अभियान चला जिसका प्रथम चरण था— मुद्रा परिवर्तन। मुद्रा परिवर्तन करते ही जर्मन भागों का आपसी व्यापारिक व आदान-प्रदान के सम्बन्ध टूटने लगे और पश्चिमी शक्तियों ने अपने अपने अधीन इलाकों को जोड़ना शुरू किया। इधर पश्चिम जर्मनी को सशक्त करने की कार्यवाही शुरू हुई उधर सन् 1947 में डनकर्क संधि कर ब्रिटेन और फ्रांस जुड़े फिर ब्रुसेल्स संधि से इस घेरे को और व्यापक बनाया जाने लगा और ऐसी नींव डाली जा रही थी जिसमें शान्तिकालीन सबसे बड़ा 'सैनिक संगठन' खड़ा किया जाने वाला था 'उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन'। तनाव बढ़ाया जा रहा था और सैनिक गठबंधन के ताने-बाने किए जा रहे थे। ऐसी अनिश्चय की स्थिति में सोवियत द्वारा सन् 1948 में बर्लिन नगर की सुरक्षात्मक नाकेबन्दी कर ली गई। रूस के इस कदम ने पश्चिमी राष्ट्रों को सीधी राजनीतिक चुनौती दी और वास्तव में एक अंतर-राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हो गया। जहां तक नाकेबन्दी के तात्कालिक प्रभाव का प्रश्न था, उसकी उपयोगिता को निरर्थक सिद्ध करने हेतु पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा हवाई माध्यम से अनेक राजनयिक एवं पश्चिमी समर्थन वाले अन्य जनों को पूर्वी जर्मनी से बाहर लाया गया। मई, 1948 में नाकेबन्दी समाप्त की गई। इसके बाद ब्रिटेन फ्रांस और अमरीका के अधीनस्थ जर्मनी के तीनों पश्चिमी क्षेत्रों का एकीकरण पूर्ण कर दिया गया और औपचारिक रूप से 21 सितम्बर, 1949 को संघीय जर्मन गणराज्य की स्थापना कर दी गई। इसके बाद सोवियत संघ को विवश होकर अपने अधीनस्थ जर्मन भाग में 7 अक्टूबर, 1949 को जर्मन प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य के रूप में गठन करना पड़ा। जर्मनी अंत में बंट के रहा। दो जर्मन राष्ट्रों का औपचारिक अस्तित्व प्रकट हो गया। यह सही है कि अब भी पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा पूर्वी जर्मनी के अस्तित्व को मान्यता नहीं दी, लेकिन सोवियत के द्वारा पश्चिमी जर्मनी को भी मान्यता प्रदान नहीं की गई।

जर्मन विवाद के एकदम विपरीत अनुभव, ईरान यूनान और टर्की की घटनाओं से मिलता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सैनिक आधिपत्य को देखते हुए

यहा पर भी भावी प्रभाव की लडाई थी। लेकिन सोवियत की सामरिक नीति को देखते हुए यह क्षेत्र पूर्वी यूरोप की तुलना म न तो उस तीव्र सामरिक महत्व के थे और न ही इन क्षेत्रो म सतत हस्तक्षेप की सोवियत के पास क्षमता था। दूसरी ओर पूर्वी यूरोप को खोना पश्चिमी राष्ट्रो के लिए एक निश्चित तथ्य बन चुका था और इस सम्ब ध म पश्चिमी राष्ट्र कम या अधिक असहाय ही थे। लेकिन ऐसी स्थिति इन दूसरे प्रदशो क सम्ब ध म नही थी। न तो रूस की यह कोई तात्कालिक प्राथमिकता थी और न ही ऐसा कोई हस्तक्षेप पश्चिमी राष्ट्रो को मा य था। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद 1946 मे सोवियत सेनाए ईरान के एक भाग म जमी रही और टर्की पर भी सीमित आधिपत्य बनाये रखा। लेकिन ईरान स शीघ्र ही सोवियत सनाओ का हटना पडा और बाद म ट्रूमेन सिद्धा त क अत-गत दी गई बाहरी सहायता क फलस्वरूप यूनान और टर्की को भी पश्चिमी राष्ट्र सोवियत के प्रभाव स स्वतत्र कराने म सफल हुए। सोवियत टर्की यूनान और ईरानमे हस्तक्षेप की नीति वस्तुत पूर्वी यूरोप की समस्या को सुलझाने म पश्चिमी राष्ट्रो पर अ यत्र दबाव बनाय रखने की आवश्यकता की नीति थी। इस नीति ने सोवियत सघ का वाछित सफलता भी दी।

शीत युद्ध की विस्फोटक स्थितिया म ऐतिहासिक महत्व की स्थिति कारियाइ युद्ध रहा। द्वितीय महायुद्ध म पूव कोरिया जापान के आधिपत्य म था। युद्ध की प्रक्रिया क दौरान कोरिया क उत्तरी भाग पर सोवियत सनाओ का और दक्षिणी भाग पर अमरिकी सनाआ का आधिपत्य स्थापित हुआ। युद्ध के बाद एक अस्थाई सनिक व्यवस्था के अ तगत 38वी समाना तर रखा द्वारा कोरिया का विभाजन हुआ। इस विभाजन क बावजूद भी दानो पक्षो म टकराहट की स्थिति बनी रही। सन 1950 म कोरिया विवाद ने एक नाटकीय मोड लिया। जून, 1950 म उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण का आरोप लगा जबकि तथ्य इसक विपरीत थे। इस सबध म 25 जून, 1950 को दक्षिणी कोरिया की ओर स एक प्रतिवेदन सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के समक्ष रखा गया। इन दिनो चीन की सदस्यता के प्रश्न पर सोवियत सघ ने सयुक्त राष्ट्र सघ के बहिष्कार की नीति अपना रखी थी। अत विवाद सुरक्षापरिषद म आया तो सोवियत की अनुपस्थिति म एक प्रस्ताव पारित कर उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित किया गया और दक्षिणी कोरिया को यथासम्भव सनिक सहायता प्रदान करन का आवाहन किया गया।

इस सम्ब ध म अमेरिका के नतत्व म एक सयुक्त राष्ट्र सेना के गठन का निणय हुआ। रूस की अनुपस्थिति म अमेरिका ऐसे निणय के प्रति पहल से ही आश्वस्त था। कोरिया के समीप ही अमेरिका का सातवा नौ सनिक बेडा उपस्थित था। सुरक्षा परिषद के निणय क तुर त बाद इस बेड स अमेरिका का ध्वज उतार

कर राष्ट्र सघ का ध्वज फहरा दिया गया और इस दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए उपस्थित किया गया। युद्ध जब बढत बढत चीन की सीमाओ का छूने लगा तब बाध्य होकर चीन को उत्तरी कोरिया मे अपने सनिक भेजने पडे जिसन युद्ध का स्वरूप ही बदल दिया और जब तथा कथित सयुक्त राष्ट्र सेना को ढकेलना शुरू हुआ तब स्थिति बिल्कुल बदल गई। स्थिति की तात्कालिक गभीरता को समझत हुए सोवियत सघ ने अपना बहिष्कार खत्म किया। करीब एक वष के युद्ध क बाद युद्ध विराम अन्तरिम रूप स लागू हुआ। औपचारिक रूप स युद्ध की समाप्ति तटस्थ राष्ट्रो क एक आयोगकी सहायता म 27 जून 1953 को सम्भव हो पाई। इसके फलस्वरूप सयुक्त राष्ट्र सघ की सनिक कायवाही का भी अन्त हुआ। कोरिया विवाद का वास्तविक एव अन्तिम हल तो इस पूरी प्रक्रिया से नही हो पाया, लेकिन कोरियाई अनुभव ने एक ओर हस्तक्षेप की नीति की सीमित साथकता को स्पष्ट किया दूसरी ओर शीतयुद्ध की राजनीति को उसकी चरम अभिव्यक्ति तक पहुचा दिया।

सैनिक गठबन्धनो की रणनीति

द्वितीय विश्व युद्ध के गभ से उपजी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म एक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया मे सैनिक गठबन्धनो की रणनीति का एक विशिष्ट स्थान है। दो खेमो का नतत्व कर रही महाशक्तिया के लिए यह स्वाभाविक आवश्यकता थी कि वे अपने प्रभाव क्षेत्र को आथिक एव राजनीतिक रूप स ही नही अपितु, सैनिक एक-जुटता के माध्यम स भी एकीकृत करें।

इस सम्बन्ध मे पहले पश्चिमी राष्ट्रो द्वारा की गई क्योकि उनके दष्टिकोण मे साम्यवाद के बढे हुए खतरे निपटने के लिए सनिक तत्परता की भी आवश्यकता थी। अप्रैल, 1949 मे ही पश्चिमी राष्ट्रो द्वारा उत्तरी एटलाटिक सन्धि सगठन स्थापना का निणय ले लिया गया। 'नाटो की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य सभी पश्चिमी राष्ट्रो को साम्यवादी खतरे के विरोध मे सनिक रूप से एकजुट करना था। इसी दृष्टि से बाद मे सितम्बर 1951 को जापान के साथ भी एक सन्धि क्रियान्वित की गई, जोकि अनिश्चितकालीन थी। 'नाटो' के गठन के बाद पश्चिमी राष्ट्रो द्वारा नवम्बर, 1949 मे परस्पर प्रति रक्षा सहायता कायक्रम तैयार किया गया। इस कायक्रम का प्रमुख उद्देश्य 'नाटो' की रणनीति को व्यावहारिक रूप प्रदान करना था। इन चेष्टाओ द्वारा अमेरिका ने अपने प्रथम प्रयास क रूप म निकट के पश्चिमी राष्ट्रा को सैनिक रूप से प्रतिबद्ध किया।

इस प्रक्रिया की समाप्ति के बाद अमेरिका की कामना अन्य सहयोगी राष्ट्रा को भी इसके प्रति प्रेरित करना था। इस उद्देश्य से अक्टूबर, 1951 म अमेरिका द्वारा पारस्परिक सुरक्षा सहायता उपयोग कानून पारित किया गया। इस कानून के अन्तगत अमरिका न अन्य राष्ट्रो म उसके साथ सनिक सन्धि करने का आहवान

किया और ऐसे राष्ट्रों को सैनिक सहायता देने के लिए सात अरब 33 करोड डालर का प्रावधान रखा गया। इसके तत्काल बाद दिसम्बर, 1951 म आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के साथ सुरक्षा सन्धि की गई और तत्पश्चात् शीघ्र ही फिलिपीन के साथ। इन द्विपक्षीय सधियों का अंतिम उद्देश्य एक नये सैनिक गठबन्धन का निर्माण था। इसकी परिणति सन 1954 म दक्षिणी पूर्वी एशिया सधि सगठन की स्थापना के रूप म हुई। इस सगठन का उद्देश्य प्रमुख पश्चिमी राष्ट्रों, मेरिबियन राष्ट्रों और दक्षिणी एशियायी राष्ट्रों का एक वहृद सैनिक सगठन तैयार करना था। पश्चिमी एशिया म अपने प्रभाव क्षेत्र को बढाने के उद्देश्य से केन्द्रीय सधि सगठन जिसे बगदाद सधि के नाम से भी जाना गया की स्थापना 1955 म की गई। इस प्रकार अमरिकी विदेश नीति ने एक ओर पश्चिमी राष्ट्रों को तो साथ ही साथ अन्य मित्र राष्ट्रों को भी सैनिक रूप म प्रतिबद्ध किया।

सैनिक सन्धियों की राजनीति की इन प्रतिद्वंद्विता म सोवियत सघ की दृष्टि एक रूप म सुरक्षात्मक ही रही जो कि उसकी तत्कालिक सामर्थ्य की परिचायक थी। सैनिक सधियों की पहल पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा की गई और एक लम्बे समय तक सोवियत सघ ने उसका कोई विशेष प्रत्युत्तर नहीं दिया। पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा तमाम सैनिक सगठनों के निर्माण के बाद, 14 मई 1955 को वारसा सधि की स्थापना हुई। इसका प्रभाव क्षेत्र पूर्वी यूरोपीय राष्ट्रों तक सीमित था। सामूहिक सैनिक गठबन्धन की नीति के विपरीत सोवियत नीति ने द्विपक्षीय मत्री सधियों पर अधिक बल दिया जो कि उसकी विदेश नीति के एक निरन्तर सूत्र के रूप म स्थापित हुआ। चीन म साम्यवादी क्रांति के बाद सोवियत की पहल पर उसके साथ मैत्री सधि हुई। भविष्य म भी जहा कहीं साम्यवादी व्यवस्था अथवा सोवियत की पक्षधर सरकार का उदय हुआ। सोवियत विदेश नीति का उद्देश्य इन राष्ट्रों को किसी वहृद सैनिक गठबन्धन मे बाधने का नहीं था। इन राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों म भी सोवियत ने द्विपक्षीय मैत्री सधि की नीति को ही अपनाया। अतर-राष्ट्रीय राजनीति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस नीति के फलस्वरूप उसको उत्तरोत्तर सफलता मिली। वर्तमान म, जब पश्चिमी राष्ट्रों के वहृद गठबन्धन या तो विघटित हो चुके है अथवा निष्क्रिय प्राय हो रहे हैं द्विपक्षीय सन्धियों के माध्यम से सोवियत के प्रभाव मे निरन्तर वृद्धि हुई है।

दुराग्रहों काल का अवसान एक समीक्षा

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद का दशक एक ऐसी प्रक्रिया का दशक था जिसके दौरान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म शक्ति के पुराने समीकरण नष्ट हो चुके थे, और एक नये समीकरण का उदय हुआ था। स्वाभाविक है कि किन्हीं भी बदलाव की स्थितियों के प्रारम्भिक वर्ष अत्यधिक अनिश्चित, सशयपूर्ण और

परस्पर दुराग्रह भाव के हाते हैं। इस दशक मे सोवियत और अमेरिका के सम्बन्ध भी इस स्वाभाविकता की पुष्टि करते है। सन 1945 एक नये बदलाव का प्रथम पडाव था। 1955 तक यह बदलाव की स्थितिया अनिश्चितता के दौर से गुजरती हुइ, एक निश्चित स्थायित्व पा चुकी थी। इस स्थायित्व का अतर्राष्ट्रीय राजनीति म एक नई मानसिकता के रूप मे पदापण हुआ। यह सही है कि पश्चिमी राष्ट्रो के सोवियत व्यवस्था और हितो के प्रति मूलभूत अ तर्विरोध थे। लेकिन इतिहास ने इस परस्पर विरोधी व्यवस्था और हितो के उन्मूलन की सम्भावना समाप्त कर दी थी। साम्यवादी व्यवस्था और रूस अब एक ऐतिहासिक सत्य बन चुके थे। सोवियत सघ म भी इस बीच अपनी औद्योगिक एव सैनिक प्रगति के कारण एक नये आत्म विश्वास का सूत्रपात्र हुआ। पश्चिमी राष्टो से अब वह शान्तिपूण प्रतिद्वद्विता करन को सक्षम था। अत दुराग्रही दशक के अवसान के साथ साथ अतर-राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावनाओ ने भी जन्म लिया। लेकिन यह सभावनाए उतनी ही अनिश्चित थी जितनी कि यह उभरती हुई नई मानसिकता।

द्वितीय चरण

सक्रमण सप्तक 1955 1963

सोवियत और अमेरिका के परस्पर सम्बन्धो के विकास का यह द्वितीय चरण वस्तुत सक्रमणकाल था। नेतत्वकारी बदलाव वैचारिक स्तरो पर पुनसमीक्षा और बदली हुई आर्थिक एव राजनीतिक अपेक्षाओ क फलस्वरूप उस काल का उदघाटन दूरगामी महत्त्व का था। लकिन चूकि यह काल एक नये सक्रमण की प्रक्रिया को दर्शाता है अत इसम कुछ एसी घटनाओ का भी समावेश है जो भले ही सीमित समय क लिए इस प्रक्रिया को स्थिर अथवा प्रतिगामी तक बना गयी। जहा तक बदलाव की एक दूरगामी दष्टि का प्रश्न है इस चरण मे इसका असदिग्ध निरूपण हुआ। बदलाव के इस दूरगामी दष्टिकोण के विकास मे निम्न बातें अत्यधिक महत्त्वपूण रही।

1 सोवियत व्यवस्था मे नेतत्व परिवतन का तात्पय सिफ व्यक्तिगतबदलाव की स्थितियो स नही है। नेतत्व परिवतन की प्रक्रिया अपने आप मे विशेष प्रकार के वैचारिक मथन से अन्तरग रूप म जुडी होती है सन 1953 म स्टालिन के देहान्त के बाद एक ऐसा ही वैचारिक मन्थन देखने को मिला, जो कि न सिफ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रश्नो अपितु आन्तरिक राजनीतिक प्रश्नो स भी जुडा था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र म सोवियत सघ अपनी एक नई दूरगामी भूमिका को परिभाषित करना चाहता था। जहा तक उसकी क्षमता का प्रश्न था वह पिछले दशक म अत्यधिक तीव्रगति म बढी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न शक्ति का सतुलन स्थायित्व पा चुका था। अत रूस के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि

कोण म कुछ ऐसे गुणात्मक तत्त्वो के समावेश की आवश्यकता थी जो एक ओर ततीय राष्ट्रा म समाजवादी व्यवस्था के प्रति साख पैदा कर सके और साथ ही साथ आर्थिक राजनीतिक एव सामरिक क्षमता के स्तर पर पश्चिमी राष्ट्रो के साथ उसकी समानता को स्वीकार करा सके। इस नवीन आवश्यकता का निर्वाह सोवियत न दूरगामी नीति तैयार करक किया।

सन 1956 मे सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का 20 वा अधिवेशन ऐतिहासिक महत्व का बन गया। वैचारिक और राजनीतिक मथन के बाद ख्रुश्चेव का दष्टि काण विजयी रहा और उनका नेतत्व भी स्थापित हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म विस्तत महत्व का शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व का सिद्धान्त इस अधिवेशन द्वारा प्रस्तुत किया गया। इस सिद्धान्त का प्राथमिक तात्पय पश्चिम की साम्राज्यवादी व्यवस्था स जुझने के लिए एक बहुचरणीय द्वन्द की राजनीति तयार करना था। तात्का लिक रूप म इस विराधी व्यवस्था के अस्तित्व को स्वीकारा जाए और ऐसी स्थि तिया उत्पन्न की जायें कि इन व्यवस्थाओ म सीधे स्तर पर टकराहट खत्म हो और एक शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और सहिष्णुता की अवस्था स्थापित हो। इस शान्ति पूर्ण सहअस्तित्व की अवस्था को सोवियत सघ का ततीय राष्ट्रो म प्रभाव क्षेत्र बढाने हेतु प्रयुक्त किया जाय। इस सम्बन्ध म ततीय राष्ट्रो के प्रति आर्थिक एव राजनीतिक सहायता का एक सतुलित दष्टिकोण हो जो कि तात्कालिक रूप स उग्र दीखने वाला न हो और जिसके द्वारा ततीय विश्व के साथ एक दूरगामी सम वय की नीव डाली जाये। इस सम्बन्ध मे ततीय राष्ट्रो म आतरिक व्यवस्था परिवतन क सम्ब ध मे गर पूजीवादी विकास का पथ का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया। इस सिद्धान्त का मूल तात्पय यह था कि विकास के ऐतिहासिक क्रम म ततीय राष्ट्रो के लिए यह सभव है कि वे पूजीवाद की स्थिति से गुजरे बिना समाजवादी व्यवस्था की ओर उन्मुख हो सकते हैं। ऐसी सम्भावना उन स्थितियो म उभर सकती हैं जबकि इन राष्ट्रो को साम्राज्यवाद के शोषण स मुक्त होने का अवसर मिले और साथ ही साथ समाजवादी व्यवस्था का सहयोग भी। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के इस बीसवें अधिवेशन के बाद ततीय राष्ट्रो को आर्थिक, सैनिक एव राजनीतिक सहायता की नीति सोवियत सघ की विदेशी नीति का स्तभ बन गई। सोवियत मान्यता थी कि यदि ततीय राष्ट्रो स साम्राज्यवादी व्यवस्था के आर्थिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाय तो स्वत ही साम्राज्यवादी व्यवस्था का विनाश निश्चित हो जायगा। इस दष्टि स सोवियत सघ की यह नई नीति लेनिन द्वारा अभिव्यक्त ऐसी ही धारणा का परिमार्जित और व्यावहारिक स्वरूप था। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के इस 20वें अधिवेशन ने सोवियत विदेश नीति क अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म एक सक्रिय भूमिका की नई दिशा दी और अभिप्राय स्वरूप विश्व राजनीति म एक नये अध्याय का सूत्रपात किया।

2 अमेरिका की विदेश नीति के सम्बन्ध म भी आइजन हॉवर के आगम के बाद एक नई मानसिकता का जन्म होता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिकी विदेश नीति सक्रिय हस्तक्षेप की नीति रही थी लेकिन इस नीति का अनुसरण करते हुए अमेरिका का कोई विशेष सफलताए अर्जित न हो सकी और वह अनेको जगह अन्तर्राष्ट्रीय विवादो म फस गया। ऐसी स्थिति का अमेरिका की आन्तरिक राजनीति म भी मूल्याकन प्रारम्भ हुआ भले ही यह मूल्याकन अत्यधिक तदय था। कोरिया का विवाद एक ज्वलन्त विवाद था। स्वय आइजन हावर ने अपने चुनावी घोषणा पत्र जिस पर वे जीते अमेरिकी जनता का आश्वासन दिया था कि वे शीघ्र ही कोरिया विवाद को सुलझायेंगे और वहा पर अमेरिकी उपस्थिति का अन्त करेंगे। कोरिया के सम्बन्ध मे तो यह एक नई नीति का परिचायक था भले ही अ यत्र आईजन होवर ने अमेरिका के सीमित हस्तक्षेप की नीति जानी रखी थी। सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी के 20वें अधिवेशन के बाद अमरिकी मानसिकता मे कुछ प्रारम्भिक बदलाव हुआ। वह सोवियत सघ के साथ सबध बढाने का आशिक रूप स तप्पर हुई। इस बीच राष्ट्रपति आइजन हॉवर ने सीमित हस्तक्षेप की जो नीति अपनाई थी उसके अधिकाशत प्रतिकूल परिणाम ही रह। मध्यपूव म उनकी सैनिक सहायता की चेष्टाओ की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। 1958 म लेबनॉन जासूसी काण्ड और उसकी विश्व समूह द्वारा भत्सना अमेरिकी नीति के लिए सकोच का विषय बन गई और 1958 मे ही ईराक मे आन्तरिक शान्ति का विफल करन के ब्रिटिश और अमेरिकी प्रयत्न धराशाही हुए। इन सबन अमरिकी विदेश नीति के लिए एक नई दूरगामी मानसिकता की स्थितिया उत्पन्न की।

3 जहा तक परस्पर शक्ति के सन्तुलन का प्रश्न था, पिछले दशक मे सोवियत सघ अपने विकास के द्वारा सामरिक रूप से अमेरिका के समक्ष आ गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध मे अमरिका की एकछत्र शक्ति उसके परमाणु आयुधा ने स्थापित की जो कि अन्य राष्ट्रा के पास नही थी। लेकिन इस बीच रूस ने बाहरी हस्तक्षेप की तुलना म अपनी सामरिक क्षमता को बढाने पर अधिक बल दिया। रूस द्वारा परमाणु आयुध तैयार कर लिये गये। यही नही अत्यधिक गोपनीयता के बाद रूस ने 1951 मे समस्त विश्व को इस बात मे स्तब्ध कर दिया कि उसके द्वारा विश्व का प्रथम कृत्रिम उपग्रह छोडा गया। इसी बीच सोवियत सघ ने अतमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रो के सफल परीक्षणा की घोषणा भी की। अब यह असदिग्ध रूप से प्रमाणित हो गया था कि आणविक हथियारो की तकनीक की जो सर्वोपरिता पश्चिम के पास थी वह अब नही रही। अत भावी विश्वयुद्ध की कल्पना अत्यधिक भयकर बन गई। शक्ति के इस नये आणविक सतुलन को कुछ विचारकों न अत्यधिक सटीक रूप स 'भय के सतुलन' की परिभाषा दी है। वस्तुत स्थिति

भी अब ऐसी ही बन गई थी। टकराहट की खुली राजनीति का अवसान अपरिवतनीय निष्कर्ष बन गया।

शिथिलता का शैशव काल

ख्रुश्चेव के आगमन से पूर्व ही अन्य राष्ट्रो के साथ मत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढाने की प्रक्रिया रूस की विदेश नीति म प्रारम्भिक रूप से आ चुकी थी। 1953 से लेकर 1955 के बीच रूस द्वारा अन्य राष्ट्रो के साथ शान्तिपूर्ण राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। कोरिया सकट म ठहराव की स्थिति के बाद रूस ने फिनलैंड से अपने सैनिक अड्डे हटाये और जापान के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्धो की पहल की। पश्चिमी जर्मनी यूनान और इजरायल के साथ भी द्विपक्षीय स्तर पर सुधारने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। आस्ट्रिया के साथ एक सन्धि की गई और यूगोस्लाविया के साथ भी कामिनफार्म के समापन के बाद सम्बन्ध सुधारने के प्रयास हुए। ख्रुश्चेव ने अपने आगमन के तुरन्त बाद अप्रैल, 1956 मे अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र को बढाने की दृष्टि से ब्रिटेन का भ्रमण किया। इसके पहले ही 1954 मे 4 महाशक्तियो का जमन विवाद पर सम्मेलन हो चुका था जिसने जेनेवा समझौते का माग प्रशस्त किया था। अपने इन सौहाद्रपूर्ण वातावरण के प्रयासो के बाद सोवियत सघ ने अमेरिका की ओर रूख किया 1959 म सोवियत उपप्रधानमन्त्री ने अमेरिका का 15 दिन का भ्रमण किया और उचित पृष्ठ भूमि तैयार होने पर सितम्बर, 19 9 मे ख्रुश्चेव की अमेरिका की यात्रा हुई। इस यात्रा ने दोनो राष्ट्रो के बीच एक नई समझ पैदा की और यह निर्णय लिया गया कि 16 मई 1960 को विभिन्न अतर्राष्ट्रीय विवादो पर विचार करने हेतु इन महाशक्तियो और अन्य यूरोपीय राष्ट्रो का एक शिखर सम्मेलन आयोजित किया जायेगा।

1960 के पेरिस शिखर सम्मेलन की योजना सौहाद्रपूर्ण वातावरण म की गई थी। सम्मेलन की तयारिया हो चुकी थी कि इसी बीच विमान काड अप्रत्याशित रूप से घटा। अमेरिकी विमान सोवियत क्षेत्र म जासूसी कर रहा था और उसे मार गिराया गया। इसम तात्कालिक तनाव बढना स्वाभाविक था। प्रारभिक रूप से अमेरिका ने जासूसी के कृत्य को उचित ठहराया लेकिन सोवियत एव अन्य विश्व द्वारा भी इस घटना की अत्यधिक निन्दा होने पर अमरिका को उसके लिए क्षमा याचना भी करनी पडी। लेकिन इसी बीच अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म, और सयुक्त राष्ट्र सघ के मच पर जो नाटकीय घटनाचक्र चला, जिसमे ख्रुश्चेव ने अपनी बात पर जोर देते हुए अपने जूते को मेज पर बार बार पटका पेरिस शिखर सम्मेलन खटाई मे पड गया। अन्त म इसे स्थगित ही करना पडा। यद्यपि इस रूस की अनुपस्थिति म भी औपचारिक रूप से आयोजित करने के प्रथम प्रयास भी

हुए। पेरिस शिखर सम्मेलन के आयोजन मे एक और भी विवाद था जो कि अधिक वास्तविक महत्व का था। पश्चिमी जमनी जमन विवाद को इस सम्मलन मे नहीं आन देना चाहता था, जबकि सोवियत सघ की यह इच्छा थी कि इस विवाद पर जो यथास्थिति है उस पर अतिम और औपचारिक सहमति हो जाये अभी तक पूर्वी जमनी के स्वतंत्र अस्तित्व को पश्चिम ने नही स्वीकार किया था और उसे सोवियत सघ क अधीन मानते हुए, राजनयिक औपचारिकतायें सोवियत सघ के माध्यम स ही की जाती थी। पेरिस शिखर सम्मेलन के अवसर पर राजनयिक परिपत्र और वीसा पूर्वी जमनी द्वारा जारी किय जान लगे। इस पर तीव्र प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। अन्त म एक मध्यमार्गी निणय लिया गया कि यह परिपत्र जारी तो सोवियत सघ द्वारा ही किये जायेंगे लेकिन उसम इस बात का भी उल्लख होगा कि उन्हे पूर्वी जमन सरकार की ओर स जारी किया जा रहा है। इस विवाद ने भी पेरिस सम्मेलन क पूव सशय की स्थिति पैदा कर दी थी। अत यू टू' काण्ड जैस विस्फोटक अवसर के आन क बाद पेरिस सम्मलन का तात्कालिक रूप स स्थगित होना एकदम सुनिश्चित बन गया था।

केनेडो और क्यूबा सकट

अमेरिकी राष्ट्रपति के रूप म केनेडी का दृष्टिकोण भी मूलत पुराने प्रशासन म भिन नही था। चुनाव के बाद अपनी प्रथम घोषणा मे केनेडी न भी वही नीति व्यक्त की जिसके कि दोहरे आधार थे, मित्र राष्ट्रो को असदिग्ध सहयोग और अन्य राष्ट्रो म हस्तक्षेप की नीति मे क्रमिक कमी। केनडी काल म रूस और अमरिका के बीच सौहार्द्र की पुन औपचारिक वापसी हुई। इसी समय दोनो राष्ट्रो के बीच खुले आकाश से सबधित अणु परीक्षण प्रतिब ध सधि पर भी हस्ताक्षर हुए। अपने विभिन्न भाषणा म सितम्बर 1963 मे सयुक्त राष्ट्र सघ के भाषण और उससे पूव जून 1963 मे भी राष्ट्रपति केनेडी के मानवीय अधिकारो की सुरक्षा और परस्पर प्रतिद्वन्द्वी व्यवस्थाओ मे सह अस्तित्व की बात पर बल दिया। एक बार फिर दोनो राष्ट्रो के बीच सौहार्दपूण स्थिति बनी। लेकिन इसी बीच ऐतिहासिक क्यूबा सकट की घटना हुई जिसे शीतयुद्ध का चर्मोत्कर्ष भी कहा गया है।

जून 1959 मे क्यूबा मे फिडेल कास्त्रो के नेतत्व मे वामपथी क्रान्ति हुई। यह घटना अमेरिका के लिए अत्यधिक चिन्ताजनक थी क्योकि अमेरिका की परम्परागत स्थिति पश्चिमी गोलार्द्ध मे एकछत्र वचस्व की थी, जिसे इस घटना के रूप मे अप्रत्याशित चुनौती मिली। क्रान्ति के बाद क्यूबा और सोवियत सघ के बीच अन्तरग सम्बन्धो का विकास हुआ। यह अमेरिका के लिए एक असुविधाजनक स्थिति थी। क्यूबा को लगातार सोवियत आर्थिक और सैनिक मदद भी

मिलती रही, लेकिन आन्तरिक क्रान्ति की सुदृढता को देखते हुए अमेरिका किसी कारगर हस्तक्षेप की स्थिति म नही था। क्रान्ति के स्थिर होने की प्रक्रिया म अमेरिका एक असहाय दशक था। लकिन 31 सितम्बर, 1962 को सोवियत सघ की इस घोपणा ने कि प्रक्षेपास्त्रो सहित आधुनिक हथियार क्यूबा को दिये जायेंग, अमेरिका की तीव्रतम प्रतिक्रिया पाई। 22 अक्टूबर 1962 को राष्ट्रपति कनडी ने यह स्पष्ट चेतावनी दी कि पश्चिमी गोलार्द्ध म किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप सहन नही किया जायगा। अगल ही दिन क्यूबा की नाकबन्दी कर द गई जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह था कि यदि प्रक्षेपास्त्रो स लदा रूसी जहाज इस नाकेब दी को तोडेगा तो उस एक प्रकार स युद्ध की घोपणा मान लिया जायगा। सकट के अन्तिम क्षणो तक रूस और अमेरिका के बीच हाट लाइन के जरिये वार्ता होती रही। अमेरिका के इस आश्वासन पर कि वह क्यूबा के आन्तरिक मामलो म किसी भी प्रकार का हस्तक्षप नही करेगा 2 अक्टूबर 1962 को ही रूस ने अपने प्रक्षेपास्त्री बेडे की वापिसी की घोपणा की। एक अभूतपूव सकट, रोमाचकारी स्थितियो स गुजरते हुए टल गया। कुछ राजनीतिक प्रेक्षको की यह मान्यता है कि इस पूरी घटना ने ततीय विश्वयुद्ध की आशकाए खडी कर दी थी, और रूस का यह अत्यधिक अनुत्तरदायी काय था। लकिन वस्तुस्थिति का और सोवियत मानस का यदि सही विश्लेषण किया जाये तो एक दूसरी दष्टि उभरती है। क्यूबा की क्रान्ति के बाद लगातार अमेरिकी हस्तक्षेप उसकी आन्तरिक राजनीति मे दखल द रहा था। सी आइ ए जैसी सस्थायें किसी भी रूप म फिडेल कास्त्रो के नेतत्व वाली क्रान्ति को विफल करने की प्रक्रिया म सक्रिय थी। इस दष्टि स देखा जाय तो सोवियत सघ का वास्तविक उद्देश्य क्यूबा मे प्रक्षेपास्त्रो का केन्द्र बनाना नही था क्योकि यह मूलत असम्भव था। उसका वास्तविक उद्देश्य क्यूबा की क्रान्ति को बाहरी हस्तक्षेप स मुक्त करवाना था जिसमे सोवियत सघ इस पूरे सकट क द्वारा सफल भी रहा। अपने प्रक्षेपास्त्रो की वापिसी रूस द्वारा अमेरिका क इस आश्वासन पर की गई कि क्यूबा म आन्तरिक षडयन्त्र और हस्तक्षेप की सभी चेष्टाए बन्द कर दी जायेगी। वस्तुत अपन प्रक्षेपास्त्रो को हटाने को बाध्य होने की बाहरी विफलता के बदले सोवियत ने वास्तविक सफलता अर्जित कर ली थी। भविष्य म क्यूबा की अफ्रिका और लातिनी अमरिका म सक्रिय भूमिका ने इस दूरगामी सफलता को और अधिक स्पष्ट कर दिया।

सक्रमण का समापन

क्यूबा क सकट के बाद जिस शीत युद्ध क इतिहास का चर्मोत्कर्ष बिन्दु कहा जाता है सोवियत सघ और अमरिका म सीधे टकराहट म शिथिलता की ओर बढ़ने का सक्रमण काल समाप्त हुआ। आग आने वाल चरण म भी दोनो

के बीच टकराहट की स्थितिया उत्पन्न हुई, लेकिन व प्रारंभिक टकराहट की स्थितियो से गुणात्मक रूप से भिन्न थी। सन 1975 से लेकर क्यूबा सकट तक के घटनाचक्र ने कुछ मूल प्रवत्तिया स्पष्ट की। प्रथम, दोनो राष्ट्रो मे एक नये परिप्रेक्ष्य का सूत्रपात हुआ। इसके राजनीतिक, आर्थिक और वैचारिक आधार थे और यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म बदले हुए शक्ति के समीकरण की मा यता पर आधारित था। द्वितीय सक्रमण क इस काल मे पिछले चरण की कुछ अनुभूतिया भी उजागर हुई। उभरत हुए नये दष्टिकोण के बावजद दोना राष्टो मे परस्पर सशय की स्थिति भी बनी रही। अनेको बार शिथिलता के वातावरण म आकस्मिक दरारें स्पष्ट रूप स उभर कर सामने आई जिसके फलस्वरूप उस नवीन प्रक्रिया का विकास उतनी सुगमता से सम्भव नही हो सका। इस पूरे चरण म एक सन्तुलित दष्टिकोण दाना राष्टो म उभरा जिसकी अधिक स्पष्ट और मुखरित अभिव्यक्ति को अगले चरण तक इन्तजार करना पडा।

तृतीय चरण
तनाव शैथिल्य (देतात) दशक (1963 1973)

क्यूबा के सकट का एक दोहरा और विचित्र प्रभाव पडा। एक ओर जहा इसने शीत युद्ध की पराकाष्ठा की अनुभूति करवाही, दूसरी ओर इसने शिथिलता की आवश्यकता को भी उग्र रूप स रेखाकित किया। इस घटना के बाद यूरोपीय राष्ट विशेषत युद्ध की कल्पना स भयभीत रहे। दूसरा विश्वयुद्ध उनकी धरती पर लडा गया था अत उसका उ ह अत्यधिक कटु अनुभव था। किसी भी प्रकार से वे विश्वस्तरीय तनाव म जूझने को तैयार नही थे। यूरोपीय राष्ट्रो की इस उग्र अनुभूति का अमेरिकी विदशनीति पर सीधा दबाव पडा और वह शिथिलता की नीति को और अधिक तत्परता से लागू करन का बाध्य हुई। यूरोपीय परिवेश को देखते हुए यह कदापि आश्चयजनक नही था कि (देतान्त) तनाव शैथिल्य के वास्तविक प्रचलन की पहले यूरोप स ही हुई। पश्चिमी जर्मनी के चासलर विली ब्राट ने यूरोपीय राष्टा मे शिथिलता की प्रक्रिया को लागू करने का विचार रखा। उसकी व्यवस्था का मूल तात्पय यह था कि महाशक्तियो मे तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया की अपनी कठिनाइया और पेचीदगिया हो सकती है। लेकिन कम स कम यूरोपीय परिवेश मे तो एक सौहाद्रपूण वातावरण की स्थापना होनी चाहिए जिसके द्वारा परस्पर प्रतिद्वद्वी विचार धारा वाले समस्त यूरोपीय राष्ट्रो मे समन्वय स्थापित हो सके। यूरोपीय राष्ट्रा की इस अभिव्यक्त धारणा ने महा शक्तियो मे देतात की प्रक्रिया को और अधिक सुगम बनाने का काय किया क्योकि महाशक्तियो के अनेक विवाद विशेषत जमन विवाद यूरोपीय परिवेश म जुडे थे। अत विश्वव्यापी स्तर पर तनाव शैथिल्य की मानसिकता स्थापित करने म

इस यूरोपीय पहल का असदिग्ध योगदान रहा ।

महाशक्तियो म सम्ब धो के सामा यीकरण की प्रक्रिया का अ य प्रबलतम कारक तत्व चीन का स्वत त्र अस्तित्व के रूप म उभरना था । सोवियत और चीन क सम्ब धो म अनेक वर्षो म दरार पड रही थी जो कि इन राष्ट्रो म सनिक मुठभेड के बाद और अधिक प्रबल हो गई । सोवियत चीन विवाद के महत्वपूण वैचारिक आर्थिक और सामरिक पक्ष थे । अत इस विवाद के परस्पर निबटारे की सम्भावनायें एक लम्बे अरस तक असम्भव बन चुकी थी । इस प्रक्रिया के अभि प्राय जितने अधिक स्पष्ट हुए उसी के अनुपात म तनाव शथिल्य की प्रक्रिया भी प्रबल हुई । सोवियत की नीति म भारत का महत्व तो बढा एशियाई राष्ट्र क रूप म और म थ ही साथ अमेरिका के साथ भी एक विश्व व्यापी समझ तैयार करने की आवश्यकता हुई । उस समझ का मतव्य अ तर्राष्ट्रीय राजनीति म शक्ति के किसी आगामी विके द्रीकरण को रोकना था । रूस की समझ म विश्वव्यापी समाजवादी आ दोलन की धुरी और वैचारिक के द्र मॉस्को था । जहा तक अमे रिका का प्रश्न है तात्कालिक रूप स अमेरिका और चीन के बीच सम्ब धो का समीकरण जुड पाना सम्भव ही था । एक ओर इस माग मे अमेरिका की पारस्परिक कठिनाइया थी जसे ताइवान के स्वत त्र अस्तित्व का प्रश्न आदि, दूसरी ओर चीन की ओर स भी कोई विशेष सकेत आना सम्भव नही था क्याकि सोवियत और चीन मे विवाद के स दम म चीन द्वारा सोवियत पर लगाये गये प्रमुख वैचारिक आक्षेपो मे सोवियत अमेरिका 'तनाव शथिल्य प्रमुख था । अम रिका के साथ सम वय स्थापित करने की नीि चीन की दृष्टि से सशोधनवादी थी जिसके मूल म सोवियत की विस्तारवादी कामना बताई गई । अत जहा तक सोवियत चीन विवाद का प्रश्न था अमेरिका को इसका तात्कालिक लाभ नही मिल सका, लेकिन कालान्तर म अमेरिका और चीन के बीच भी म्ब धो की धुरी बनी जो कि सोवियत चीन विवाद की स्वाभाविक परिणति थी ।

सामा यीकरण के इस दशक म निशस्त्रीकरण के प्रश्न ने दोनो महाशक्तियो के बीच अधिकाधिक वार्ताओ का अवसर दिया । वियतनाम युद्ध के अनुभवो के बाद अमरिकी विदेश नीति के लिए एक पुनर्मूल्याकन आवश्यक था । हस्तक्षेप की नीति के विरोध म प्रबल आ तरिक जनमत था, जो कि शस्त्रो की अ धाधु ध होड की भी कटु आलोचना करता था । जहा तक सोवियत सघ का प्रश्न है शस्त्रा की अ धाधु ध होड उसक आर्थिक ससाधनो के लिए भारी बोझ थी । सोवियत सघ की कामना थी कि शस्त्रा की होड को कम करके उन ससाधनो को जनकल्याण कारी आ तरिक विकास म लगाया जाये । साथ ही साथ शीत प्रदशा म तल की खोज इत्यादि से सबधित तकनीक को भी सोवियत को आवश्यकता थी जो पश्चिमी राष्ट्रा से सुगमता से मिल सकती थी । अत इन आर्थिक एव विकास

सबधी आवश्यकताओ ने महाशक्तियो को नि शस्त्रीकरण की प्रक्रिया की ओर अधिक प्रेरित किया । इस प्रक्रिया का स्वाभाविक अभिप्राय दोना राष्ट्रा मे शिथिलता की प्रक्रिया को और अधिक सम्पुष्ट बनाना भी हो गया ।

सामा यीकरण का विकास क्रम

सोवियत सघ और अमेरिका मे नेतत्व म बदलाव के बावजूद दोना राष्ट्रो म सबधा के सामा यकरण की प्रक्रिया यथावत बनी रही । ख्रु इचेव के पतन के बाद लिओनिड ब्रेजनेव का नेतत्व के रूप म उभरना अधिक गूढ राजनीतिक अभिप्राय वाला नही था । ठीक उसी तरह जॉनसन का नतत्व भी विदश नीति के स्तर पर कोई बदलाव का परिचायक नही था । इन समसामयिक परिस्थितिया म अनक विवाद अत्यधिक अ तर्राष्ट्रीय महत्व के उभरे । वियतनाम का गृहयुद्ध और 1967 मे इजरायल और अरब म युद्ध अत्यधिक उग्र स्थितियाँ थी । भारत और पाकिस्तान के बीच का युद्ध भी विश्वस्तरीय महत्व का था । चीन स सम्ब ध विच्छेद के बाद भारत रूस मैत्री मे बढोत्तरी हुई । विशेपत 1963 म चीन और भारत मे टकराहट के बाद इन सबधो की शृ खला और अधिक प्रगाढ हुई । अमेरिका द्वारा भारत पाक युद्ध के सम्ब ध म पाकिस्तान का सहयोग भारत को सोवियत सघ के और अधिक निकट लाया । इस पूरे घटनाचक्र म सोवियत विदेश नीति ने एक नई साख स्थापित करने का प्रयत्न किया । भारत और पाकिस्तान के बीच युद्धोपरा त ताशक द का शाति समझौता सोवियत पहल और कूटनीतिक सूझबूझ का परिचायक था । इन कूटनीतिक प्रयासो मे सोवियत भूमिका पश्चिम के लिए एक विशेप किस्म की झुझलाहट बन गई । अमेरिकी प्रयास पाकिस्तान को अपन और अधिक निकट लाने के लिए तीव्र हुए और अन्त म अमरिकी विदेश नीति को इस सबध मे वाछित सफलता भी मिली । वियतनाम क गहयुद्ध न अन्त र्राष्ट्रीय राजनीति का एक लम्ब समय तक ध्यान आकर्षित किया । वहाँ के गह-युद्ध की स्थिति मे उत्तरी वियतनाम को खुले रूप मे सोवियत समथन प्राप्त था । तो दक्षिणी वियतनाम की ओर स अमरिका सैनिक रूप स सलग्न था । स्वाभाविक था कि इसस शिथिलता की प्रक्रिया म रुकावट आती । राष्ट्रपति जॉनसन न अपन चुनावी आश्वासन मे वियतनाम युद्ध की समाप्ति और वहा अमरिकी सैनिक भागीदारी को समाप्त करने की बात कही थी । लेकिन प्रारभिक रूप म बी 52 बमवषक विमानो की कायवाही खत्म किए जाने क बाद भी गहर की तनाव प्रस्तता बनी रही ।

वियतनाम की घटनाओ के मध्य ही अरब इजराइल सघष फूट पडा और दोनो पक्षा म घमासान युद्ध हुआ । परम्परागत रूप स अमरिका इजरायली हितों का पक्षधर रहा है । अरब राष्ट्रा की ओर सोवियत रुझान की नारंक सम्बा

इस यूरोपीय पहल का अत्यधिक योगदान रहा।
महाशक्तियो म सम्ब धा क सामान्यीकरण की प्रक्रिया का अन्य प्रबलतम
कारक तत्व चीन का रुख न अतिराष्ट्र क रूप म उभरना था। सोवियत और
चीन क सम्बन्धो म अनेक वर्षो स दरार पड़ रही थी जो कि इन राष्ट्रो म सशि
मुठभेड क बाद और अधिक प्रबल हो गई। सोवियत चीन विवाद के महत्वपू
वैचारिक आर्थिक और सामरिक पक्ष थ। अत इस विवाद म परस्पर निपटा
की सम्भावनायें एक सम्ब अरस तक असम्भव का धुरी थी। इस प्रक्रिया क अभि
प्राय जितने अधिक स्पष्ट हुए उसी क अनुपात म तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया भी
प्रबल हुई। सोविय , की नीति म भारत का महत्व तो बढ़ा एशियाई राष्ट्र क
रूप म और स थ ही साथ अमरिका क साथ भी एक विश्व व्यापी समझ तया र
करने की आवश्यकता हुई। उस समझ का मतव्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म शक्ति
के किसी भागामी विक द्रीकरण को रोकना था। रूस की समझ म विश्वव्यापी
समाजवादी आन्दोलन की धुरी और वैचारिक के द्र मॉस्को था। जहा तक अमे
रिका का प्रश्न है तात्कालिक रूप म अमरिका और चीन क बीच सम्बन्धो का
समीकरण जुड पाना सम्भव ही था। एक ओर इस माग मे अमरिका की
पारस्परिक कठिनाइया थी जैसे ताइवान के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रश्न आदि,
दूसरी ओर चीन की ओर से भी कोई विशेष सकेत आना सम्भव नही था क्योकि
सोवियत और चीन म विवाद के सन्दर्भ म चीन द्वारा सोवियत पर लगाय गये
प्रमुख वचारिक आक्षेपो म सोवियत अमेरिका तनाव शैथिल्य प्रमुख था। अमे
रिका के साथ सम वय स्थापित करने की नीति चीन की दृष्टि से, सशोधनवादी
थी जिसके मूल म सोवियत की विस्तारवादी कामना बताई गई। अत जहा तक
सोवियत चीन विवाद का प्रश्न था अमरिका को इसका तात्कालिक लाभ नही
मिल सका लेकिन कालान्तर म अमेरिका और चीन के बीच भी सम्बन्धो की
धुरी बनी जो कि सावियत चीन विवाद की स्वाभाविक परिणति थी।
सामान्यीकरण के इस दशक म निशस्त्रीकरण के प्रश्न ने दोनो महाशक्तियो
क बीच अधिकाधिक वार्ताओ का अवसर दिया। वियतनाम युद्ध के अनुभवो के
बाद अमेरिकी विदेश नीति के लिए एक पुनर्मूल्याकन आवश्यक था। हस्तक्षेप की
नीति के विरोध म प्रबल आन्तरिक जनमत था, जो कि शस्त्रो की अन्धाधुन्ध होड
की भी कटु आलोचना करता था। जहा तक सोवियत सघ का प्रश्न है शस्त्रो की
अन्धाधुन्ध होड उसके आर्थिक ससाधनो के लिए भारी बोझ थी। सोवियत सघ
की कामना थी कि शस्त्रो की होड को कम करके उन ससाधनो को जनकल्याण
कारी आन्तरिक विकास मे लगाया जाय। साथ ही साथ शीत प्रदेशो मे तेल की
खोज इत्यादि से सबधित तकनीक को भी सोवियत को आवश्यकता थी जो
पश्चिमी राष्ट्रो से सुगमता से मिल सकती थी। अत इन आर्थिक एव विकास

सबधी आवश्यकताओ ने महाशक्तियो को नि शस्त्रीकरण की प्रक्रिया की ओर अधिक प्रेरित किया। इस प्रक्रिया का स्वाभाविक अभिप्राय दोना राष्ट्रो मे शिथिलता की प्रक्रिया को और अधिक सम्पुष्ट बनाना भी हो गया।

सामान्यीकरण का विकास क्रम

सोवियत सघ और अमेरिका मे नेतत्व म बदलाव क बावजूद दोनो राष्ट्रो मे सबधो के सामान्यकरण की प्रक्रिया यथावत चली रही। ख्रुश्चेव के पतन के बाद लिओनिड ब्रेजनेव का नेतत्व के रूप मे उभरना अधिक गूढ राजनीतिक अभिप्राय वाला नही था। ठीक उसी तरह जॉनसन का नेतृत्व भी विदेश नीति के स्तर पर कोई बदलाव का परिचायक नही था। इन समसामयिक परिस्थितियो मे अनेक विवाद अत्यधिक अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के उभरे। वियतनाम का गहयुद्ध और 1967 म इजरायल और अरब मे युद्ध अत्यधिक उग्र स्थितिया थी। भारत और पाकिस्तान के बीच का युद्ध भी विश्वस्तरीय महत्व का था। चीन स सम्बन्ध विच्छेद के बाद भारत रूस मैत्री मे बढोत्तरी हुई। विशेषत 1963 म चीन और भारत मे टकराहट के बाद इन सबधो की श्रृखला और अधिक प्रगाढ हुई। अमेरिका द्वारा भारत पाक युद्ध के सम्बन्ध मे पाकिस्तान का सहयोग भारत को सोवियत सघ के और अधिक निकट लाया। इस पूरे घटनाचक्र मे सोवियत विदश नीति ने एक नई साख स्थापित करने का प्रयत्न किया। भारत और पाकिस्तान के बीच युद्धोपरान्त ताशकद का शाति समझौता सोवियत पहल और कूटनीतिक सूझबूझ का परिचायक था। इन कूटनीतिक प्रयासो म सोवियत भूमिका पश्चिम के लिए एक विशेष किस्म की झुझलाहट बन गई। अमेरिकी प्रयास पाकिस्तान को अपने और अधिक निकट लाने के लिए तीव्र हुए और अन्त मे, अमेरिकी विदेश नीति को इस सबध मे वाछित सफलता भी मिली। वियतनाम के गहयुद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक लम्बे समय तक ध्यान आकर्षित किया। वहा के गृहयुद्ध की स्थिति मे उत्तरी वियतनाम को खुले रूप स सोवियत समथन प्राप्त था। तो दक्षिणी वियतनाम की ओर से अमेरिका सनिक रूप से सलग्न था। स्वाभाविक था कि इससे शिथिलता की प्रक्रिया मे रुकावट आती। राष्ट्रपति जानसन ने अपने चुनावी आश्वासन मे वियतनाम युद्ध की समाप्ति और वहा अमेरिकी सैनिक भागीदारी को समाप्त करने की बात कही थी। लेकिन प्रारभिक रूप स बी 52 बमवषक विमाना की कायवाही खत्म किए जाने के बाद भी सकट की तनाव ग्रस्तता बनी रही।

वियतनाम की घटनाओ के मध्य ही अरब इजराइल सघर्ष फूट पडा और दोनो पक्षा म घमासान युद्ध हुआ। परम्परागत रूप से अमेरिका इजरायली हिता का पक्षधर रहा है। अरब राष्ट्रो की ओर सोवियत रुझान की भी एक लम्बी

प्रक्रिया थी। अत पश्चिमी एशिया के इस सकट न एक बार फिर दोनो महाशक्तियो म बीच वाक् युद्ध छेड दिया। महाशक्तियो का विवाद सयुक्त राष्ट्र सघ के मच पर भी प्रकट हुआ। 18 जून, 1967 का राष्ट्र सघ की महासभा की बठक मे सोवियत सघ द्वारा अरब राष्ट्रो की मान्यताओ को समथन देन वाला प्रस्ताव रखा गया और अमेरिका पर तनाव को बढावा देने का आरोप लगाया गया। सोवियत प्रतिनिधि मडल न अपन पक्ष का न माने जाने पर महासभा स बहिगमन किया। वास्तविक रूप स युद्ध की समाप्ति इजरायल की विजय क साथ हुई। युद्ध की पूरी प्रक्रिया मे सोवियत सघ ने अरब राष्ट्रो का समथन तो किया लेकिन इसम सनिक समथन नही था। पश्चिमी एशियाई राष्ट्रो ने सोवियत सघ के इस सीमित समथन को अपर्याप्त समझा। अरब इजरायल युद्ध स जो तनाव की स्थितिया उत्पन्न हुई व दोनो महाशक्तियो के उभरते हुए विश्व स्तरीय दष्टिकोण के विपरीत थी।

लेकिन एक गुणात्मक अतर था कि वियतनाम युद्ध और पश्चिमी एशिया सकट, वाक् युद्ध के अलावा दोनो महाशक्तियो म कोई स्पष्ट टकराहट पदा नही कर सका। दोनो महाशक्तियो का दष्टिकोण इन समस्याओं के शातिपूण निवारण का था न कि टकराहट का। लकिन साथ ही साथ दोनो महाशक्तियां अपने अपन प्रभाव क्षेत्र को भी नही खोना चाहती थी। इस मिश्रित मानसिकता के बीच 23 जून, स 26 जून, 1967 तक ग्लासबरो का शिखर सम्मलन हुआ। इस सम्मेलन मे मुख्यत वियतनाम और पश्चिमी एशिया सकट पर विचार विमश हुआ। एक रूप स यह शिखर सम्मेलन चीन द्वारा आणविक शक्ति क रूप मे उभरन की समीक्षा से भी प्रेरित था। तात्कालिक रूप स ग्लासबरो सम्मेलन की कोई स्पष्ट सफलता नही दखी जा सकती। दोनो महाशक्तिया कोई कारगर सौदबाजी नही कर सकी। लेकिन सम्मेलन का आयोजन असफलता के बावजूद भी एक शैथिल्य के दृष्टिकोण का परिचायक था जिसम मतभेदो के होते हुए भी बठकर विचार विमश करने की आवश्यकता स्पष्ट हुई। सम्मेलन का एक मात्र सफल तत्व यह था कि इसके बाद दोनो महाशक्तियो ने अधिक सयमित भाषा का प्रयोग किया और यथा सम्भव अनावश्यक रूप से तनाव की स्थितिया नही उभरने दी।

तात्कालिक विवाद के अन्य प्रश्नो म 1968 का चेकोस्लोवाकिया सकट और 1969 का बर्लिन सकट भी प्रमुख रह। सन 1967 के प्रारम्भ स ही चेकोस्लोवाकिया म कुछ उदारवादी प्रवृत्तिया उभरन लगी। 1968 मे सोवियत समथक नेतत्व को सत्ता म हटना पडा और नया उदारवादी नेतत्व आया जिसन अनक सुधारवादी कायक्रम भी प्रस्तुत किय जो कि प्रगतिशील समाज वादी अवधारणाओं के विरुद्ध थे। इस पूरी प्रक्रिया की रूस एव अन्य पूर्वी यूरोपीय राष्ट्रो म तीव्र आलोचना हुई। जुलाई म वारसा सम्मेलन के बाद वारसा सन्धि के सदस्य राष्ट्रो द्वारा

एक सयुक्त पत्र लिखा गया, जिसमे नये चेलोस्वाकिया नेतृत्व की प्रति क्रान्तिकारी एव समाजवादी व्यवस्था के विरोधी कायक्रमो की तीव्र भत्सना की गई। पत्र म यह चेतावनी भी समाहित थी कि यदि ऐसी नीतियो को नही बदला गया तो सीधी और कठोर कायवाही भी की जायेगी। चेकोस्लोवाकिया द्वारा सुझावो की निरतर अवहेलना के बाद 21 अगस्त, 1968 को सोवियत सघ और अन्य वारसा सधि राष्ट्रो के सैनिक दल चेकोस्लावाकिया जा पहुचे और वहा क उदारवादी नेतत्व को अपदस्थ कर दिया। काफी विचार विमश के बाद चेकोस्लाव सरकार के प्रतिगामी नीतियो पर न चलने के वचन के बाद सितम्बर 1968 के मध्य तक सेनायें वापिस बुला ली गई। एक साल के भीतर उदारवादी नेतत्व की चेकोस्लाव कम्युनिस्ट पार्टी मे भी पराजय हो गई और वहा पुन सोवियत समथक नेतत्व की सरकार बन गई। इसी समय माच 1969 मे बलिन को लेकर एक ओर सकट उत्पन्न हुआ। विभाजित बलिन क पश्चिमी भाग मे पश्चिमी जमन सरकार द्वारा राष्ट्रपति के चुनाव करवाये जाने के निणय को पूर्वी जमन सरकार न यह कह कर चुनौती दी कि बलिन अभी तक 1945 के पोटसडम समझौते के आधीन है। अत वहा पर चुनाव करवाये जान का प्रयास उस पश्चिमी जमनी के भाग के रूप म आरोपित करना है। अपने विरोध मे, पूर्वी जमनी ने पश्चिमी बलिन जाने वाले मार्गो पर प्रतिबध लगा दिया। इससे निपटने के लिए वायुयानो द्वारा पश्चिमी जमन निर्वाचन मण्डल बलिन पहुचाया गया। विषय की तात्कालिकता से बढ कर इस विवाद का कोई और उग्र एव उत्तेजित स्वरूप नही उभरा।

चेकोस्लोवाकिया और बलिन सकट को यदि तुलनात्मक रूप मे देखा जाये तो कुछ महत्वपूण प्रवृत्तिया उभरती है। दोनो ही घटनायें अपने आप मे अत्यधिक रोमाचकारी थी, जिन्होने ऊपरी तौर पर तनाव की स्थितिया उत्पन्न की। लकिन जिस प्रकार मे इन दोनो अवसरो पर महाशक्तियो की प्रतिक्रियाए हुई, वह आरम्भिक चरण की प्रतिक्रियाओ से मूलत भिन्न थी। जब चेकोस्लोव प्रभाव के क्षेत्र मानने की अवधारणा को पश्चिम की भी अनौपचारिक मान्यता मिली जान पडती है। अत कोई वृहद स्तर की प्रतिक्रिया अथवा वाक युद्ध चेकोस्लोव सकट के प्रचार मे नही हुआ। जहा तक बलिन विवाद का प्रश्न था, सोवियत सघ की यह मान्यता बन चुकी थी कि यथास्थिति को दूरगामी स्थायित्व प्रदान करना ही व्यवाहारिक समाधान है। यथास्थिति यह थी कि, विभाजित बलिन का एक भाग पश्चिमी जमन क्षेत्र म था तो दूसरा भाग पूर्वी जमनी के क्षेत्र मे। इस दष्टि मे देखा जाये तो सोवियत सघ की किसी तीव्र और वहद प्रतिक्रिया के अभाव म, पूर्वी जमनी के कदम का अभिप्राय मूलत औपचारिक विरोध मात्र था। अत इन दोनो समस्याओ के तात्कालिक स्वरूप के बावजूद भी इनसे कोई पूर्वी पश्चिमी विवाद नहीं उभर सका। मूलत यह 'दतान्त' के विकास का एक नया पडाव था।

सामान्यीकरण का स्थायित्व

सातवें दशक के आगमन के साथ साथ महाशक्तियों मे सम्बन्धो के सामान्यीकरण की प्रक्रिया ने एक तीव्र गति पकडी। अमेरिकी राष्ट्रपति के रूप मे निक्सन ने अपनी विजय के साथ ही विश्व स्तरीय सामान्यीकरण की प्रक्रिया को लागू करने की घोषणा की और इस हेतु सभी राष्ट्रो को आह्वान किया। पद सभालने के तुरन्त बाद निक्सन द्वारा यूरोपीय राष्ट्रो का भ्रमण किया गया अमेरिकी राष्ट्रपति की यह यात्रा अपने आप मे अत्यधिक दूरगामी महत्व की थी और जिन्हो मायनो मे पद सम्भालने के बाद ख्रुश्चेव द्वारा यूरोपीय भ्रमण की याद दिलाती थी। अमेरिकी विदेश नीति का यह दृष्टिकोण था कि यूरोप से सबधित सभी परपरागत विवाद सदैव के लिए खत्म हो जाए अन्यथा स्थायी विश्वशान्ति की नीव ...ही रखी जा सकती।

अत शीघ्र ही जर्मन विवाद के सुलझाने की एक तात्कालिक प्रक्रिया देखने को ...ली जिसमे सोवियत सघ की समभ का भी बराबर योगदान था। इस प्रक्रिया ...प्रथम कडी के रूप मे 12 अगस्त 1970 को रूस और पश्चिमी जर्मनी के बीच सन्धि हुई। दोनो राष्ट्रो द्वारा जिस सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर किये गये उसका ...आधार दोनो पक्षो द्वारा वस्तुस्थिति को स्वीकारना और उसे मान्यता देना ...स समझौते ने एक बहुपक्षीय सन्धि के मार्ग को भी प्रशस्त किया। सितम्बर ... मे अमेरिका सोवियत सघ ब्रिटेन और फ्रास के बीच जर्मन विवाद पर समझौता हुआ। समझौते की रूपरेखा रूस और पश्चिमी जर्मनी के बीच हुई सन्धि की धारणाओ पर आधारित थी। चार महाशक्तियो द्वारा यह निर्णय किया गया कि पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धो को पनपने की स्थितिया उत्पन्न की जाये विभाजित बर्लिन के बीच आवागमन की सुविधायें बिना विशेष प्रतिबन्धो के उपलब्ध करवाई जाये, और इस हेतु सोवियत सघ विशेष सुविधायें भी प्रदान करे। जर्मन विवाद के सुलझाने की अन्तिम महत्वपूर्ण कडी पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता था। 8 नवम्बर, 1972 को पश्चिमी जर्मनी की राजधानी मे दोनो राष्ट्रो द्वारा एक सधि पर हस्ताक्षर किये गये। इस सधि के द्वारा दोनो राष्ट्रो ने एक दूसरे के परस्पर अस्तित्व को स्वीकार किया और आपसी सहयोग की सम्भावनाए व्यक्त की। किसी भी विवाद की स्थिति मे दोनो राष्ट्रो ने भविष्य मे बल प्रयोग को अनुचित ठहराया। दोनो राष्ट्रो के बीच इस ऐतिहासिक सधि के समापन के साथ साथ एक ऐतिहासिक विवाद का बहुप्रतीक्षित अन्त हुआ।

यूरोपीय सौहाद्र की चरम अभिव्यक्ति 1973 का हेलसिंकी सम्मेलन कहा जा सकता है। इस सम्मेलन मे 36 यूरोपीय राष्ट्रो के विदेश मन्त्री 3 से 5 जुलाई,

1973 के बीच एकत्रित हुये। अ तर्राष्ट्रीय तनाव मे कमी और यूरोपीय राष्ट्रो के परस्पर सुरक्षा और सौहाद्र की स्थापना इस सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य थे। इस सम्मेलन का महत्व इस बात से भी है कि यूरोपीय परिवेश मे अपनी तरह का प्रथम प्रयास होने के साथ साथ, इसकी विषयवस्तु भी उतनी ही विस्तत थी जितनी इसकी सदस्यता। सम्मेलन मे पथक रूप से राजनीतिक, आर्थिक, सास्कृतिक प्रश्नो पर प्रस्ताव पारित किये गये। इन प्रस्तावो का सम्मिलित तात्पय राजनयिक समन्वय के साथ साथ पश्चिमी राष्ट्रो मे परस्पर आर्थिक सहयोग और सास्कृतिक आदान प्रदान था। सम्मेलन की सफलता मे रूस ने सक्रिय सहयोग दिया जिसके फलस्वरूप उसे विश्वव्यापी प्रशसा भी मिली।

अन्य महत्वपूर्ण विवादो मे कोरिया और वियतनाम के विवाद थे। समन्वय के इस उभरते हुये अन्तराष्ट्रीय माहौल मे इन विवादो को भी सुलझाने का मौका मिला। तात्कालिक रूप से यद्यपि इन विवादो म एक तदथ समाधान ही उभरा और अतिम परिणामो को कुछ और दिनो का इन्तजार करना पडा। 1972 मे उत्तरी एव दक्षिणी कोरिया के बीच सम्बन्धो को सामान्य बनाये जाने की दिशा म अनेक कदम उठाये गये। 4 जुलाई 1972 को दोनो पक्षो के बीच एक समझौता हुआ और बल प्रयोग मे कमी की बात कही गई तथा युद्ध के दौरान अस्त व्यस्त हुए नागरिकों की अदला बदली का प्रश्न भी सुलझाया गया। जुलाई, 1973 म दोनो राष्ट्रो के बीच एक समन्वय समिति की भी स्थापना हुई। वियतनाम की आन्तरिक युद्ध की स्थिति मे प्रत्यक्ष अमेरिकी हस्तक्षेप मे कमी हुई। एक लम्बे अनुभव के बाद अमरिका को यह स्पष्ट हो गया था कि उसे वियतनाम से हटना होगा। इस समझ के अनुकूल अमेरिका ने जनवरी 1973 मे एक समझौता किया, जिनके द्वारा वियतनाम युद्ध की समाप्ति की सिद्धान्तत घोषणा हुई और इस हेतु व्यावहारिक योजना बनाये जाने का प्रस्ताव भी रखा गया। जहा तक पश्चिमी एशिया का प्रश्न था अमेरिका की परम्परागत नीति मे भी कुछ बदलाव आया। इजरायल को समथन और सैनिक मदद जारी रखते हुए किसिजर द्वारा पश्चिमी एशिया म अरब राष्ट्रो और इजरायल को साथ साथ लाने के प्रयास भी किये गये।

त्रिकोणात्मक सक्रियता

अमेरिकी विदेश नीति म निक्सन और किसिजर की सामूहिक समझ का महत्वपूर्ण मन्तव्य महाशक्तियो के स्तर पर एक त्रिकोणात्मक गतिशीलता को प्रस्तुत करना था। वस्तु स्थिति के स्तर पर सोवियत चीन विवाद की प्रक्रिया के साथ साथ अमेरिका और चीन मे सम्बन्ध बढने के ठोस आधार थे। लेकिन इन आधारो को क्रियान्वित निक्सन प्रशासन के दौरान प्रारम्भ हुई। प्रथम प्रयास

सास्कृतिक एव खेल कूद स्तर क रह । 1971 क वष म अमरिकी टबलटेनिस टीम क चीन भ्रमण का विगपाग राजनय की सज्ञा भी दी गई। अक्टूबर, 1971 म साम्यवादी चीन क सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता प्राप्त करना एक एतिहासिक मोड था । निक्सन ने सोवियत क साथ सम्बधा म बढोत्तरी क समानान्तर चीन क साथ भी यही प्रक्रिया प्रारभ की। किसिंजर क गुप्त राजनयिक प्रयासा क बाद राष्ट्रपति निक्सन की बीजिग यात्रा की घोषणा हुई। माच 1972 म प्रथम अमरिकी राष्ट्रपति क रूप म निक्सन न चीन की यात्रा की। यात्रा का प्रमुख उद्दश्य किसी तात्कालिक समझौत की सभावना नही थी, यह यात्रा मूलत दो बाता स प्ररित थी । प्रथम उद्दश्य तात्कालिक था जिसका मुख्य अभिप्राय आगामी अमरिका सोवियत शिखरवार्ता म अमरिकी सौदबाजी की क्षमता को बढाना था। दूसरा अभिप्राय अ तर्राष्ट्रीय विवादा क प्रति चीन क दष्टिकोण को निकट स जानना था जिसक द्वारा भविष्य म किसी सामूहिक दष्टिकोण क विकास की सभावनाए खोजी जा सक । इन दोना उद्दश्या म अमरिकी विदश नीति को आशा तीत सफलता मिली ।

22 मइ स 30 मई 1972 तक राष्ट्रपति निक्सन की सोवियत यात्रा हुई । इस लम्बी यात्रा क दौरान अनेक पारस्परिक हिता क समझौतो पर विचार विमश हआ जिनका प्रारूप चीन अमरिका वाताआ स कही अधिक ठोस था । व्यापारिक अन्य सहयोग क समझौते हुए निक्सन के इस रूस भ्रमण का सबसे महत्वपूण समझौता हथियारा क परिसीमन स सबधित था। 26 मई 1972 को सामरिक शस्त्र परिसीमन सधि पर हस्ताक्षर हुए। निक्सन की इस सोवियत यात्रा क तत्काल बाद 18 जून 1973 को ब्रेझनेव की अमेरिका यात्रा प्रारम्भ हुई। इस यात्रा क दौरान सोवियत और अमेरिकी म तकनीकी सहयोग स सबधित विचार विमश हुए और अनेक व्यापारिक प्रश्नो पर भी आदान प्रदान हेतु सहमति हुई। इसी दौरान सबस महत्वपूण निणय सोवियत और अमरिका के बीच सयुक्त अतरिक्ष कायक्रम प्रारम्भ करन क बार म हुआ । यह प्रस्तवित किया गया कि 1975 स इस कायक्रम का लागू किया जाये। सावियत और अमेरिका के सबधो मे सामान्यीकरण क ठास आधार इस पूरी प्रक्रिया के दौरान उभर कर सामने जाय, जिसके फलस्वरूप दोनो राष्ट्रो मे सम्बधो क सामान्यीकरण की दूरगामी आधारभूमि तैयार हुई ।

जहा तक अमेरिका और चीन के बीच उभरत हुए समीकरण का प्रश्न था सोवियत नीति इसक प्रति उदासीन कदापि नही थी। इस नये समीकरण के अभिप्रायो को आत्मसात करते हुए सोवियत ने अपने एशियाई और अफ्रिकी सम्बधो पर अधिक बल देना प्रारम्भ किया। दक्षिणी एशियाई उपमहाद्वीप म सोवियत सैनिक सहायता इसी उद्देश्य की परिचायक थी। एक सैनिक रूप स

सशक्त भारत, चीन के लिए स तुलन का काय कर सकता था। अपनी इस नीति की स्पष्टतम अभिव्यक्ति सोवियत ने सन 1971 म की, जबकि भारत सोवियत मत्री सधि पर हस्ताक्षर हुए। इस सधि का तात्कालिक प्रयोग और महत्व 1971 के भारत पाक युद्ध के दौरान देखने को मिला। अमरिकी नौ सेना के 7वें बेडे की हिन्द महासागर मे उपस्थिति के बावजूद पूर्वी पाकिस्तान के क्षेत्र में भारतीय सेनाओ की असदिग्ध विजय हुई। इसके फलस्वरूप बागला देश का अभ्युदय हुआ। 1971 का घटनाचक्र भारतीय उपमहाद्वीप के लिए अत्यधिक महत्व का था। परम्परागत प्रतिद्वन्द्वी पाकिस्तान के बटवार के बाद और भारत के सैनिक हस्तक्षेप के सफल प्रदशन क बाद, भारत को अनौपचारिक रूप स उपमहाद्वीपीय शक्ति की मान्यता मिली। 1971 में युद्ध मे अमेरिकी हस्तक्षेप की नीति की सफलता पर एक और प्रश्नचिह्न लग गया। इस विवाद मे चीन का मौन अ तर्राष्ट्रीय पय वेक्षको के लिए विश्लेषण का विषय बन गया और साथ-ही साथ चीन की किसी महत्वपूर्ण एशियाई भूमिका की अवधारणा की अव्यावहारिक दिखने लगी। इन्ही वर्षों म अफ्रिका मे हो रहे राष्ट्रीय आ दोलनो म भी इन तीनो महाशक्तियो का त्रिकोणात्मक समीकरण परिलक्षित हुआ। चाहे मोजम्बिक की स्वतत्रता का प्रश्न हो या अगोला का, वामपथी धाराओ का प्रमुख रुझान सावियत समथक बना और जिम अन्त मे सफलता भी प्राप्त हुई। ऐतिहासिक रूप स अमरिका ला विफल पक्ष की ओर ही था, लेकिन गलत राजनीतिक दष्टिकोण के कारण चीन का भी अफ्रिकी मच पर सोवियत नीति की सफलता को सहन करना पडा। इस प्रकार हम दखते हैं कि अमेरिका और चीन के बढते हुए समीकरण क प्रत्युत्तर मे सोवियत की प्रमुख प्रवत्ति एशियायी एव अफ्रिकी राष्ट्रो मे अपने सहयोग की परम्परा को और अधिक प्रभावी और वहद बनाता रहा। इस नीति न सोवियत हितो का बहुत लाभ पहुचाया।

सामान्यीकरण दशक का अनुभव और अभिप्राय

महाशक्तियो के बीच सम्बन्धो के सामान्यीकरण की प्रक्रिया, जैसाकि उपरोक्त विवेचन स ज्ञात होता है इन दो राष्ट्रो तक ही सीमित नही रही। महाशक्तियो मे सम्बन्धो से सामान्यीकरण की इच्छा ने वस्तुत समस्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एव तनाव कम करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी। इसका तात्पय यह कदापि नही था कि इस चरण मे टकराहट की स्थितिया उत्पन्न ही नही हुई थी। फक इतना था कि जब भी ऐसी स्थितिया उत्पन्न हुइ तो उनके समाधान के लिए परस्पर वार्ता के द्वार खोले गय जैसाकि शीतयुद्धकालीन राजनीति मे सम्भव नही था। सामान्यीकरण की इस प्रक्रिया के आगे बढने मे सबस अधिक सहयोगी परम्परागत विचारो हेतु अपनाया गया व्यावहारिक दष्टिकोण था। अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति के उत्तरोत्तर विकास मे आर्थिक एव तकनीकी प्रश्नो पर परस्पर राष्ट्रो के बीच निर्भरता एक वास्तविकता थी। ऐसी स्थिति म कुछ एस विवादा का निपटाना अत्यधिक आवश्यक था जोकि ऐतिहासिक कारणा स अनावश्यक बनते जा रह थे। सामान्यीकरण की मानसिकता ने मूलत इस मतव्य का आत्मसात किया। अत सामान्यीकरण का पूरी प्रक्रिया कोई अनिश्चितकालीन सहयोग की परिचायक नही है अपितु मात्र परम्परागत विवादा से उभरने का दृष्टिकोण है। इस परिप्रेक्ष्य म ही सामान्यीकरण के वास्तविक तात्पय का मूल्याकन हो सकता है। दोनो महाशक्तिओ के बीच प्रतिद्विद्वता न रही हो, एसा उस प्रक्रिया का निष्कष नही है। अन्तर्राष्ट्रीय सबधा के आगामी वष इस बात के साक्षी है कि परस्पर प्रतिद्वंद्विता न सिफ बनी रही अपितु इसकी परिधि और अधिक विस्तत भी हुई। गुणात्मक अ तर अब इस बात का था कि यह प्रतिद्वंद्विता किसी समन्वित अ तर्राष्टीय वातावरण मे हो, अनावश्यक पूवग्रहो स ग्रसित न हो और कुछ निर्धारित सीमाओ के बीच ही हो जिनमे रहते हुए विश्वव्यापी सकट स न उलझना पड़े। ऐसे ही एक समन्वित मिश्रित दृष्टिकोण की अभिव्यक्तिया अगले वर्षो मे देखन को मिलती है।

चतुर्थ चरण

भूमिकाओ के बदलाव का काल (1973 से अब तक)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का इतिहास अनेक बदलावो रहा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशेषज्ञो की तरह यह आम धारणा होती है कि विश्वस्तरीय युद्ध सदव एक नये शक्ति के सन्तुलन को जन्म देता है अनेक परम्परागत शक्तियो का अवसान और शक्ति के नये केन्द्रो का उदय होता है दोनो विश्वयुद्ध इस बात के साक्षी कहे जाते हैं। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की राजनीति मे एक विचित्र गतिशीलता देखी गई। टकराहट की विचित्र स्थितिया तो उत्पन्न हुई लेकिन कोई विश्वव्यापी सकट देखने को नही मिला। लेकिन फिर भी अन्तर्राष्टीय राजनीति म शक्ति का सतुलन एक उत्तरोत्तर विकास के क्रम से बदलता रहा। इस घटनाचक्र मे विचित्र ऐतिहासिकता का समावेश था। सन 1945 में तमाम ध्रुवीकरण के बावजूद सयुक्त राज्य अमेरिका की राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक शक्ति सर्वोपरि थी। सोवियत सघ के ध्रुवीकरण के दूसरे केन्द्र के रूप मे उपस्थित होने के बावजूद उसम उतनी क्षमता का अभाव था। अमेरिका के आणविक आयुधो ने ही वास्तव म द्वितीय विश्वयुद्ध का पटाक्षेप किया था। युद्ध के बाद उसके हस्तक्षेप की क्षमता अतुलनीय थी। यूरोप और पश्चिमी गोलार्द्ध का प्रश्न हो अथवा हिन्द चीन से लेकर पश्चिमी एशिया म उत्पन्न स्थितिया, अमेरिका [का हस्तक्षेप प्रत्यक्ष स्थिति म

हस्तक्षेप की इस नीति और क्षमता का अभाव युद्ध के बाद दो दशकों मे सोवियत नीति में व्याप्त था। लेकिन इन वर्षों म भी सोवियत क्षमता एक स्थिर गति स बढ रही थी। पूजीवादी राष्ट्रो की क्षमता से प्रारभिक वर्षों मे अत्यधिक क्षीण उसके बाद क वर्षों म समानता या सघर्ष, फिर समानता की प्राप्ति और अत म बरी यता की होड यह एक क्रम रूस की विश्वव्यापी हस्तक्षेप की क्षमता को दर्शाता है।

इस ऐतिहासिक क्रम के विकास मे जहा एक ओर रूस की उत्तरोत्तर विकास की स्थिति रही, वही अमेरिका एव अन्य पश्चिमी राष्ट्रा की क्षमता म उत्तरोतर अवसान हुआ। 1973 तक यह प्रक्रिया स्पष्ट रूप स उभर कर सामने आयी। इसस पूव भी अफ्रिका राष्ट्रीय आन्दोलना क सदर्भ म इसक प्रारम्भिक आधार मिलते हैं। किन्तु 1973 के बाद यह प्रवत्ति और अधिक मुखरित हुई, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति म एक शिथिलता का वातावरण नय शक्ति के सन्तुलन के रूप मे स्वीकार हुआ। अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रा की आर्थिक एव सामरिक शक्ति के अवसान के मूलभूत ऐतिहासिक कारण थे। इन राष्ट्रा की शक्ति के साम्राज्यवाद की आधारशिला अथ पर टिकी थी। उपनिवेशवाद क अन्त के बाद राजनीतिक रूप स स्वतत्र राष्ट्र अधिक स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख हुए। इसका स्पष्ट अभिप्राय था जिस अनुपात म ये राष्ट्र साम्राज्यवाद के आर्थिक शोषण स मुक्त होग, ठीक उसी अनुपात मे पश्चिमी साम्राज्वादी राष्ट्रो की आर्थिक क्षमता को ठेस पहुचेगी जो कि उनकी राजनीतिक हस्तक्षेप की क्षमता म भी स्पष्ट रूप म परिलक्षित होगी। अत पश्चिमी राष्ट्रो के लिए अपनी क्षमता को बढ़ाना या कम से कम उस स्तर तक बनाये रखने की लडाई मूलत इतिहास के विरुद्ध लडाई थी। यह नितान्त असम्भव था। जहा तक सोवियत सघ का प्रश्न था, उसके लिए इस ऐतिहासिकता से जुडकर चलता न सिर्फ वैचारिक दष्टि से वांछनीय था, अपितु सामरिक एव राजनीतिक दष्टि से भी लाभप्रद। सन 1945 मे जो क्षमता अमेरिका एव पश्चिमी राष्ट्रो की थी उस क्षमता की आडे अब सोवियत सघ का भाग बन रहा था। बदले हुए ऐतिहासिक सन्दर्भो ने महाशक्तिया की अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका मे भी बदलाव प्रस्तुत किया। अमेरिका एक दूसरे वियत नाम अथवा दूसरे कोरिया के अनुभव करने के विचारमात्र से सत्रस्त था। जब कि दूसरी ओर, सोवियत सघ के अनुभवो मे क्यूबा और अगोला से लेकर अफगानिस्तान तक के दष्टान्त समाहित हो रहे थे। परपरागत प्रभाव के दायरे से हटकर परोक्ष प्रभाव की परिधि मे भी यही ऐतिहासिक क्रम देखने को मिलता है। विश्वयुद्ध के बाद का इतिहास नाटो की उभरती नपुसकता और सेटो और सीटो क वस्तुत विघटन का इतिहास है। द्विपक्षीय मैत्री सन्धियो के अनुभवो से दूसरी ओर सावियत सघ के मैत्री एव प्रभाव क्षेत्र मे निरन्तर बढोत्तरी हुई है। उपरोक्त विश्लेषण इस अतिम चरण की प्रमुख प्रवत्ति को स्पष्ट रूप स रेखाकित

कारण विघटन के कगार पर था। अत अमेरिका से अनुरोध किया गया कि वह क्यूबा के साथ अपने वैमनस्य की नीति त्याग दे। पश्चिमी गोलार्द्ध मे राष्ट्रो मे परस्पर मतभेद और उनम फूट अमेरिकी स्थिति के लिए वास्तव मे एक विकट समस्या थी जिसका कि एक मात्र समाधान क्यूबा पर मे प्रतिबध हटा लना ही था। अत न चाहते हुए भी अमेरिका को एमे निणय म सहयोग देना पडा।

महाशक्तियो की प्रतिद्वद्विता और एशियाई सदभ

20वी शताब्दी के सातवें दशक मे अन्तराष्ट्रीय घटनाचक्र का एक विशेष एशियाई सन्दम रहा है। दशक के उदघाटन के साथ एशियाई महाद्वीप मे घटनाओ के क्रम न अनेक महत्वपूण परिवतन किये। भारतीय उपमहाद्वीप मे शक्ति के सन्तुलन म 1971 के भारत पाक युद्ध के बाद गुणात्मक अन्तर आया जिसके फलस्वरूप भारत को एक उपमहाद्वीपीय शक्ति के रूप मे मान्यता मिली। इसी वष, युद्ध से पूव हुई भारत और रूस मैत्री सधि, एक विशेष सामरिक महत्व की सिद्ध हुई। रूस और चीन के उभरते हुए विवाद और चीन और अमेरिका के बीच एक नये समीकरण के आयोजन के सन्दम म इसका और भी अधिक महत्व उभरा। इस घटना के बाद एशियाई सन्तुलन के सन्दम में दोनो महा शक्तिया और विशेषत अमेरिका और अधिक तत्पर हुई। अमेरिकी विदेश नीति के पश्चिम एशियाई प्रयासो मे, उसके चीन के साथ सबधो मे सामान्यीकरण की तत्कालिकता मे अथवा पाकिस्तान और ईरान पर और अधिक निर्भर होने म, इन सभी स्थितियो मे इस बदले हुए एशियाई सन्तुलन की समस्या थी। सामरिक नीति एक महत्वपूण केन्द्र के निमाण मे व्यस्त रही। यद्यपि इसका आधार बहुत सीमित अवधि वाला सिद्ध हुआ जबकि एक आन्तरिक इस्लामिक क्रान्ति के फलस्वरूप शाह अपदस्थ हुए और एक अमेरिका विरोधी इस्लामी नेतत्व की स्थापना हुई। पर यह घटनाचक्र इस चरण के उत्तराद्ध मे ही घटा और तब तक ईरान अमेरिका के लिए एक महत्वपूर्ण सामरिक भूमिका निभाता रहा।

पश्चिमी एशियाई सकट एकमात्र ऐसा उदाहरण है जिसमे अमेरिकी नीति को परस्पर विरोधी राष्ट्रो म समन्वय स्थापित करने वाली नीति के रूप मे सफलता मिली। इस सफलता की एक सीमित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी थी। प्रारभिक तौर मे अरब राष्ट्रो म सोवियत की विदेश नीति को सफलना मिली थी और इजरायल अपने अस्तित्व म आने के साथ ही पश्चिमी प्रभाव राष्ट्र था। लेकिन मिस्र और रूस के बीच सम्बन्धो म दरार पडने के बाद वहा एक अमेरिकी भूमिका की सम्भावनायें उभरी। किसिंजर की राजनयिक चेष्टाओ से मिस्र के साथ तारतम्य स्थापित हुआ। सम्बन्धो की इस कडी म निरन्तर विकास हुआ। किसिंजर के प्रयत्नो के फलस्वरूप ही, प्रारभिक असफलता के बाद अन्तत 4, सितम्बर 1975

करता है उस प्रवृत्ति को जो बदली हुई ऐतिहासिकता म महाशक्तियों की बदली भूमिकाओ की परिचायक है ।

अमेरिकी नीति एक नई भूमिका की खोज

यह स्पष्ट हो जाने के बाद कि परम्परा हस्तक्षेप की नीति मे न सिर्फ अमेरिक हितो को आघात पहुचाया है बल्कि, अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय म उसकी उदारवादी साख को भी नष्ट किया है अमेरिका विदेश नीति अब एक नय स्थान की तलाश म थी । सोवियत के साथ सबधो म सामान्यीकरण के साथ साथ इस नये दष्टिकोण म समस्त परम्परागत वमनस्य को अन्तिम रूप स समाप्त करना भी एक प्रारम्भिक आवश्यकता थी । निक्सन प्रशासन के दौरान ऐसी ही एक नीति की पहल हो चुकी थी, जिसे बाद म प्रशासनो ने भी विकसित किया । निक्सन प्रशासन के दौरान वियतनाम युद्ध को अतिम रूप म खत्म करने की घोषणा की जा चुकी थी । फोर्ड प्रशासन के तत्वावधान म वियतनाम के ऐतिहासिक सकट पर अतिम विराम लगा । 30 अप्रैल 1975 को, दक्षिणी वियतनाम की सरकार द्वारा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के समक्ष बिना शर्त आत्मसमपण के साथ वियतनाम युद्ध समाप्त हुआ । इसी के समानान्तर एक लम्बे समय स चला आ रहा कम्बोडिया का यह युद्ध भी 18 अप्रैल 1975 को सिहानुक के नतत्व वाले वामपथी मोर्चे की विजय के साथ समाप्त हुआ । इन दोनो ऐतिहासिक घटनाओ मे अमेरिका पक्ष की एक लम्बे टकराव के बाद पराजय हुई । लेकिन अमरिकी विदेश नीति ने एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया और इस पराजय को एक परिवतनीय तथ्य के रूप म स्वीकार किया ।

अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय म अपनी एक नई साख बनाने की यह नीति पश्चिमी एशियाई सकट और लातिनी अमेरिका क राष्ट्रो सबध म भी फोर्ड प्रशासन के अन्तगत प्रारम्भ की गई । जुलाई 1975 म अमरिका ने क्यूबा के साथ अपने परपरागत प्रतिरोध को समाप्त करने के प्रयास किये । कोस्टारिका की राजधानी सानजोस म 29 जुलाई 1975 को 21 सदस्यीय अमेरिकी राष्ट्रो के सगठन का सम्मेलन हुआ । इस सम्मेलन म इन राष्ट्रो द्वारा पिछले 11 वर्षों स क्यूबा पर लगाये गये सामूहिक राजनयिक और व्यापारिक प्रतिबन्धो को समाप्त करने का निर्णय लिया गया । इस निर्णय के पक्ष म 16 राष्ट्र थ जिनम अमरिका स्वय भी सम्मिलित था । इस घटना का यदि करीब स विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि अमरिकी दृष्टिकोण अपने स्वय की विवशता स प्रेरित था न कि परोपकारी उद्देश्यो स । इस प्रस्ताव के पारित होने से पूर्व ही अनेक अमरिकी राज्यो ने क्यूबा के साथ द्विपक्षीय स्तर पर व्यापारिक एव राजनयिक सबध स्थापित कर लिये थे । इसके फलस्वरूप अमेरिका राज्यो का सगठन आतरिक मतभेदो के

कारण विघटन के कगार पर था। अत अमेरिका से अनुरोध किया गया कि वह ब्रूबा के साथ अपने वैमनस्य की नीति त्याग दे। पश्चिमी गोलार्द्ध म राष्ट्रों म परस्पर मतभेद और उनम फूट अमरिकी स्थिति क लिए वास्तव म एक विकट समस्या थी जिसका कि एक मात्र समाधान क्यूबा पर स प्रतिबध हटा लना ही था। अत न चाहते हुए भी अमरिका को ऐस निणय म सहयोग देना पडा।

महाशक्तियों की प्रतिद्वद्विता और एशियाई सदभ

20वी शताब्दी क सातवें दशक मे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र का एक विशेष एशियाई सन्दभ रहा है। दशक के उदघाटन क साथ एशियाई महाद्वीप म घटनाओ क क्रम न अनेक महत्त्वपूर्ण परिवतन किय। भारतीय उपमहाद्वीप म शक्ति के सन्तुलन म, 1971 के भारत पाक युद्ध क बाद गुणात्मक अन्तर आया जिसके फलस्वरूप भारत को एक उपमहाद्वीपीय शक्ति क रूप म मान्यता मिली। इसी वर्ष, युद्ध म पूर्व हुई भारत और रूस मैत्री सधि एक विशेष सामरिक महत्व की सिद्ध हुई। रूस और चीन के उभरते हुए विवाद और चीन और अमेरिका के बीच एक नय समीकरण के आयोजन क सन्दर्भ म इसका और भी अधिक महत्व उभरा। इस घटना के बाद, एशियाई सन्तुलन के सन्दर्भ मे दोनो महा शक्तिया और विशेषत अमेरिका और अधिक तत्पर हुई। अमरिकी विदेश नीति के पश्चिम एशियाई प्रयासों म, उसके चीन के साथ सबधो म सामान्यीकरण की तत्कालिकता म अथवा पाकिस्तान और ईरान पर और अधिक निर्भर होने म इन सभी स्थितियो मे इस बदल हुए एशियाई सन्तुलन की समय थी। सामरिक नीति एक महत्वपूर्ण केन्द्र के निर्माण में व्यस्त रही। यद्यपि इसका आधार बहुत सीमित अवधि वाला सिद्ध हुआ जबकि एक आन्तरिक इस्लामिक क्रान्ति के फलस्वरूप शाह अपदस्थ हुए और एक अमेरिका विरोधी इस्लामी नेतत्व की स्थापना हुई। पर यह घटनाचक्र इस चरण क उत्तराद्ध म ही घटा और तब तक ईरान अमेरिका क लिए एक महत्वपूर्ण सामरिक भूमिका निभाता रहा।

पश्चिमी एशियाई सकट एकमात्र ऐसा उदाहरण है जिसम अमेरिकी नीति को परस्पर विरोधी राष्ट्रो मे समन्वय स्थापित करने वाली नीति के रूप मे सफलता मिली। इस सफलता की एक सीमित ऐतिहासिक पष्ठभूमि भी थी। प्रारंभिक तौर से अरब राष्ट्रो मे सोवियत की विदेश नीति को सफलता मिली थी और इज़रायल अपने अस्तित्व म आने के साथ ही पश्चिमी प्रभाव राष्ट्र था। लेकिन मिश्र और रूस के बीच सम्बधो मे दरार पडने के बाद वहा एक अमेरिकी भूमिका की सम्भावनायें उभरी। किसिंजर की राजनयिक चेष्टाओ से मिश्र के साथ तारतम्य स्थापित हुआ। सम्बन्धो की इस कडी म निरन्तर विकास हुआ। किसिंजर के प्रयत्नो के फलस्वरूप ही, प्रारभिक असफलता के बाद अन्तत 4, सितम्बर, 1975

पर विचार विनिमय के अलावा भारत को यह आश्वासन भी दिया कि उसके परमाणु कायक्रम हेतु जो भी अमेरिका की प्रतिबद्धता है उसे बिना शत निभाया जायेगा। इसके बाद जून, 1978 मे भारतीय प्रधानमत्री और अप्रैल, 1979 मे विदश मत्री की अमेरिका यात्राए हुई। इन वार्ताओ मे कोई ठोस निणय मूलत सम्भव नही थ। अत इन द्विपक्षीय वार्ताओ का स्तर अतर्राष्ट्रीय विवादो पर विचार विमश और एक दूसरे के दष्टिकोण को समझने से अधिक का नही रहा। भारतीय नेतत्व को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात था कि उत्तरोत्तर रूप स सो० सघ पर भारत की निभरता बढी है। सैनिक एव आर्थिक दष्टि स इस निभरता का विकल्प सभव नही है। अत भारत अमेरिका सम्बधो म बढोत्तरी का काई एसा तात्पय पूणत अव्यावहारिक है जिसका स्पष्ट अथवा परोक्ष अभिप्राय भारत रूस सम्बध मे कठिनाई उत्पन्न करना हो। एसी स्थिति मे इन सौहाद्रपूण यात्राओ का कोई स्पष्ट लाभ दोनो राष्ट्रो को नहीं मिला। भारत को श्रेष्ठ यूरेनियम दिय जान सबधी प्रश्न पर कठिनाइया पूववत रही गमजोशी के इस सीमित अतराल के बाद, भारत अमेरिका सम्बधो मे पुन ठहराव आ गया।

विश्व स्तरीय शक्ति के सतुलन म अपने स्थान के साथ चीन का एशियाई महाद्वीप मे भी एक विशेष महत्व है। रूस चीन विवाद के बाद चीन की यह एशियाई भूमिका, विशेषत अमेरिकी दष्टिकोण मे और अधिक महत्वपूण बन गई। इस दृष्टि स चीन के साथ सबधो की जो पहल निक्सन के दौरान प्रारभ हुई थी, उत्तरोत्तर विकसित होती रही। दानो राष्ट्रो के बीच उभरते हुए समन्वित विश्व दष्टिकोण मे रूस के प्रसार को सीमित करने का अभिप्राय था। इस अभिप्राय मे अमेरिका की यह दृष्टि थी कि एशियाई महाद्वीप मे उसका दायित्व चीन निभाये और अयत्र उसकी प्राथमिक जिम्मेदारी अमेरिका की हो। इस दष्टिकोण में उत्तरोत्तर परिपक्वता आई और इसी के समानातर अमेरिका और चीन के परस्पर सबध विकसित हुए। नवम्बर 1974 म किसिजर की चीन यात्रा हुई यह उनकी सातवी चीन यात्रा थी। इस यात्रा के दौरान चीन की यह समझ थी कि अमेरिका और चीन के सबधो को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाये और इस हेतु रूस और अमेरिका क बीच सबधो के सामान्यीकरण के अभिप्रायो को भी चीन के सदम मे स्पष्ट किया जायेगा। किसिजर द्वारा एक और यात्रा किए जाने के बाद, दिसबर, 19 5 मे राष्ट्रपति फोड की चीन यात्रा भी नियोजित की गई। इस यात्रा के दौरान चीनी नेताओ द्वारा राष्ट्रपति निक्सन को दिये गये स्वागत की तुलना म राष्ट्रपति फोड की अगवानी अत्यधिक सामान्य और फीकी रही। मतव्य स्पष्ट था कि जब तक ताइवान इत्यादि पम्परागत प्रश्न नही निबट जात एव रूस और अमेरिका के बीच सबधो का अभिप्राय स्पष्ट नही किया जाता, तब तक अमेरिका के साथ चीन के सबध किसी विशेष महत्व के नही है। अमेरिका के नय नतृत्व के

को मिश्र और इजरायल के बीच एक आंतरिक समझौता हुआ। इस आंतरिक समझौते के आधार विवादास्पद सीमाओं पर सुलह स्वेज नहर म आवागमन की सुविधा, और 'तटस्थ क्षेत्र' 'बफर' क्षेत्र के प्रावधान जिसम कि मिश्र, अमेरिका, इजरायल और संयुक्त राष्ट्र का सामूहिक पर्यवेक्षण ही आदि थे। इसके बाद 10 अक्टूबर, 1975 को मिश्र और इजरायल के बीच एक समझौता किया गया, जिसमें उपर्युक्त प्रावधानों को क्रियान्वित करने की विस्तृत योजना तैयार हुई। 15, मार्च 1976 को राष्ट्रपति सादात ने सोवियत रूस से मैत्री संधि रद्द कर दी। इसके उपरान्त 5, मई, 1975 को अमेरिका ने मिश्र को 10 करोड़ 20 लाख डॉलर की सहायता देने का समझौता किया। इसके बाद इजरायल और मिश्र म परस्पर वार्ताएं होती रहीं। अमेरिका में कार्टर प्रशासन के आगमन के बाद मिश्र के राष्ट्रपति सादात की नवम्बर, 1977 मे इजरायल की यात्रा हुई। इस ऐतिहासिक क्रम की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी सितम्बर, 1978 मे कार्टर बेगिन सादात का कैप डेविड का पड़ाव है जो कि तेरह दिनों तक चला। ऐसी घटना अभूतपूर्व थी। न सिर्फ किसी अमरिकी राष्ट्रपति के लिए इतने दिनों तक मध्यस्थता करना एक अद्वितीय स्थिति, बल्कि अन्यत्र हुए शिखर सम्मेलनों की तुलना म भी यह अत्यधिक लम्बी अवधि का था। एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए, लेकिन शीघ्र ही उसकी क्रियान्वित खटाई मे पड गयी। अमेरिकी नीति के लिए यह एक प्रतिष्ठा का प्रश्न बन चुका था। अत उभरे हुए मतभेदों के बीच वार्ताओं के और दौर चले। अन्तत 25, मार्च, 1976 को राष्ट्रपति कार्टर की उपस्थिति मे मिश्र और और इजरायल के बीच शान्ति संधि सम्पन्न हुई। अमेरिकी विदेश नीति को अपने नये प्रयासों की एकमात्र सफलता मिली।

अफगानिस्तान मे भी एक आन्तरिक मन्थन हो रहा था और यह सम्भावना प्रबल बनती जा रही थी और कि वहां एक सोवियत समर्थक नेतृत्व उभरेगा। इन स्थितियों के बीच अमेरिकी विदेश नीति ने फरवरी, 1975 म एक महत्वपूर्ण घोषणा के द्वारा पाकिस्तान को हथियार देने पर 10 वर्ष स चला आ रहा प्रतिबंध हटा लिया। इस सन्दर्भ म भारत द्वारा व्यक्त तीव्र प्रतिक्रिया और भारतीय विदेशमन्त्री की प्रस्तावित अमेरिका यात्रा का स्थगन कोई विशेष प्रभावशाली नहीं बना। 1977 मे अमेरिका और भारत दोनों के नेतृत्व परिवर्तन हुआ, अमेरिका का नेतृत्व राष्ट्रपति कार्टर ने और भारत म प्रथम बार जनता पार्टी की विजय के साथ मोरारजी ने संभाला और कांग्रेस तथा इन्दिरा गांधी का नेतृत्व अपदस्थ हुआ। तात्कालिक सदर्भों में इन बन्धावों ने अमेरिकी विदेश नीति को इस बात के लिए प्रेरित किया कि भारत के साथ भी किसी सामूहिक दृष्टिकोण को उभारने के प्रयास किये जायें। इस उद्देश्य स जनवरी, 1978 में राष्ट्रपति कार्टर ने भारत की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय विवादों

पर विचार विनिमय के अलावा भारत को यह आश्वासन भी दिया कि उसके परमाणु कायक्रम हतु जा भी अमेरिका की प्रतिबद्धता है उसे बिना शत निभाया जायगा। इसके बाद जून, 1978 म भारतीय प्रधानमत्री और अप्रैल, 1979 मे विदेश मत्री की अमरिका यात्राए हुईं। इन वार्ताओ म कोई ठोस निणय मूलत सम्भव नही थ। अत इन द्विपक्षीय वार्ताआ का स्तर अतर्राष्ट्रीय विवादो पर विचार विमश और एक दूसरे के दष्टिकोण को समझने से अधिक का नही रहा। भारतीय नेतृत्व को यह स्पष्ट रूप स ज्ञात था कि, उत्तरोत्तर रूप स सो० सघ पर भारत की निभरता बढी है। सैनिक एव आर्थिक दृष्टि स इस निभरता का विकल्प सभव नही है। अत भारत अमेरिका सम्ब धो म बढोत्तरी का कोई ऐसा तात्पय पूणत अव्यावहारिक है, जिसका स्पष्ट अथवा परोक्ष अभिप्राय भारत रूस सम्बन्ध मे कठिनाई उत्पन्न करना हो। एसी स्थिति मे इन सौहाद्रपूण यात्राओ का कोई स्पष्ट लाभ दोना राष्ट्रो को नहीं मिला। भारत को श्रेष्ठ यूरेनियम दिये जाने सबधी प्रश्न पर कठिनाइया पूववत रही गमजोशी के इस सीमित अन्तराल के बाद, भारत अमेरिका सम्बन्धो मे पुन ठहराव आ गया।

विश्व स्तरीय शक्ति के सतुलन में अपने स्थान के साथ, चीन का एशियाई महाद्वीप मे भी एक विशेष महत्व है। रूस चीन विवाद के बाद चीन की यह एशियाई भूमिका, विशेषत अमेरिकी दृष्टिकोण म और अधिक महत्पूण बन गई। इस दृष्टि स चीन के साथ सबधो की जो पहल निक्सन के दौरान प्रारभ हुई थी, उत्तरोत्तर विकसित होती रही। दोनो राष्ट्रो के बीच उभरते हुए समन्वित विश्व दष्टिकोण मे रूस क प्रसार को सीमित करने का अभिप्राय था। इस अभिप्राय मे अमेरिका की यह दष्टि थी कि एशियाई महाद्वीप म उसका दायित्व चीन निभाये और अयत्र उसकी प्राथमिक जिम्मेदारी अमेरिका की हो। इस दष्टिकोण मे उत्तरोत्तर परिपक्वता आई और इसी के समानातर अमेरिका और चीन के परस्पर सबध विकसित हुए। नवम्बर 1974 मे किसिजर की चीन यात्रा हुई यह उनकी सातवी चीन यात्रा थी। इस यात्रा के दौरान चीन की यह समझ थी कि अमरिका और चीन के सबधो को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाये और इस हतु रूस और अमरिका क बीच सबधो के सामान्यीकरण के अभिप्रायो को भी चीन के सदभ मे स्पष्ट किया जायेगा। किसिजर द्वारा एक और यात्रा किए जान के बाद, दिसबर, 19 5 मे राष्ट्रपति फोड की चीन यात्रा भी नियोजित की गई। इस यात्रा के दौरान चीनी नेताओ द्वारा राष्ट्रपति निक्सन को दिये गये स्वागत की तुलना मे राष्ट्रपति फोड की अगवानी अत्यधिक सामान्य और फीकी रही। मतव्य स्पष्ट था कि जब तक ताइवान इत्यादि पम्परागत प्रश्न नही निबट जाते एव रूस और अमेरिका के बीच सबधो का अभिप्राय स्पष्ट नही किया जाता, तब तक अमेरिका के साथ चीन के सबध किसी विशेष महत्व के नही है। अमेरिका मे नय नेतृत्व के

के रूप मे राष्ट्रपति कार्टर के आगमन के बाद नये प्रयास हुए। अगस्त, 1977 में राज्य सचिव साईरसवैंस और उसके बाद राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रिजिंस्की चीन यात्रा हुई। इन राजनयिक गतिविधियों के फलस्वरूप चीन-अमेरिका सबधों म एक ऐतिहासिक मोड आया। 15, दिसम्बर, 1978 को अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर ने चीन को राजनयिक मान्यता प्रदान करने की घोषणा की और यह कहा कि 1, जनवरी, 1979 से चीन व अमेरिका के बीच यथावत रूप से राजनयिक सबध स्थापित होगे। इसी मतव्य की एक और घोषणा बीजिंग से भी हुई। इस घटना के फलस्वरूप चीन की एकमात्र सरकार के रूप मे बीजिंग सरकार को मान्यता मिली, यद्यपि ताइवान के साथ अनौपचारिक अमेरिकी सबधो का प्रश्न अब भी यथावत बना रहा।

सोवियत प्रति-प्रयास

एशियाई महाद्वीप मे अमेरिका और चीन की उभरती हुई इस धुरी के सदभ मे एव अमेरिका के अन्य एशियाई प्रयासो के सदभ मे, रूस के भी प्रयास रहे। भारत मे नेतत्व परिवर्तन के तुरन्त बाद अप्रैल 1977 मे रूस के विदेश मत्री ग्रोमिको की भारत यात्रा हुई। इस यात्रा का तात्कालिक उद्देश्य, नेतत्व परिवतन के बाद रूस की तरफ से भारत रूस सबधो म पुन आस्था व्यक्त करना था। साथ ही साथ अमेरिका के सभावित प्रयासो का मूल्याकन भी इस यात्रा का परोक्ष उद्देश्य था। सोवियत निमत्रण पर अक्टूबर, 1977 मे भारतीय प्रधानमत्री एव विदेश मत्री की रूस की राजकीय यात्रा हुई। इस यात्रा के फलस्वरूप भारत के नये नेतृत्व और रूस के बीच सम्बन्ध स्थापित हुआ। दोनो राष्ट्रो के बीच आर्थिक सहयोग का एक दीर्घकालीन कार्यक्रम, अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ की समीक्षा और प्रत्येक राष्ट्र की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त, हिन्द महासागर का एक शांति क्षेत्र के रूप मे अस्तित्व, और समस्त एशियाई राष्ट्रो मे द्विपक्षीय सबधो के माध्यमो से सहकारिता, आदि मत सयुक्त विज्ञप्ति मे व्यक्त किये गये। इस यात्रा के दौरान सघ के नेतत्व ने भारतीय पक्ष की अनेक शकाओ का समाधान किया और भारत को हर स्थिति मे सहयोग हेतु आश्वस्त किया। मई 1978 मे भारतीय रक्षामन्त्री जगजीवनराम की रूस की यात्रा हुई, जो कि भारत और रूस के बीच सैनिक सहयोग के विकास में एक अगला कदम भी। मार्च, 1979 म सोवियत प्रधान मत्री कोसीगिन भारत-यात्रा पर आये। उसके बाद जून, 1979 में ही प्रधान मत्री देसाई की रूस यात्रा हुई। देसाई की इस यात्रा के दौरान, भारत की ओर से यह स्पष्ट कर दिया, किन्ही दूसरे राष्ट्रो के साथ भारत से सबधो का आधार भारत रूस मैत्री मे व्यवधान नही हो सकता। भारत रूस मैत्री की बलि देकर भारत अन्य सबध नही बढ़ाना चाहता। प्रधान मत्री देसाई की यात्रा के दौरान

क्रियान्विति म गतिरोधो का उत्पन्न होना नितात स्वाभाविक एव व्यावहारिक सदेह था। ऐसी स्थिति म जबकि सामाजिक, आर्थिक और वैचारिक स्थितिया उचित रूप स विकसित न हो, तो एक बार वामपथी नेतत्व की स्थापना हो भी जाये तो उसका निर्वाह कठिन होगा। इस स्थिति का एक स्पष्ट अभिप्राय था। यदि आतरिक असतुलन की स्थिति को सभालना पडे तो यह सोवियत सघ के लिए एक अतिरिक्त दायित्व होगा और जिसम परोक्ष प्रयासो के साथ साथ सीधे हस्तक्षेप की आवश्यकताए भी उभर सकती है। ऐसे कुछ सीमित अनुभव मिश्र एव अन्य अफ्रिकी राष्ट्रो म सोवियत को हो चुके थ। किंतु इन अनुभवो म सीधे हस्तक्षेप तक की स्थिति नही पहुच पाई थी। लेकिन इन अभिप्रायो की और अधिक उग्र अभिव्यक्ति का सामना शीघ्र ही रूस की विदश नीति को करना पडा।

महाशक्तिय प्रतिद्वन्द्विता का अफ्रिकी मच

उपनिवेशवाद के अवसान के साथ साथ अफ्रिकी राष्ट्रो म राजनीतिक स्वतत्रता की एक प्रक्रिया प्रारभ हुई। *उपनिवेशवाद के अतिम वर्षों म, अमेरिका के अफ्रिकी* राष्ट्रो मे आर्थिक हितो मे अत्यधिक वद्धि हुई। अत इन राष्ट्रो की राजनीतिक स्वतत्रता एव भावी आर्थिक स्वतत्रता की भूमिका, स्वाभाविक रूप से अमरिका के लिए चितनीय थी। इस दष्टि स, उभरते हुए राष्ट्रीय आदोलनो के प्रति अमरिका एव अन्य पश्चिमी उपनिवेशी राष्ट्रो का दुराग्रही व्यवहार रहा। यह व्यवहार राष्ट्रीय आदोलनो क उभार के साथ साथ और अधिक स्पष्ट रूप से उभरा। साथ ही साथ, अमेरिका मे भी एक अफ्रिकी समुदाय था। इस अल्पमत समुदाय के साथ भेदभाव अमेरिकी राजनीति की एक कलकित प्रवृत्ति रही। इन सभी स्थितियो के फलस्वरूप, अफ्रिकी राष्ट्रो म अमेरिकी विदश नीति की साख परपरागत रूप स अत्यधिक सदेहास्पद बनी रही। लेकिन बदली हुई परिस्थितियो मे, अमेरिकी विदेश नीति के लिए अफ्रिकी राष्ट्रो के बीच एक नई साख और सदभावना तैयार करना एक विश्वव्यापी साख के लिए आवश्यक था।

जहा तक सोवियत सघ का प्रश्न है उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरोधी आन्दोलना के साथ एकजुटता उसकी नीति का अविभाज्य अग था। अफ्रिकी राष्ट्रीय आदोलनो मे सक्रिय सोवियत सहयोग की एक लबी परम्परा बनी। 1951 म नक्रूमा के नतत्व म हो रहे घाना के आदोलना स लेकर अगोला मे अगस्टिनो नेटो के नेतृत्व के समथन तक, सोवियत सक्रियता का एक लबा योगदान रहा। इस योगदान की परपरा के प्रमुख दष्टात नाइजीरिया, गिनी, इथोपिया सोमालिया, अल्जीरिया, एव मोजाबिक आदि अनेक राष्ट्रो के राष्ट्रीय आदोलन है। इनम स कुछ स्थितियों मे, जैस अल्जीरिया और मोजम्बिक, म दीर्घ कालीन गृहयुद्ध भी हुआ। ऐसी स्थितियो में सोवियत समथन की विश्वसनीयता

और अधिक स्पष्ट हुई। इस पूरी प्रक्रिया के फलस्वरूप, सोवियत सघ को अनेक सामरिक सफलताए भी मिली जिनमे 'हॉन ऑव अफ्रिका' मे सैनिक सुविधाए अत्यधिक महत्व की थी। अफ्रिकी राज्यो की राजनीतिक स्वतत्रता के बाद सोवियत सघ की भूमिका एक आर्थिक सहयोगी के रूप मे भी बनी। इन प्रयासो के सम्मिलित प्रभाव ने एक विशिष्ट सोवियत स्थिति को जन्म दिया।

अतर्राष्ट्रीय राजनीति म एक विश्वव्यापी सामान्यीकरण की प्रक्रिया का अफ्रिकी मच पर भी प्रभाव हुआ। वियतनाम के अनुभव के बाद, अमेरिका को यह स्पष्ट हो गया था कि उसकी हस्तक्षेप की नीति प्रतिगामी सिद्ध हुई है। भविष्य मे भी सीधे हस्तक्षेप की सभावनाए न तो औचित्यपूर्ण ही हैं और न ही व्यावहारिक। इस समझ के बाद, अमेरिकी नीति का प्रमुख उद्देश्य एक ऐसे नये स्वरूप को प्रस्तुत करना था जोकि अमेरिका को पुन एक शातिप्रिय एव परोपकारी राष्ट्र के रूप मे प्रदर्शित करे। इसी उद्देश्य स, राष्ट्रपति कार्टर के आगमन के तुरत बाद अफ्रिकी राष्ट्रो के साथ सौहार्द्रपूण तारतम्य स्थापित करने के प्रयास किये गये। 1977 म सत्ता सभालने के तुरत बाद एड्रूयग मिशन' का अफ्रिका मे आगमन हुआ। यग ने 3 फरवरी स 12 फरवरी तक तजानिया और नाइजीरिया का भ्रमण किया। इस यात्रा के दौरान अफ्रिकी राष्ट्रो को यह विश्वास दिलाने का प्रयास हुआ कि दक्षिणी अफ्रीका के विभिन्न सकटो को सुलझाने मे अमेरिका का एक उदारवादी दृष्टिकोण है। इस यात्रा के बाद रोडेशिया सकट के सबध मे अमेरिका ने कुछ सकारात्मक आशय भी व्यक्त किये। राज्य सचिव साइरस वेंस द्वारा रोडेशिया की अल्पमत सरकार को एक चेतावनी भी दी गई। लेकिन इस सबध मे कोई विशेष प्रयास देखने को नही मिले। अफ्रिका म एक नई भूमिका की चाह होते हुए भी, अमेरिकी विदश नीति के लिए यह सभव नही था। विशेषत दक्षिणी अफ्रिका मे उसके अत्यधिक महत्वपूण हित हैं। कुछ ऐसे खनिज जिनका सामरिक महत्व है, दक्षिण अफ्रिका मे ही उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति मे बाहरी रूप मे अमेरिकी नीति भले ही परोपकारी होने का प्रयास करे वस्तुत यह एक असभव स्थिति है। इस बात के स्पष्ट प्रमाण ताजा घटनाओ मे भी उपलब्ध है। अगाला और दक्षिण अफ्रिका विवाद अगोला के अस्तित्व से ही है। अगोला के राष्ट्रीय आदोलन मे दक्षिण अफ्रिका के माध्यम स अमेरिका ने भी हस्तक्षेप किया था। दिसबर, 1981 मे दक्षिण अफ्रिका द्वारा अगोला पर आक्रमण कर दिया गया। इस स्थिति मे अमेरिका ने स्पष्ट एव खुले रूप से दक्षिण अफ्रिका का समथन किया एव इस सबध म सुरक्षा परिषद् मे अपने विशेषाधिकार का प्रयोग भी किया। दक्षिण अफ्रिका की रगभेद नीति के पक्ष मे ऐसे विशेषाधिकार के प्रयोग की एक अमेरिकी परपरा सी बन गई है। ऐसी स्थिति म, सोवियत सघ से प्रतिद्वन्द्विता की कामना करते हुए भी अमेरिकी विदेश नीति कोई प्रभावी सफलता प्राप्त करने मे असमय

सिद्ध हुई है। अफ्रिका म वह एक ऐतिहासिक विडबना की शिकार है।

अफ्रिका मे अमेरिकी प्रथम प्रयासो की तुलना मे सोवियत सघ की सक्रियता मे एक आत्मविश्वास स्पष्ट रूप से झलकता है। इस सदम म 1977 म सोवियत राष्ट्रपति पाडगार्नी की अफ्रिकी यात्रा के अनुभव उल्लेखनीय है। इस यात्रा का मूल उद्देश्य अफ्रिका मे अमेरिकी प्रयासो का प्रत्युत्तर देना था। वैसे तो अफ्रिका सोवियत सबधो की एक लबी प्रक्रिया रही है, लेकिन सोवियत राज्याध्यक्ष का अफ्रिका भ्रमण एक प्रथम अनुभव था। माच, 1977 मे आयोजित इस यात्रा के दोहरे पक्ष थे। अपनी इस बारह दिवसीय यात्रा के दौरान, राष्ट्रपति पोडगॉर्नी, एक ओर स्वतत्र राष्ट्रो के बीच सोवियत सबधो मे प्रगाढता लाना चाहते थे, तो दूसरी ओर विभि न राष्ट्रीय आदालना के नेताओ के साथ सक्रिय एकजूटता प्रद शित करना चाहते थे।

तजानिया और जाबिया की यात्रा के दौरान, अफ्रिका म सोवियत उद्देश्यो को स्पष्ट किया गया। यह कि, अफ्रिका मे सोवियत भूमिका निजी स्वार्थों के दृष्टि कोण स प्रेरित नही है, और न ही परस्पर मैत्रीपूण सबधो का आधार सामरिक अथवा सैनिक सुविधाए है। सोवियत प्रयास मुख्यत साम्राज्यवाद और रगभेद नीति के उन्मूलन के पक्षधर हैं जो कि उसकी विचारधारा के भी प्रमुख अग हैं। सोवियत आर्थिक एव राजनीतिक सहयोग अफ्रीकी राष्ट्रो को साम्राज्यवाद से मुक्त करवा कर उन्हें समाजवादी व्यवस्था की ओर प्रेरित करना है। इस हेतु सोवियत सघ अफ्रिकी राष्ट्रो क साथ समानता के आधार पर मैत्री सबध स्थापित करने का इच्छुक है। सोवियत राष्ट्रपति द्वारा तजानिया के राष्ट्रपति जुलियस न्येरेरे के समाजवादी विचारा और विशेष प्रयासा की सराहना की गइ। तजानिया और चीन म मैत्री सबध होते हुए भी रूस को सफलता मिली। इस यात्रा की समाप्ति पर तजानिया के वक्तव्य मे यह स्पष्ट उल्लेख किया गया कि, अनुभव के आधार पर अफ्रिका ने यह सीखा है कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रभावशाली सघष समाजवादी राष्ट्रा की आर्थिक एव राजनीतिक एकजूटता के बिना असभव है। केनथ काउडा के नतत्व वाल जाबिया मे भी सोवियत विचारा को समर्थन मिला। सोवियत और जाबियाई नेताओ के बीच अनेक अफ्रिकी एव विश्वस्तरीय प्रश्ना पर विचार विमश हुआ। दक्षिणी अफ्रिका के विवादो के मानवीय समाधान पर बल दिया गया और इसम अवरोध उत्पन्न करने के लिए पश्चिमी राष्ट्रो की भत्सना की गई। इन आदोलनो म सक्रिय सहयोग हेतु अन्य राष्ट्रा का सामूहिक आह्वान भी किया गया। लेकिन राष्ट्रपति काउडा का मत था कि किसी भी स्थिति मे सहयाग का तात्पय हस्तक्षेप नही होना चाहिए। अगोला मे क्यूबा और सोवियत सघ की भूमिका स सबद्ध अनक सदेह भी स्पष्ट किये गय। राष्ट्रपति पोडगार्नी की मोजम्बिक यात्रा दोना राष्ट्रों के बीच सबधा का ठोस स्वरूप दन हेतु थी।

दोनों के बीच 15 वर्षीय मैत्री संधि हुई। राष्ट्रपति और फ्रेलियो पार्टी के नेता सामोरा माशेल के नेतृत्व की सराहना की गई। इस दृष्टि से मोजम्बिक का चीनी प्रभाव से मुक्त होना विशेष उल्लेखनीय था।

अपने अफ्रीकी प्रवास के दौरान अनेक राष्ट्रीय आंदोलनों के नेताओं से भी सोवियत राष्ट्रपति ने विचार विमर्श किया। इनमें, जिबाब्वे अफ्रीकी संघ (जापू) के जोशुआ न्कोमा, दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीकी संगठन (स्वापो) के अध्यक्ष साम नुजोमा और दक्षिण अफ्रीकी, अफ्रिका राष्ट्रीय कांग्रेस (ए० एन० सी०) के अध्यक्ष क्लाइवट टावा महत्वपूर्ण थे। लुसाका में हुई वार्ता में इन संगठनों के साथ सोवियत एकजुटता एवं उनके उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त की गई। दक्षिणी अफ्रिका में बहुमत के हेतु सोवियत संघ ने अपने दायित्व का निर्वाह करने और आवश्यक आर्थिक, राजनैतिक एवं सैनिक सहायता देने का स्पष्ट आश्वासन दिया। इस संदर्भ में यह भी व्यक्त किया गया कि अफ्रिका में सोवियत सैनिक उपस्थित साम्राज्यवाद के विरोध और अफ्रीकी जन आंदोलनों के समर्थन से प्रेरित है। इस अवसर पर, जिनेवा सम्मेलन की असफलता में अमेरीकी नीति में ईमानदारी की की कमी और उसके दोगलेपन की भी स्पष्ट भर्त्सना की गई।

दो महाशक्तियों की प्रतिद्वंद्विता के बनाए अफ्रिका में संतुलन सोवियत संघ के पक्ष में ही रहा है, यह उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अफ्रिका में अमरिकी समर्थक राज्य नहीं रहे हैं। लेकिन अधिकांशतः अमेरिकी समर्थक राष्ट्र अफ्रिकी महाद्वीप की प्रमुख ऐतिहासिक प्रवृत्तियों से कटे हुए राष्ट्र थे ऐसे राष्ट्र जो कि उभरती हुई धारा के सीधे या परोक्ष रूप से विरोधी या अवरोधक रहे हैं। अधिकांश राष्ट्रीय आंदोलनों में अमेरिका की भूमिका और विशेषतः जिम्बाब्वे और दक्षिणी अफ्रीका में रंग भेद नीति का उसका समर्थन ऐसे तथ्य थे जिनके फलस्वरूप अमेरिका के प्रति अफ्रिका में एक महाद्वीपीय असंतोष व्याप्त रहा। इसके ठीक विपरीत सोवियत संघ की स्थिति रही। सोवियत संघ को भले ही कोई निश्चित प्रतिबद्धता महाद्वीपीय स्तर पर नहीं मिली लेकिन राष्ट्रीय आंदोलनों में उसका समर्थन और सक्रिय सहयोग होने के नाते, अफ्रिका में सोवियत संघ को एक मैत्रीपूर्ण वातावरण मिला। अनेकों राष्ट्र स्वतंत्र होने के साथ साथ सोवियत संघ के साथ जुड़ते चले गये, यद्यपि इन संबंधों में प्रतिबद्धता का स्तर समान नहीं था। 17 अप्रैल, 1980 को स्वतंत्र जिम्बाब्वे के अस्तित्व के साथ सोवियत संघ को एक और मित्र राष्ट्र बना। इसके विपरीत बाहरी परिवर्तन के दिखावे के बाद भी अमेरिकी नीति में कोई गुणात्मक बदलाव नहीं आया। हाल ही में अमरिका द्वारा दक्षिणी अफ्रिका को समर्थन एक बार फिर व्यक्त हुआ। 7 दिसम्बर 1981 को दक्षिणी अफ्रिका द्वारा अंगोला पर आक्रमण हुआ, और इस संबंध में दक्षिणी अफ्रिका का विरोध करने वाले प्रस्ताव पर अमरिका द्वारा वीटो

का प्रयोग किया गया। अमेरिका की इस दुराग्रही नीति का, अनेक आशाओं के बाद भी निकट भविष्य मे अत सभव प्रतीत नही होता।

समसामयिक घटनाचक्र

समसामयिक घटनाचक्र मुख्यत निम्न सटनाओ के दायरे मे उलझा रहा है—ईरान की इस्लामिक क्रान्ति, अफगानिस्तान का समाजवादी स्वरूप, चीन मे आतरिक सत्ता परिवतन, पोलैंड का समाजवादी सक्ट और पश्चिमी एशिया मे युद्ध की विभीषिका। समसामयिक घटनाचक्र के इन पडावो को अनेक विशेपज्ञो द्वारा अत्यधिक दूरगामी प्रभाव का माना गया है, क्योकि य सभी घटनाए अपने आप म भविष्य की दिशासूचक कही जा सकती है। भविष्य की इस दिशा को, पिछले विवेचन के ऐतिहासिक सदभ म रखा जाये तो इसमे स्पष्ट निरतरता भी देखने को मिलेगी। इन घटनाओ के महाशक्तिय प्रतिद्वद्विता के सदभ और भी अधिक स्पष्ट है। कुछ पयवक्षको द्वारा अमेरिकी नेतत्व के रूप म 20 जनवरी, 1981 को राष्ट्रपति रीगन क आगमन को भी एक महत्वपूण घटना कहा जाता है। यह सही है कि इस घटना की भी महत्वपूण तात्कालिकता है, लेकिन इसके माध्यम स अमेरिकी नीति मे कोई गुणात्मक परिवतन की तलाश एक फूहड प्रयास होगा। पिछले दशक के अनुभवा ने अमेरिकी जनता के बीच एक राष्ट्रीय आघात और अपमान की मानसिकता उत्पन्न की। इस मानसिकता का फायदा उठाते हुए रोनल्ड रीगन की विजय हुई, जिन्होने चुनावी आश्वासन दिया था कि वे अमेरिका के राष्ट्रीय सम्मान और शक्ति को पुन स्थापित करेंगे। अत विजय के बाद उग्र वक्तव्य उनके लिए स्वाभाविक थ। इन वक्तव्यो मे अनक विश्लेपण गुणात्मक बदलाव की स्थितिया खोजन लगे, जो कि वस्तु स्थिति के स्तर पर प्रारभ से ही मूलत असभव थी। पिछले डेढ वष का अनुभव इस बात का साक्षी है कि न सिफ वक्तव्या की उग्रता मे कमी आई है बल्कि, अमेरिकी विदेशनीति के वास्तविक स्वरूप मे भी यथावत यथाथवादी दष्टिकोण बना रहा है। आज भी अमेरिकी नीति ऐतिहासिक दुविधा मे फसी है कि वह स्वय के हितो के पक्ष में रहे या प्रभाव के लिए उभरते असतोषो के पक्ष म। फॉकलेण्ड का सक्ट इस असमजस की स्थिति का नवीनतम उदाहरण है जिसमे अमेरिका की भूमिका को दोनो ही पक्षो ने दोगला माना। यही नही, अर्जेन्टिना के द्वारा इस खुली घोपणा ने कि यदि आवश्यकता हुई तो वह सोवियत सरक्षण का सहारा भी लेगा, अमेरिका के लिए उसके परपरागत प्रभाव क्षेत्र पश्चिमी गोलाद्ध म भी एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी। ऐसी ही कुछ प्रवत्ति अन्य घटनाओं मे भी उभरी हैं।

ईरान की इस्लामी क्राति

16 जनवरी, 1979 को ईरान मे शाह सत्ता समाप्त प्राय सी हो गई, जबकि उन्होंने ईरान छोडा 1 फरवरी 1979 मे अयातुल्लाह खुमैनी के आगमन के साथ ईरान का एक नया इतिहास प्रारभ हुआ। ईरान मे इस्लामी क्राति की स्थापना अनेक दृष्टिकोणो से महत्व की है। एक ओर इसने जहा अमेरिकी नीति के एक महत्वपूर्ण सामरिक केन्द्र को ध्वस्त कर दिया, वही दूसरी ओर ईरान को एक ऐसी निरपेक्षता प्रस्तुत की जो कि अपने राजनीतिक और वैचारिक स्वरूप मे एकदम भिन्न थी। अमेरिकी साम्राज्यवाद का विरोध अन्यत्र व्यवहार मे जो विचार-धाराए थी, उससे अलग हट कर किया गया। साम्राज्यवाद का विरोध किसी स्वतत्रता के सिद्धात अथवा प्रगतिशील विचारधारा के माध्यम से नहीं अपितु इस्लाम के धार्मिक आधार पर किया गया। अत वचारिक स्तर पर ईरान की क्राति पूजीवादी समाजवादी और ततीय राष्ट्रो की मिश्रित व्यवस्था से गुणात्मक रूप से भिन्न थी। लेकिन ऐतिहासिक सदर्भों के कारण, अमेरिका के साथ ईरान का वैमनस्य अत्यधिक उग्र और तात्कालिक था। इस्लामिक क्राति के तुरत बाद अमेरिका की सामरिक सुविधाए बन्द कर दी गई और साथ ही साथ उसके आर्थिक हितो पर भी सीधा प्रहार किया गया।

इस पूरे घटनाचक्र का अत्यधिक रोमाचकारी उद्धरण ईरान द्वारा अमेरिकी दूतावास मे कायरत व्यक्तियो को बन्धक बनाये जाने की घटना है। 4 नवम्बर, 1979 को यह घटना घटी जिसके द्वारा कुछ उग्रवादी छात्रो ने अमेरिकी दूता वास पर कब्जा कर लिया और वहा कायरत अमेरिकी नागरिको को बदी बना लिया गया। इस कायवाही को धार्मिक सत्ता द्वारा उचित कहा गया और उन्हे रिहा करने की अमेरिका के सामने शर्तें रखी गई। इन शर्तों का प्रमुख उद्देश्य अमेरिका से आर्थिक मुआवजा वसूल करना था और अमेरिकी बको मे ईरानी पूजी को सरक्षित करना था। महाशक्ति अमेरिका के लिए ईरान की ललकार वास्तव मे विचित्र और खीज भरी स्थिति थी। वार्ता के प्रारभिक प्रयासो के बाद अमेरिका द्वारा अप्रल, 1980 मे बधको को छुडाने का सैनिक प्रयास किया गया। इस प्रयास की असफलता ने अमेरिकी नीति मे और झेंप पैदा की और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय मे उसे बेहद हास्यास्पद बनाया। आतरिक असतोष के समक्ष राज्य सचिव साईरस वेंस को त्यागपत्र देना पडा। इन घटनाओ ने चुनावी माहौल मे राष्ट्रपति कार्टर की स्थिति और अधिक दयनीय बनायी, और उन्होने अमेरिकी नागरिको को रिहायी को एक निजी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। चुनाव मे पराजय के बाद भी प्रयास जारी रहे। 20 जनवरी, 1981 को, जिस दिन राष्ट्र-पति रीगन को काय भार सभालना था, इससे पूव ही अमेरिका और ईरान के

बीच बधको की रिहायी के सबध मे समझौते की घोषणा की गई। इस समझौते के अनुसार अमेरिका न 8 बिलियन डॉलर का मुआवजा देने की बात मजूर की और अमेरिकी बको मे ईरानी पूजी के सरक्षण के सबध मे समझौता किया।

अमेरिका के साथ सबधो मे तनाव का कोई सीधा प्रभाव सोवियत सघ के सदर्भ मे नही पडा। यह सही है कि अमेरिकी बधको का जो सकट था, उस दौरान सोवियत सघ और ईरान मे सम्पर्क बढे। वैसे भी वैचारिक रूप से भिन्न होते हुए भी सोवियत सघ के प्रति ईरान के दृष्टिकोण म उदासीनता और पारस्परिकता का मिला जुला भाव रहा। भविष्य म इन सबधो के सुधरने की सभावनाए व्यक्त की जा सकती है लेकिन इसमे दो महत्त्वपूर्ण अवरोध हैं। प्रथम, तो यह कि आतरिक राजनीति म ईरान की धार्मिक सत्ता का विरोध वामपथी कर रहे है और इस सबध मे अभी तक कोई दूरगामी सोवियत दृष्टि स्पष्ट नही हुई है। दूसरा प्रमुख अवरोध है ईरान ईराक युद्ध और ईराक सोवियत प्रेमी है। सितम्बर 1980 मे दोनो देशो क बीच युद्ध की स्थिति तक बन गई। अत ईरान ईराक सीमा विवाद के उचित समाधान क बिना सोवियत और ईरान के सबधो म वतमान ठहराव की स्थिति म कोई गुणात्मक परिवतन की सभावनाए नही मिलती। लेकिन अमेरिका के सक्रिय विरोध की ईरान की नीति वास्तविक रूप म सोवियत सामरिक हितो की पुष्टि ही करती हैं।

अफगानिस्तान की समाजवादी क्राति

अप्रल, 1978 म अफगानिस्तान म सनिक सत्ता परिवतन क माध्यम से एक समाजवादी और सोवियत पक्षीय नेतत्व सत्ता म आया। नूर मोहम्मद तराकी क नतत्व म हुई इस एतिहासिक घटना का सायर क्राति की सज्ञा मिली। ततीय राष्ट्रा म 'बिना पूजीवाद समाजवादी व्यवस्था का माग' का सिद्धात अफगा निस्तान म एक बार पुन सकट म पडा। उत्पादन शक्तिया क अविकसित होन की स्थिति म वैचारिक एव व्यवस्थागत बदलाव कितना कठिन और अव्यावहारिक है, इस बात का अनुभव सोवियत नीति को अफगानिस्तान म करना पडा। सैनिक माध्यम से समाजवादी नतत्व की स्थापना मात्र स अफगानिस्तान मे समाजवादी विचारधारा और व्यवस्था लागू करन के प्रयास हुए। वामपथी पार्टी के दो घटको 'खल्क' और 'परचम क बीच आतरिक विवाद भी उग्र हुआ। यह विवाद समाज वादी प्रवत्तिया को गलत रूप स [illegible] नीति [illegible] अधिक विस्फोटक बन गया। इस बीच ज [illegible] स्थिति म एक तात्कालिकता भी अ [illegible] में सोवियत राय थी कि वैचारिक अ [illegible] और व्यावहारिकता स लागू किया ज [illegible]

आतरिक विवादो मे सामयिक हस्तक्षेप नही कर सका और इस सहिष्णुतावादी दष्टिकोण को त्रियावित नही करवा सका। परिणाम स्वाभाविक थे। आतरिक टकराहट के फलस्वरूप एक और आतरिक सैनिक सत्ता परिवतन हुआ। नूर मोहम्मद तराकी की हत्या के बाद सितम्बर, 1979 मे हाफिजुल्लाह अमीन ने नेतृत्व लिया। उसकी नीतियो के प्रति सोवियत नेतत्व आश्वस्त नही था, क्योकि वह वाछित नीति के विपक्षी घटक का था। अत शीघ्र ही एक और सत्ता परिवतन हुआ और अमीन की हत्या के बाद 27 दिसम्बर, 1979 मे बरबक कर माल का नेतत्व स्थापित हुआ। इस पूरी प्रक्रिया मे अफगानिस्तान की आतरिक स्थिति मे अत्यधिक अस्थिरता और अशाति व्याप्त हो गई। अमेरिका समर्थित गेरिल्ला घुसपठिया के पाकिस्तान के माध्यम से सक्रिय होने के कारण स्थिति और भी अधिक विकट हो गई। अतत सोवियत सेनाओ का सनिक हस्तक्षेप वामपथी नेतत्व को बचाने के लिए एक अनचाही आवश्यक्ता बन गई। जनवरी 1980 के प्रारभ से ही यह प्रक्रिया प्रारभ हो गई और काफी तैदाद मे रूस की सेनाओ को उपस्थित होना पडा। सोवियत सैनिक हस्तक्षेप क दो प्रमुख उद्देश्य थे। प्रथम, यह कि अफगानिस्तान की वामपथी पार्टी मे फूट की स्थिति को खत्म किया जाव और उस सही दष्टिकोण के आधार पर सगठनात्मक और वैचारिक रूप से पुन एकजूट बनाया जावे। दूसरी ओर गेरिल्ला हस्तक्षेप को नेस्तेनाबूद किया जाये जिसके कारण वामपथी पार्टी के प्रयासो मे भी अत्यधिक कठिनाइया आ रही थी। इन उद्देश्या मे सोवियत हस्तक्षेप ने उत्तरोत्तर सफलता पाई है।

अफगानिस्तान मे सोवियत उपस्थिति सामरिक दष्टि से अमेरिका के लिए अत्यधिक चिता का विषय थी, विशेषत उस स्थिति मे जबकि ईरान म अपना सामरिक केन्द्र अमेरिका पहले ही खो चुका था। इस घटना के माध्यम से, अमेरिकी नीति ने एक बार फिर विश्वव्यापी प्रचार युद्ध प्रारभ किया। ऐसी स्थिति मे जबकि अमेरिकी नीति अपनी एक नई साख तैयार करने मे लगी थी और अमेरिका को एक शातिप्रिय और अहस्तक्षेपवादी राष्ट्र के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयास कर रही थी, अफगानिस्तान मे सोवियत का हस्तक्षेप एक सुनहरा अवसर था। इस सकट को लेकर ततीय राष्ट्रो मे सोवियत नीति को विस्तारवादी और स्वतत्रता विरोधी सिद्ध करना अमेरिका के दूरगामी और तात्कालिक हितो के आधार पर खरा उतरता था। अमेरिका ने प्रारभिक रूप से प्रचार के माध्यम से इस हेतु एक विश्वव्यापी प्रयास किया। तात्कालिक रूप मे इन प्रयासो को आशा से अधिक सफलता भी मिली। 14 जनवरी 1980 को सयुक्त राष्ट्रसघ की साधारण सभा मे सोवियत हस्तक्षेप के विरोध मे एक प्रस्ताव पारित हुआ। प्रस्ताव के पक्ष मे 104 और विपक्ष मे 18 वोट पडे और 18 राष्ट्रो ने मतदान मे भाग नही लिया जिनमे प्रमुख रूप से भारत भी था। लेकिन, यह तात्कालिक

सफलता इस उग्र रूप म अधिक दिन तक नही बनी रही। सोवियत सघ ने भी प्रचार के द्वारा यह धारणा बनान का प्रयास किया कि अफगान सकट की प्रारभिक और मूल जड अमेरिका द्वारा प्रेरित गेरिल्ला हस्तक्षेप था और रूस का हस्तक्षेप भी आतरिक सकट के इस सदम म देखा जाना चाहिए। इस प्रचार के समानान्तर, सोवियत सनाओ के निर्देशन म अफगानिस्तान म आतरिक स्थायित्व लाने क प्रयासो मे भी तेजी आई। इसके फलस्वरूप अफगानिस्तान की वामपथी पार्टी का विघटन नियत्रित हुआ उसकी नीतियो मे यथार्थवादी दृष्टिकोण समाविष्ट हुआ और इन नीतियो क धैयपूण क्रिया वन से जन असतोष और विरोध भी अत्यधिक कम हुआ। साथ ही गरिल्ला हस्तक्षेप भी नियत्रण म कर लिया गया।

इन घटनाआ के साथ ही सोवियत सघ न अफगान समस्या का सभी प्रकार के हस्तक्षेप खत्म किये जाने के आधार पर एक 'राजनीतिक समाधान' किये जाने की बात रखी। इस बीच अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय ने भी अमेरिका द्वारा लगाये गय नशसता के आरोपो की प्रामाणिकता की खोज करने के प्रयास भी किये। एक वप स अधिक के हस्तक्षेप के बाद स्वय सयुक्त राष्ट्रसघ का एक दल अफगानिस्तान की यात्रा पर गया। इस दल ने अपनी रपट मे कहा कि अफगानिस्तान की आतरिक स्थिति म जन असतोष अथवा नशसता देखने को नही मिलती और वहा की आतरिक स्थिति अत्यधिक शातिपूण और व्यवस्थित प्रतीत होती है। अफगानिस्तान मे अपनी उपस्थिति का एक और औचित्य देते हुए सोवियत सघ ने यह दावा किया कि उसकी सेनाओ की उपस्थिति कोई हस्त क्षेप नही था, क्योकि ऐसा अफगानिस्तान की मान्यता प्राप्त सरकार के आमत्रण पर किया गया था। इन विविध वास्तविकताओ और परस्पर विरोधी मान्यताओ के समानातर प्रचार के फलस्वरूप सघ के प्रति प्रारभिक विरोध अब अधिकाधिक रूप विरल होता गया। इस बात का सकेत अमेरिका के आह्वान के बाद भी जुलाई, 1980 में हुए मास्को ओलपिक मे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की उपस्थिति और गुट निरपेक्ष राष्ट्रो के विदेश मत्रीय सम्मेलन मे हुई प्रतिक्रिया स मिलता है। मास्को ओलपिक खेलो का बहिष्कार करने का आह्वान अमेरिका ने रूसी हस्त क्षेप का प्रतिरोध व्यक्त करने के लिए किया। तृतीय राष्ट्रो की ओर से ही नही, पश्चिमी गुट के राष्ट्रो से भी इसका कोई उत्साहवधक समथन नही किया। इस आह्वान के बाद अमरिका अफगान सकट की अपनी मान्यता के सदभ मे, और अधिक एकाकी हो गया। गुट निरपेक्ष राष्ट्रो ने भी अपने सयुक्त मत म सोवियत सघ के हस्तक्षेप का स्पष्ट उल्लेख नही किया और अफगानिस्तान मे सभी प्रकार के बाहरी हस्तक्षेप की समाप्ति और समस्या में राजनीतिक समाधान की बात कही। मतैक्य के अभाव मे राजनीतिक समाधान के वास्तविक स्वरूप की विस्तत व्याख्या नही की गई। इन घटनाओं के बाद अफगानिस्तान मे सोवियत उपस्थिति

पर अन्तर्राष्ट्रीय ध्यान केन्द्रित नही रहा, विशेषत इसलिए भी कि अनेक अन्य महत्वपूर्ण विवाद उभरे, जिसके फलस्वरूप अफगान सकट की तात्कालिकता नही रही।

1945 के बाद के घटना चक्र ने जिस भूमिकाओ के बदलाव को जन्म दिया अफगानिस्तान का सकट उसकी प्रबलतम अभिव्यक्ति हैं। सोवियत सघ, जिसकी परम्परागत प्रभाव क्षेत्र म पर हस्तक्षेप की क्षमता नही थी, का एक नई क्षमता की शक्ति के रूप में अभ्युदय देखने को मिला। अमेरिका, जिसकी प्रच्छन्न शक्ति मे हस्तक्षेप की एक परम्परा रही थी आज एक मूक दर्शक की सी स्थिति मे था। हस्तक्षेप का प्रतिरोध खेला के बहिष्कार स अधिक नही बन सका और उसम भी निराशा ही हाथ लगी। स्वय पश्चिमी गुट के राष्ट्रा मे किसी उग्र कार्यवाही किये जाने की सभावना म मतैक्य नही रहा। ततीय राष्ट्रा की असहमति भी अपरिभाषित रूप से ही व्यक्त हुई, जो कि विगत म अमेरिका द्वारा किये गये हस्तक्षेप की निरन्तर तीव्र भत्सना की तुलना में गुणात्मक रूप स भिन्न स्थिति थी। यह परिवर्तित परिवेश एक भावी प्रवृत्ति का परिचायक है।

चीन का आतरिक मथन

माओत्सेतुग क निधन के बाद चीन म आतरिक बदलाव की स्थितिया अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण बन गई। एक लबे समय तक चीन की कम्युनिस्ट पार्टी मे आतरिक सघर्ष इतना अधिक बदलाव वाला रहा कि उसके आधार पर कोई दूरगामी प्रवृत्ति रेखाकित करना एक असभव सा कार्य था। लेकिन पार्टी की 11वी काग्रेस स उग्रवादी तत्वो का प्रभुत्व कम होता जान पड़ रहा था। माओ की पत्नी के नेतत्व म बहुचर्चित 'चौकडी' और डैंगहसियाओ पिंग, उग्रवादी और उदारवादी वचारिकता के दो प्रतिनिधि बिन्दु थे। 11वी काग्रेस के बाद उदारवादी मान्यता की स्थापना हुई लेकिन डेंग क नेतत्व स्पष्ट रूप से स्थापित नही हो पाया। अतिम रूप मे डैंग के नेतत्व की स्थापना 1980 मे हुई जब हूआ कुओ फेंग के त्यागपत्र के बाद झाबो जियाग पदासीन हुए। इस पूरी प्रक्रिया मे विदेश नीति के स्तर पर, तमाम शकाये समाप्त हुइ। माओ की मृत्यु के बाद रूस और चीन मे जो एक सीमित समय के लिए निकटता की सभावना जागी थी, उस पर स्पष्ट विराम लगा। चीन की नीति तीव्र आतरिक विकास की आवश्यकताओ को देखते हुए पश्चिमी राष्ट्रा और विशेषत अमेरिका के और अधिक निकट आई। अप्रेल, 980 मे चीन की विश्व बक की सदस्यता प्राप्त करना इस सबध म एक महत्वपूर्ण कदम था। इसस पूव ही अमेरिका और चीन के बीच आर्थिक एव व्यापारिक सबध तेजी से स्थापित हुए और पश्चिमी पूजी का निवेश चीन मे बडे पमाने पर होने लगा। राजनयिक व्यवहार के स्तर पर

भी रूस और चीन के बीच वैमनस्य भी स्पष्ट रूप से बना रहा। लेकिन यह राजनीतिक समझ चीन को और अधिक मित्र विहीन बना गई। वियतनाम का रुझान निरतर सोवियन सघ की ओर बढा। फरवरी, 1979 मे चीन द्वारा वियतनाम पर आक्रमण एक एतिहासिक विडम्बना बन गई। कपुचियाई सकट, मे चीन द्वारा पाल पाट नेतत्व का समथन उसकी वैचारिक विकृति का एक और स्पष्ट दष्टात बना। इस पूरी प्रक्रिया मे, चीन द्वारा प्रारभ से ही एक स्पष्ट दृष्टिकोण का अभाव रहा, जिसके फलस्वरूप उसके अतर्राष्ट्रीय व्यवहार पर और प्रश्न चिह्न लगे। जून, 1981 म चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के चेयरमेन के पद पर हूयाओ बैंग के पदासीन होने से डेंगट्सियाओ पिंग की उदारवादी नीति की स्थापना की एक और स्पष्ट पुष्टि हुई। ऐसी स्थिति को देखते हुए यदाकदा के कुछ वक्तव्यो के बावजूद भी रूस चीन सबधो म बदलाव की स्थिति की कोई प्रवत्ति देखने को नही मिलती। अत अन्तर्राष्ट्रीय सबधो ने उभरते हुए त्रिकोणात्मक समीकरण को भविष्य मे और अधिक स्थायित्व मिलने की ही प्रबल सभावना है। जिसके फलस्वरूप एक ओर चीन का विश्व अर्थ-व्यवस्था से अतरग रूप से जुडने की निश्चित सभावना है और दूसरी ओर इसके परिणामस्वरूप, ततीय विश्व म उसके साथक योगदान म कमी भी उतनी ही सुनिश्चित है।

पोलेण्ड का आतरिक सकट

पोलेण्ड का आतरिक सकट अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक विशेष महत्व का बन गया है। इस आतरिक घटनाचक्र के कुछ महत्वपूर्ण अभिप्राय है। प्रथम समाजवादी व्यवस्था और विचारधारा के कुछ सद्धातिक पक्ष पोलेण्ड की स्थिति से जुडे हुए हैं। क्या समाजवादी व्यवस्था के अन्तगत पार्टी से स्वतत्र ट्रेड यूनियन का आयोजन सभव है? क्या इस प्रकार का आयोजन राजनीतिक व्यवस्था मे एक समानातर और स्वतत्र केन्द्र बन सकता है? यह ऐसे प्रश्न है जिनके सुलझाने के स्वरूप से अन्य समाजवादी राष्ट्रो मे भी व्यवस्थागत अभिप्राय जुडे हैं। द्वितीय ऐसी स्थिति से निपटने के लिए, सोवियत सघ का क्या दृष्टिकोण हो और इस सबध मे उसकी क्या रणनीति हो, एक महत्वपूर्ण पक्ष है। तृतीय द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अनौपचारिक रूप से रूस के प्रभाव क्षेत्र के रूप मे मान्यता दिये गये पूर्वी यूरोप मे, पश्चिमी प्रतिक्रिया का स्वरूप क्या हो। विगत मे पश्चिमी राष्ट्रो के दष्टिकोण मे बदलाव कितना सभावित, व्यावहारिक और वाछित है इसका निणय एक और महत्वपूर्ण पक्ष है। इन विभिन्न पहलुओ को देखते हुए पोलेण्ड के आतरिक सकट की न सिफ तात्कालिक केन्द्रियता है अपितु, इसके दूरगामी अभिप्राय भी है जो अधिक दिशा निर्देशक है।

विश्व युद्ध के बाद जिन पूर्वी यूरोपीय राष्ट्रा मे समाजवादी नेतृत्व की

स्थापना हुई उसमे वहा की वामपथी शक्तियो के अलावा सोवियत सैनिक भूमिका का भी अत्यधिक योगदान था। सभी पूर्वी यूरोपीय राष्ट्रो मे आर्थिक और सामाजिक शक्तियो के विकास का स्तर और वामपथी नेतत्व की क्षमता का स्तर एक जैसा नही था। अत इन असमान रूप से विकसित स्थितियो मे समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के काम मे और अधिक सावधानीपूण दष्टिकोण की आव श्यकता थी। सोवियत निर्देशन के बाद भी विभिन्न नेतत्वो द्वारा अलग-अलग स्थितियो मे ऐसी व्यवस्था के निर्माण की रणनीति तैयार की। स्वाभाविक था कि ऐसी स्थिति मे अनेको अपवाद भी उभरते। युगोस्लाविया, हगरी और चेकोस्लोवाकिया के अनुभव ऐसे अपवादो के साक्षी हैं। इस कडी का नवीनतम उदाहरण पोलेण्ड का आतरिक सकट है। पोलेण्ड के वामपथी नेतत्व ने समाजवादी व्यवस्था के विकास के लिए आवश्यक कदम उठाये जाने मे जरूरत स अधिक सतकता बरती जो कि उसकी उदारवादी समझ की भी परिचायक रही। कृषि पर अधिक ध्यान केंद्रित रहा। यही नही, कृषि के क्षेत्र मे भी सामूहिकीकरण की प्रक्रिया को आवश्यक रूप स लागू नही किया गया, जिसके फलस्वरूप कृषि मे मझले स्तर के निजी स्वार्थो की स्थापना सभव हो गई। इसके समानातर औद्योगीकरण पर समुचित बल न दिय जाने के फलस्वरूप सर्वहारा वग की निणय प्रणाली मे महत्व मे कमी आई। इस प्रक्रिया के द्वारा उत्तरोत्तर मजदूर वग मे असतोष की स्थितिया उपजी, और उन्ह यह आभास होने लगा कि उनके और कृषि म काय रत वर्गों के साथ मे निरतर असमानता पनप रही है।

स्थिति ने एक गभीर मोड लिया, जबकि लैंस वैलेसा के नेतृत्व मे सोलिडेरिटी 'नामक एक स्वतत्र 'ट्रेड यूनियन' का आयोजन हुआ। इस प्रक्रिया के प्रारभ से ही पोलेण्ड मे एक उग्ररूपी राजनीतिक और वैचारिक विवाद व्याप्त हो गया। वामपथी नेतत्व द्वारा प्रारभ मे समझौतावादी नीति अपनाई गई, जो कि उसके लिए और अधिक घातक सिद्ध हुई। अगस्त 1980 मे समाजवादी व्यवस्था होते हुए भी हडताल के अधिकार की माग स्वीकार कर ली गई। इसके बाद स्थिति मे सुधार की बजाय और अधिक अव्यवस्था फैली। वामपथी पार्टी मे भी नेतत्व परिवतन की एक सीमित प्रक्रिया देखी गई। अनेक तदथ उपचार सफल नही हो सके, क्योकि स्वतत्र ट्रेड यूनियन' ने अब अपने आपको एक प्रतिद्वद्वी शक्ति के केंद्र के रूप मे और पार्टी के अदर ही एक घटक के रूप म आयोजित करने के प्रयास किये। पार्टी सगठन मे भी अनेक स्तर पर भ्रष्टाचार-व्याप्त था, अत इन घटनाओं से निपटने की उसकी क्षमता निरतर अपर्याप्त सिद्ध हो-रही थी। ऐसी स्थिति मे अतत 13 दिसबर 1981 को 'माशल लॉ' लागू किये जाने की घोषणा की गई। इसके बाद उत्तरोत्तर स्थितियो मे अराजकता पर नियत्रण पाने पर सफलता मिली है। प्रारभिक रूप से लगाये गये अनेक प्रतिबधो मे से कुछ पूण

रूप से हटा लिये गये हैं और अन्य छूटें दी गई है। साथ ही साथ वामपथी पार्टी मे भी भ्रष्टाचार के उन्मूलन के कारगर कदम उठाये गये हैं और अनेक स्तरो पर नेतृत्व मे आमूलचूल परिवर्तन भी किये गये हैं। जहा तक लैंस वैलेसा और "सोलिडेरिटी" का प्रश्न है, उन्हें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि समाजवादी व्यवस्था के मूल प्रारूप मे रहते हुए ही उनकी स्वतत्रता की कोई माग सकारात्मक स्वरूप पा सकती है अन्यथा नही। स्वतत्र ट्रेड यूनियन' का तात्पय कदापि यह सभव नही है कि वह पार्टी के नियत्रण एव पर्यवेक्षण से मुक्त हो और अपनी चेतना का स्तर समाजवादी वैचारिकता से न जोडकर तात्कालिक आर्थिक सुविधा वाद से ही जोडे।

पोलेण्ड के घटनाचक्र से कुछ महत्वपूण ऐतिहासिक प्रवृत्तिया स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि समाजवाद की वैचारिक मान्यताओ मे विभिन्न वर्गों व स्वतत्र सगठनात्मक आयोजन का औचित्य सवथा वर्जित है। वर्गों के बीच असतुलन की स्थितिया हो सकती हैं, लेकिन उनका निवारण खुली प्रतिद्वद्विता के माध्यम से न होकर एक समन्वित दृष्टिकोण के माध्यम से होना आवश्यक है। परस्पर अस तुलन की स्थितियो के वैचारिक अथवा व्यावहारिक पक्षो का मूल दायित्व वाम पथी पार्टी का है, और इसी मच के द्वारा एक आतरिक सघष की प्रक्रिया से समस्त मतभेद सुलझने आवश्यक है। द्वितीय रूप से पोलेण्ड सकट मे हुई सोवियत प्रतिक्रिया पूर्वी यूरोप के विगत के सकटो की प्रतिक्रियाओ स मूलत भिन्न है। पहले के सीधे हस्तक्षेप की नीति के विपरीत सोवियत प्रतिक्रिया अत्यधिक सयत रही और उसने परोक्ष हस्तक्षेप की नीति को अपनाया। इस प्रकार का सोवियत व्यवहार दोहरे महत्व का है। एक ओर जहा यह पश्चिमी राष्ट्रो की हस्तक्षेप की आशका और प्रचार को ध्वस्त करता है, वही दूसरी ओर यह सोवियत सघ मे एक आत्मविश्वास की भावना का भी परिचय देता है। पूर्वी यूरोप का सामरिक महत्व आज भी सोवियत सघ के लिए असदिग्ध प्राथमिकता का है। अत यह कहना गलत होगा कि इस प्रकार का सोवियत व्यवहार उसकी सामरिक प्राथमिकताओ मे बदलाव का परिचायक है। वास्तव मे सोवियत नीति आज इस बात के लिए पूण रूप से आश्वस्त है कि बिना सीधे हस्तक्षेप के भी पूर्वी यूरोप मे वह अपनी मान्यता को लागू करवा सकती है। हा यदि भविष्य मे कभी इस आत्म विश्वास में कमी आई तो सीधे, हस्तक्षेप की निस्सदेह भविष्यवाणी की जा सकती है। एक अन्य पक्ष इस सकट की घटनाओ से परिलक्षित होता है। पश्चिमी राष्ट्रा का विरोध, रीगन की तथाकथित उग्रवादिता के बावजूद, प्रचार की सीमाओं स अधिक नही बढ सका। यह प्रचार भी रूसी हस्तक्षेप की आशकाओ पर आधारित रहा अत इसमे भी कोई ठोस तत्वो का समावेश नही हो सका। कार्टर प्रशासन से ही अमेरिकी नीति ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मानव-अधिकारो के प्रश्न की

बात रखी, जिसका परोक्ष किंतु प्रमुख उद्देश्य रूस के हस्तक्षेप के विरोध मे प्रचार करना था। इस नारे को कम्बोडिया के सकट के बाद पोलेण्ड की स्थिति मे भी व्यक्त किया गया। लेकिन अनेक स्थितिया मे स्वय अमेरिका द्वारा तानाशाही व्यवस्थाओ का समथन, विशेष उल्लेखनीय रूप से उसका एव पश्चिमी राष्ट्रो का दक्षिण अफ्रिका म रगभेद नीति का समथन, कुछ ऐसे खुले तथ्य थे जो कि अमेरिका के इस मानव अधिकार प्रेम पर प्रश्नचिन्ह लगाते रहे। वस्तुत इस प्रचार का कोई अन्तर्राष्टीय प्रभाव नही देखा जा सका। जहा तक प्रचार से बढकर कोई कारगर कदम उठाये जाने की बात थी, स्वय पश्चिमी राष्ट्रो म परस्पर मतभेद और स्पष्ट हुए। सभावित सोवियत हस्तक्षेप की स्थिति म किसी सामूहिक सैनिक कायवाही का प्रश्न तो दूर, आर्थिक प्रतिबधो के स्तर पर भी अमेरिका द्वारा प्रस्तावित उपचारो पर पश्चिमी राष्ट्रो मे मतैक्य सभव नही हो पाया। सीमित स्तर के आर्थिक प्रतिबधो की कायवाही तो देखी गई लेकिन न तो उसका तात्कालिक स्वरूप ही विस्तत था और न ही उसमे किसी दूरगामी प्रतिबद्धता का समावेश। अत एक बार फिर पूर्वी यूरोप मे सोवियत प्रभाव को पश्चिम की असहाय मा यता मिली।

पश्चिमी एशिया मे प्रलय

पश्चिमी एशिया का समसामयिक घटनाचक्र एक बार फिर इस क्षेत्र मे विस्फोटक स्थितिया उत्पन्न कर रहा है। ईरान और ईराक के बीच युद्ध की स्थिति, इजरायल का गोलान पहाडियो पर अतिक्रमण और हाल ही मे इजरालय द्वारा फिलस्तीन मुक्ति सगठन को जडामूल समाप्त करने के प्रयास, पश्चिमी एशिया मे प्रलयकारी स्थितियो की शृखला के प्रमुख उदाहरण हैं। सितबर, 1980 मे ईरान और ईराक के बीच एक सीमित युद्ध की प्रक्रिया प्रारभ हुई, जो कि तात्कालिक रूप से सीमा विवाद से सबधित थी। इसके अलावा ईराक द्वारा ईरान म बदलाव चाहने वाली प्रवत्ति के प्रति सहानुभूति एव सहयोग तथा अन्य परम्परागत मतभेद इस युद्ध की पष्ठभूमि मे समाहित है। इस्लामी क्राति के बाद वैचारिक असहिष्णुता का भी इसमे योगदान कहा गया है। कुछ मान्यताओं के अनुसार दोनो राष्टो के लिए इस युद्ध की उपादेयता आतरिक सकटों से ध्यान विचलित करने की नीति मे भी देखी गई है। इस युद्ध की प्रक्रिया मे ईराक की उत्तरोत्तर असफलता का एक क्रम रहा है, यद्यपि साथ ही साथ ईराक ने अनेक अवसरों पर समझौते का प्रारूप प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है। अभी तक ईराक की यह मान्यता थी कि कोई समझौते का प्रारूप युद्ध की समाप्ति के लिए पूव शर्त हो और फिर युद्ध की समाप्ति की जावे। लेकिन निरन्तर असफलताओ ने ईराक की वामपथी "बाथ" पार्टी मे भी एक आतरिक विवाद और नेतृत्व-सघर्ष

उत्पन्न कर दिया। हाल ही मे जून, 1982 म सद्दाम हुसैन की नीतियो की कठोर आतरिक आलोचना हुई। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप, इजरायल द्वारा लेबनान पर किये गये आक्रमण के सदभ मे, ईराक ने अरब एकजुटता का आभास दिया और समझौते को शत बनाये बिना एक पक्षीय रूप से युद्ध समाप्ति की घोषणा की। इन तात्कालिक नये प्रयासो के फलस्वरूप ईरान और ईराक मे किसी समझौते की सभावना प्रबल बन गई है और साथ ही साथ ईराक मे नेतृत्व परिवतन की सभावनाओ को भी नकारा नही जा सकता।

मिश्र इजरायल अमेरिका धुरी के बनने के बाद पश्चिमी एशिया म कुछ नई प्रवृत्तिया स्पष्ट हुई है। एक ओर अपनी इन नीतियो के फलस्वरूप मिश्र अरब समुदाय मे बहुमुखी आलोचना का केन्द्र बना है। यह प्रक्रिया कैम्प डेविड के समझौते से स्पष्ट उभरी। दूसरी ओर इस समीकरण के बनने क बाद इजरायल की नीति और अधिक उग्र और खतरनाक हुई हैं। इन दोनो प्रवृत्तियो के फलस्वरूप उत्तरोत्तर यह सभावना बनने लगी है कि पश्चिमी एशिया मे यह त्रिकोणात्मक समीकरण अधिक दिनो तक क्रियाशील नही रह पायगा। इस सदभ मे नेतत्व परिवतन की घटनाओ पर भी ध्यान केंद्रित रहा है। राष्ट्रपति अनवर सादात की 6 अक्टूबर, 1981 को आकस्मिक हत्या हुई, जिसके बाद 14 अक्टूबर, 1981 को हुसेनी मुबारक ने राष्ट्रपति पद सभाला। नये नेतृत्व की घोषणाओ म यद्यपि सादात की नीतियो के ही दृष्टिकोण को अपनाने की बात कही गई है, फिर भी कुछ एक वक्तव्य सशय पैदा करते हैं ऐसी किसी प्रवत्ति के भावी विकास मे इजरायली उग्रवाद की कुछ तात्कालिक घटनाओ का महत्त्वपूण योगदान हो सकता है। पश्चिमी एशिया मे इजराईली विस्तारवाद का अत्यधिक दुराग्रही कदम गोलान पहाडियो मे लिया गया। दिसबर 1981 म इजरायल द्वारा गोलान पहाडियो का अतिक्रमण हुआ। ऐसे खुले अतिक्रमण के समक्ष परपरागत मिश्र अमेरिका के लिए इजरायल का समथन करना सभव नही हुआ। इस सबध में सयुक्त राष्ट्र द्वारा इजरायल को स्पष्ट चेतावनी मिली और अमेरिका ने भी अस्पष्ट और परोक्ष तरीके से इजरायल की नीतियो मे नियन्त्रण लाने का प्रयास किया। इन विभिन्न चेतावनियो का, ऐसा प्रतीत होता है कि, इजरायल पर विशेष प्रभाव नही पडा। जून, 1982 मे इजरायल द्वारा फिलस्तीन मुक्ति सगठन को जडामूल खत्म करने और नेस्तेनाबूद करने की मुहिम अपने आप मे सबसे विचित्र अपराधिक प्रवत्ति की परिचायक है। यह सही है कि 'पी० एल० ओ०' द्वारा गोरिल्ला युद्ध की वारदातें होती रही हैं, *लेकिन साथ ही साथ फिलस्तीन के मुक्त के प्रश्न का औचित्य और भी अधिक सही* है। ऐसी स्थिति मे जबकि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा फिलस्तीन की स्वतत्रता के प्रति सक्रिय समथन किया गया है, इजरायल की आक्रमक कायवाही पी० एल० ओ०', सीरिया और लेबनान के विरुद्ध ही नही है अपितु पूरे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय

के विरुद्ध भी है।

पश्चिमी एशिया के तात्कालीक घटनाचक्र से कई महत्त्वपूण प्रवत्तिया उभ रती हैं। प्रथम, ईरान-ईराक विवाद मे महाशक्तियो कि तटस्थता अपने आपमे एक विचित्र और अभूतपूव स्थिति है। जहा तक अमेरिका का प्रश्न है, उसके लिए यह एक थोपी गई स्थिति है, क्योकि विवाद स सबधित दोनो ही पक्ष उसके प्रतिरोधी हैं। सोवियत नीति के सदभ मे इस तटस्थता का एक विशेष अथ है। ईराक के साथ उसके मैत्री सबध ही नही अपितु बिरादराना सबध भी है। ईरान की अमेरिका विरोधी स्थिति को देखते हुए सोवियत नीति किसी भी स्थिति मे उस विरोध मे शिथिलता नही देखना चाहता। ऐसी स्थिति मे जबकि सोवियत सघ की यह मायता है कि ईरान ईराक विवाद मे न सुलझन वाला कोई मूलभूत सकट नही है, उसका इस विवाद के प्रति निरपेक्षता पश्चिमी एशिया सदभ मे महत्त्वपूण है। यही नही, रूस ने अपने प्रभाव के द्वारा ईराक के नेतत्व को भी मैत्री की ओर प्रेरित किया है। तात्कालिक घटनाओ से इस प्रयास की सफलता भी देखने को मिलती है। द्वितीय प्रवृत्ति, अपने पश्चिमी एशियाई प्रभाव क्षेत्र मे अमेरिका की क्षमता की सीमायें दर्शाती है। अमेरिकी नीति को स्पष्ट है कि इजरायल का उग्र विस्तारवाद स्वय उसके हितो के लिए दूरगामी रूप से अत्यधिक विपरीत है। लेकिन इस दष्टिकोण के होते हुए भी अमेरिका किसी निश्चित रूप म इजराईली दृष्टिकोण को नियन्त्रित करने मे असफल रहा है। इजरायल के तात्कालिक आक्रमण की घटनाओ के अलावा, इस असफलता के अभिप्राय भविष्य म मिश्र और अमेरिका सबधो पर भी हो सकते हैं। यदि अमेरिका मिश्र को इजराईल की भावी नीतियो के प्रति आश्वस्त करने मे असफल रहता है, तो इजराईल मिश्र सबधो मे सामायीकरण की प्रक्रिया मे उभरे सदेहो को दखते हुए भविष्य मे मिश्र अमेरिका इजरायल के समीकरण को भी विघटन का सामना करना पड सकता है। ऐसी स्थिति का स्पष्ट लाभ सोवियत नीति को मिलगा, इसमे सदेह नही। एक अ य प्रवृत्ति पश्चिम एशिया मे सोवियत प्रभाव की साथकता को अधिक दर्शाती है। इजरायल द्वारा और लेबनान पर आक्रमण किये जान के बाद, जिसके भावी परिणाम सीरिया पर भी हुए इजरायल ने युद्ध विराम के अमेरिकी और सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रस्तावो को लागू नही किया। अतत सोवियत सघ को यह खुली चेतावनी देनी पडी कि 10 अक्टूबर, 1980 को हुए सोवियत सीरिया मैत्री समझौते के अतगत प्रावधान के आधार पर, यदि इजरायल द्वारा युद्ध विराम नही किया जाता है तो सोवियत सघ खुले हस्तक्षेप के लिए स्वतत्र होगा। ऐसी स्थिति को बचाने के लिए सोवियत सघ ने अमेरिका से यह अनुरोध किया कि वह इजरायल को युद विराम लागू करने हेतु बाध्य करें। इसी के बाद युद्ध-विराम सभव हो सका। इस दृष्टि से सोवियत प्रभाव की एक और भावी सफलता हो सकती

इजराईल के विस्तारवाद म विरोध म समस्त अरब राष्ट्रा की एकजुटता का सोवियत प्रस्ताव शीघ्र ही प्रचलित हो गया है। भविष्य मे इस विचार के व्यवहारिक एव ठोस स्वरूप के उभरने की प्रबल सभावना है। इस घटना चक्र की अंतिम प्रवत्ति पूरे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए एक चिता का विषय है। सुरक्षा परिषद मे पारित प्रस्तावो की न सिफ खुली अवहलना इजरायल द्वारा की गई अपितु साथ ही साथ ऐसे कदम भी उठाये गय जिन्होने स्थिति को और अधिक विस्फोटक बनाया। इन सुरक्षा परिषद के प्रस्ता मे उल्लेखनीय है कि अमेरिका की भी परोक्ष सहमति थी। ऐसी स्थिति मे इजराईल की प्रवृत्ति न सिफ पश्चिमी एशिया की राजनीति पर बल्कि साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की साथकता पर भी महत्वपूण प्रश्नचिह्न लगा गई।

शिक्षा-बोध एक सिंहावलोकन

पिछले 35 वर्षों स अधिक के अतर्राष्ट्रीय सबधो के इतिहास मे बदलाव की एक मोन और अर्तनिहित प्रवत्ति समाहित है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ऐसी किसी विश्वव्यापी विभीषिका की पुनरावत्ति ता नही हुई, लेकिन ऐतिहासिक बदलाव की प्रक्रिया क्रमिक रूप से विकसित होती रही। इस क्रमिक विकास म प्रेरक शक्तियो के रूप मे अनेक आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिक द्वद्व उपस्थित हुए। अतर्राष्ट्रीय राजनीतिक और विशेषत महाशक्तियो के परस्पर सबधो के सदम मे शक्ति के समीकरण मे अनेक बदलाव हुए। ऐसे बदलाव की क्रमिक अभिव्यक्तियो का स्वरूप सामान्यत उग्र और विस्फोटक नही था। सीमित युद्ध और सीधी टकराव तो देखी गई लेकिन इनमे पूरे विश्व को समाहित कर लेने का प्रारूप नही था। इस क्रमिक विकास की प्रमुख प्रवत्तियो और भावी दिशा-बोध के आधारो को निम्न रूप से सक्षेप मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

1 द्वितीय विश्वयुद्ध की उत्तरोत्तर स्थिति एक गुणात्मक परिवतन की द्योतक थी। दो विश्व युद्धो के बीच शक्ति के विकेन्द्रीकरण की स्थिति, अब एक स्पष्ट ध्रुवीकरण के रूप मे स्थापित हुई। अत्यधिक महत्वपूण और दूरगामी अभिप्रायो के सदम मे, पहले की तुलना मे यह ध्रुवीकरण सवपक्षीय था—आर्थिक, राजनीतिक एव वचारिक तत्वो के समावेश के फलस्वरूप। अत ध्रुवीकृत प्रतिद्वद्विता शक्ति के समीकरण के स्तर पर ही नही थी अपितु व्यवस्थागत बन गई थी।

2 उपनिवेशवाद के अवसान की प्रक्रिया के फलस्वरूप प्रतिद्वद्विता का उद्देश्य भौगोलिक आधिपत्य नही रहा। अब प्रतिस्पर्धा प्रभाव क्षेत्रो की बन गई। इस गुणात्मक बदलाव के महत्वपूण अभिप्राय थे। विदेश नीति सचालन और उद्देश्य प्राप्ति में युद्ध की साथकता कम हुई। नये उपकरणो और माध्यमो की रणनीति तैयार हुई, जिसमे तात्कालिक सतुलन को एक शातिपूण स्थायित्व प्रदान करना

एक प्राथमिक आवश्यकता बन गई। सैनिक एव आर्थिक गठबधनो का आयोजन, सैनिक और आर्थिक मदद का राजनय, और शस्त्रो की होड द्वारा महाशक्तिय क्षमता मे दूरगामी सतुलन की स्थापना, इस नई नीति के प्रमुख दायित्व बन गये। प्रारभिक चरण मे, इन्ही दायित्वो के सशयपूर्ण वातावरण के निर्वाह ने 'शीत युद्ध' की मानसिकता और वास्तविक अभिव्यक्तियो को जन्म दिया।

3 आणविक शक्ति के महाशक्तिय ने विश्व मे वस्तुत भय के सतुलन" की स्थापना की। सोवियत सघ की मानसिकता मे एक आत्मविश्वास और वैचारिक परिपक्वता का समावेश हुआ और इसके समानान्तर अमेरिका को अपनी साम्राज्यवादी हस्तक्षेप की निरतर असफलता का आभास भी। साम्राज्यवादी व्यवस्था एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्तरोत्तर क्षीण हो रही थी। तृतीय राष्ट्रो मे राजनीतिक स्वतत्रता न आर्थिक स्वतत्रता के स्वर को भी जन्म दिया। ऐसी स्थिति मे अनावश्यक हस्तक्षेप और सीधी सैनिक सलग्नता की नीति तात्कालिक और दूरगामी, दोनो ही स्तरो पर अत्यधिक आत्म घातक थी। इन विभिन्न ऐतिहासिक आवश्यकताओ ने 'देतात' के दृष्टिकोण का सूत्र पात किया। ऐसा बदलाव आकस्मिक नही था, और न ही इसकी क्रिया वृति तात्कालिक रूप से स्पष्ट सभावना थी। अत इस पूरी बदलाव की मानसिकता म एक सक्रमणकाल का भी समावेश हुआ।

4 'देतात' के स्थायित्व की प्रक्रिया के समान्तर, ध्रुवीय गुटो की आतरिक एकजुटता मे भी गुणात्मक परिवर्तन के आधार उभरे। साम्राज्यवादी राष्ट्रो के के बीच आपसी मतभेद भी पैदा हुए, जिसके फलस्वरूप अमेरिका के एकछत्रीय नेतृत्व को स्पष्ट चुनौती मिली। सामूहिक सैनिक अथवा आर्थिक कार्यवाही म यूरोपीय राष्ट्रो ने सक्रिय भूमिका निभाने मे अपनी असमथता व्यक्त की। रूस चीन विवाद के फलस्वरूप समाजवादी राष्ट्रो की एकजूटता पर भी प्रश्न चिह्न लगा। चीन के शक्ति के स्वतत्र केन्द्र क रूप मे उदय ने एक नय त्रिकोणात्मक समीकरण को जन्म दिया। जहा तक अन्य समाजवादी राष्ट्रो का प्रश्न था, स्वेच्छा अथवा आर्थिक एव सैनिक प्रमुत्व के फलस्वरूप सोवियत सघ का वचस्व यथावत बना रहा। चीन द्वारा उत्तरोत्तर रूप से पश्चिमी राष्ट्रो क समथन, और प्रमुख शत्रु के रूप म सोवियत सघ के अनौचित्यपूर्ण विरोध के फलस्वरूप तृतीय राष्ट्रो के बीच उसकी साख मे निरतर गिरावट आई। इसके विपरीत एक व्यावहारिक सतुलन और दूरगामी परिप्रेक्ष्य के फलस्वरूप तृतीय राष्ट्रो मे सोवियत सघ के प्रति प्रतिबद्धता मे निरतर वृद्धि हुई। इस प्रभाव के विस्तार ने सोवियत सघ के लिए चीन विवाद से हुई हानि, की पर्याप्त पूर्ति की। अत त्रिकोणात्मक समीकरण के उभरने के बावजूद तुलनात्मक रूप स सोवियत प्रभाव मे कोई गभीर कमी नही आई।

5 इन बदली हुई परिस्थितियो मे महाशक्तियो की भूमिका मे बदलाव के काल का सूत्रपात हुआ। अमरिका और पश्चिमी राष्ट्रो के लिए वियतनाम अथवा कोरिया जैसे अनुभवा की पुनरावृत्ति अपरिहाय बन गई, जिसकी चरम अभिव्यक्ति ईरान द्वारा दी गई खुली चुनौती मे हुई। इसके विपरीत सोवियत अनुभवो मे अगोला स लेकर अफगानिस्तान तक के नवीन अनुभव समाहित हुए। इस पूरी प्रक्रिया मे पश्चिमी प्रतिरोध स्वरूप प्रचार और सीमित सामूहिक कायवाही से अधिक नही बढ सका। वस्तुत, भूमिकाओ का यह बदलाव असदिग्ध रूप से गुणात्मक है।

6 साम्राज्यवादी व्यवस्था मे उपनिवेशी आधिपत्य पर मात्र अतिम विराम शेष है—दक्षिणी अफ्रिका मे रग भेदी व्यवस्था। स्वय इतिहास इस दायित्व का निर्वाह करेगा। सैनिक गठबधना की साम्राज्यवादी रणनीति पूण विघटन के कगार पर है। परोक्ष हस्तक्षेप के प्रतिरोध मे उभरते राष्ट्रीय एव जन आदोलन है। साम्राज्यवाद के अथतत्र मे व्यवस्थागत बदलाव और एक नई अतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माग साम्राज्यवाद पर अतिम और अपरिवतनीय कुठाराघात है। लेनिन का इतिहास बोध आज की वास्तविकता है— 'वस्तुत साम्राज्यवाद पूजीवाद के विकास की चरम सीमा है।' इसके बाद मात्र अवसान की एक लबी और दुरूह प्रक्रिया शेष है। सोवियत सघ का नेतत्व भले ही सदिग्ध हो, वैचारिक और व्यवस्थागत आधार पर विश्वस्तरीय ध्रुवीकरण एक ऐतिहासिक निश्चितता है। वतमान म, सोवियत सघ का नेतत्व ही इसका प्रतीक है, यद्यपि इस प्रक्रिया मे अन्य भावी स्वरूप भी निहित हो सकते हैं।

7 इन एतिहासिक सदर्भों मे "नव शीत युद्ध" दूरगामी परिप्रेक्ष्य के अभाव से उत्पन्न एक तात्कालिक भ्रम है। 1982 की ऐतिहासिकता 1945 के सदर्भों से गुणात्मक रूप से भिन्न है। इतिहास की पुनरावत्ति असभव है; यदि ऐसा प्रयास हो तो इसकी परिणिति, प्रथम बार दुखातिका म और दूसरी बार प्रहसन मे होती है। विश्व दोनो का ही अनुभवी है। अत भविष्य के गम मे नव शीत युद्ध' नही, अपितु वहद वैचारिक युद्ध समाहित है।

अध्याय-6

महाशक्ति समीकरण और चीन। विश्व राजनीति का त्रिकोण

एक ऐतिहासिक तथ्य को विभिन्न विश्लेषणात्मक अभिप्राय दिय जा सकत हैं। ऐसा निरतर होता भी रहा है। अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे चीन की स्वतन्त्र भूमिका का विश्लेषण, इस प्रवत्ति का स्पष्टतम उदाहरण है। 1949 मे साम्यवादी चीन का अभ्युदय ही नही अपितु कालातर मे उभरा सोवियत चीन विवाद भी, मूलभूत ऐतिहासिक महत्व का परिचायक है। प्रथम घटना ने जहा एक ओर जनवादी विचारधारा को अप्रतिम विस्तार दिया वही दूसरी न वैचारिक विवाद के नय आयाम उत्पन्न किय। सभी विश्लपण इन ऐतिहासिक स्थितियो के महत्व के प्रति एक मत है, लेकिन इनके अभिप्रायो के प्रति उग्र रूप से विवाद ग्रस्त। कुछ अतिउत्साही बुद्धिजीवी, विचारधारा की निरथक की घोषणा करते हुए व्यग्यात्मक भी हो उठते है। साथ ही साथ, उदासीन दाशनिकता स प्रेरित कुछ अन्य हितो की सर्वोपरिता के 'शाश्वत सत्य' को अभिव्यक्त करत हैं। साम्राज्यवाद अथवा समाजवाद मे गुणात्मक विभेद, ऐसे विश्लेषण की दप्टि मे मात्र औपचारिकतायें हैं। अत विश्लेषण की दप्टि से अनावश्यक भी।

उपरोक्त मानसिकतायें, एक सही दप्टिकोण को असभव बनाती हैं। क्या विचारधारा का निर्माण सदर्भो की शून्यता म होता है ? क्या सदर्भो का आर्थिक सामाजिक व्यवस्थागत स्वरूप नही होता है ? क्या हित इन व्यवस्थागत अभिप्रायो से स्वतत्र रूप से विकसित होते है ? क्या राष्ट्रा के बीच परस्पर सबधो का अस्तित्व इन आतरिक व्यवस्था की आवश्यकताओ से स्वतत्र रह सकता है ? इन सभी प्रश्नो का उत्तर नकारात्मक है। न तो विचारधारा ही शून्यता म पनपती है, और न ही आर्थिक सामाजिक सदर्भो का स्वरूप व्यवस्थागत अभिप्राया से स्वतत्र। राष्ट्रो के बीच परस्पर सबधो का स्वरूप निस्सदेह आतरिक व्यवस्था के अभिप्राया स जुडकर ही बनता है, जिसमे तात्कालिक हित अथवा अहित की व्याख्या भी समाहित होती है। अत विश्लेषण के इन विभिन्न परस्पर पक्षो को एक दूसरे स

जोडकर ही सही विश्लेषण सभव है। ऐसा विश्लशणात्मक दृष्टिकोण विशेषत समाजवादी राष्ट्रो क परराष्ट्र सम्बन्धो को समझने के लिए और अधिक अपरिहाय है क्योकि, इन राष्ट्रो द्वारा प्रस्तुत वैचारिक समझ वस्तुत इन विभिन्न अभिप्रायो का समन्वित स्वरूप अभिव्यक्त करती है। विवाद इस बात का हो सकता है कि किसी विशेष स्थिति म चीन अथवा सोवियत सघ की वैचारिक समझ गलत रही हो। लेकिन जैसी भी वैचारिक समझ रही उसके ही अनुरूप परराष्ट्र सम्बन्धा का निर्धारण हुआ और व्यावहारिक क्रिया वति भी। इस तथ्य मे अपवाद प्राय असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धा के साथ-साथ आन्तरिक विकास का स्वरूप भी वैचारिक समझ से जुडा होता है। आर्थिक सामाजिक विकास की प्रक्रिया, चूकि, केन्द्रीय रूप से सचालित एव निर्धारित होती है, अत वैचारिक मथन और उससे उपजे राजनीतिक निणय निर्णायक महत्व के होते हैं। अत वैचारिक समझ न सिफ आन्तरिक विकास की प्राथमिकताओ का परिचय देती है, अपितु साथ ही साथ परराष्ट्र सम्बन्धा के विश्लेषण मे आवश्यक कडी का भी प्रारूप दर्शाती है। इस दष्टि से समाजवादी राष्ट्रा की आन्तरिक एव परस्पर वैचारिक विवादो की स्थितिया, सवपक्षीय आधारो की एक सयुक्त अभिव्यक्ति को उभारती है। ऐसे ही सर्वपक्षीय विश्लेषण के दष्टिकोण, और उसके अन्तगत वैचारिक मथन की स्थितिया के विवेचन, के द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म चीन के अभ्युदय और सोवियत चीन विवाद, के अभिप्रायो को रेखाकित किया जा सकता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व म एक गुणात्मक रूप से भिन्न ध्रुवीकरण का सूत्रपात हुआ। इसके विभिन्न अभिप्रायो की समीक्षा हम पिछले अध्याय मे कर चुके हैं। इस नये गुणात्मक ध्रुवीकरण का वैचारिक पक्ष 1949 म चीन की जनवादी क्रान्ति के बाद और अधिक प्रबल बन गया। विश्व मे व्यवस्थागत प्रतिद्वद्विता के स्तर पर, साम्राज्यवादी व्यवस्था ने आत्मरक्षा की दृष्टि स उग्र हस्तक्षेप की नीति अपनायी। वास्तविक क्षमता के स्तर पर, ससाधनो का सतुलन साम्राज्यवाद के पक्ष मे था। अमेरिका का आणविक वचस्व इसका प्रतीक था। लेकिन, तीव्र आन्तरिक विकास द्वारा सोवियत सघ ने शीघ्र ही सतुलन की स्थिति उत्पन्न कर दी। इसके समानान्तर, उपनिवेशवाद के अवसान की प्रक्रिया भी अपनी ऐतिहासिक गति से विकसित हुई। स्थितियो का सतुलन निरन्तर बदल रहा था। साम्राज्यवाद ऐतिहासिक अवसान की ओर उन्मुख था। ऐसी स्थिति में सोवियत चीन विवाद ने विश्व राजनीति मे एक नया पक्ष जोड दिया। महाशक्तिय सतुलन ने पारस्परिकता को जन्म दिया, तो साथ ही साथ एक उग्र वैचारिक विवाद का प्रारूप भी। दो प्रमुख समाजवादी राष्ट्रो का यह पारस्परिक विवाद निरन्तर विकसित हुआ। अमेरिका और चीन का उभरता समीकरण, इस प्रक्रिया का एक नया मोड बन गया। महाशक्तिय ध्रुवीकरण के बीच, अमेरिका—चीन समीकरण से एक

त्रिकोण की स्थापना हुई। विश्व युद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अपरिभाषित अभिप्रायों के विवाद मे उलझ गयी।

अन्तराष्ट्रीय राजनीति के इस नये पक्ष के विकास को हम तीन चरणो मे विभाजित कर सकते हैं। निम्न म स प्रत्येक चरण की गुणात्मक विशिष्टता रही

(1) 1949 से 1959 प्रथम चरण ध्रुवीकृत विश्व की वैचारिकता।

(2) 1959 स 1969 द्वितीय चरण वैचारिक विवाद और महाशक्तिय पारस्परिकता।

(3) 1969 स 1979 ततीय चरण त्रिकोणात्मक समीकरण की गतिशीलता।

प्रत्येक चरण क विवेचन म चीन के बदलते दष्टिकोण को रेखांकित करना एक प्राथमिक और आवश्यक काय है। अन्य दो महाशक्तियो के सम्बन्ध की प्रक्रिया की समीक्षा हम पहल ही कर चुके हैं। अत चीन के दष्टिकोण म बदलाव को पथक रूप से रेखांकित करना होगा। चीन की नीति के विवेचन को तीन स्तरो पर देखना होगा। प्रथम आन्तरिक वैचारिक मथन, द्वितीय, आन्तरिक विकास के स्वरूप का विवाद एव सन्दर्भों के बीच चीन की परराष्ट्र नीति इसी विश्व दृष्टिकोण का व्यावहारिक पक्ष है। इस प्राथमिक विवेचन क बाद, प्रत्यक चरण मे चीन सोवियत सम्बन्ध और चीन अमेरिका सम्बन्ध, के स्वरूप का पृथक् विवचन किया जायगा। अत प्रत्यक चरण म इन्ही पक्षो के आधार पर समीक्षा मे एक विकास की प्रवृति स्वत स्पष्ट होगी।

प्रथम चरण 1949 से 1959 ध्रुवीकृत विश्व की वैचारिकता

1949 का वष विश्व समाजवादी शक्तिशालिता [illegible]। चीन म समाजवादी विचारधारा वाल नेतत्व की विजय [illegible] महत्व की थी। इस घटना ने, न सिफ सबस बड़े [illegible] की [illegible], बल्कि समाजवादी विचारधारा को मात्र [illegible] स भी व्यावहारिक सिद्ध किया। नि [illegible]। [illegible] वग की विचारधारा के प्रति कृषक वग का [illegible] करना, चीन की कम्युनिस्ट पार्टी और माओ के निजी [illegible] थी। [illegible] शासन की स्थापना इस नयी प्रक्रिया का [illegible] नही अपितु, मात्र प्रारम्भ था। समाजवादी व्यवस्था के निर्माण का [illegible] और [illegible] काय, आगामी [illegible] हासिक दायित्व बन गया। [illegible] के नियम ना उपलब्ध [illegible] व्यावहारिक [illegible]। [illegible] व्यावहारिक [illegible] थे अन्यथा, [illegible] नही। [illegible] भिन्न वातावरण [illegible] समाजवादी सरचना की [illegible] का विकास किया।

[illegible] का विकास, और [illegible]

जोडकर ही सही विश्लेषण सभव है। ऐसा विश्लेशणात्मक दष्टिकोण विशेषत समाजवादी राष्ट्रो के पररष्ट्र सम्बन्धो को समझने के लिए और अधिक अपरिहाय है क्योकि, इन राष्ट्रो द्वारा प्रस्तुत वैचारिक समझ वस्तुत इन विभिन्न अभिप्रायो का समन्वित स्वरूप अभिव्यक्त करती है। विवाद इस बात का हो सकता है कि किसी विशेष स्थिति मे चीन अथवा सोवियत सघ की वैचारिक समझ गलत रही हो। लेकिन जैसी भी वैचारिक समझ रही उसके ही अनुरूप परराष्ट्र सम्बन्धो का निर्धारण हुआ और व्यावहारिक क्रिया वति भी। इस तथ्य मे अपवाद प्राय असम्भव है। अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धो के साथ साथ, आन्तरिक विकास का स्वरूप भी वैचारिक समझ से जुडा होता है। आर्थिक सामाजिक विकास की प्रक्रिया, चूकि, केन्द्रीय रूप से सचालित एव निर्धारित होती है अत वैचारिक मथन और उससे उपजे राजनीतिक निणय निर्णायक महत्व के होते हैं। अत वैचारिक समझ न सिफ आन्तरिक विकास की प्राथमिकताओ का परिचय देती है, अपितु साथ ही साथ परराष्ट्र सम्बन्धो के विश्लेषण मे आवश्यक कडी का भी प्रारूप दर्शाती है। इस दष्टि से समाजवादी राष्ट्रो की आन्तरिक एव परस्पर वैचारिक विवादो की स्थितिया सवपक्षीय आधारो की एक सयुक्त अभिव्यक्ति को उभारती है। ऐसे ही सवपक्षीय विश्लेषण के दृष्टिकोण, और उसके अन्तगत वैचारिक मथन की स्थितिया के विवेचन, के द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे चीन के अभ्युदय और सोवियत चीन विवाद के अभिप्रायो को रेखाकित किया जा सकता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व म एक गुणात्मक रूप से भिन्न ध्रुवीकरण का सूत्रपात हुआ। इसके विभिन्न अभिप्रायो की समीक्षा हम पिछले अध्याय मे कर चुके हैं। इस नये गुणात्मक ध्रुवीकरण का वैचारिक पक्ष 1949 मे चीन की जनवादी क्रान्ति के बाद और अधिक प्रबल बन गया। विश्व म व्यवस्थागत प्रतिद्वद्विता के स्तर पर, साम्राज्यवादी व्यवस्था ने आत्मरक्षा की दष्टि से उग्र हस्तक्षेप की नीति अपनायी। वास्तविक क्षमता के स्तर पर ससाधनो का सतुलन साम्राज्यवाद के पक्ष मे था। अमेरिका का आणविक वचस्व इसका प्रतीक था। लेकिन, तीव्र आन्तरिक विकास द्वारा सोवियत सघ ने शीघ्र ही सतुलन की स्थिति उत्पन्न कर दी। इसके समानान्तर, उपनिवेशवाद के अवसान की प्रक्रिया भी अपनी ऐतिहासिक गति से विकसित हुई। स्थितियो का सतुलन निरन्तर बदल रहा था। साम्राज्यवाद ऐतिहासिक अवसान की ओर उन्मुख था। ऐसी स्थिति मे सोवियत चीन विवाद ने विश्व राजनीति म एक नया पक्ष जोड दिया। महाशक्तिय सतुलन ने पारस्परिकता को जन्म दिया, तो साथ ही साथ एक उग्र वैचारिक विवाद का प्रारूप भी। दो प्रमुख समाजवादी राष्ट्रो का यह पारस्परिक विवाद निरन्तर विकसित हुआ। अमेरिका और चीन का उभरता समीकरण, इस प्रक्रिया का एक नया मोड बन गया। महाशक्तिय ध्रुवीकरण के बीच, अमेरिका—चीन समीकरण स एक

त्रिकोण की स्थापना हुई। विश्व युद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अपरिभाषित अभिप्रायों के विवाद मे उलझ गयी।

अन्तराष्ट्रीय राजनीति के इस नये पक्ष के विकास को हम तीन चरणों मे विभाजित कर सकते हैं। निम्न मे से प्रत्येक चरण की गुणात्मक विशिष्टता रही

(1) 1949 से 1959 प्रथम चरण ध्रुवीकृत विश्व की वैचारिकता।

(2) 1959 से 1969 द्वितीय चरण वैचारिक विवाद और महाशक्तिय पारस्परिकता।

(3) 1969 से 1979 तृतीय चरण त्रिकोणात्मक समीकरण की गतिशीलता।

प्रत्येक चरण के विवेचन मे चीन के बदलते दृष्टिकोण को रेखांकित करना एक प्राथमिक और आवश्यक कार्य है। अन्य दो महाशक्तियों के सम्बन्ध की प्रक्रिया की समीक्षा हम पहले ही कर चुके हैं। अतः चीन के दृष्टिकोण मे बदलाव को पृथक रूप से रेखांकित करना होगा। चीन की नीति के विवेचन को तीन स्तरों पर देखना होगा। प्रथम, आन्तरिक वैचारिक मथन, द्वितीय, आन्तरिक विकास के स्वरूप का विवाद एवं सन्दर्भों के बीच चीन की परराष्ट्र नीति इसी विश्व-दृष्टिकोण का व्यावहारिक पक्ष है। इस प्राथमिक विवेचन के बाद, प्रत्येक चरण मे चीन सोवियत सम्बन्ध और चीन अमेरिका सम्बन्ध, के स्वरूप का पृथक विवेचन किया जायेगा। अतः प्रत्येक चरण मे इन्ही पक्षों के आधार पर समीक्षा से एक विकास की प्रवृत्ति स्वतः स्पष्ट होगी।

प्रथम चरण 1949 से 1959 ध्रुवीकृत विश्व की वैचारिकता

1949 का वर्ष विश्व समाजवादी क्रान्तिकारिता हेतु अभूतपूर्व था। चीन मे समाजवादी विचारधारा वाले नेतृत्व की विजय दूरगामी ऐतिहासिक महत्व की थी। इस घटना ने, न सिर्फ सबसे बड़े जन समुदाय के भविष्य की दिशा बदली, बल्कि, समाजवादी विचारधारा को मात्र यूरोपीय परिवेश से परे एशिया मे भी व्यावहारिक सिद्ध किया। निःसदेह यह अतुलनीय था। सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के प्रति कृषक वर्ग की निर्णायक प्रतिबद्धता स्थापित करना चीन की कम्युनिस्ट पार्टी और माओ के निजी योगदान की परिचायक थी। जनवादी शासन की स्थापना इस नयी प्रक्रिया का चरम बिन्दु नही अपितु मात्र प्रारम्भ था। समाजवादी व्यवस्था के निर्माण का एक लम्बा और दुरूह कार्य, आगामी ऐतिहासिक दायित्व बन गया। समाजवादी विकास के नियम तो उपलब्ध थे, लेकिन व्यावहारिक परिवेश नया था। मात्र सोवियत संघ के व्यावहारिक अनुभव सम्मुख थे, अन्यथा, कुछ भी अनुकरणीय नही। ऐसे ही मिश्रित वातावरण मे चीन ने समाजवादी सरचना की नीति का विकास किया।

उत्पादन की उपलब्ध शक्तियों का विकास, और उत्पादन के सम्बन्धों मे

समानान्तर आधार पर परिवतन, इस नये दायित्व में दोहरे पक्ष थ। कृषि प्रधान अथव्यवस्था म, दोनो का ही वतमान स्वरूप अत्यधिक अविकसित और भावी विकास के लिये अवरोधक था। समाजवादी व्यवस्था के विकास म, पहले उत्पादन शक्तियो मे विकास स की जाये अथवा अर्धविकसित उत्पादन शक्तियो मे रहते हुए उत्पादन के सम्बन्धो म क्रान्तिकारी परिवतन की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी जाये, यह वैचारिक विवाद का प्रमुख आधार था। अब तक की सैद्धान्तिक व्याख्या और सोवियत अनुभव के अनुसार उत्पादन की शक्तियो का विकास प्राथमिक है, और एसे विकास की तुलना म ही उत्पादन के सम्बन्धों और निजी स्वामित्व की व्यवस्था मे परिवतन हो। प्रारम्भ मे सोवियत निर्देशन के आधार पर निणय लिये गय। लेकिन उत्तरोतर रूस स चीन के व्यावहारिक पक्षा पर माओ का निजी वैचारिक दष्टिकोण भी विकसित हुआ जिसने कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियो को भी प्रभावित किया।

1955 म माओ ने घोषणा की कि कृषि के क्षेत्र म सामूहिकीकरण की प्रक्रिया को तेज किया जायेगा। साथ ही साथ भारी उद्योग सम्बन्धित प्रशासन को पार्टी के सीधे निरीक्षण क अन्तगत लाया जायेगा। 1956 म, विकास के विभिन्न व्यावहारिक पक्षो को माओ ने अपने सैद्धान्तिक लेख "दस प्रमुख सम्बन्ध म स्पष्ट किया। इसमे आर्थिक विकास मे, भारी और छोटे उद्योग तथा कृषि मे परस्पर आवश्यक सतुलन पर बल दिया गया तथा उनके क्षेत्रीय बटवारे को भी रेखांकित किया गया। इस लख म व्यक्त अनक विचार समाजवादी विकास की सोवियत व्याख्या से भिन्न थे। इन्ही विचारो को 1958-59 के दौरान (ग्रेट लीप फारवड) 'लबी छलाग कायक्रम' द्वारा क्रियान्वित किया गया है। माओ द्वारा दिया गया मुहावरा, "दो टागो पर चलना' (walking on two leges), प्रचलित किया गया। दो टागो का अभिप्राय था —उद्योग और कृषि, भारी और छोटे उद्योग, आधुनिक और पुरातन, एव क्षेत्रीय और राष्ट्रीय विकास। इनमे सतुलन का नारा दिया गया। क्रियान्वयन के स्तर पर कषि 'कम्यून' व्यवस्था द्वारा सामूहिकीकरण की प्रक्रिया लागू की गई, और उद्योगो के सचालन में महत्वपूण परिवतन हुए। इन कायक्रमको उग्ररूप स लागू करने हेतु, "जनसना' (Peoples militia) का गठन किया गया, जिसका प्रमुख दायित्व इन कायक्रमो के प्रतिरोध पर नजर रखना था।

इन विभिन्न अति ... । एक ओर पार्टी
मे आन्तरिक विवाद ... व्यवस्था म एक
विचित्र अनिश्चितता ...
बीच विवाद का
ही विजयी

बन्द कर दिया गया। थोडे समय के लिये, माओ ने सक्रिय राजनीति मे भाग न लेने की घोषणा की, क्योकि उनके अनुसार उन्हें कुछ सैद्धान्तिक अध्ययन पर समय व्यतीत करना था। सरकार ने 'चैयरमैन' पद से मुक्त हुए, लेकिन 'पार्टी चैयरमैन' वे ही रहे। कुछ समय बाद माओ की सक्रिय वापसी के साथ आन्तरिक मथन का एक नया चरण उभरा —"सास्कृतिक क्रान्ति" के सिद्धान्त के रूप मे।

चीन का विश्व दृष्टिकोण

विकास के इस प्रथम चरण मे चीन के विश्व दृष्टिकोण के निमाण मे दो प्रमुख आधार थे। प्रथम, साम्राज्यवादी व्यवस्था स मूलभूत विरोध था, जिसके तात्कालिक अभिप्राय ताइवान के विवाद मे भी अभिव्यक्त थे। द्वितीय विभिन्न पारस्परिक वैचारिक मतभेदो के बावजूद समाजवादी राष्ट्रो से सहयोग के मूलभूत आधार थे, जो विशेषत सावियत सघ के आर्थिक सहयोग म तात्कालिक रूप से उपलब्ध थ। इन दो मूलभूत मान्यताओ के आधार पर चीन के विश्व दृष्टिकोण मे विभिन्न अ तर्राष्ट्रीय शक्तिया को आका गया। अपने ऐतिहासिक अनुभव के के आधार पर, माओ की यह मान्यता थी कि कोई भी आन्तरिक अथवा अन्तर-राष्ट्रीय शक्ति जिसे वृहद जनसमथन प्राप्त नही है, मूलत एक निबल शक्ति है भले ही बाहरी रूप मे वह अत्यधिक शक्तिशाली प्रतीत हो। एक दूसरी मान्यता जिसका सुरक्षा से सम्बन्ध था यह थी कि, जन समर्थित शासन पर बाहरी हस्तक्षेप अथवा आक्रमण कभी सफल नही हो सकता। क्याकि, विपरीत से विपरीत स्थिति मे भी एक 'सुरक्षात्मक गृह-युद्ध की नीति' अपनायी जा सकती है अत आन्तरिक सुरक्षा और शक्ति का आधार जन समथन है न कि सैनिक बचस्व। इन दो मान्यताओ ने चीन के सामसामयिक शक्तिया के मूल्याकन को निरन्तर प्रभावित किया।

1949 मे ही माओ ने चीन मे विजय के अवसर पर अपने लेख "जनता के लोकतन्त्र और अधिनायकत्व पर (on People s Democracy and Dicta torship) मे चीन के विश्व दृष्टिकोण का प्रथम प्रारूप प्रस्तुत किया–"साम्राज्य-वादी आक्रमण ने चीन की जनता के पश्चिम से सीखने के सभी लुभावने सपनो को ध्वस्त कर दिया है। अब तक के अनुभवो से चीन की जनता को यह मूलभूत सबक मिला है कि हमे बाहरी स्तर पर सोवियत सघ और अन्य जनवादी लोकतन्त्रो के साथ जुडना चाहिए, और एक अतर्राष्ट्रीय मोर्चे का निर्माण करना चाहिए। लोग कहते है कि आप एक पक्ष की ओर झुक रहे हैं। हा, बिल्कुल यही। सन यात सेन के चालीस वर्षो के अनुभव और कम्युनिस्ट पार्टी के पिछले अट्ठाईस साला के अनुभव ने हमे सिखाया है—एक पक्ष की ओर झुकना, और हम इस बात के प्रति पूर्ण रूप स आश्वस्त हैं कि विजय पाने और उसे मजबूत बनाने के लिए किसी एक

पक्ष की ओर झुकना जरूरी है—साम्राज्यवाद के पक्ष की ओर अथवा समाजवाद के पक्ष की ओर। तीसरा रास्ता नहीं है। क्या ब्रिटेन और अमेरिका के वर्तमान शासक, जो कि साम्राज्यवादी हैं, एक 'जनवादी राज्य' की सहायता करेंगे ? यदि हां तो वे ऐसा क्या करेंगे ? क्योंकि, उनके पूंजीवादी मुनाफा कमाना चाहते हैं, और उनके बैंकर ब्याज बटोरना चाहते हैं, ताकि वे अपने आपको अपने स्वयं को आर्थिक संकट से उबार सकें। यह कोई चीन की जनता को मदद देने की बात नहीं है। पाठकों को चाहिए कि वे सन यात सेन को पढ़ें। उनका यह सच्चा परामर्श था कि, साम्राज्यवादी राष्ट्रों से मदद की आशा मत करो, अपितु उन राष्ट्रों के साथ एकता स्थापित करो जो हमें बराबरी का दर्जा देते हैं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हम सोवियत नेतृत्व वाले साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे में हैं। अतः हम इसी पक्ष से सच्ची और मैत्रीपूर्ण सहायता की आशा करते हैं।"

माओ के उपर्युक्त विश्लेषण से कुछ महत्वपूर्ण पक्ष उभरते हैं। प्रथम, यह कि विश्व का प्रमुख अन्तर्विरोध साम्राज्यवाद और समाजवाद की व्यवस्थाओं के बीच है। इसी आधार पर विश्व में एक व्यवस्थागत ध्रुवीकरण है। द्वितीय, साम्राज्यवाद का एक मोर्चे के रूप में सक्रिय विरोध, समाजवादी राष्ट्रों में एकजुटता का आधार है। तृतीय प्रत्येक समाजवादी राष्ट्र के लिए यह एकजुटता आर्थिक विकास की दृष्टि से उपयोगी है। अंतिम यह कि, यद्यपि यह मोर्चा सोवियत नेतृत्व में आयोजित है इसमें प्रत्येक समाजवादी राष्ट्र का बराबरी का दर्जा है। अतः नेतृत्व कारी भूमिका के कारण सोवियत संघ का यह समाजवादी दायित्व है कि वह प्रत्येक राष्ट्र के हितों को बराबरी का महत्व दे, और समाजवादी संरचना के उनके विभिन्न परिवेशों को समझें।

साम्राज्यवादी व्यवस्था के सक्रिय विरोध के संदर्भ में एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष माओ के चिंतन का था। स्वयं चीन पर साम्राज्यवादी आक्रमण का अनुभव इसकी ऐतिहासिक प्रेरणा थी। माओ की मान्यता थी कि, साम्राज्यवादी विस्तारवाद का सीधा डर सोवियत संघ को नहीं था, क्योंकि वह एक विश्व शक्ति थी। विशेषतः आणविक संतुलन के अस्तित्व के बाद, यह और अधिक सही था। साम्राज्यवाद के आतंक का सीधा प्रभाव या तो कमजोर समाजवादी राष्ट्रों पर था, अथवा एशिया अफ्रिका के नवोदित राष्ट्रों पर, जिन्हें साम्राज्यवाद अपने नव विस्तारवाद के जाल में बांधना चाहता था। अतः साम्राज्यवादी आतंक और आधिपत्य के विरुद्ध संघर्ष की रणभूमि में यही प्रताडित राष्ट्र थे। इस दृष्टि से समाजवादी राष्ट्रों को विकसित और सुरक्षित किया जाये, तथा साथ ही साथ साम्राज्यवाद से सीधी टक्कर भी ली जाये। ऐसी स्थितियों में, एक उग्र सहयोग और हस्तक्षेप की नीति मात्र एक स्वाभाविक अभिप्राय था। माओ ऐसी उग्र नीति की सफलता को भी निश्चित मानते थे। इस विश्वास का आधार था कि, साम्राज्यवाद के बाहरी

उग्र स्वरूप के बावजूद, अपने आतरिक अतर्विरोधो के कारण यह वास्तविक स्तर पर एक कमजोर शक्ति है। विरोध का विश्वव्यापी जन आधार, साम्राज्यवाद की शक्ति से कही अधिक शक्तिशाली है। अत साम्राज्यवाद के विरोध मे आयोजित समाजवादी राष्ट्रो के मोर्चे का, इन सदर्भो मे एक ऐतिहासिक दायित्व है।

चीन सोवियत सबध मैत्री के विशिष्ट सदर्भ (1949 59)

आतरिक विकास की वैचारिक मान्यताओ और अपने विश्व दृष्टिकोण की दृष्टि स चीन के लिए सोवियत सघ के साथ निकट के सबध स्थापित करना एक स्वाभाविक पहल थी। सोवियत सघ के लिए भी समाजवादी गुट मे चीन को सम्मिलित करना एक महत्वपूण उपलब्धि थी। लेकिन, प्रारभ से ही सोवियत सघ न यह स्वीकार किया कि अन्य समाजवादी राष्ट्रो की तुलना म चीन का एक अलग और विशेष स्थान है। यद्यपि यह मान्यता किसी औपचारिक रूप मे व्यक्त नही हुई, फिर भी सोवियत चीन सबधो का विकास इसी आधार पर हुआ। चाहे वह आर्थिक विकास सबधी सहायता का प्रश्न रहा हा अथवा सनिक सहायता का, चीन की विशिष्टता परस्पर सबधो के विकास मे परिलक्षित हुई। लकिन साथ ही साथ सोवियत सघ के इस यथाथवादी दृष्टिकोण की सीमायें भी थी। समाजवादी विकास के स्थापित नियमो और विश्व स्तर पर समाजवादी राष्ट्रो की आत्मारक्षा स सबधित सामरिक प्रश्नो पर किसी भी प्रकार का समझौता सोवियत सघ की दृष्टि मे आत्मघाती था। अत असभव भी। इन्ही दोहरी प्रवृत्तियो के बीच, सोवियत चीन सबधो के विशिष्ट सदर्भ विकसित हुए।

चीन की आतरिक क्रान्ति की लडाई के दौरान सोवियत सघ ने आशानुकूल सहायता दी। हथियारो और आर्थिक मदद के साथ साथ वैचारिक एव सामरिक मागदशन भी दिया गया। 1949 मे चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व म आने के बाद सबधो को एक नयी प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। फरवरी, 1950 मे माओ की सोवियत यात्रा के दौरान, चीन सोवियत मैत्री सधि सम्पन्न हुई। इसमे अन्य बातो क अलावा चीन को आवश्यकता पडने पर सैनिक सहायता का भी प्रावधान था। इस सधि को औपचारिक स्वरूप देने से पूर्व चीन और सोवियत सघ मे वार्ताओका एक लबा दौर रहा। अत मे, स्टालिन और माओ के बीच वार्ता मे अनेक शकाओ का निवारण हुआ और सधि पत्र पर औपचारिक हस्ताक्षर हुए। इस सधि के बाद, चीन के आर्थिक विकास से सबधित अनेक समझौते हुए। सोवियत सघ ने चीन को 30 करोड डालर का ऋण देने का आश्वासन दिया जिसका भुगतान चार किश्तो मे किया जायगा। 1954 के बाद इस ऋण की वापिसी चीन द्वारा दस किश्तो म की जायेगी और सोवियत सघ इस पर मात्र एक प्रतिशत ब्याज लेगा। आर्थिक विकास और ससाधनो के दोहन के लिए आर्थिक सहायता

साथ तकनीक और प्रबध-व्यवस्था आदि भी चीन की तत्कालिक आवश्यकता थी। अत एव दूरगामी सहयोग की दृष्टि से चीन और सोवियत सघ की अनेक सम्मिलित पूजी कपनिया (Joint Stock Companies) के निर्माण की भी व्यवस्था उभरी। 1953 म इस उद्देश्य स चीन और सोवियत सघ के तीन सयुक्त निगमो की स्थापना हुई तल त त्वो की खोज और उत्पादन के लिए, खनिजो की खोज और उत्पादन के लिए, तथा नागरिक विमान सेवाओ के लिए। अक्टूबर, 1949 म ही यह निणय हो चुका था कि, सोवियत सघ चीन को एक अरब रुबल मूल्य के यन्त्र एव उपकरण आदि देगा। 1953 मे, चीन म औद्योगिक विकास की योजना को लागू करने की दृष्टि स, सोवियत सघ न यह दायित्व लिया कि 91 नय सस्थानो की स्थापना तथा 50 पुराने सस्थानो को नयी तकनीक के आधार पर विकसित करने हतु, तकनीकी सहयोग और आर्थिक ऋण भी दिया जायेगा। इस पूरी प्रक्रिया के द्वारा सोवियत सघ और चीन म आर्थिक सहयोग की तीव्र प्रक्रिया प्रारभ हुई। 1950 के बाद चीन का लगभग 80 प्रतिशत व्यापार सोवियत सघ के साथ था। इसम निरतर वृद्धि हुई।

लेकिन शीघ्र ही समाजवादी विकास की रणनीति और अतर्राष्ट्रीय दायित्वो के निर्वाह के प्रश्न पर, चीन सोवियत सघ मे मतभेदो का शैशव रूप उभरने लगा। विकास की आतरिक समस्याओ के सदभ मे चीन ने जहा अति उत्साही दृष्टिकोण अपनाया, उसके अनुपात म सोवियत वैचारिक समीक्षा का स्तर भी स्पष्ट हुआ। स्टालिन की मृत्यु के बाद सितबर, 1954 म ख्रुश्चेव की चीन यात्रा हुई। जिसम परस्पर सबधो के साथ साथ दोनो राष्ट्रो की आतरिक स्थितियो पर भी विचार हुआ। माओ के दृष्टिकोण मे स्पष्ट भिन्नता थी, लेकिन इन वार्ताओ म कोई तीव्र सोवियत प्रतिक्रिया देखने को नही मिली, क्योंकि स्वय ख्रुश्चेव अपने नेतृत्व के सघष म माओ की शुभकामना चाहते थे। आर्थिक प्रश्नो के साथ साथ आणविक तकनीकी के सहयोग पर भी चीन सोवियत सबधो के सशय की मानसिकता बनी। सोवियत मान्यता थी कि यदि चीन स्वय को समाजवादी गुट का राष्ट्र मानता है, तो उसे स्वतत्र आणविक क्षमता की क्या आवश्यकता है। इसके ठीक विपरीत, चीन का दृष्टिकोण था कि, प्रत्येक समाजवादी राष्ट्र की आत्मनिर्भरता ही अन्तत सामूहिक एकजुट शक्ति को जन्म दे सकती है। अत चीन को आणविक तकनीक देना सोवियत सघ का दायित्व है, भले ही इसके प्रयोग के लिए विशेष 'गारन्टी' की व्यवस्था हो सकती है। इन उभरते हुए परस्पर सशय के बीच, चीन ने कोरिया सकट और वियतनाम मे सोवियत नीति की समीक्षा की। चीन का मत था कि 1950 मे कोरिया युद्ध के दौरान सोवियत सघ एव अन्य समाजवादी राष्ट्रो को अधिक प्रभावी हस्तक्षेप करना चाहिए था। जहा तक ताइवान का विवाद था उसमे भी सोवियत सघ की धैर्यपूर्ण नीति, चीन ने गलत बतायी इस उभरती

समीक्षा के समानातर चीन ने अपनी, दृष्टि को एशिया अफ्रिका के राष्ट्रो पर भी केन्द्रित किया। 1955 का बाडुग सम्मेलन इस दृष्टि से महत्वपूण था। 1956 मे, चाउ एन लाई ने आठ एशियाई राष्ट्रो का भ्रमण किया। इससे पूव 1954 मे भारत के साथ पचशील सिद्धातो के आधार पर एक समझौता भी किया गया, जिसमे भारत ने तिब्बत को चीन का भाग माना।

सोवियत चीन सबधो मे उभरते वैचारिक विवाद की दृष्टि से 1956 मे सोवियत पार्टी का 20 वा अधिवेशन दूरगामी प्रभाव का था। ख्रुश्चेव और उसकी नीतियो की औपचारिक स्थापना हुई। इस अधिवेशन मे सोवियत विदेश-नीति से सबधित महत्वपूण निणय हुए, सक्षेप मे जि हें "शातिपूण सहअस्तित्व" के सिद्धान्त मे जाना गया (विस्तार से वणन के लिए पिछला अध्याय देखिये)। इन निणयो की चीन म तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अब तक चीन की एक नई मानसिकता बन गई थी कि सोवियत सघ समाजवादी दायित्वो को सक्रिय रूप से नही निभा रहा है। कोरिया ताइवान आदि इसके अनुभव थे। 20 वें अधिवेशन मे व्यक्त विचारो ने चीन की इस मानसिकता को और अधिक स्पष्ट बनाया। सोवियत पार्टी न स्टालिन की भूमिका की समीक्षा की, और अनेक स्थितियो मे उसकी नीतियो की तीव्र भत्सना की गई। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी इस समीक्षा से कतई सहमत नही थी। उसके प्रतिनिधि ने इस अधिवेशन म अपना स्पष्ट विमत व्यक्त किया। सोवियत सघ द्वारा दिये गये स्टालिन की भूमिका के मूल्याकन स अलग चीन की पार्टी ने अपना पृथक मूल्याकन प्रस्तुत किया। इस पूरे वैचारिक विवाद स सोवियत चीन सबधो मे तीव्र मतभेद उभरे।

इन मतभेदो मे चीन का एक स्पष्ट दृष्टिकोण था। 1956 मे हगरी मे सोवियत कदम को चीन ने सवथा उचित कहा। चीन की मा यता थी कि, हगरी मे सोवियत सघ ने प्रतिगामी शक्तियो को पराजित करने के लिये प्रभावी कदम उठाया है। चीन की अपेक्षा थी कि अन्यत्र भी सोवियत नीति ऐसी ही सक्रियता का प्रमाण दे। नवम्बर, 1957 मे माओ ने अपने विचार मास्को मे आयोजित वामपथी पार्टियो के अधिवेशन मे रखे। इन मे दो प्रमुख बातें थी। प्रथम, माओ का मूल्याकन था कि साम्राज्यवादी शक्तियो की तुलना में जनवादी शक्तिया कही अधिक सशक्त हैं। इस धारणा को माओ ने अपने मुहावरे "पूव की हवा पश्चिम पर हावी है' मे व्यक्त किया, तथा सोवियत आणविक क्षमता के उदाहरण से इसे पुष्ट किया। द्वितीय, ऐसी स्थिति मे माओ ने समाजवादी शक्तियो की सक्रिय एकजूटता पर बल दिया। उन्होने यह दृढ रूप से व्यक्त किया कि 'समाजवादी गुट का एक नेता' अवश्य होना चाहिये, और सोवियत सघ को यह दायित्व स्वीकार करना चाहिये। साम्राज्यवाद से समन्वय नही अपितु, सघष का दृष्टिकोण हो। सोवियत दृष्टि मे ऐसा मूल्याकन सवथा अयथाथवादी था। यह सही है कि जनवादी

शक्तियां अधिक दृढ़ हुई हैं, लेकिन साथ ही साथ वे उतनी मजबूत भी नहीं कि साम्राज्यवादी शक्तियों से सीधे टक्कर ले सकें। अतः सोवियत दृष्टिकोण के अनुसार, विश्व में तनाव कम करना एक दोहरी आवश्यकता है। प्रथम, स्वयं समाजवादी राष्ट्रों को एक सुरक्षित एवं वैमनस्य रहित वातावरण प्रदान करने के लिये। दूसरे, साम्राज्यवाद की व्यवस्थागत कमजोरियों को उभारने और तृतीय राष्ट्रों में समाजवादी प्रभाव को बढ़ाने के लिए। चीन की दृष्टि जहां एक ओर अत्यधिक उग्र थी, वहीं सोवियत संघ एक लम्बे और क्रमिक संघर्ष की पक्षधर थी।

1958 का वर्ष सोवियत-चीन सम्बन्धों के लिए अत्यधिक घातक रहा। इससे पहले 1957 में हुए वामपंथी पार्टियों के सम्मेलन में ही मतभेदों का एक स्वरूप उभर चुका था। लेकिन सोवियत संघ ने, इस सम्मेलन के लिये माओ की मॉस्को यात्रा के दौरान ही, चीन के साथ सम्बन्धों को सुधारने की पहल भी की। सोवियत संघ इस बात के लिये राजी हुआ कि वह चीन को आणविक हथियारों की तकनीक भी उपलब्ध करायेगा। इस अभिप्राय के एक समझौते पर हस्ताक्षर हुये। 1958 में चीन ने आन्तरिक आर्थिक विकास हेतु 'लंबी छलांग कार्यक्रम" (Great Leap Forward) कार्यक्रम की घोषणा की। इसकी तात्कालिक सोवियत प्रतिक्रिया उग्र हुई। सोवियत पार्टी ने इस वैचारिक और विकास दोनों ही आधारों पर आत्मघात कहा। सोवियत संघ ने चीन को सभी आर्थिक सहायता तात्कालिक प्रभाव से बन्द करने की घोषणा की। इस पूरी घटना ने सोवियत चीन संबंधों के भावी विकास पर एक बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न लगा दिया। चीन ने सोवियत संघ की भूमिका की और अधिक उग्र तथा खुली आलोचना प्रारंभ की। माओ ने साम्राज्यवाद का मूल्यांकन करते हुये उसे 'कागजी शेर" (Paper Tiger) की संज्ञा दी और, इस दृष्टि से, सोवियत संघ के साम्राज्यवाद से समन्वय के प्रयासों को एक हास्यास्पद स्थिति कहा।

सोवियत चीन मतभेद अब तक अधिकांशतः स्पष्ट हो चुके थे। 1959 के प्रारंभ में ख्रुश्चेव ने बीजिंग की यात्रा की जिसका प्रमुख उद्देश्य चीन के नेतृत्व को यथार्थवादी स्थितियों को समझाने का प्रयास था। 1958 में ताइवान के समीप एक बार संकट फिर मंडराया। ईराक में एक आन्तरिक क्रान्ति के द्वारा साम्राज्यवाद समर्थित सत्ता को अपदस्थ कर दिया गया था। इन स्थितियों में अमेरिका ने लेबनान में और ब्रिटेन ने जार्डन में अपनी सैनिक उपस्थिति के द्वारा सीधे हस्तक्षेप के प्रयास किये। चीन को यह आशंका थी कि इस सैनिक उपस्थिति का ताइवान विवाद पर भी प्रभाव हो सकता है। अतः उसकी सोवियत संघ में यह अपेक्षा थी कि वह भी सक्रिय हस्तक्षेप करे। सोवियत नीति का दृष्टिकोण इसके विपरीत था। चीन के लिये यह एक असहनीय स्थिति थी। ख्रुश्चेव ने अपनी यात्रा के दौरान सोवियत नीति को उचित और व्यावहारिक ठहराया और चीन से यह

आशा की कि वह स्थितियों का सही लेखा जोखा करे, तथा किसी उग्रवादी कार्यवाही मे सलग्न न हो। ख्रुश्चेव का प्रयास पूर्णत असफल रहा। अगस्त 1959 मे चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के 8वें 'प्लेनरी अधिवेशन मे सोवियत आलोचना को औपचारिक और स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया। सम्मेलन मे यह घोषणा की गई कि, सोवियत पार्टी का नेतृत्व अब सशोधनवादी प्रवृत्तियो की ओर उन्मुख हो रहा है। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति उसकी आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो मे हुए तात्कालिक प्रयत्नों मे मिलती है। अमेरिका के साथ सम्बन्धो म सामान्यीकरण के निर्णय को सोवियत सघ ने यथावत रखा। 1959 म ख्रुश्चेव की प्रथम एतिहासिक अमेरिका यात्रा हुई। चीन द्वारा इसकी तीव्र प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। अपनी अमेरिका यात्रा के बाद अक्टूबर, 1959 मे ख्रुश्चेव ने एक बार फिर चीन की यात्रा की। इस बार ख्रुश्चेव न खुली सभा मे चीन की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समझ को गलत बताया। इस बीच सोवियत सघ ने भारत के साथ अपने बढते हुये सबधो की दृष्टि से, तिब्बत के विवाद म अपनी तटस्थता दर्शायी। चीन के लिये असुविधा का यह एक और कारण बन गया। दिसम्बर, 1959 मे स्टालिन के जन्म दिवस के अवसर पर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने स्टालिन का वर्णन करते हुये उस "साम्राज्यवाद का पक्का शत्रु जिसने कभी समझौता नही किया' बताया। ऐसे खुले मूल्याकन का स्पष्ट अभिप्राय था। यह कि स्टालिन का नेतृत्व असमझौतावादी था और वर्तमान नेतृत्व जो स्टालिन की आलोचना करता है समझौतावादी है।

उपरोक्त विवेचन से सोवियत चीन सम्बन्धो मे एक दशक का विकास स्पष्ट होता है। सम्बन्धो की स्थापना सहकारिता और एकजुटता के वातावरण मे हुई। दशक की समाप्ति के आते आते इसमे उग्र विवाद के क्षीण स्वर उभरने लगे। स्थापना से ही रूस और चीन के बीच सम्बन्धो म एक विशिष्टता थी। दोनो समाजवादी राष्ट्र एक दूसरे के परस्पर महत्व को समझते थे। अत सम्बन्धो मे अन्य समाजवादी राष्ट्रो की तुलना मे दोनो राष्ट्रो के लिये एक परस्पर महत्व था। समाजवादी सिद्धान्तो के व्यावहारिक परिवेश की भिन्नता ने अनेक स्तर पर वैचारिक मतभेद उभारे। चाहे वह चीन मे आन्तरिक विकास की रणनीति का प्रश्न हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादी राष्ट्रो की एकता और सक्रियता का प्रश्न माओ के नेतृत्व म चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का एक 'स्वतन्त्र' दृष्टिकोण विकसित हुआ। सोवियत नेतृत्व द्वारा भी इन भिन्नताओ को समझने और कुछ हद तक इनसे समझौता भी करने के प्रयास हुए। लेकिन इन प्रयासो की सीमायें थी जो उत्तरोत्तर स्पष्ट हुई। दशक के अन्त तक सोवियत चीन सम्बन्धो मे विवाद अनौपचारिक रूप से स्थाई बन चुका था। वामपथी राष्ट्रो के बीच और खुले अन्तर्राष्ट्रीय मच पर, इसकी अभिव्यक्ति होनी शेष थी। विकास का यह

अगले दशक मे स्पष्ट हुआ।

चीन-अमेरिका सबध विवाद और कटुता (1949-1959)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत सघ के नेतृत्व म समाजवादी गुट की स्थापना साम्राज्यवादी व्यवस्था के लिय एक नई चुनौती थी। 1949 मे चीन मे समाजवादी नेतृत्व की स्थापना न साम्राज्वाद के सामने एक और पराजय उपस्थित की। स्वाभाविक था कि, ऐसी स्थिति मे चीन और अन्य पश्चिमी राष्ट्रो के सबध आवश्यक रूप से कटु होते। तात्कालिक स्थितियो ने इस आवश्यक कटुता की स्थिति म कुछ और आयाम जोड दिये। गहयुद्ध मे चाग काई शेक की पराजय तो हुई लेकिन ताइवान पर उसका शासन यथावत बना रहा। तात्कालिक रूप से, भौगोलिक पचीदगिया को देखते हुये, वामपथी सेनाओ की विजय सम्भव नही बन सकी। अत एक लम्बे समय तक इस विवाद का चीन के लिये महत्व स्वाभाविक था। गहयुद्ध की स्थिति मे भी अमेरिका ने चाग काई शेक को समथन दिया था। ताइवान के बनने के बाद यह समथन और अधिक स्पष्ट तथा उग्र बन गया। शीतयुद्ध की मानसिकता म, साम्यवाद का हर स्थिति मे विरोध पश्चिमी राष्ट्रो की स्पष्ट नीति थी। जहा तक चीन का प्रश्न था, विचारधारा के स्तर पर, गृहयुद्ध के अनुभवो के कारण अथवा भावी सहयोग की सम्भावनाओ की दृष्टि से, किसी भी स्थिति म अमेरिका के साथ सामान्य सम्बन्धो का प्रश्न ही नही था। इन दूरगामी कारणो म तात्कालिक विवादो के जुडने के साथ ऐसी कोई सम्भावना पूणतया असभव बन गई। अत चीन म समाजवादी नेतृत्व के तुरन्त बाद, चीन अमेरिका सम्बन्धो म आवश्यक कटुता की स्थापना हुई जोकि उत्तरोत्तर विकसित भी हुई।

ताइवान के प्रश्न के साथ कोरिया विवाद का प्रश्न जुडने से, चीन अमेरिका सम्बन्धो मे कटुता ने एक उग्र स्वरूप लिया। जून, 1950 मे दक्षिणी कोरिया ने यह आरोप लगाया कि उस पर उत्तरी कोरिया द्वारा आक्रमण किया गया है। 27 जून, को अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमेन ने सातवें जहाजी बेडे को भेजने के आदेश दिये। आदेश मे यह कहा गया कि "कोरिया पर आक्रमण द्वारा यह असदिग्ध रूप स सिद्ध होता है कि साम्यवाद तोड-फोड की नीति की सीमायें पार कर चुका है। ऐसी स्थिति मे ताइवान पर भी आक्रमण और कब्जे की सम्भावनायें प्रबल बन गई हैं। अत सातवें बेडे को वहा भेजना एक आवश्यक कदम है।" चीन द्वारा अमेरिका की इस घोषणा की तीव्र भत्सना की गई। चाऊ-एन लाई ने ट्रूमेन-वक्तव्य को चीन पर आक्रमण की सज्ञा दी और इसे एक पहले से विचारे हुये साम्राज्यवादी कायक्रम की अभिव्यक्ति कहा गया। चीन ने यह दोहराया कि ताइवान उसका अविभाज्य अग है और वहा किसी भी हस्तक्षेप का कडा जवाब

दिया जायेगा। जब तक ताइवान को मुक्त नही करा लिया जाता, सघष जारी रहेगा। नवबर, 1950 मे चीन के प्रतिनिधि ने सुरक्षा परिषद के सम्मुख भी इसी आशय का प्रतिवेदन रखा। कोरिया विवाद पर हुई बहस मे चीन के प्रतिनिधि ने कहा कि, वह औपचारिक रूप से कोरिया विवाद पर नही बोल रहा है, क्योकि जिस प्रकार से इसका उल्लेख काय विधि मे किया गया है वह पूवग्रहो के आधार पर चीन और उत्तरी कोरिया को आक्रमक राष्ट्र बताता है। अपने लम्बे वक्तव्य के अन्त म, चीन के प्रतिनिधि ने तीन मागें रखी। यह कि चीन की भूमि अर्थात ताइवान मे तथा उत्तरी कोरिया मे अमेरिकी हस्तक्षेप की भत्सना की जाये और उसके खिलाफ कडी कायवाही भी हो ताइवान से अमेरिकी सेनाआ को हटाया जाये, तथा कोरिया विवाद का समाधान सभी बाहरी हस्तक्षेप के बिना वहा की जनता की आकाक्षाओ के अनुसार आन्तरिक रूप स किया जाये। सयुक्त राष्ट्रसघ के विभिन्न प्रयासो के फलस्वरूप कोरिया के आन्तरिक युद्ध मे तात्कालिक रूप से ठहराव की स्थितिया आई। लेकिन इस पूरे विवाद ने अमेरिका चीन सम्बन्धो मे तनाव की उग्र स्थितिया भी उत्पन्न की। फरवरी, 1951 मे अमेरिका और ताईवान के बीच परस्पर सैनिक सहायता समझौता हुआ। समझौते पर चीन की तीव्र प्रतिक्रिया तथा अमेरिका चीन सम्बन्धो मे और अधिक गिरावट स्वाभाविक थी।

आइजनहावर के राष्ट्रपति काल के दौरान राज्य सचिव के रूप मे जान फॉस्टर डलैस की नीतिया ने चीन अमेरिका विवादो को प्रारम्भिक रूप से और अधिक कटु बनाया। 1954 मे दक्षिण पूव एशिया सधि सगठन (SEATO) की स्थापना हुई। चीन ने इसकी कडी निंदा करते हुये इसे चीन के विरोध मे आयोजित षडयत्र बताया। इसी वष दिसम्बर म अमेरिका ने ताइवान के साथ पारस्परिक सनिक सधि भी की। सधि का प्रमुख उद्देश्य यह था कि चीन द्वारा ताइवान पर आक्रमण की सम्भावनाओ के विरोध म अमेरिकी नीति को स्पष्ट कर दिया जाये। इस सधि के बाद जनवरी, 1955 म अमेरिकी काग्रेस ने राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया कि ताइवान की सुरक्षा एव स्वतत्रतासे सबधित कोई भी आवश्यक कदम उठाया जा सकता है। इन दोनो घटनाओ की चीन मे तीव्र प्रतिक्रिया हुई। चीन की प्रतिक्रिया का दोहरा स्वरूप था। एक ओर जहा अमेरिका के इन निणयो की तीव्र भत्सना की गई, वही साथ ही साथ चीन को यह आभास भी हुआ कि तात्कालिक रूप से ताइवान को स्वतत्र करवाना व्यावहारिक स्तर पर सम्भव नही है। विशेषत सोवियत सघ से हुई वार्ताओ के बाद ऐसा दृष्टिकोण और भी स्पष्ट हो गया। सोवियत सघ की यह मान्यता थी कि ताइवान पर किसी सैनिक कायवाही द्वारा विजय प्राप्त करना अव्यावहारिक और आत्मघाती होगा। अत तात्कालिक नीति इस क्षेत्र म विवाद को कम करने की होनी चाहिय। चीन के लिये भी, ऐसी सोवियत समझ के होते हुये, कोई अन्य विकल्प सभव नही था।

1955 म बाडुग सम्मेलन के दौरान चीन की ओर से अमेरिका के साथ वार्ता की पहल करने की बात उभरी। एक प्रेस वक्तव्य म चाऊ एन-लाई ने कहा कि चीन दक्षिण पूव एशिया और ताइवान आदि के प्रश्न पर तनाव कम करने के उद्देश्य से अमेरिका के साथ वार्ता करने को तैयार है। इस वक्तव्य की तात्कालिक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए अमेरिकी घोषणा म कहा गया कि अमेरिका चीन के इस बदलते हुए रुख के प्रति आशावान है, लेकिन जब तक दक्षिण पूव एशिया में तनाव कम करने के प्रमाण न मिले और चीन इस बात का आश्वासन न दे कि वह ताइवान के सम्बन्ध में आक्रमण की नीति नहीं अपनायेगा, तब तक वार्ताओं का कोई साथक स्वरूप नहीं उभर सकता। इस घोषणा के बाद चीन और अमेरिका के बीच वार्ताओं को आयोजित करने के अनेक आधार विचारणीय रहे। जुलाई, 1955 में अमेरिका और चीन के एक सयुक्त वक्तव्य मे यह कहा गया कि दोनो राष्ट्रो ने राजदूत स्तर पर वार्तायें करने का फसला किया है। चेकोस्लोवाकिया मे उपस्थित चीन और अमेरिका के राजदूतों के माध्यम से य वार्तायें होंगी। राजदूत स्तरीय इन वार्ताओ का दौर करीब तीन वप तक चला। 1958 मे अमेरिकी राजदूत के चेकोस्लोवाकिया स स्थानान्तरण के बाद कुछ समय के लिये ये वार्तायें बन्द हो गयी। वार्ताओ के इन तीन वर्षों मे अमरिका और चीन सम्बन्धो मे आशिक सुधार हुआ। सितम्बर, 1955 मे दोनो राष्ट्रो के बीच यह यह समझौता हुआ कि एक दूसरे देश मे रहने वाले चीनी अथवा अमेरिकी मूल के लोगा की परस्पर अदला बदली की अनुमति दी जायेगी। मई, 1956 म एक सयुक्त वक्तव्य मे यह कहा गया कि दोना राष्ट्र क्षेत्रीय अखडता के सिद्धात का आदर करते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शातिपूण समाधान मे अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। इसी वप अगस्त म चीन द्वारा यह घोषणा की गई कि उसने पिछले सात सालो से अमेरिकी सवाददाताओ की चीन यात्रा पर लागू प्रतिबध को हटा दिया है। शुरू मे अमरिका ने अपने सवाददताओ को चीन की यात्रा की इजाजत नही दी, लेकिन शीघ्र ही अमेरिका की तरफ से भी अपने सवाददाताओ की चीन यात्राओ पर लगाये गय प्रतिबध को हटा लिया गया। इन वार्ताओ के दौरान मूलभूत विवादो पर कोई औपचारिक अथवा अनौपचारिक समझौता नहीं हुआ।

तात्कालिक रूप से परस्पर कटुता मे आई कमी अधिक दिन तक नही टिक सकी। 1958 म ताइवान के समीप एक बार फिर तनाव की स्थितिया उत्पन्न हुई। चीन अमेरिका सम्बन्धो मे तनाव इसकी स्वाभाविक परिणिति थी। जुलाई, 1958 में ईराक म एक आतरिक उथल पुथल के द्वारा पश्चिम समथित सत्ता अपदस्थ हो गई। इस घटना की तात्कालिक प्रतिक्रिया के रूप मे अमेरिकी सेनायें लेबनान पहुंची और ब्रिटिश सेनायें जोर्डन। इस कायवाही का तात्कालिक उद्देश्य, ईराक जैसी घटना की लेबनान और जोर्डन मे पुनरावृत्ति को रोकना था। लेकिन

चीन की दृष्टि मे इसके सम्भावित प्रभाव ताईवान पर भी हो सकते थे। सोवियत सघ द्वारा चीन को एक धैर्य पूण नीति अपनाने का परामश दिया गया। लेकिन चीन ने अपने निजी स्तर पर एक उग्र दष्टिकोण अपनाया। 4 सितबर, 1958 को चीन ने यह घोषणा की कि उसकी तटवर्ती समुद्री सीमा बारह मील तक है, और इस क्षेत्र म किसी भी विदेशी उपस्थितियो को स्वीकार नही किया जायेगा। इस घोषणा का सीधा तात्पय था कि ताइवान की सहायता के लिए उपस्थित अमेरिकी गतिविधिया अवैध हैं। अमेरिका की तरफ से भी उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त हुई। चीन ने हस्तक्षेप के एक कायक्रम की भी घोषणा की जो कि वास्तव मे लागू नहीं हुआ। इसी के समानान्तर लेबनान मे नई सरकार के चुने जाने के बाद और जोडन का आन्तरिक सकट भी टल जान के बाद अक्टूबर, 1958 तक अमेरिकी ब्रिटिश सेनाओ की वापसी भी हो गई। तात्कालिक रूप म उभरा सकट टल गया। लकिन इस पूरी प्रक्रिया के दौरान अमेरिका चीन सम्बन्धो मे पुन कटुता की मानसिकता स्पष्ट रूप से उभरी।

1949 के बाद एक दशक का घटनाचक्र अमेरिका चीन सम्बन्धो मे निरतर व्यक्त हुई कटुता को दर्शाता है। ताइवान का प्रश्न अमेरिका और चीन दोना के लिये ही उग्र विवाद का प्रश्न बना रहा। अन्यत्र भी कोरिया जैस अनुभवो मे सीधी टकराहट की स्थितिया उभरी। वार्ताओ का एक सीमित दौर भी रहा जो महत्व के स्तर पर भी और अवधि के स्तर पर भी सीमित उद्देश्यो वाला था। इस दौरान विभिन्न परस्पर विवाद दोना राष्ट्रो की दष्टि से आवश्यक विवाद थे। भविष्य मे भी इन विवादो के बने रहने के साथ-साथ, परस्पर सम्बन्धो मे सामान्यकरण की सम्भावनायें प्रतीत नही होती थी।

द्वितीय चरण
1959 से 1969 वैचारिक विवाद और महाशक्तिीय परम्परता

आतरिक विकास के स्तर पर अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समझ के विकास के स्तर पर, पिछले दशक का चीन का अनुभव अपनी सही पहिचान बनाने क सघष मे लगा रहा। इस मथन का कोई अन्तिम परिणाम नही उभर पाया था। विवाद कम होने के स्थान पर उत्तरोत्तर उग्र हुआ। चीन की आतरिक और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह दूसरा दशक इन्ही विभिन्न उग्र स्थितियो की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। आतरिक वैचारिक विवाद मे यह मथन और अधिक स्पष्ट था। माओ के दृष्टिकोण के पथक विकास के सामानातर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी मे आतरिक वैचारिक ध्रुवीकरण तीव्र रूप से उभरा। एक लम्बी प्रक्रिया के बाद माओ के नेतृत्व तथा दष्टिकोण की विजय हुई।

'सास्कृतिक क्रान्ति" का सिद्धात, अब तक के समाजवादी सिद्धातो की दृष्टि

से एक नई व्याख्या थी। पिछले दशक में विकास के अनेक उग्रवादी प्रयासों की असफलता से प्रेरित होकर माओ ने चिंतन की एक नई दृष्टि विकसित की। 1960 के बाद अनेक व्याख्याओं में यह बदलाव विकसित हुआ। माओ ने 'सांस्कृतिक क्रांति" की आवश्यकता के सिद्धांत को प्रतिपादन करते हुए कहा कि, कम विकसित आर्थिक सामाजिक स्थितियों में, शोषण की व्यवस्था की सबसे कमजोर कड़ी वैचारिकता तथा निर्बल उत्पादन संबंध हैं। साथ ही साथ यही निर्बल कड़ी, उत्पादन के संबंधों में क्रांतिकारी परिवर्तन को लागू करने में अग्रणी तात्कालिक अवरोध हैं। अतः आर्थिक सामाजिक क्रांति से पूर्व, आवश्यकता एक "सांस्कृतिक क्रांति" की है। इस क्रांति का प्रमुख उद्देश्य भावी विकास के वैचारिक अवरोधों को धराशायी करना है। माओ के इस सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण अभिप्राय था। यह कि, उत्पादन शक्तियों के वांछित विकास के पहले ही उत्पादन संबंधों के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन न सिर्फ संभव है अपितु नितांत आवश्यक भी। पर दृष्टिकोण अब तक के मान्य समाजवादी सिद्धांतों के एक दम विपरीत था।

'सांस्कृतिक क्रांति" में व्यक्त किये गये विचारों का विवाद चीन में समाजवादी व्यवस्था में प्रारम्भ से ही उठ खड़ा हुआ था। लेकिन 1960 के बाद ही माओ की स्पष्ट परिलक्षित हो सकी। "सांस्कृतिक क्रांति" के दौरान माओ ने क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया। उसने कहा कि, प्रत्येक पुरानी व्यवस्था के बदलने के बाद जब नई व्यवस्था लागू होती है तब उसमें भी हितों के नये छुट पुट आधार बन जाते हैं। पार्टी के अंदर भी ऐसे हित हो सकते हैं। अतः 'सांस्कृतिक क्रांति" का दायित्व ऐसे हितों का पर्दाफाश करना है तथा उन्हें पार्टी के दायित्वों से हटाना भी है। "सांस्कृतिक क्रांति" में नई मानसिकता का जन्म होना चाहिए। इस दृष्टि से माओ ने "चार पुराने आधारों' की आलोचना की— पुराना चिंतन, पुराने विचार, पुरानी आदतें, तथा पुराने रीति रिवाज। इन्हें बदलना "सांस्कृतिक क्रांति" का प्रमुख उद्देश्य कहा गया। 'सांस्कृतिक क्रांति" में सैनिक व्यवस्था के स्वरूप को भी बदलने पर बल दिया गया। कहा गया कि, जनता की सेना का दायित्व मात्र बाहरी सुरक्षा नहीं है। सेना को आंतरिक आर्थिक एवं सामाजिक बदलाव में भी सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। इस दृष्टि से, सैनिक व्यवस्था का पुनर्गठन "सांस्कृतिक क्रांति" का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

इस पूरी प्रक्रिया ने चीन की आंतरिक स्थिति में नई अनिश्चितताओं को जन्म दिया। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी में आंतरिक वैचारिक विवाद उत्तरोत्तर रूप से उग्र हुआ। इसके समानांतर, सांस्कृतिक क्रांति के उपचारों को लागू करने के साथ ही आर्थिक तथा सामाजिक स्तर पर खुले रूप में पार्टी का आंतरिक विवाद उभर कर सामने आया। इस प्रक्रिया के दौरान माओ की पहले से स्पष्ट की गई आर्थिक विकास की रणनीति को उग्र रूप से लागू किया गया। उत्पादन के साधनों

मे कोई विशेष आधुनिकरण नही हुआ, क्योकि पार्टी की प्रमुख दृष्टि प्रबन्ध व्यवस्था पर ही केन्द्रित थी। अत "सास्कृतिक क्राति" की स्थितिया जहा एक ओर तीव्र राजनीतिक तथा सामाजिक परिवतन की परिचायक थी, वही दूसरी ओर उत्पादन शक्तियो के विकास मे साधारणतया ठहराव की स्थितियो के बीच चीन का अन्तर्राष्ट्रीय दष्टिकोण विकसित हुआ।

चीन का विश्व-दृष्टिकोण

छठे दशक के प्रारम्भ मे ही चीन मे उभरते आतरिक वैचारिक मथन के अन्तर्राष्ट्रीय आयाम भी विकसित हुए। अमेरिका तथा सोवियत सघ मे परस्पर सम्बन्धो की शुरुआत ने चीम के विश्व दष्टिकोण के विकास को निरन्तर प्रभावित किया। वैसे तो प्रारम्भ से ही सोवियत सघ ने चीन को एक धैयपूण नीति अपनाने के लिए परामश दिया। लेकिन अब ऐसे परामश को चीन ने दूसरे ही दष्टिकोण मे समझा। चीन की यह मानसिकता बनने लगी कि महाशक्तियो के हित तथा अन्य सभी राष्ट्रो के हित गुणात्मक रूप से भिन्न हैं। ऐसी मानसिकता की पृष्ठ-भूमि मे, सोवियत सघ के आतरिक विकास के प्रति चीन की वैचारिक समझ भो रही। चीन का दष्टिकोण था कि, सोवियत विदेश नीति मे समझौतावादी प्रवत्तियो से पथक नही हैं। 1962 म माओ ने एक वहद पार्टी सभा को सम्बोधिन करते हुए यह घोषणा की कि सोवियत पार्टी और राज्य का नेतत्व सशोधनवादियो के हाथो मे चला गया है। अत उनस किसी क्रातिकारी भूमिका की अपेक्षा करना एक भुलावा होगा। इसी के साथ साथ, चीन के नेतत्व ने इस वात पर बल दिया कि साम्राज्यवादी शक्तिया अपनी हस्तक्षेप की नीति म अधिक सक्रिय हो रही हैं। चाहे वह हिन्द चीन का प्रश्न हो, अथवा पश्चिमी एशिया या अफ्रिका का साम्राज्य-वादी शक्तिया अपनी कुचेष्टाओ मे उत्तरोत्तर उग्र हो रही हैं। लेकिन साम्राज्य वाद की व्यवस्था अपने स्वय के आतरिक अन्तर्विरोधो के कारण, इन्ही हस्तक्षेप की नीतियो से पराजित भी होगी। क्योकि वह एक कागजी शेर (Paper Tiger) मात्र है।

ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय समझ के आधार पर, चीन ने अपने विश्व दष्टिकोण को पुन परिभाषित किया। इस विश्व दष्टिकोण के अनुसार तीन प्रमुख विश्वस्तरीय अन्तर्विरोध बताये गये। प्रथम मार्क्सवादी लेनिनवादी शक्तियो और सशोधन वादी शक्तिया के बीच, द्वितीय, समाजवादी शक्तिया और साम्राज्यवादी शक्तिया के बीच, तथा ततीय एशिया-अफ्रिका तथा लातिनी अमेरिकी मानव समु-दाय और अमेरिका के नेतत्व मे साम्राज्यवाद के बीच। इन अन्तर्विरोधो की व्याख्या करते हुए 1962 मे माओ ने कहा कि, प्राथमिक महत्व को विश्वस्तरीय अन्तर्विरोध अमेरिकी नेतत्व मे साम्राज्यवाद और एशिया अफ्रिका तथा लातिनी

अमेरिका के बीच है। इससे पहले की मान्यता कि, प्रमुख अन्तर्विरोध साम्राज्यवाद और समाजवाद के बीच है, माओं की दृष्टि मे वह सार्थक नही रहा। साम्राज्यवाद के षडयंत्रो का सीधा निशाना यह ततीय विश्व के राष्ट्र हैं, जो कि तात्कालिक रूप से साम्राज्यवादी साजिश के शिकार है। अत साम्राज्यवाद से लडने के लिये एक विश्व स्तरीय एकजुटता की आवश्यकता है। सभी समाजवादी राष्ट्रो का भी यही दायित्व है कि इस प्राथमिक लडाई मे अपना सहयोग दें। लेकिन समाजवादी राष्ट्रो के बीच भी मार्क्सवादी लेनिनवादी वैचारिक मान्यताओ तथा सशोधन वादियो के वैचारिक विरोध हैं। सशोधनवादियो की पराजय, इस दृष्टि से न सिर्फ समाजवाद को सही दिशा देने के लिए आवश्यक है, अपितु, साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के षडयंत्रो की पराजय के लिए भी। जहा तक सोवियत दृष्टिकोण का प्रश्न है वह साम्राज्यवाद के आणविक भय के जाल मे फस गया है। अत सोवियत भूमिका मुख्यत साम्राज्यवादी हस्तक्षेप को मौन स्वीकृति देना बन गई है। सोवियत सघ निरतर क्रान्तिकारी आन्दोलनो के साथ विश्वासघात कर रहा है। पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्र मात्र अमेरिकी साम्राज्यवाद के पिछलग्गु से अधिक नही है। उनकी स्थिति भी असहायक है। गुट निरपेक्षता अथवा ऐसा कोई अन्य आयोजन भी विश्व शाति को स्थापित करने के लिए प्रभावी नही हो सकता। स्थाई शाति अपने आप नही मिलती। स्थाई शाति को सतत सघर्षों के द्वारा जीता जाता है। अत ऐसे समस्त सघर्षों की एक मात्र प्रेरणा चीन के क्रान्तिकारी नेतत्व तथा सक्रिय भूमिका से ही सभव है। चीन को अपनी नीति मे तीन स्तरीय सक्रिय भूमिका निभानी होगी। प्रथम, अन्य राष्ट्रो म हो रहे साम्राज्यवादी आतक और हस्तक्षेप के विरुद्ध लडे जा रह सघर्षों को सक्रिय सहयोग। द्वितीय, साम्राज्यवाद के साथ सीधी प्रतिस्पर्धा। तृतीय, समाजवादी विचारधारा मे उभर रही सशोधनवादी प्रवृत्तियो का सक्रिय विरोध।

चीन के इस नवपरिभाषित विश्व दृष्टिकोण के अनेक अभिप्राय थ। विदेश नीति के निर्माण के व्यावहारिक पक्ष इससे प्रभावित हुए। एशिया अफ्रिका के राष्ट्रो के साथ अपने सम्बन्धो को बढाना इसका प्रमुख अभिप्राय था। समाजवादी गुट के राष्ट्रो के बीच, सोवियत सघ को सशोधनवादी प्रवृत्तियो की आलोचना इसका अन्य महत्वपूर्ण पक्ष था। हिन्द चीन म अमरिकी सैनिक उपस्थिति का विरोध और यहा चल रहे मुक्ति सघर्षों म तात्कालिक सक्रिय भूमिका इस नीति का एक प्रमुख दायित्व भी था। इस दायित्व के दोहरे उद्देश्य थे। एक ओर जहा इसका उद्देश्य साम्राज्यवाद के विरोध म सघर्ष करना था, वहा दूसरी ओर यह आशा भी थी कि सोवियत सशोधनवादी नीति की तुलना म चीन की क्रान्तिकारी दृष्टि को समर्थन मिलेगा। इन नीतियो का व्यावहारिक स्तर पर लागू करवाने में दो मूलभूत कठिनाइया उपस्थित हुइ। प्रथम यह है कि ऐसी बहुपक्षीय नीति को

क्रियान्वित करने के लिए आर्थिक तथा सैनिक ससाधन चीन के पास उपलब्ध नही थे। दूसरा पक्ष सास्कृतिक क्राति के सन्दर्भ से जुडा है। इस अवधि मे चीन की राजनयिक गतिविधिया एक दम कम हो गईं। कुछ राष्ट्रो मे नियुक्त राजदूतो के अलावा अन्य सभी को 'राजनीतिक शिक्षा' के लिए चीन बुला लिया गया। सास्कृतिक क्रान्ति के दौरान वैचारिक विवाद भी मुख्यत आतरिक प्रश्नो पर केन्द्रित रहा। अत वैचारिक स्तर पर उभरती हुई नई विश्व दृष्टि न तो गहन आतरिक विवाद का कारण बनी और न ही इसकी क्रियान्विति पर कोई सक्रिय रूप रेखा उभर पाई। अत इस चरण मे चीन के परराष्ट्र सम्बन्धो विशेषत अमेरिका और चीन के साथ सम्बन्धो को, इस तुलनात्मक निष्क्रियता के सन्दर्भ मे देखना होगा।

चीन-सोवियत सम्बन्ध मैत्री की विशिष्टता से वैमनस्य तक (1959 1969)

इस चरण मे चीन सावियत सबधो म सीधी टकराहट की अनेक स्थितिया उपस्थित हुईं। दोनो राष्ट अनेक स्तरो पर परस्पर विवाद में उलझे। 1959 मे ही चीन के आन्तरिक विकास की नीति की तीव्र भर्त्सना तथा आर्थिक सहयोग को खतम करने के सोवियत निर्णय से ही एक वैचारिक प्रतिद्वद्विता के आधार तैयार हो चुके थे। इस दशक मे इन्ही आधारो की उत्तरोत्तर उग्र अभिव्यक्तिया हुन्। परस्पर आलोचना के दोहरे स्तर रहे। समसामयिक प्रश्ना पर एक दूसरे की आलोचना उभरने लगी। प्रारम्भ म, यह सीमित स्तर पर हुई, तथा धीरे-धीरे खुले रूप से भी आरोप प्रत्यारोप की प्रक्रिया होने लगी। इस परस्पर वचा-चाग्कि विवाद का दूसरा स्तर समाजवादी राष्ट्रा के बीच एक दूसरे की मान्यताओ का प्रचार करना भी रहा। सीमा विवाद आदि प्रश्न बाद की स्थितियो मे उभरने लगे।

जून, 1960 मे रूमानिया कम्युनिस्ट पार्टी के अधिवेशन के दौरान सोवियत और चीन प्रतिनिधियो मे पहली वैचारिक झडप देखने को मिली। ख्रुश्चेव ने सीधा आरोप लगाया कि चीन की अति उग्रवादी नीति न सिफ चीन के लिए आत्मघाती है अपितु पूरे समाजवादी गुट के लिये एक सम्भावी खतरा भी है। इसी वष दिसम्बर मे मास्को मे अयोजित वामपथी दलो के सम्मेलन मे यह विवाद और अधिक स्पष्ट रूप से उभरा। चीन के दृष्टिकोण को समथन देने के लिये समाजवादी गुट का एक मात्र राष्ट्र अल्बानिया सामने आया। सोवियत पार्टी के लिये यह एक नई चुनौती थी। अत सोवियत आक्रोश का अल्बानिया केन्द्र बन गया। अक्टूबर, 1961 से आयोजित सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के 22वें अधिवेशन मे अल्बानिया तो आमत्रित नही किया गया। अधिवेशन के दौरान अल्बानिया की

नीतियों पर सीधा प्रहार किया गया, जो कि परोक्ष रूप से चीन पर केन्द्रित था। चीन के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित चाउ-एन लाई इसके विरोध में अधिवेशन से उठकर चले गये। सोवियत चीन विवाद इसके बाद अधिक प्रखर हुआ।

1962 का वर्ष दोनों राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों के लिये अत्यधिक महत्त्व का बन गया। क्यूबा का संकट अनेक अभिप्रायों वाला था। जहा एक ओर इसने शीत युद्ध की पराकाष्ठा अभिव्यक्त की, वहीं सोवियत चीन संबंधों में भी परस्पर खुली आलोचना को प्रारम्भ किया। इस घटना के बाद चीन ने इसे सोवियत समझौता वादी नीति की स्पष्टतम अभिव्यक्ति कहा तथा इसे समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिये अत्यधिक शर्मनाक बताया। क्यूबा विवाद के समानान्तर, भारत चीन सैनिक झड़पें भी हुई। इस विवाद में सोवियत संघ ने अपनी तटस्थता व्यक्त की, जिसका स्पष्ट अभिप्राय चीन के ऐसे कदम की आलोचना करना था। कुछ राजनीतिक पर्यवेक्षकों के अनुसार, क्यूबा विवाद तथा भारत चीन युद्ध का एक साथ होना आकस्मिक नहीं था। इस मान्यता के अनुसार, चीन ने अपनी नीति को सोवियत 'समझौतावादी" नीति से भिन्न प्रस्तुत करने का प्रयास किया। चीन का उद्देश्य स्पष्ट था। यह कि, जहा एक ओर सोवियत नीति ने साम्राज्यवादी चेतावनी के आगे समर्पण कर दिया, वहीं चीन ने दूसरी ओर अपने आत्म विश्वास का परिचय देने का प्रयास किया। चीन स्पष्ट रूप से यह स्थापित करना चाहता था कि, जहा तक एशियाई प्रश्नों की बात है, महाशक्तियां भी बिना चीन के कोई कदम नहीं उठा सकती। भले ही ऐसी समझ के वास्तविक क्षमतागत आधार चीन के पास नहीं थे, फिर भी इस घटना ने सोवियत नीति को अधिक सक्रिय एशियाई भूमिका तैयार करने को प्रेरित किया।

1963 में पूर्वी जर्मनी में आयोजित साम्यवादी राष्ट्रों के सम्मेलन तक सोवियत चीन विवाद प्रखर रूप से उभर चुका था। चीन ने सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की आलोचना का एक 25 सूत्रीय प्रारूप प्रस्तुत किया। इस प्रस्ताव में सोवियत नीति की सर्वपक्षीय आलोचना करते हुए, विशेषत उसकी इस इस बात पर निंदा की गई कि स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत नेतृत्व का सम्पूर्ण दृष्टि-कोण संशोधनवादी बन गया है। पिछले वर्षों में यह दृष्टिकोण उत्तरोत्तर स्पष्ट हुआ है। चीन ने इस आलोचना के साथ साथ पहलीबार सीमा विवाद का प्रश्न भी उठाया। चीन ने यह मत व्यक्त किया कि रूस और चीन के बीच 19वीं शताब्दी के बीच अनेक सीमा समझौते रूसी जारशाही के आतंक के कारण असमान शर्तों पर हुए थे। अत 19वीं शताब्दी के इन समझौतों पर पुनर्विचार आवश्यक है। सोवियत संघ ने असमानता के इस चीनी दावे का खंडन किया। अमेरिका और सोवियत संघ के बीच 1963 में हुई आणविक परीक्षण संधि की चीन ने तीव्रतम भर्त्सना की। चीन ने इसे विश्व आधिपत्य तथा एकाधिकार को

साजिश कहा, तथा यह स्पष्ट किया कि इसको थोपने के सभी प्रयासो का सक्रिय विरोध किया जायेगा। फरवरी 1963 मे सोवियत पत्र 'प्रावदा' ने एक विस्तृत लेख प्रकाशित किया 'अन्तराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन मे एकता स्थापित करने हेतु सोवियत पार्टी का सघर्ष"। सोवियत सघ की तरफ से चीन की नीति की यह प्रखरतम सवपक्षीय आलोचना थी। इस लेख मे स्पष्ट रूप से कहा गया कि अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट आन्दोलन की एकता के लिये चीन का पथकतावादी दृष्टिकोण सबसे बडा खतरा है। अत समस्त साम्यवादी दलो का यह दायित्व है कि वे चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्तो से भटकाव को समझने तथा इस भटकाव के प्रति सक्रिय विरोध द्वारा अन्तर्राष्टीय सवहारा की एकता म विभाजन का रोकें। मतभेदो के इस स्पष्ट और खुले स्वरूप के बाद सोवियत चीन सम्बन्धो मे परस्पर आलोचना की स्थिति निरन्तर बनी रही।

सोवियत चीन के उभरते हुये मतभेदो ने एशियाई राष्ट्रो के बीच दोनो की प्रतिद्वन्द्विता का भी बढावा दिया। सोवियत सघ ने 1962 के बाद भारत के साथ और अधिक निकट के सम्बन्ध बनाये। आर्थिक सहायता के साथ सैनिक सहायता की प्रक्रिया भी प्रारम्भ की गई। 1962 मे ही सोवियत सघ ने भारत को मिग विमान बेचने तथा इन विमानो के उत्पादन के लिये कारखाना लगाने का समझौता किया। एशिया तथा अफ्रिका के गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो के बीच भारत और सोवियत प्रभाव को कम करने की दृष्टि से चीन भी सक्रिय हुआ। दिसम्बर 1963 म चाउ एन-लाई ने एशिया तथा अफ्रिकी राष्ट्रो का वहद भ्रमण किया। चीन का तात्कालिक उददेश्य आगामी द्वितीय गुटनिरपेक्ष सम्मेलन के स्थान पर एक एशिया अफ्रिका के राष्ट्रो के सम्मेलन के प्रस्ताव को रखना था। इस वैकल्पिक प्रस्ताव के द्वारा ततीय विश्व के राष्ट्रो के बीच चीन ने सोवियत तथा भारत के विरुद्ध आयोजन की सम्भावनाओ की तलाश की। चीन को कोई उत्साहवधक प्रतिक्रिया नही मिली। प्रस्तावित गुट निरपेक्ष सम्मेलन यथावत आयोजित हुआ। 1965 म भारत पाक युद्ध के दौरान भारत को सोवियत सघ का परोक्ष समथन मिला। चीन ने 'भारतीय प्रतिक्रियावादियो" को दिये गये सोवियत समथन की कडी निन्दा की। लेकिन ताशकन्द समझौते ने एशियाई सन्दर्भ मे एक नई सोवियत भूमिका को प्रकट किया। इस तात्कालिक असफलता के बाद भी चीन ने पाकिस्तान के साथ अपने सबधो को विकसित करने के प्रयास जारी रखे। इन प्रयासो को उत्तरोत्तर रूप म सीमित सफलता भी मिली।

हिन्द चीन सबध मे सोवियत चीन प्रतिस्पर्धा का स्वरूप गुणात्मक रूप से भिन्न रहा। वियतनाम कम्बोडिया तथा लाओस आदि म चल रहे जनसघर्षो को चीन और सोवियत सघ दोनो का विवाद का स्वरूप वांछित रणनीति के प्रश्न पर अधिक उभरा। 1965 के बाद वियतनाम म अमेरिकी बमबारी तथा सनिक

हस्तक्षेप मे बढ़ोत्तरी हुई। इन स्थितियो म, चीन ने गरिल्ला रणनीति पर अधिक बल दिया तथा साम्राज्यवाद स किसी भी प्रकार की वार्ता का विरोध किया। इसके विपरीत सोवियत दृष्टिकोण था कि, सघष के जारी रहन हुये, वार्ताओ की सम्भावनाओ मे मुह नही मोडना चाहिये। चीन न इस सोवियत दृष्टिकोण की कडी भरसना की। लकिन 1967 म स्वय वियतनाम न अमेरिका के साथ वार्ताए प्रारभ करने की नीति पर बल दिया। इन प्रयासो को सोवियत सघ का पूरा समथन मिला। वार्ताओ के इस निणय को गलत बतात हुए चीन ने इसे सोवियत और अमेरिका की मिली जुली साजिश बताया। चीन का प्रचार था कि इस साजिश के द्वारा महाशक्तिया वियतनामी जनता को आत्मसमपण के लिए मजबूर कर रही है। चीन न वियतनाम को इस षडयत्र के प्रति सचेत रहन की सलाह दी थी सक्रिय चीन समथन का आश्वासन भी। वियतनामी नेतत्व ने सूझबूझ का परिचय दिया तथा दोनो राष्ट्रो के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करत हुए अपने आपको सोवियत चीन विवाद मे सीधे रूप स नही उलझने दिया।

ख्रुश्चेव के नेतृत्व के पतन के बाद चीन और सोवियत सघ के बीच सम्बधों को सामान्य बनान के आशिक प्रयास हुये। ब्रेझनेव नेतत्व ने चीन का आह्वान किया कि चीन दोनो राष्ट्रो के बीच विवादो को सुलझाने का प्रयत्न करे तथा समाजवादी गुट की एकता का मजबूत बनान मे अपना सहयोग दें। इसके बाद दोनो राष्ट्रो म सीमाविवाद पर वार्ताओ का एक सीमित दौर चला। इन वार्ताओ मे कोई भी समझौता नही हो सका। इसी वष चीन ने प्रथम आणविक परीक्षण किया था। अत इन वार्ताओ म भी उसने अपनी क्षमता से उभरी दढता को व्यक्त किया। वार्ताओ के विफल होने के बाद सोवियत नेतृत्व ने यह घोषणा की कि उसने चीन के साथ सम्बधो को सामान्य बनाने के भरसक प्रयास किये लेकिन चीन के नीति हठधर्मी बनी रही। इसके बाद सोवियत सघ की नीति चीन के प्रति उग्रतर बन गई। चीन मे आन्तरिक "सास्कृतिक क्रान्ति' का प्रभाव इस दौरान अपने चरम पर था। इस वचारिक मथन मे चीन की दृष्टि सोवियत सघ के प्रति और अधिक वमनस्यकारी बनी। चीन की पार्टी म कुछ लोग सोवियत सघ के साथ सबधो के सामान्यीकरण के भी पक्षधर थे। इनकी मान्यता थी कि हिन्द चीन मे बढती हुई अमेरिकी उग्र नीति को देखते हुए सोवियत सघ के साथ सबधो पर पुनर्विचार करना चाहिये। ऐसे दृष्टिकोण का उग्र प्रतिरोध हुआ, जिसके फलस्वरूप चीन के सेनाध्यक्ष को पदमुक्त कर दिया गया। सास्कृतिक क्रान्ति के दौरान हुई उग्रवादी घटनाओ मे, जनवरी, 1967 म बीजिंग स्थित सोवियत दूतावास की नाकेबन्दी कर दी गई। इस घटना ने सोवियत चीन सम्बन्धों मे और अधिक वमनस्य पदा किया। फरवरी मे सोवियत दूतावास में काय कर रहे कमचारियो को हटा लिया गया और चीन ने भी सोवियत सघ मे पढ रह सभी चीनी विद्या

यिया को वापस बुला लिया ।

1968 के बाद सोवियत चीन सम्बन्धो मे वैमनस्य की चरम स्थितिया उत्पन्न हुई । 1968 मे रूस द्वारा चेकोस्लोवाकिया मे हस्तक्षेप की चीन मे उग्रतम प्रतिक्रिया हुई । चीन म इस धारणा को सोवियत सघ की षडयत्रकारी नीति का प्रबलतम प्रमाण कहा । यह एक विचित्र स्थिति थी । क्योकि, 1956 मे जब हगरी मे इसी प्रकार का सोवियत कदम उठाया गया था तब चीन ने उस सक्रिय समथन दिया था । यही नही उस घटना के दौरान चीन ने यह दावा भी किया था कि, सोवियत सघ हगरी में हस्तक्षेप के लिये झिझक रहा था तथा उसकी सक्रिय प्रेरणा के फलस्वरूप ही सोवियत सघ हगरी मे कदम उठाने को तैयार हुआ था । चीन की नीति मे इस विरोधाभास ने चीन को एक नय विश्व दृष्टिकोण की समझ तैयार करन को प्रेरित किया । चेकोस्लोवाकिया विवाद के समानान्तर सोवियत-चीन सीमा पर भी तनाव म वद्धि हुई । इसकी चरम परिणिति 1969 म हुई । सोवियत और चीन के बीच उससुरी नदी तथा दमस्की द्वीप पर प्रथम बार सीमा विवाद को लेकर सैनिक झडपें हुई । सैनिक झडपें सीमित होते हुये भी उग्र थी । इस घटना ने दोना राष्ट्रो के बीच सबधो को अभूतपूव रूप स कटु बनाया । सीमा के विवाद को सुलझाने के लिए वार्ताए प्रारम्भ हुई । लेकिन वार्ताओं की सफलता तो दूर, वार्ताओ को आयोजित करने की कार्यविधि तक पर कोई आम राय नहीं बन पाई । चीन की यह मान्यता थी कि वार्ताओ म इस बात को आधार माना जाये कि 19वी शताब्दी के दौरान हुई सधिया असमान थी । सोवियत मत था कि ऐसे किसी पूर्वाधार को वार्ताओ का आधार बनाना—निस्सार है लेकिन कोई सफल परिणाम नही निकले ।

पिछले दशक के विवेचन स यह स्पष्ट होता है कि सोवियत-चीन सम्बन्ध बद स बदतर बने । वैचारिक विवाद ने अन्य क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा को जन्म दिया । साथ ही साथ, मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण के अभाव में सीमा विवाद भी जटिल बन गया । चीन का विकास एक स्वतन्त्र आणविक शक्ति के रूप में हुआ, जिसने सोवियत-चीन सम्बन्धो के साथ साथ विश्व स्तरीय सम्बन्धों के सन्तुलन में भी नये अभिप्रायो और आवश्यकताओ को जन्म दिया । इस दशक के अन्तिम वर्षों म, चीन के एक नये विश्व दृष्टिकोण का विकास हुआ । इस दृष्टिकोण ने सोवियत-चीन सम्बन्धो को वैचारिक आधार पर अधिक सुदृढ़ बनाया । लेकिन साथ ही साथ नये विश्व सतुलन की दृष्टि से, दोनों देशों के बीच तनाव, टकराहट स्थितियों में कमी आई । ये मिश्रित प्रवत्तिया इसके अन्त में उत्पादित हुई ।

चीन-अमेरिका सबध अपरिभाषित टकराव (1959-1969)

चीन अमेरिका सम्बन्धों का यह द्वितीय दशक एक अपरिभाषित

का युग कहा जा सकता है। दोना राष्ट्रा के बीच टकराहट की स्थितिया रही, तथा साथ ही साथ वार्ताओ का एक औपचारिक क्रम भी बना रहा। करीब एक वर्ष के अ तराल के बाद राजदूत स्तरीय वार्ताए पुन प्रारम्भ हुई। इन वार्ताओ क दौरान परस्पर विचार विनिमय स अधिक कुछ भी उपलब्ध नही हुआ। अनक अ त र्राष्ट्रीय विवादा म परस्पर आरोप प्रत्यारोप भी हुए। कुल मिला कर सबधो में न तो कोई विशेष गिरावट ही आयी और न ही कोई सकारात्मक स्वरूप उभरा। निर तर एक ठहराव की स्थिति बनी रही।

कैनेडी के नेतृत्व के दौरान अमरिकी विदेशनीति में कुछ नई मानसिकतायें भी उभरी। इन विभिन्न मता का अभिप्राय मूलत चीन के साथ सम्बन्धो को सामा य बनाना नही था। प्रमुख उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन के प्रश्न को एक नई योजना क तहत सचालित करना था। कैनेडी प्रशासन के दौरान दो चीन के सिद्धात का मन भी उभरा। चीन का अस्तित्व एक वास्तविकता थी तथा ताइवान को बनाय रखना भी प्रमुख उत्तरदायित्व था। इस दृष्टि स यह विचार उभरा कि दोना के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए अमेरिकी नीति की रूप रखा बनाई जावे। ऐसे प्रस्ताव की चीन मे तीव्र प्रतिक्रिया हुई जिसम कहा गया कि यह प्रस्ताव चीन की क्षेत्रीय अखण्डता का विरोधी है तथा अमेरिका की एक चालाकी भरी साजिश है। चीन की सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता पर भी एक नई व्यावहारिक नीति तैयार की गई। उत्तरोत्तर रूप से अमेरिका को यह स्पष्ट हो रहा था कि चीन की सदस्यता क पक्ष मे विश्व जनमत बढ रहा है। ऐसी स्थिति मे अमेरिका द्वारा बार बार 'वीटो' का प्रयोग आलोचना का केन्द्र बन गया था। अत अमेरिका ने एक प्रस्ताव द्वारा यह पारित करवाया कि चीन की सदस्यता का मामला एक "महत्वपूण प्रश्न" है। इस प्रस्ताव का तात्पय था कि, इस प्रश्न पर निणय के लिये दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता बन गई। अब कुछ और वर्षो तक अमेरिका, बिना 'वीटो' का प्रयोग किये चीन की सदस्यता को रोकने मे सक्षम बन गया था। जहा तक दोनो राष्ट्रों के बीच सीधे सम्पर्क की बात थी, अमेरिका न राजदूत स्तरीय वार्ताओ को पर्याप्त माना तथा इसके स्तर को बढाने की बात पर बल नही दिया।

छठे दशक के प्रारम्भ मे चीन मे खाद्यान्न आदि की विकट समस्या उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरूप हागकाग के इलाके मे चीनी शरणार्थियो की समस्या भी उभरी। इसके फलस्वरूप इस क्षेत्र मे तनाव बढा, क्योकि इस घटना को लेकर ताइवान न चीन के विरुद्ध सक्रिय प्रचार प्रारम्भ किया। तनाव की स्थिति के बीच अमेरिका का सातवा जहाजी बेडा वहा तैनात हुआ। इसी के साथ साथ अमेरिका न यह प्रस्ताव भी रखा कि, मानवीय दृष्टिकोण को देखत हुए, अमेरिका चीन को खाद्य सहायता द सकता है। चीन द्वारा इसकी उग्रतम प्रतिक्रिया हुई जिसमे

अमेरिका के इस प्रस्ताव को चीन के आत्म सम्मान के अपमान की साजिश कहा गया। चीन की गेरिल्ला रणनीति के विरुद्ध सफलता के लिए कनेडी प्रशासन ने यह मत व्यक्त किया कि अमेरिकी सेनाओ को भी गरिल्ला लडाई का प्रशिक्षण दिया जाये। इस नई सैनिक सक्रियता की आलोचना करते हुये चीन ने इसे अमेरिका का हास्यास्पद प्रयास बताया। अमेरिका और रूस के बीच आणविक परीक्षण सधि की भी तीव्रतम भत्सना की गई। 1963 के एक 'सम्पादकीय म' चीन ने इस सधि को षडयत्र बताया जिसके द्वारा साम्राज्यवाद अपनी कुचेष्टाओ पर आवरण डालना चाहता था। चीन ने माग की कि यदि वास्तव मे नि शस्त्रीकरण लागू करना है तो आणविक हथियारो पर पूण प्रतिबध लगना चाहिये, तथा इस हेतु सभी राष्ट्रो का एक सम्मेलन बुलाया जावे। 1963 के दौरान क्यूबा घटना के बाद पुन सोवियत अमेरिका सम्ब धो के सामान्य बनने की प्रक्रिया को चीन ने विचित्र स्थिति कहा। क्यूबा अनुभव के बाद भी यदि अमेरिका सोवियत उद्देश्यो को शातिप्रिय मानता है तो, चीन की दष्टि मे, यह अमेरिका का बहुत बडा भुलावा है। *इन विभिन्न आरोपो प्रत्यारोपो के बीच राजदूत स्तरीय वार्ताओ मे* भी कुछ कमी आई।

अक्टूबर 1964 मे चीन का प्रथम परीक्षण हुआ। इस परीक्षण पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुये नव निर्वाचित अमेरिकी राष्ट्रपति जानसन ने इसकी भत्सना की तथा साथ ही साथ इस कदम द्वारा चीन की आणविक शक्ति बनने की इच्छा का मजाक भी उडाया। राजदूत स्तरीय वाताओ मे चीन द्वारा यह प्रस्ताव रखा गया कि वह आणविक हथियारो का "प्रथम प्रयोग न करने" हेतु अमेरिका के साथ समझौता करने को तैयार है। अधिक आणविक क्षमता वाले अमेरिका ने इस प्रस्ताव को एकदम ठुकरा दिया। इस बीच अमेरिकी नीति मे डलैस की यह मान्यता कि चीन मे साम्यवाद अपने आन्तरिक अन्तर्विरोधो के कारण स्वय ही खत्म हो जायेगा पूण रूप से अस्वीकृत हुई। ऐसी अमेरिकी समझ चीन की दष्टि मे ऐतिहासिक रूप से स्वाभाविक थी। अत चीन ने इस समझ का मजाक उडाया और इसे अमेरिकी नीति की दया नहीं अपितु विवशता बताया।

वियतनाम युद्ध मे बढे हुए अमेरिकी सैनिक हस्तक्षेप ने चीन-अमेरिका सबधो मे निरन्तर गिरावट की स्थितिया उत्पन्न की। आन्तरिक वैचारिक विवाद के बाद चीन ने सोवियत सघ के साथ सम्बन्ध सुधारने के विचार को पूणत अस्वीकृत कर दिया। साथ ही साथ अमेरिका के प्रति भी एक उग्र दष्टिकोण अपनाया गया। सितम्बर 1965 मे लिन पियाओ ने एक विस्तृत लेख मे गेरिल्ला नीति को माओ का ऐतिहासिक योगदान बताया इस लेख मे कहा गया कि साम्राज्यवाद का आतक चाहे जितना बढे, माओ की क्रान्तिकारी गेरिल्ला नीति के कारण अन्तत वियत नामी जनता की विजय और साम्राज्यवाद की पराजय निश्चित है। कोरिया युद्ध

के अनुभवो के आधार पर चीन को यह आशका थी कि कही अमेरिका द्वारा उस पर आक्रमण न हो। ऐसी स्थिति मे चीन द्वारा अमेरिका को निरन्तर चेतावनी दी जाने लगी। चीन के विदेश मत्री चेन यी ने अमेरिका को चेतावनी दी कि, यदि अमेरिका की चीन पर आक्रमण की कोई योजना है तो ऐसा कदम अमेरिका को बहुत महगा पडेगा। यदि एक बार अमरिका चीन की धरती पर आया तो गेरिल्ला रणनीति के फलस्वरूप उसका निकलना असम्भव हो जायेगा। मार्च, 1966 में अमेरिका के राज्य सचिव डीन रस्क ने एक दस सूत्रीय चीन नीति के प्रारूप को प्रस्तुत किया। इस प्रारूप मे प्रमुख रूप से कहा गया कि, अमेरिका द्वारा चीन पर आक्रमण करने की कोई योजना नही है। लेकिन, यदि उसके मित्र ताइवान पर कोई सकट आता है तो अमेरिका अपने दायित्व को निभाने से दूर नही रहेगा। अमरिकी नीति इस वक्तव्य के अनुसार, चीन के साथ सबध सुधारने की ही है। लेकिन अमेरिका मैत्री का ऐसा कोई कदम नही उठायेगा जो उसके मित्र राष्ट्रो को आशकित करे तथा ऐसा आभास दे कि अमेरिकी नीति चीनी उग्रवादिता को कोई पुरस्कार दे रही हो। इस वक्तव्य मे एशियाई राष्ट्रों को अधिक आर्थिक सहायता आदि देने की बात भी कही गई जिससे उन्हें साम्यवाद के खतरे से लडने के लिये सुदृढ बनाया जा सके।

अमेरिकी नीति के प्रत्युत्तर के रूप मे 10 मई 1966 को चाऊ एन लाई ने एक 4 सूत्रीय नीति की घोषणा की। इस घोषणा के पिछले दिन का तीसरा आणविक परीक्षण हुआ था जो कि हाईड्रोजन बम के निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण कदम था। इन चार सूत्रो मे प्रमुख रूप से यह वक्तव्य किया गया कि चीन अपनी ओर से कोई वैमनस्य बढाना नही चाहता। लेकिन अमेरिका के साथ सम्बन्ध सामान्य होने के लिए ताइवान विवाद का सुलझना एक प्राथमिक शर्त है। चीन इस प्रश्न पर कोई समझौतावादी नीति नही अपना सकता यद्यपि इस प्रश्न को सुलझाने के लिये वह वार्ताओ के माध्यम का भी पक्षधर है। चाऊ एन लाई की घोषणा का अन्य प्रमुख तत्व यह था कि वह अमेरिका को भावी हस्तक्षेप के प्रति खुली चेतावनी देता। इस दृष्टि से यह कहा गया कि चीन की कथनी और करनी मे फर्क नहा है। यदि उस पर आक्रमण हुआ तो मुह तोड जवाब भी दिया जायेगा और ऐसी स्थिति में युद्ध की सीमाए क्या होगी यह अमेरिका पर निर्भर नहीं करेगा। चीन का अनुभव माओ की गेरिल्ला नीति की निरन्तर सफलता का अनुभव है। भावी सकट म भी इसी नीति के द्वारा साम्राज्यवाद को मुह तोड जवाब मिलेगा। आणविक परिसीमन के प्रश्न पर चीन ने "प्रथम प्रयोग न करने" के समझौते की बात दोहराई। अमेरिका की प्रतिक्रिया थी कि, ऐसा समझौता तभी सम्भव है जब चीन आणविक परिसीमन सधि म भी प्रतिबद्ध होने को तयार हो। चीन ने इस प्रस्ताव को एकदम ठुकरा दिया।

वियतनाम युद्ध के दौरान एक लम्बे समय से चली आ रही राजदूत स्तरीय वार्ताओ पर भी विराम लगा। अमेरिका के साथ वार्ताओ की आलोचना करते हुय सोवियत सघ ने यह प्रचार किया कि चीन की नीति दोगली है। एक तरफ चीन क्रान्तिकारिता के भाषण देता है और वियतनाम को उग्र नीति के लिये उकसाता है, तो दूसरी ओर वह अमेरिका के साथ अपनी वार्ताओ मे भी लगा हुआ है। ऐसी सोवियत आलोचना की चीन मे तीव्र प्रतिक्रिया हुई। चीन ने अमरिका पर यह आरोप लगाया कि उसने वार्ताओ की गोपनीयता को भग किया है। अमेरिका और रूस की मिलीभगत है जो कि सोवियत सघ के बेहूद प्रचार से व्यक्त होती है। अत 7 सितबर, 1966 को राजदूत स्तरीय वार्ता की 131वी बैठक मे चीन के राजदूत न माओ के आदेश पर इन वार्ताओ को एक-पक्षीय रूप स खत्म करने की घोषणा की। इस घोषणा के प्रस्ताव मे वार्ताओ के पिछले 17 वर्षों के अनुभव को इस बात का साक्षी कहा गया कि अमेरिकी नीति निरन्तर उग्रवादी तथा षडयन्त्रकारी रही है। उसन चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने की थोथी घोषणाओ की आड मे चीन विरोधी सक्रियता को निरन्तर उकसाया है। वियतनाम के तात्कालिक अनुभव इसके साक्षी हैं। अत इन वार्ताओ की कोई साथकता अब नही रही है। माओ के आदेशो के अनुसार वार्ताए खत्म की जाती हैं और साम्राज्यवाद को यह चेतावनी दी जाती है कि तमाम उग्रवादिता के बावजूद वह मात्र एक कागजी शेर है। जनवादी आन्दोलना के सामन साम्राज्य वाद की पराजय निश्चित है।

वियतनाम युद्ध की इन चरम अभिव्यक्तियो से, चीन अमेरिका सम्बन्धा मे एक लम्बा अवरोध उत्पन्न हुआ। राष्ट्रपति जॉनसन के शासन के अन्तिम वर्षों मे अमरिका चीन सम्बन्धो म सामान्यीकरण के समस्त प्रस्ताव विफल रहे। इस बीच वियतनाम विवाद के सन्दर्भ मे अमेरिका तथा चीन दोनो की स्थिति विचित्र हुई। चीन के उग्रवादी उपदेशो के बावजूद वियतनाम ने वार्तायें प्रारम्भ करने के सोवियत परामश को अधिक व्यावहारिक माना। अमेरिका के अनुभव भी वियतनाम विवाद मे अत्यधिक कटु और असफल रहे। उग्र सैनिक हस्तक्षेप और बमबारी के बावजूद अमेरिका समर्थित दक्षिणी वियतनाम को सफलता नही मिल सकी। इस पूरी प्रक्रिया मे अमेरिका को अत्यधिक सैनिक खच उठाना पडा। अन्तर्राष्ट्रीय जनमत भी अमेरिकी कायवाही के विरुद्ध मे उग्ररूप से व्यक्त हुआ। साथ ही साथ आन्तरिक जनमत का विरोध भी आयोजित हुआ और यह मांग उठी कि अमेरिका को दक्षिणी वियतनाम के पक्ष मे अपनी सैनिक सलग्नता को खत्म करना चाहिय। इसी मानसिकता का पक्ष लेते हुये, रिचड निक्सन न अपना चुनाव अभियान आयोजित किया। निक्सन की विजय के साथ अमेरिकी नीति मे विश्वस्तरीय तनाव कम करने की प्रवृत्ति उभरी। अमेरिका चीन सम्बन्धा मे भी, इन बदले

हुये सदर्भों के साथ एक नये चरण का सूत्रपात हुआ ।

तृतीय चरण 1969 से 1979
त्रिकोणात्मक समीकरण की गतिशीलता

"सास्कृतिक क्रान्ति" के अनुभव चीन के लिए मिश्रित अभिप्राया वाले रहे। एक लम्बे आतरिक मथन की प्रक्रिया मे चीन की व्यवस्था म तथाकथित वैचारिक शुद्धिकरण तो हुआ लकिन आधुनिक विकास की दृष्टि से चीन समय के साथ नहीं चल पाया। "सास्कृतिक क्रान्ति" के दौरान हा अनेक वैचारिक विवाद उभरे, लकिन माओ की दृष्टि निरन्तर सघष के बाद विजयी हुई। जहा तक पार्टी मे आन्तरिक सुधार तथा एकता स्थापित करने का प्रश्न था, पुराने तत्व तो खत्म हुये, लेकिन मतभेदो के नये दायरे उभरने लगे। इस बार का विवाद पहले के विवादा की तुलना मे न सिर्फ गुणात्मक रूप से भिन्न था, अपितु उग्रत्तर भी। पार्टी के विभिन्न अगो का क्या योगदान हो, जन सेवा का विकास की प्रक्रिया म कितना तथा कैसा योगदान औचित्यपूर्ण है औद्योगिक केन्द्रा म स्वायत्त 'कम्यून' व्यवस्था पर पार्टी के निरीक्षण का क्या स्वरूप हो, औद्योगीकरण मे तकनीकी ज्ञाताओ और राजनीतिक दृष्टि के हस्तक्षेप के बीच सन्तुलन का आधार कैसा हो, तथा आर्थिक विकास की प्राथमिकताओ का क्या व्यावहारिक स्वरूप हो, आदि कुछ ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न थे जिनको "सास्कृतिक क्रान्ति" की प्रक्रिया ने तीव्र रूप से प्रस्तुत किया। प्रश्न तो परिभाषित थे, लेकिन अन्तिम विकल्प के निर्णय होने शेष थे। इस आवश्यकता ने चीन की कम्युनिस्ट पार्टी मे नये दृष्टिकोण की एक नई बहस को जन्म दिया।

1969 मे चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का 9वा अधिवेशन ऐतिहासिक महत्व का कहा जा सकता है। अधिवेशन म 'सास्कृतिक क्रान्ति" की समाप्ति की औपचारिक घोषणा की गई। साथ ही साथ सास्कृतिक क्रान्ति के अनुभवो की खुली समीक्षा भी हुई, जिसमे नीतियो के साथ साथ व्यावहारिक स्तर पर उनके क्रियान्वयन के पक्ष को भी समीक्षित किया गया। कृषि के क्षेत्र मे उत्पादन की गिरावट, तथा उद्योगो के पिछडे तकनीकी आधार पर चिन्ता व्यक्त हुई। अधिवेशन के दौरान वैचारिक बहस भी मुख्यत आन्तरिक विकास के कार्यक्रमों पर केन्द्रित रही। आधुनिकरण के प्रश्न को यद्यपि उत्साहवधक मान्यता नही दी गई, फिर भी इसकी आवश्यकता को देखते हुए उस एक सन्तुलित स्वरूप म स्वीकार किया गया। विकास कार्यक्रमो मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रश्न को पहले के उग्र दृष्टिकोण से नही देखा गया। यहा पर भी एक समन्वित विचार को बल मिला, जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तो लिया जाये, लेकिन अत्यधिक सावधानी के साथ। अत जहा तक आन्तरिक विकास की दृष्टि का विवाद था, इस नवें अधिवेशन स एक मिश्रित मानसिकता उभरी। एक ओर जहा पहले के अति

क्रान्तिकारी तथा अन्तर्मुखी दष्टिकोण पर विराम लगा, वही दूसरी ओर बदलाव की मानसिकता को भी उग्र अभिव्यक्ति नही मिल सकी। एक नये दष्टिकोण का सहमा हुआ सा प्रथम कदम उठाया गया।

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के इस नवें अधिवेशन का महत्व इस बात स आका जा सकता है कि इसने एक बदलाव की प्रक्रिया प्रारम्भ की। इसके बाद के वर्षों मे आधुनिकीरण का प्रश्न अधिकाधिक महत्व का बनता गया। 1973 मे हुये पार्टी के 10वें अधिवेशन मे यह दष्टिकोण और अधिक मुखरित हुआ। इसके साथ ही आधुनिकीरण का विवाद पार्टी का प्रमुख विवाद बन गया। माओ क नेतृत्व के दौरान ही लिनपियाओ का पतन हुआ। इसके बाद उग्रवादी प्रवत्तियो को नेतत्व स्वय माओ की पत्नी चिंगच्याग ने दिया। लेकिन आधुनिकीरण के पक्षधर विचार को अधिक बल मिला। स्वय माओ की तरफ से आधुनिकीरण के प्रश्न पर किसी तीव्र और खुली आलोचना का अभाव इस बात का परिचायक कहा जा सकता है। पार्टी के 10वें अधिवेशन के बाद, आधुनिकीरण के प्रश्न की स्पष्ट मान्यता तो मिली लेकिन विवाद भी यथावत बना रहा। 1976 मे माओ की मत्यु के बाद यह विवाद एकाएक उग्र बन गया। माओ की पत्नी के नेतत्व मे आयोजित 'चौकडी" का एक सीमित समय तक प्रभाव रहा। सीमित होत हुये भी यह अत्यधिक उग्र रहा। 1977 मे "सास्कृतिक क्रान्ति के दौरान अपदस्थ डेंग सियाओ पिंग की पार्टी के 11वें अधिवेशन मे पुनस्थापना हुई इसी के साथ आधुनिकीरण के पक्षधर विचार को एक स्थाई स्वीकृति भी मिली।

11वें अधिवेशन के बाद निरन्तर आधुनिकीरण के व्यावहारिक पक्षो को परिभाषित किया गया। आधुनिकीरण की आवश्यकता पर बल देते हुये "चार आधुनिकीरण" की व्याख्या हुई—उद्योग, कृषि, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा विज्ञान एव तकनीकी। इस बदलती दिशा को एक सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य भी दिया गया। अन्त र्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की समीक्षा करते हुये, यह मत व्यक्त किया गया कि साम्राज्यवाद के शोषण के आर्थिक आधार अत्यधिक कमजोर बन गये हैं। अत ऐसी स्थिति मे उनके साथ सहयोग की प्रक्रिया द्वारा आन्तरिक आर्थिक स्वायत्तता को कोई खतरा नही है। स्वय साम्राज्यवाद विकट आर्थिक सकट मे फसा है, जिसके फलस्वरूप वह अपनी शर्तें थोपने म सक्षम नही है। एक नई व्याख्या के अनुसार यह भी व्यक्त किया गया कि, उत्पादन की शक्तियो का तथा विनिमय विज्ञान एव तकनीक का कोई वर्ग आधार नहीं होता। वर्ग आधार उत्पादन की शक्तियो के उपभोग की व्यवस्था से उत्पन्न होते हैं। अत साम्राज्यवादी राष्ट्रो से भी आधुनिकीरण की आवश्यकता के लिये यदि उनका सहयोग लिया जाये तो वैचारिक दष्टि से वह अनौचित्यपूर्ण नहीं होगा। चीन का यह दष्टिकोण एक लम्बे समय से चले आ रहे सोवियत दष्टिकोण के समरूप था। किन्तु इससे

दृष्टिकोण के लिय सोवियत सघ की आलोचना हुई थी। आज स्वय चीन इस दृष्टिकोण का पक्षधर बन गया था "सास्कृतिक क्रान्ति" के बाद वैचारिक विवाद मात्र वैचारिक सन्दर्भो वाला नही रहा। वैचारिक विवाद विकास के अभिप्रायों से जुड गया। इसी से एक नया दृष्टिकोण उभरा।

चीन का विश्व-दृष्टिकोण

आन्तरिक विकास की प्राथमिकताओ के फेरबदल तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे भी बदलते हुय सन्दर्भो के बीच चीन के विश्व-दृष्टिकोण का एक नया स्वरूप उभरा। आन्तरिक विकास की आवश्यकताओ की समीक्षा के साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नई प्रवृत्तियो को भी रेखाकित किया गया। इस अन्तर्राष्ट्रीय समीक्षा मे चीन की दृष्टि मे तीन बातें प्रमुख महत्व की थी। प्रथम, तृतीय विश्व द्वारा आर्थिक स्वतत्रता क सघर्ष तथा हस्तक्षेप की उग्रवादी नीति के कारण साम्राज्यवादी व्यवस्था के आर्थिक आधार भयकर सकट से ग्रस्त हैं। इस आर्थिक सकट के फलस्वरूप, साम्राज्यवादी राष्ट्रो के बीच भी अमेरिकी सर्वोच्चता को चुनौती मिली है। पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रो तथा अमेरिका के बीच आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्नो पर मतभेद उत्तरोत्तर विकसित हुये हैं। द्वितीय, वियतनाम के सघष म जनवादी शक्तियो की विजय ने साम्राज्यवाद की उग्र हस्तक्षेप की नीति को पूणतया आत्मघाती सिद्ध कर दिया है। सघष की रणनीति के स्तर पर भी, परम्परागत सैनिक युद्ध की नीति पर गेरिल्ला प्रणाली की विजय भी सिद्ध हुई है। अमेरिकी साम्राज्यवाद इन विपरीत अनुभवो के बीच भावी हस्तक्षेप के प्रति प्रेरित होने से कतरा रहा है। तृतीय, चेकोस्लोवाकिया अनुभव एक अत्यधिक प्रतीकात्मक महत्व का है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे उभरती हुई सोवियत उग्रवादिता का परिचायक है। सोवियत सघ सशोधनवादी नीतियो के काल मे साम्राज्यवाद से मिली भगत की नीति से कही अधिक दुराग्रही बन गया है। सशोधन वादी प्रवत्तियो ने साम्राज्यवादी विस्तार के आधार तैयार कर दिये हैं। इस बदली हुई स्थिति मे सोवियत नीति साम्राज्यवाद म मिली भगत की नही अपितु साम्राज्यवाद से खुली प्रतिस्पर्धा की बन गई है। सोवियत शक्ति का उग्र अभ्युदय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक नये गुणात्मक चरण का परिचायक है। इस समीक्षा के प्रमुख अभिप्राय के फलस्वरूप, चीन ने अन्तराष्ट्रीय सघष को 'शोषित जनता" की लडाई के स्थान पर "शोषित राष्ट्रो" की लडाई के रूप मे परिभाषित किया। 1969 में नव वष के अवसर पर एक "सपादकीय" म माओ का हवाला दते हुये इस बदलाव को रेखाकित किया गया। यह व्यक्त किया गया कि भविष्य मे अन्तर्राष्ट्रीय सघष उग्र होंगे, लेकिन पहले की तुलना मे उनका प्रारूप कुछ भिन्न होगा।

इस बदलाव की प्रक्रिया को चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के 1969 मे हुये 9वें अधिवेशन मे स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया। विश्व राजनीति की समीक्षा करते हुये, चार प्रमुख अ तर्विरोध रेखाकित किय गये—(1) शोषित राष्ट्रो तथा साम्राज्यवाद एव 'समाजवादी' साम्राज्यवाद के बीच, (2) विश्व सवहारा तथा साम्राज्यवादी एव सशोधनवादी राष्ट्रा के बुजवा वग के बीच, (3) साम्राज्यवाद तथा समाजवादी साम्राज्यवाद के बीच, साथ ही साथ, साम्राज्य वादी राष्ट्रो मे एक दूसर के बीच, (4) समाजवादी राष्टो तथा साम्राज्यवाद एव 'समाजवादी' साम्राज्यवाद के बीच। इन विभि न अ तर्विरोधो म पहला अ तर्विरोध, अथात सभी राष्टो तथा साम्राज्यवाद एव समाजवादी साम्राज्यवाद के बीच का अ तर्विरोध, प्राथमिक महत्व का है। अत सभी राष्टा को साम्राज्य वाद तथा 'समाजवादी' साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक सयुक्त मोर्चा बनाना चाहिये। उक्त वणन से यह स्पष्ट है कि चीन के विश्व दष्टिकोण मे गुणात्मक परिवतन हुये। सोवियत सघ को अब मात्र सशोधनवादी ही नही कहा गया अपितु उसे साम्राज्यवादी सज्ञा भी दी गयी। इससे पूव चीन के द ष्टिकोण मे अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशिया, अफ्रिका तथा लातिनी अमेरिकी जनसमुदाय की एक जुटता का प्रारूप था। अग साम्राज्यवाद तथा समाजवादी' साम्राज्यवाद के विरुद्ध अ य सभी का एक जुटता का प्रारूप तैयार हुआ इस प्रारुप का आधार "शोपित जनता" नही अपितु, "शापित राष्ट्र" बने। एक अ य प्रमुख अभिप्राय जो कि स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त नही किया गया, यह था कि समाजवादी गुट के नेतत्व के साम्राज्यवादी बन जाने के बाद समाजवादी गुट की मा यता अस्तित्व विहीन हो गई है।

इस नये विश्व दष्टिकोण क अनक व्यावहारिक पक्षो को 1973 मे हुये 10वें अधिवेशन मे और अधिक स्पष्ट किया गया। 10वें अधिवेशन म व्यक्त विचारो मे निम्न बातें प्रमुख थी। पहली, 9वें अधिवेशन मे व्यक्त चार प्रमुख अ तर्विरोधा को स्पष्ट रूप स पुन व्यक्त नही किया गया, लकिन उसकी मा यता क अभिप्राय यथावत बने रहे। साथ ही साथ शोपित राष्टो एव जनता को सक्रिय समथन की बात भी स्पष्ट रूप स अभिव्यक्त नही हुई। दूसरी 9वें अधिवशन के बाद हुई अनेक राजनयिक उपलब्धियो को रखाकित किया गया जिनमे सयुक्त राष्ट्र की सदस्यता और पश्चिमी राष्ट्रो स सम्ब धो मे सामा यीकरण का विशेप उल्लेख था। इस समीक्षा के दौरान विगत मे हुए दो गुणात्मक रूप से भि न भटकाओ को रेखाकित किया गया। इस स दम मे व्यक्त किया गया कि लियु शाओ ची का बुजवा वग के साथ गठब धन और क्रातिकारी सघप का भुला देने का दष्टिकोण गलत था, साथ ही साथ लिन पियाओ का यह मत कि अतिक्रा तिकारी दष्टिकोण मे बुजवा वग के साथ सभी प्रकार क समवय को त्याग देना चाहिय, भी

दूसरा गुणात्मक भटकाव था। दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादिता से ग्रस्त रहें। अत इनको बदलना एवं समन्वित दृष्टि के लिये आवश्यक है। तीसरी, तात्कालिक नीति के स्तर पर तृतीय विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रों में आन्तरिक क्रान्ति के संघर्षों पर कम बल दिया गया। इन राष्ट्रों को साम्राज्यवाद या और 'समाजवादी' साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रेरित करना एक तात्कालिक आवश्यकता है। तृतीय विश्व के राष्ट्रों में ऐसी सम्भावना की बात, विगत में इन राष्ट्रों को दी गई प्रति क्रियावादी राष्ट्रों की संज्ञा से गुणात्मक रूप से भिन्न स्थिति था। इसी संदर्भ में वामपंथी पार्टियों के साथ संबंधों की तुलना में राज्य स्तरीय सम्बन्धों की नीति को अधिक तात्कालिक उपयोगिता का कहा गया। अन्तिम रूप में, इन अनेक व्यावहारिक बदलावों को वैचारिक तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी दिया गया। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर लेनिन के विचारों को उद्धृत किया गया। यह व्यक्त किया गया कि शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व का सिद्धान्त अपने आप में गलत नहीं है। इसके गलत अथवा सही होने का प्रश्न निश्चित ऐतिहासिक परिस्थिति पर निर्भर करता है। स्टालिन और लेनिन के नेतृत्व में इस सिद्धान्त का आचरण सही था। ऐसे ही सन्दर्भ आज चीन के आचरण के आधार हैं।

नव परिभाषित विश्व दृष्टिकोण में 10वें अधिवेशन के बाद, सोवियत संघ को अधिक उग्र खतरे के रूप में व्यक्त किया जाने लगा। इस सन्दर्भ में यह मान्यता व्यक्त की गई कि एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के फलस्वरूप साम्राज्यवादी अमेरिका की तुलना में 'समाजवादी' साम्राज्यवादी सोवियत संघ की क्षमता में निरन्तर वृद्धि हुई है। छठा दशक अमेरिकी हस्तक्षेप का दशक था। सातवां दशक सोवियत विस्तारवादी आतंक का दशक हैं। साम्राज्यवादी शक्ति निरन्तर गिरती हुई क्षमता वाली है जबकि 'समाजवादी' साम्राज्यवादी सोवियत संघ उभरती हुई शक्ति है। अत विश्व शान्ति के लिये सोवियत संघ अधिक बड़ा खतरा है। इस सन्दर्भ में सोवियत संघ की नीति को पुराने साम्राज्यवादियों की नीति से कहीं अधिक षडयन्त्रकारी बताया गया। कहा गया कि, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की सोवियत और चीनी मान्यता में गुणात्मक अन्तर है। शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व का दो स्तरों पर प्रयोग होना चाहिये—विश्व शान्ति के स्थाई प्रारूप के लिये, और साथ ही साथ क्रान्तिकारी संघर्षों का बढ़ावा देने के लिये। सोवियत नीति में, चीन के अनुसार दूसरे दृष्टिकोण का अभाव है।

इस विश्लेषण के आधार पर, चीन के "तीन विश्व" के सिद्धान्त की स्पष्टतम परिभाषा 1974 में डेंग सियाओपिंग के संयुक्त राष्ट्र संघ में दिये गये वक्तव्य से मिलती है। इस प्रारूप के अनुसार निम्न वर्गीकरण किया गया—1 प्रथम विश्व, जिसमें दोनों महाशक्तियां हैं। इन महाशक्तियों में अधिसत्य का एकाधिकारवादी पूंजीवाद समान आर्थिक आधार है। अत महाशक्तियां वर्णन व्यवहार पर नहीं

अपितु वर्ग चरित्र पर आधारित है। ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से आगामी वर्षों में सोवियत संघ अधिक खतरनाक चुनौती है, (2) द्वितीय विश्व, जिसमें पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के सभी विकसित राष्ट्र किसी एक महाशक्ति के नियन्त्रण में है, लेकिन नियन्त्रण का स्तर एक सा नही है। इनमे से कुछ किसी न किसी रूप में औपनिवेशिक सम्बन्धो को भी बनाये हुये हैं, (3) तृतीय विश्व, जिसमे चीन सहित एशिया अफ्रीका तथा लातिनी अमेरिका के सभी शोषित राष्ट्र हैं। इन राष्ट्रो के बीच जकता का कोई वर्ग आधार नही है। लेकिन महाशक्तियो का आतंक इन्हे एक सूत्र मे बाधता है। आर्थिक स्तर पर पिछडे होने के कारण, कच्चे माल पर आधारित इनकी अर्थव्यवस्थाएँ इन्हे आर्थिक स्वार्थों के स्तर भी एक बनाती है। इनकी शक्ति इस बात से है कि ये अपने ससाधनो पर स्वतन्त्र नियन्त्रण बनाये रखें और बाहरी पूजी के हस्तक्षेप का विरोध करें। विश्व का प्रमुख अन्तर्विरोध प्रथम विश्व एवं तृतीय विश्व के बीच है अत द्वितीय विश्व के राष्ट्रो को महाशक्ति आतंक से स्वतन्त्र होने के लिए तृतीय विश्व के साथ एक जुटता बनानी चाहिए। उसी मे उनका दूरगामी हित है।

उपरोक्त विवेचन के बाद चीन ने अपने विश्व दृष्टिकोण को एक नारे के द्वारा प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त किया—"राज्यो को स्वतन्त्रता, राष्ट्रो को मुक्ति और जनता को क्रान्ति चाहिए' इस नये बारे के द्वारा चीन ने अपनी नीति मे राज्यो की स्वतन्त्रता का एक नया पक्ष जोड दिया। राष्ट्रो की मुक्ति और जनता की क्रान्ति चीन की नीति मे पहले से ही उदघोषित तत्व रहे हैं। नये तत्व का जुडाव मात्र औपचारिक बदलाव नही था। चीन की नीति मे यह गुणात्मक स्तर पर बदलाव का परिचायक था। राष्ट्रो की स्वतन्त्रता और जनता की क्रान्ति के पक्ष उत्तरोतर रूप से कम महत्व के बने, तथा राज्यो की स्वतन्त्रता नीति का प्रमुख केन्द्र बन गया। इसी गुणात्मक बदलाव के सदर्भों मे, चीन ने एक त्रिकोणात्मक अन्तर्राष्ट्रीय सक्रियता को जन्म दिया।

चीन सोवियत सबध लगाव और अलगाव के बीच (1969-1979)

सातवें दशक ने चीन की विदेश नीति मे एक नई सक्रियता को जन्म दिया। पिछले दशक के दौरान आन्तरिक वचारिक मथन के बाद एक व्यावहारिक दष्टिकोण चीन की नीति मे समाहित हुआ। 1969 मे चीन की एक स्वतन्त्र आणविक शक्ति के रूप मे भी स्थापना हो चुकी थी। अमेरिका के साथ सम्बन्धो मे सामान्यीकरण की स्थितया आने के बाद, चीन ने अपने एक सीमित महाशक्ति स्वरूप को भी पहिचाना। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह था कि, विदेश नीति के दष्टिकोण मे वैमनस्यकारी पूवग्रहा के स्थान पर एक प्रतिद्वद्विता की नीति को अपनाया जावे। अथात् चाहे वह अमेरिका के साथ सम्बन्धा का प्रश्न हो अथवा सोवियत सघ के

साथ संबंधो का प्रश्न अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की परिलक्षित करती हुई खुली प्रति द्वंद्विता की जाने। वैचारिक विश्व दृष्टिकोण के अनुसार चीन की मान्यता यह थी कि सोवियत संघ उभरती हुई शक्ति है। अत सोवियत संघ के साथ इस प्रति द्वंद्विता की नीति का अधिक उग्र होना स्वाभाविक ही था। वैचारिक स्तर पर चीन अथवा आर्थिक राजनीतिक स्तर पर की नीति सोवियत संघ के साथ खुली प्रति द्वंद्विता की बनी। इसके दो अभिप्राय है। प्रथम यह कि सोवियत संघ के साथ परस्पर संबंधो म वैमनस्य के पूर्वाग्रहो म हटकर एक यथार्थवादी सतुलन की स्थिति बनाई जाये। ऐसी नीति जिसके फलस्वरूप सोवियत संघ का कोई सीधा खतरा चीन की सीमाओ पर कम हो जाये अन्तराष्ट्रीय स्तर पर चीन की सक्रियता के लिय भी लाभप्रद थी, द्वितीय जहा तक वैचारिक द्वंद्व का प्रश्न है तथा अन्य राष्ट्रो मे अपने प्रभाव को बढाने की बात है, सोवियत संघ के साथ खुली प्रतिस्पर्धा की नीति अपनाई जाये। ऐसी नीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे चीन के एकाकीपन स मुक्त होने के लिए आवश्यक थी। एक अन्य महत्त्वपूर्ण आधार सोवियत-चीन संबंधो के स्वरूप की दृष्टि स अत्यधिक महत्व का था। यह कि आन्तरिक विकास की आवश्यकताओ के लिए पश्चिमी राष्ट्रो स सहायता लेते हुये भी उन पर पूर्ण रूप से आश्रित होने की स्थिति पैदा न की जाये। इस दृष्टि से सोवियत संघ के साथ भी एक आर्थिक सहयोग की प्रक्रिया को, भले ही सीमित रूप स, प्रारम्भ किया जाये।

इन सम्भावनाओ के प्रति जहा तक सोवियत दृष्टिकोण का प्रश्न था, वह पहले से ही सकारात्मक था। सातवें दशक मे अमेरिका और चीन क बीच बनते हुये समीकरण मे, इसे एक तात्कालिकता भी दी। विश्व स्तर पर यदि एक त्रिकोणात्मक समीकरण उभरता है तो, सोवियत दृष्टि मे यह आवश्यक था कि अमेरिका को इस बात का एक तरफा लाभ नही मिलना चाहिये। तीन शक्तियो मे स वही एक मात्र ऐसी शक्ति थी जो अन्य दो शक्तियो के साथ सीधे सम्पर्क मे थी। सोवियत नीति की यह स्पष्ट धारणा थी कि सम्बन्धो मे सुधार तो अनेक स्थितिया पर निर्भर करेगा, लेकिन कम से कम चीन के साथ सीधा सम्पर्क तो स्थापित होना चाहिये। अन्यथा, चीन अमेरिका समीकरण के प्रति सोवियत संघ एक अनभिज्ञ तथा मूक दर्शक रह जायेगा। सफलता अथवा असफलता भी प्राथमिक रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि भविष्य म उभरते समीकरणो मे सोवियत हस्तक्षेप करने मे तो सक्षम हो। अमेरिका के साथ सम्बन्धो मे समन्वय और सम्पर्क की प्रक्रिया स्थाई रूप से बन चुकी थी। चीन के साथ भी परस्पर संबधों म ऐसी ही प्रक्रिया की आवश्यकता थी। जहा तक अन्यत्र प्रभाव का प्रश्न था, सोवियत नीति भी चीन के साथ खुली और उग्र प्रतिस्पर्धा की थी। चीन त प्रभाव का मात्र सामरिक अथवा राजनीतिक अभिप्राय नही था। वैचारिक स्तर पर भी यह सोवियत मान्यताओ को चुनौती थी। अत ऐसी समस्त स्थितियो के द्वारा जहा चीन और

अमेरिका मिलकर प्रभाव बढाने का प्रयास करें, सोवियत सघ द्वारा इसका वैचारिक स्तर पर भी उग्र प्रचार किया जायें। सोवियत नीति को चीन के स्वतत्र अस्तित्व का स्पष्ट आभास था। अत सोवियत मान्यता मे एक अन्य अत्यधिक महत्वपूण पक्ष यह था कि, अमेरिका के साथ मिलकर अथवा उस पर दबाव डाल कर, चीन की अन्तर्राष्ट्रीय शाति मे प्रतिबद्धता हासिल की जायें। सोवियत दष्टि से, आणविक परीसिमन के प्रश्नो पर चीन की प्रतिबद्धता, इस सदभ मे तात्कालिक महत्व की थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अमेरिका स्थाई हो रहे अन्तराष्ट्रीय सतुलन को स्वीकार कर चुका था। चीन के महत्व को देखते हुए, उससे भी ऐसी ही स्वीकृति की अपेक्षा थी। इन विभिन्न व्यावहारिक मान्यताओ के साथ, सोवियत सघ के परिपक्व विश्व दृष्टिकोण ने चीन के साथ उसके सम्बन्धो की नीति का निर्धारण किया।

सोवियत तथा चीन के बीच द्विपक्षीय स्तर पर सबधो मे तीन प्रमुख पक्ष रहे—सीमा विवाद का प्रश्न, परस्पर आर्थिक सहायता का प्रारूप तथा विश्व स्तरीय आणविक सतुलन की रूपरेखा। अमेरिका तथा चीन के बीच सबघ बनने की प्रक्रिया के साथ, सोवियत सघ ने चीन के साथ सीमा विवाद के प्रश्न पर वार्ता करने की पहल की बात रखी। 1972 मे निक्सन की चीन यात्रा से कुछ ही समय पूव सोवियत सघ न यह खुली घोषणा की कि, वह चीन के साथ न सिफ सीमा विवाद निबटाने को तैयार है अपितु एक अनाक्रमण सधि के लिए भी तत्पर है। तात्कालिक रूप से इसका प्रमुख अभिप्राय निक्सन यात्रा के दौरान उसके परिणामो को प्रभावित करना था। 1973 मे 10 वें अधिवेशन के दौरान चीन की कम्युनिस्ट पार्टी न सोवियत सघ के प्रति अपने वैचारिक दृष्टिकोण को और अधिक उग्र बनाया। लेकिन सीमा विवाद के प्रश्न पर सोवियत सघ के साथ सामान्यीकरण की बात रखी गई। 1974 मे अमेरिका और सोवियत सघ के बीच ब्लाडीवास्टोक मे द्वितीय सामरिक शस्त्र परिसोमन सधि पर हस्ताक्षर हुये। इस सधि से यह स्पष्ट हो रहा था कि चीन के साथ अमेरिका सबधो के सामान्य होना प्रमुख विश्व प्रश्नो पर सावियत अमेरिका सबघो मे सामूहिक दृष्टिकोण के लिये कोई विशेष प्रभाव नही रखता। इस दष्टि से 1974 मे चीन ने अपनी तरफ से भी सोवियत सघ के साथ सीमा विवाद को सुलझाने की पहल की। चीन के प्रस्ताव मे एक नया उल्लेखनीय परिवतन था। प्रथम बार चीन के इस आरोप को कि, 19वी शताब्दी की सोवियत-चीन सधियों को असमान माना जाये, तथा उन्हें भावी वार्ताओ का आधार भी बनाया जायें, औपचारिक रूप म व्यक्त नही किया गया। अथात सीमा विवाद की भावी वार्तायें, चीन के दृष्टिकोण मे, बिना किसी पूव शत के आयोजित की जा सकती है। माओ की मत्यु के बाद यह सम्भावना व्यक्त की गई कि सोवियत चीन सम्बन्धों मे उल्लेखनीय सुधार होगा।

कुछ नहीं हुआ। दिसम्बर 1976 में चीन ने एकपक्षीय रूप से सोवियत सघ का विरोध करते हुए सीमावार्ताओं की समस्या को असंदिग्ध बनाया। 1979 में सोवियत और चीन के बीच हुई 1950 म हुई सधि औपचारिक रूप से खत्म हुई। जिस दिन यह सधि खत्म हुई उसी दिन चीन ने सोवियत सघ के साथ सीमा वार्ता पुन प्रारम्भ करने की घोषणा भी की। इस वर्ष सीमा विवाद में वार्ताओं का एक सीमित दौर रहा। लेकिन 1980 म अफगानिस्तान में सोवियत उस स्थिति का विरोध प्रकट करते हुये यह वार्तायें अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दी गई। अफगान समस्या के उग्र स्वरूप के अवसान के साथ ही दोनों राष्ट्रों म पुन वार्ताओं की एक मानसिकता बनी है।

जहाँ तक व्यापार आदि के सबधों का प्रश्न है, इस क्षेत्र म धीमी लेकिन निरंतर प्रगति हुई है। दोनों राष्ट्रों के बीच व्यापारिक सबधों की पुन शुरुआत 1970 म हुई। इस वर्ष दोनों राष्ट्रों के बीच व्यापार मात्र 4 करोड 20 लाख रूबल का रहा। 1973 म बढकर यह 22 करोड 30 लाख तथा 1976 तक 40 करोड रूबल तक पहुँच गया। 1973 म दोनों राष्ट्रों के बीच नागरिक वायु सेवाओं की भी पुन शुरुआत हुई। सोवियत सघ के साथ आर्थिक तथा व्यापारिक सबधों की प्रक्रिया म एक सीमित स्तर पर स्थाइत्व की प्रवृति उभरी है। आणविक परिसीमन का प्रश्न अधिक दुरूह रहा है। अपने विकास के दौरान चीन ने हाल ही म अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों की क्षमता का परिचय भी दे दिया है। इस बढी हुई क्षमता का कोई विशेष प्रभाव सोवियत सघ के लिये नही देखा जा सकता। क्योंकि पहले की क्षमता के आधार पर भी सोवियत सघ चीन की आणविक मार के घेरे में था। लेकिन इस नई क्षमता ने चीन की आणविक मार को अमेरिकी महाद्वीप तक पहुचा दिया। इन घटनाओं के बाद सोवियत सघ ने इस बात पर और अधिक बल दिया है। कि विश्व स्तरीय आणविक परिसीमन के प्रश्न पर चीन की प्रतिबद्धता हासिल की जाये। इस दृष्टि से सोवियत सघ ने अमेरिका पर भी अपने दबाव को बढाया कि, वह भी चीन को ऐसी प्रतिबद्धता व्यक्त करने के लिये तैयार करे। एक निश्चित सतुलन की स्थिति मे आ जाने के बाद, यह स्पष्ट सम्भावना बनती है कि चीन भी विश्व स्तरीय परिसीमन के प्रश्न पर अपने आपको सलग्न करने हेतु तैयार हो।

जहा तक अन्यत्र प्रभाव का प्रश्न था, चीन ने इस सम्बन्ध मे सक्रिय प्रयास किये। विशेषत माओ की मत्यु के बाद इन प्रयासो मे तीव्र गति आई। 1978 मे जापान और चीन के बीच एक मत्री सधि हुई और इसी वर्ष डेंग सियाओपिंग की जापान यात्रा की। अन्यत्र प्रभाव की दृष्टि से, सोवियत विरोधी आयोजन मे, चीन के शीर्षस्थ नेताओ की रूमानिया, युगोस्लाविया तथा ईरान की यात्रायें हुई। दक्षिण पूर्वी एशिया के राष्ट्रो के साथ भी सबधों को सामान्य बनाने की सक्रियता

दिखाई गई चीन की सोवियत विरोधी प्रतिस्पर्धाओ के प्रमुखत तीन केन्द्र कह जा सकते हैं। यूरोप, दक्षिण पूव एशिया तथा तृतीय विश्व के राष्ट्र विशेषत अफ्रिकी राष्ट्र। अफ्रिका के मुक्ति सघर्षों मे चीन की यह स्पष्ट नीति उभरी कि, सोवियत तथा अमेरिकी समर्थित शक्तियो के बराबर एक चीन समर्थित शक्ति को भी तैयार किया जाये। इस नीति की स्पष्टतम अभिव्यक्ति अगोला म हुई। वहा पर सोवियत समर्थित एम० पी० एल० ए० तथा अमेरिका समर्थित एफ० एन० एल० ए०, दो घटक थे। प्रारम्भ म चीन का समथन एम० पी० एल० ए० को ही मिला। लेकिन बाद मे इसमे विवाद उत्पन्न किये गय, और चीन के समथन से एक नया घटक "यूनिटा" अस्तित्व मे आया। इसके फलस्वरूप चीन का स्वतन्त्र प्रभाव तो व्यक्त हुआ, लेकिन इतने सघप की जनवादी शक्तियो को कमजोर बनाया। ऐसी ही नीति अफ्रिका अन्यत्र मोजाम्बिक, जिम्बाबे आदि म भी देखी गई। इस नीति के फलस्वरूप चीन अफ्रिकी मुक्ति सघर्षों के बीच अत्यधिक अलोक प्रिय हुआ। जायर म फ्रास के समथन जैसी घटनाओ ने, पूरे अफ्रिका म चीन की साख को गहरी चोट पहुचायी।

सोवियत सघ के साथ अन्यत्र प्रभाव प्रतिस्पर्धा मे चीन को विशेष सफलता नही मिली है। यही नही परम्परागत मित्र भी नही रहे। इस सदम मे चीन के लिये सबसे बडी ऐतिहासिक विडम्बना वियतनाम के सदभ मे हुई। वियतनाम के स्वतन्त्र अस्तित्व मे आने के बाद चीन ने उस सोवियत प्रभाव से अलग रखने के उग्र प्रयास किये। लेकिन वियतनाम की दष्टि मे सोवियत दष्टिकोण अधिक व्यावहारिक और साथक था। अत सोवियत वियतनाम सम्बन्धा मे तीव्र प्रगति हुई। जुलाई, 1978 म वियतनाम "कोमिकोन" का सदस्य बन गया। इसके बाद नवम्बर 1978 म सोवियत सघ और वियतनाम के बीच एक दीघकालीन मैत्री सन्धि सम्पन्न हुई। कम्बोडिया विवाद के दौरान वियतनाम ने पालपॉट के शासन के सोवियत विरोध का समथन किया। चीन ने दूसरी ओर पॉलपॉट की सत्ता का समथन किया। उस विवाद के दौरान वियततास का कम्बोडिया म हस्तक्षेप हुआ वियतनाम को "दक्षिण पूर्वी एशिया का क्यूबा" होने की सज्ञा भी इस घटना के बाद मिली। चीन वियतनाम सम्बन्धो मे इस घटना चक्र ने उग्र तनाव उत्पन्न किया। इसकी दुर्भाग्यपूण परिणति 1979 मे चीन द्वारा वियतनाम पर आक्रमण मे हुई। कम्बोडिया भी पॉलपॉट के शासन का पतन हो चुका था। वहा भी चीन को विफलता हाथ लगी। वियतनाम मे चीन के हस्तक्षेप की विश्व स्तरीय आलोचना हुई। चीन को अ तत वियतनाम से हटाना पडा। चीन ने दक्षिण पूव एशिया मे, इस प्रक्रिया के द्वारा अपने परम्परागत मित्रा को खो दिया।

जहा तक यूरोपीय राष्ट्रो का प्रश्न है वहा पर भी चीन को मिश्रित प्रतिक्रियायें मिली हैं। पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र चीन के साथ द्विपक्षीय स्तर पर आर्थिक

तथा राजनीतिक सम्बन्धो को महत्वपूर्ण मानते हैं। इस क्षेत्र मे उल्लेखनीय प्रगति भी हुई। पश्चिमी यूरोप और चीन के बीच आर्थिक सहयोग निरन्तर बढ़ा है। लेकिन पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र चीन के सोवियत विरोधी प्रयासो के प्रति पूर्णतया उदासीन रहे। यही नही, ऐसे प्रयासो की तीव्र प्रतिक्रिया भी हुई। पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र चीन के साथ सम्बन्धो के ऐसे किसी स्वरूप को स्वीकार नही करते, जिसके फलस्वरूप सोवियत सघ के साथ उनके विकसित हो रहे सबधो पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़े। न तो वे सोवियत सबधो मे चीन से वैमनस्य को, और न ही चीन के साथ सबधो मे सोवियत सघ से वैमनस्य को, कोई प्राथमिक बात मानने को तयार है। दोनो के साथ समान व्यवहार तथा द्विपक्षीय स्तर पर सबधो का विकास उनका प्रमुख दृष्टिकोण है। पूर्वी यूरोप के राष्ट्रो म भी, चीन की परम्परागत मित्र अल्बानिया भी उसकी नीतियो की आलोचना करने लग गया है। अनवर होक्सा के नेतत्व मे अल्बानिया ने सोवियत और चीन दोनो की ही नीति को वर्गहीन दृष्टिकोण की नीति कहा है। बिगडते सबधो के बीच चीन ने अल्बानिया को सभी आर्थिक सहयोग बन्द कर दिया है। विगत मे चीन की भर्त्सना का प्रमुख पात्र, युगोस्लाविया आज चीन का एक मात्र पूर्वी यूरोपीय मित्र बन रहा है। युगोस्लाविया ने साम्यवादी खेमे म तनाव को कम करने हेतु मध्यस्थता की नीति भी अपनाई है। 1977 मे इस उद्देश्य से मार्शल टिटो की सोवियत यात्रा हुई, और 1978 मे उन्होने चीन का भ्रमण भी किया। चीन स उनका भव्य स्वागत किया और युगोस्लाविया के स्वतन्त्र प्रयासो की भरपूर प्रशसा भी हुई। लकिन युगोस्लाविया की मध्यस्थता की भूमिका को देखते हुये, चीन युगोस्लाव मैत्री का कोई विपरीत सोवियत पर सम्भव नही है। ऐसी स्थिति म भी युगोस्लाविया के साथ सबधो का एक विशेष महत्व है। भविष्य मे चीन और सोवियत के बीच सबधो म सामान्यीकरण की प्रक्रिया मे युगोस्लाविया की एक महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। मात्र यह तथ्य, स्वय म महत्वपूर्ण अभिप्रायो वाला है।

उपरोक्त विवेचन यह स्पष्ट करता है कि, पिछले दशक के दौरान सोवियत चीन सबधो मे प्रमुखत दो प्रवृत्तिया अभिव्यक्त हुई है। प्रथम, द्विपक्षीय सबधो के स्तर पर, सोवियत चीन सबधों में एक सीमित लगाव की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है। यद्यपि इसमे प्रगति अत्यधिक धीमी रही है। वर्तमान ठहराव भविष्य मे एक नई सक्रियता की सम्भावनायें भी लिये हुये है। द्वितीय, जहा तक अन्यत्र प्रतिस्पर्धा का प्रश्न है। चीन की नीति अधिकाशत विफल और आत्मघाती ही रही है। एक ओर जहा सोवियत विरोधी मोर्चे की सम्भावनाओ मे चीन कोई उपलब्धि हासिल नही कर पाया है, वही एक स्वतन्त्र प्रभाव के रूप मे चीन की सक्रियता भी स्थापित हुई है। विश्व के राष्ट्र चीन के साथ बिना किसी पूर्वग्रह के सबध बढाने के लिये तत्पर हैं। इन सबधो को द्विपक्षीय आधार पर ही आयोजित होने की सभावना है। इससे

अधिक कोई अन्य अभिप्राय सम्भव नही है। भावी वर्षों मे भी सोवियत चीन सबधो का विकास इ ही सन्दर्भों मे होगा। भावी सोवियत चीन मैत्री, एक दूसरे के स्वतत्र अस्तित्व की मान्यता पर आधारित होगी, न कि किन्ही असमान शर्तों पर।

चीन-अमेरिका सबध मैत्री की ओर सहमे हुये कदम (1969 1979)

चीन और अमेरिका के बीच नवोदित समीकरण के प्रति अनेक पयवेक्षक अति उत्साही दृष्टिकोण अपना रहे हैं। कुछ अन्य ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे विचारधारा के प्रभाव की समाप्ति का स्पष्ट लक्षण बताया है। लेकिन चीन अमेरिका के बीच उभरते सबधो का सही विश्लेषण किया जाय तो, ऐसी दोनो ही मान्यतायें निराधार प्रतीत होगी। जहा तक विचारधारा का प्रश्न है वह आज भी साथक है। चाहे सोवियत सघ के साथ सबधो का प्रश्न हो अथवा अमेरिका के साथ चीन का विश्व दृष्टिकोण आज भी प्रमुख स दभ है। अति उत्साही दृष्टि कोण इस बात का समझने म अक्षम हैं कि अब तक के चीन अमेरिका सबधो की प्रक्रिया कोई तीव्र विकास की गति को प्रतिपादित नही करती है। पिछले दशक म, चीन को राजनयिक मान्यता का प्रश्न भी एक दुरूह प्रक्रिया वाला रहा है। ताइवान का प्रमुख विवाद जोकि दोनो पक्षों के लिय अत्यधिक महत्व का है सुलझना शेष है। यह कोई आसान विवाद भी नही है। परम्परागत विवादो के सुलझाने की स्थिति म भी ऐस अनेक नय पक्ष उभरेंगे जोकि नये त्रिकोणात्मक सतुलन की उपज हागे। चीन अमेरिका सबधो का स्वतत्र विकास आज के अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश मे असभव है। इन दोनो राष्ट्रा से सोवियत सबधो का प्रभाव एक विशष महत्व का है। अत परम्परागत विवादा के सुलझने के बाद भी चीन अमेरिका सबघो की कोई सतत विकास की प्रक्रिया सभव नही है। अब तक के चीन अमेरिका सबधो का दायरा परम्परागत जडता को समाप्त करने की प्रक्रिया रही है। इस परिधि मे भी दोनो पक्षो के कदम अत्यधिक सहमे हुए प्रतीत होते हैं। परस्पर सबधो के बनने की प्रक्रिया का औचित्य स्थापित करना दोनो राष्ट्रो के लिये आन्तरिक स्तर पर एक दुरूह काय रहा है। इस दशक का विश्लेषण इन पक्षा को उद्घाटित करेगा।

राजनीतिक प्रयासो के मूलभूत आर्थिक आधार भी थे। उग्र अमेरिकी हस्तक्षेप की नीति आर्थिक हितो के विपरीत थी। लेकिन अधिक महत्वपूण आर्थिक हित चीन के साथ सबधो स जुडे थे। ततीय विश्व के राष्ट्रो म आर्थिक स्वतन्त्रता की माग ने साम्राज्यवाद की व्यवस्था को अपूरणीय आघात पहुचाया। इस दृष्टि स, अमेरिका को नय विश्व बाजार की तात्कालिक आवश्यकता थी। मुद्रा के रूप मे डॉलर का मूल्य अनिश्चित बन रहा था। जापान की आर्थिक प्रतिद्वद्विता विश्व

बाजार मे ही नही अपितु, अमेरिकी बाजार मे भी उग्र चुनौती के रूप म उभर चुकी थी । पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्र भी औद्योगिक सकट के भवर म थे । इन राष्ट्रो की नीति स्वतन्त्र स्तर पर भी इस सकट से उभरने के लिये पहले स ही क्रियाशील रही थी । अन्तर्राष्ट्रीय सबधो म शिथिलता की माग यूरोप से ही उपजा थी। इन्ही राष्ट्रो ने सोवियत सघ के साथ सबध बढाने की पहल की थी, और अब चीन के साथ भी ऐसी ही प्रक्रिया मे सलग्न थे । अमेरिका के लिए इन सन्दर्भो के बीच चीन के साथ सामान्यीकरण का प्रश्न राजनीतिक महत्व स कही अधिक महत्व का था । आर्थिक सबधो की प्रक्रिया को स्थाई करने के लिए राजनीतिक स्तर पर सामान्यीकरण अनिवार्य था । चीन, न सिर्फ राजनीतिक महत्व का राष्ट्र था, अपितु अपनी 75 करोड जनसख्या के साथ एक बहुत बडा आर्थिक बाजार भी । जहा तक चीन का प्रश्न था, वहा का नया उभरता दृष्टिकोण आधुनिकीरण और औद्योगीकरण का पक्षधर था । इन आर्थिक आधारो के विकास के साथ-साथ चीन अमेरिका सबधो का भी विकास हुआ । राजनीतिक अथवा वैचारिक स्तर पर अनेक जटिलतायें भी उभरी । इन सब अवरोधो के बीच म भी सबधो की एक नई परिभाषा तथा राजनीतिक विवादो से जूझने का एक नया दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ ।

निक्सन प्रशासन के आगमन के बाद, एक लम्बे समय से चली आ रही विदेश-नीति मे पुनर्विचार की मान्यता स्पष्ट रूप से परिभाषित हुई अमेरिका क पिछले अनुभव उग्र हस्तक्षेप की नीति की विफलता के अनुभव थ । अत आवश्यक बदलाव को व्यक्त करते हुये, जनवरी 1969 म निक्सन ने अपन प्रथम नीतिपरक भाषण मे उद्घोषणा की कि 'टकराहट के एक लम्बे काल के बाद हम वार्ताओ के काल म प्रवेश कर रहे हैं । प्रत्येक राष्ट्र को हमारा यह सदेश है कि, हमार प्रशासन के दौरान सम्पर्क और वार्ता के द्वार सदैव खुले रहेंगे । जो हमारे प्रतिद्वंद्वी हैं, उन्हें हम शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता के लिये आमन्त्रित करते हैं ।' निक्सन की इस घोषणा का चीन के साथ सबधो के लिये एक परोक्ष लेकिन स्पष्ट अभिप्राय था । दोनो राष्ट्रो मे सबधो के सामान्यीकरण म कोई तात्कालिक सुधार नही हुआ । अप्रैल, 1969 मे चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के 9वें अधिवेशन के बाद चीन की ओर से भी भावी सबधो के आधार तैयार हुये । जुलाई, 1969 मे, बहुप्रचलित "निक्सन सिद्धान्त" प्रतिपादित हुआ । इसके अनुसार अमेरिकी विदेशनीति की यह मान्यता व्यक्त की गई कि एशिया के तनाव कम करने की दृष्टि से कहा पर अमेरिकी प्रतिबद्धता को कम किया जायगा । जहा कही भी विवाद है, प्रमुख दायित्व वही की शक्तियो का होगा और अमेरिका वियतनाम जैसी सीधी हस्तक्षेप की नीति नही अपनायेगा । नये वर्ष के प्रारम्भ से, इस अमेरिकी बदलाव को देखते हुये, चीन अमेरिका की राजदूत स्तरीय वार्ताएं पुन , प्रारभ हुईं । लेकिन, इस बीच दक्षिण पूर्वी एशिया की कुछ घटनाओ ने, जिनमे चीन समर्थित कम्बोडिया के सिहानुक

नेतृत्व का पतन हुआ, चीनकी नीति को अमेरिका के प्रति अशा त बनाये रखा।

इन आशकाओ के समाना तर अमेरिका की ओर स नये प्रयास हुए। फरवरी 1971 मे निक्सन न अमेरिकी काग्रेस क सामन यह व्यक्त किया कि अमेरिकी नीति चीन को विश्व समुदाय म सकारात्मक सवध बनाने हेतु प्रेरित करने की नीति है। इस दष्टिकोण के साथ अमेरिका सक्रिय भी है। चीन की ओर से अमेरिकी प्रयासा का प्रत्युत्तर जनता के राजनय के रूप म अमेरिकी टेबिल-टेनिस टीम को आमा त्रत करक दिया गया। स्वय चाऊ एन लाई ने इस टीम के स्वागत के अवसर पर अमेरिका क साथ सबध सुधारने की आशा व्यक्त की। 15 जुलाई, 1971 म निक्शन प्रशासन क लिये अभूतपूव सफलता की घोषणा का दिन बन गया। अमेरिकी जनता के टेलिविजन पर सम्बोधित करते हुये निक्सन ने चीन के साथ सवध सुधारन के लिये की गई "कीसिंजर" की गुप्त यात्राओ को स्वीकार किया। अपनी भावी चीन यात्रा की घोषणा करते हुये निक्सन ने कहा कि ' आज मैं हमारे विश्व शा ति के प्रयासो मे एक महत्वपूण उपलब्धि को व्यक्त करन उपस्थित हुआ हू। विश्व म स्थाई शा ति का कोई भी प्रारूप चीन और उसको 75 करोड, जनता की भागीदारी के बिना असम्भव है। मैं हमारी नीति को स्पष्टतम स दभ मे रखना चाहूगा। हमारी नीति का कोई भी कदम हमारे परपरागत मित्रो के हितो की बलि देकर नही उठाया जायेगा। चीन के साथ हमारी मैत्री किसी अ य राष्ट्र के विरोध के लिये भा नही है। बिना किसी दूसर का दुश्मन हुये कोई भी राष्ट्र हमारा मित्र हो सकता है। ऐसे दृष्टिकोण और भावना के बीच, मे चीन की भावी यात्रा कर रहा हू, इस दढ विश्वास के साथ कि यह यात्रा शा ति की यात्रा बन जायेगी।' निक्शन प्रशासन को इस नीति की आ तरिक स्तर पर मिश्रित प्रति क्रियायें हुइ। कुछ उग्रविरोधिया ने इसकी तीव्र नि दा भी की, और इस अति उत्साही तथा अयथार्थवादी की सज्ञा दी गई। लेकिन आम स्तर पर, अमेरिकी जनता की मानसिकता पिछल अनुभवो के आधार पर हस्तक्षेप की नीति की विरोधी बन चुकी चुकी थी। अत साधारण स्तर पर इस नीति का स्वागत ही हुआ। शायद ऐसी स्थिति को जानते हुये ही, निक्सन ने अपनी घोषणा को सार्व-जनिक घोषणा बनाने का निश्चय किया। इस नये समीकरण मे, जहा तक चीन की पहल का सवाल था, वह अत्यधिक सहमी हुई रही। अमेरिका के साथ सबधो ने पार्टी मे एक उग्र विवाद को ज म दिया। लिन पियाओ तथा माओ क बीच विवाद स्पष्ट रूप से उभरा। पार्टी के 9वें अधिवेशन के बाद लिन पियाओ के पतन के आसार उभरने लगे, जोकि उसके द्वारा किये गये, इस बदलाव के उदासीन क्रिया वन पर आधारित रहे। इस बढते हुये विवाद क बीच माओ ने स्वय सार्व जनिक रूप से इस बदलाव को व्यक्त किया। यात्रा कर रहे एडगारस्नो को माओ ने कहा कि, ' हम निक्सन को पर्यटक के रूप म या फिर राष्ट्रपति के रूप म भी

हमारे यहाँ देखने को तैयार है। माओ की मूक स्वीकृति के बाद राजनयिक गतिविधियाँ अमेरिका की तरफ से तेज की गई। चीन की पार्टी का आन्तरिक विवाद भी उग्र हुआ। 1971 में लिन पियाओ के पतन के साथ माओ का दृष्टिकोण पूर्णतः स्थापित हो गया। चीन में किये इस बदलाव की स्थिति का औचित्य पूर्ण ठहराना एक मुश्किल था। यद्यपि दृष्टिकोण के स्तर पर बुद्धिजीवी वर्ग तो इसे फिर भी समझ सकता था लेकिन जनसाधारण में इस बदलाव को स्थापित करना माओ की पद्धति में एक अनिवार्य कार्य थी।

तीन प्रमुख बातें इस बदलाव के औचित्य के लिए कही गईं। प्रथम, वियतनाम संघर्ष ने अमेरिका को चीन के क्रांतिकारी दृष्टिकोण का अनुभव करवा दिया है। बदली हुई परिस्थितियों में अमेरिका के लिए यह असम्भव हो गया है कि वह चीन के राजनीतिक अस्तित्व को नकार सके। साम्राज्यवाद द्वारा की गई चीन की राजनयिक नाकेबन्दी स्वयं धराशाही हो गयी है। पहल अमेरिका की है, अतः सम्बन्धों में चीन क्षमता और आत्मविश्वास के साथ शामिल होगा और अमेरिका एक कमजोर स्थिति से। द्वितीय, वार्ताएं अपने आप में कोई वैचारिक भटकाव नहीं दर्शाती। वार्ताओं का होना तथा समझौतावादी दृष्टिकोण एक दूसरे के पर्याप्त नहीं है। किन्हीं विशेष स्थितियों में वार्ताएं भी संघर्ष का माध्यम हो सकती हैं। इस दृष्टि से यह कहा गया कि 'जैसे को तैसा" किस रूप में दिया जाये, यह अलग अलग स्थितियों पर निर्भर करता है। कभी वार्ताएं करना जैसे को तैसा होता है तो कभी वार्ताएं न करना। पहले भी हम नहीं थे कि हमने वार्ताएं नहीं की, और आज भी हम वार्ता करते रहे है। दोनों स्थितियों में हमने अमेरिका को जैसे को तैसा दिया है। तृतीय, इन बदलाव की स्थितियों के समक्ष ऐतिहासिक उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये क्रांतिकारी संघर्ष के दौरान हुई, उन स्थितियों को पुनः याद करवाया गया जब कम्युनिस्ट पार्टी ने कुओ मिन-तांग के साथ वार्ताओं का एक लम्बा दौर चलाया था। सन्देश स्पष्ट था—यह कि जिस प्रकार उस समय वार्ताएं क्रांतिकारी आंदोलन को बढ़ाने में सहायक थी, ठीक उसी प्रकार आज की स्थिति है। इस संदर्भ में, क्रांति के दौरान अपनायी गई संयुक्त मोर्चे की नीति को भी पुनः दोहराया गया। इन विभिन्न आधारों पर, पार्टी और पार्टी के [illegible] सक्रिय प्रचार के माध्यम से चीन ने बदलाव की इस मानसिकता को स्थापित किया।

1972 में निक्सन की चीन यात्रा के साथ, अमेरिका चीन सम्बन्धों में एक नया अध्याय जुड़ा। निक्सन की यात्रा के दौरान परस्पर विचारों का आदान प्रदान से अधिक कोई अन्य परिणाम नहीं निकला। लेकिन, मात्र यात्रा अपने आप एक महत्व की थी। चीन और अमेरिका के बीच विभिन्न प्रश्नों पर वार्ताओं का वास्तविक दायित्व किसिंजर और चाऊ एन लाई का रहा। किसिंजर की निरंतर

चीन यात्राएं हुई । इन विभिन्न यात्राओ मे, प्रारम्भिक उत्साह का क्रमिक अवसान देखने को मिलता है। आर्थिक मामलो मे सहयोग की प्रक्रिया मे तो निरन्तरता आई, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर कोई संयुक्त दृष्टिकोण नही उभर सका। यह स्वाभाविक ही था । जहा एक ओर चीन की नीति आत्मकेंद्रित और सीमित थी, वही दूसरी ओर अमेरिका के दृष्टिकोण म उसकी विश्वस्तरीय भूमिका और विश्व सन्तुलन के प्रश्न भी अत्यधिक महत्व के थे। यूरोपीय राष्ट्रो के हेलसिंकी सम्मेलन ने, पूर्वी यूरोप म सोवियत प्रभाव को परोक्ष मा यता दी । चीन ने इस सम्मेलन की तीव्र आलोचना की, और इसकी तुलना प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी को छूट दिये जाने वाली नीति से की गई इस तुलना का अभिप्राय था कि, जर्मनी को दी जाने वाली छूट ने द्वितीय विश्वयुद्ध पैदा किया, सोवियत सघ के प्रति ऐसी नीति एक और विश्वयुद्ध को जन्म देगी। अमेरिका और सोवियत सघ के बीच 1974 मे व्लाडीवास्टाक मे द्वितीय सामरिक शस्त्र परिसीमन संधि हुई। चीन ने इसकी उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। इस सधि की आगामी आणविक होड से पूर्व बनाये जा रहे नियमो की संज्ञा दी गई। चीन की दृष्टि मे सधि की वैधता एक कागज के टुकड़े से अधिक नही थी, और न ही इसकी कोई विश्व शांति मे उपयोगिता थी। 1974 मे किसिंजर की 7वी चीन यात्रा हुई। यात्रा के दौरान अमेरिका चीन सम्बन्धो म ठहराव स्पष्ट हुआ। प्रथम अवसर था कि, माओ किसिंजर से नही मिले। चीन अमेरिका सम्बन्धो मे यह ठहराव लम्बे समय तक बना रहा। आर्थिक क्षेत्र म निरन्तर प्रगति हुई। दोनो राष्ट्रो के बीच व्यापार बढकर 1974 मे 100 करोड डालर का हो गया। लेकिन इस क्षेत्र मे भी कुछ अवरोध उत्पन्न हुये। चीन पार्टी मे आतरिक विवाद, विशेषत माओ की मृत्यु के बाद उग्र हुआ। इन वर्षों म परस्पर आर्थिक सहयोग म भी कुछ गिरावट आई। चीन की नीति इन वर्षो मे पश्चिमी यूरोप तथा जापान के साथ सम्बन्धो के प्रति अधिक सक्रिय रही, यूरोपीय राष्ट्रो से विशेषत सैनिक व्यापार भी हुआ, जिसमे 10 करोड डॉलर के जेट इन्जिनो की खरीद विशेष उल्लेखनीय थी। अमेरिका के साथ सम्बन्धो मे ठहराव बना रहा।

1977 मे चीन अमेरिका सम्बन्धो मे एक बार पुन सक्रिय स्वरूप उभरा। इस वर्ष चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का 10वा अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन मे डेंग सियाओ पिंग के नेतृत्व की पुन स्थापना हुई। इस नेतृत्व के आगमन के साथ ही चीन मे एक दूरगामी आधुनिकीरण के कार्यक्रम को भी स्वीकृत किया गया। पश्चिमी राष्ट्रो के साथ एक लम्बे समय का आर्थिक सहयोग इस नये कार्यक्रम का अभिन्न भाग था। विश्व स्तर पर बढती हुई सोवियत सक्रियता, चीन अमेरिका के लिये एक महत्वपूर्ण उत्प्रेरक सदस्य था।

अमेरिका मे कार्टर नेतृत्व के आगमन के बाद चीन से सबध सुधारने की नई

पहल की गई। अगस्त 1977 में अमेरिकी विदेश मंत्री साईरस वेंस की चीन यात्रा हुई। इस यात्रा के दौरान चीन ने अमेरिका को यह स्पष्ट किया कि जब तक उसके अस्तित्व को औपचारिक मान्यता नहीं मिलती, तथा ताइवान का प्रश्न नहीं सुलझाया जाता, तब तक सम्बन्धों में भावी विकास सम्भव नहीं है। इन प्रश्नों पर अमेरिकी प्रशासन में एक लम्बी आंतरिक मंत्रणा रही। दिसम्बर, 1978 में राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने यह ऐतिहासिक घोषणा की कि, नव वर्ष से चीन और अमरिका के बीच राजनयिक सम्बन्ध स्थापित होंगे। इसी आधार पर एक घोषणा चीन में भी की गई। जनवरी 1979 में, औपचारिक मान्यता पाने के बाद, चीन के प्रथम प्रतिनिधि के रूप में डेंग सियाओ पिंग की अमेरिका यात्रा हुई। इस यात्रा के दौरान दोनों राष्ट्रों के विश्व दृष्टिकोण में विभेद एक बार पुनः व्यक्त हुआ। डेंग ने खुले रूप से सोवियत संघ की भर्त्सना की, और इस सम्बन्ध में वियतनाम का उसके कम्बोडिया के आक्रमण पर सबक सिखाने की बात भी कही गई। ऐसी खुली घोषणाएं और आलोचनाएं, अमेरिकी नीति के लिए संकोच का विषय बन गई। अमेरिकी नीति अपने सोवियत संबंधों के महत्व को भी उतना ही मानती थी जितना कि चीन के साथ संबंधों के महत्व को। डेंग की अमेरिका यात्रा के तुरंत बाद चीन द्वारा वियतनाम पर आक्रमण ने अमेरिकी नीति के लिए और अधिक विचित्र स्थिति उत्पन्न की।

राजनयिक मान्यता के बाद चीन अमेरिकी संबंधों में कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नहीं कही जा सकती। ताइवान का परम्परागत विवाद आज भी उपस्थित है। चीन को औपचारिक मान्यता देने के बाद भी, अमेरिका और ताइवान के संबंध यथावत बने हुए हैं। ताइवान का प्रश्न चीन के लिए एक आत्मसम्मान का प्रश्न है। लेकिन, बदली हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में अमेरिका के लिए ताइवान का सामरिक महत्व और अधिक बढ़ गया है। दक्षिण पूर्व एशिया में चीन का प्रभाव क्षेत्र सोवियत प्रभाव में समा गया है। अतः इस दृष्टि के ताइवान में अमेरिकी उपस्थिति उसके सामरिक हितों के लिए और अधिक अपरिहार्य बन गयी है। 1980 में अफगान विवाद और सोवियत हस्तक्षेप, चीन और अमेरिका के लिए चिन्ता का विषय अवश्य है। सोवियत संघ का बढ़ता हुआ प्रभाव दोनों राष्ट्रों के बीच अधिक निकट सहयोग के आधार भी बनाता है। लेकिन दोनों राष्ट्र एक दूसरे के इरादों के प्रति पूर्णतः आश्वस्त नहीं है और न ही उन्होंने ऐसी क्षमता की संभावना का परिचय ही दिया है। चीन, संयुक्त मोर्चे की संभावनाओं में, अमेरिकी सक्रियता तथा निश्चित प्रतिबद्धता चाहता है। अमेरिका ऐसी किसी स्थिति के लिए तत्पर नहीं है, क्योंकि वह चीन की सीमित क्षमता को समझता है। अतः व्यावहारिक स्तर पर ऐसे किसी मोर्चे का प्रमुख दायित्व अमेरिका का ही बन जायगा। यही नहीं, चीन-सोवियत संबंधों के भावी स्वरूप के बारे में भी कोई

निश्चित अमेरिकी दष्टिकोण बनना असभव है। इन विभिन्न अनिश्चिताओ को देखते हुए यह दष्टिकोण गलत होगा कि, भविष्य मे अमेरिका चीन सबधो मे कोई सक्रिय एकजूटता उभरेगी। हाल ही मे अमेरिका ने ताइवान को सैनिक सामान दिया है, जिसकी चीन मे उग्रप्रतिक्रिया भी हुई है। अत यह स्पष्ट है कि विभिन्न अनिश्चितताओ के बीच अमेरिका ताइवान म अपने सामरिक ये द्र को खो देने के लिए तैयार नही होगा। चीन भी इस प्रश्न पर समझौता नही कर सकता। अत चीन अमेरिका सबधो का भावी स्वरूप सीमित सहयोग और असीमित अनिश्चित ताओ के मिश्रित सदर्भो मे विकसित होगा।

अध्याय 7

एशिया की जागृति

एशिया की जागृति बीसवीं शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। मानव सभ्यता और संस्कृति का पोषक यह पुरातन भूखण्ड, एशिया, शताब्दियों तक विदेशी दासता की शृंखलाओं में जकड़ा रहा। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति और संयुक्त राष्ट्र की स्थापना ने इसे विदेशी शासन के शिकंजे से मुक्त होने में सहयोग दिया। शताब्दियों से महानिद्रा में डूबा एशिया अब उठ खड़ा हुआ है। इसे अपने महत्त्व का ज्ञान हो गया है। सम्पूर्ण महाद्वीप में चेतना की नयी लहर दौड़ गयी है और पिछले तीस वर्ष में इस भूखण्ड पर घटने वाली घटनाओं ने आभास करा दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों का केन्द्र यूरोप से हटकर एशिया में चला आया है जहां आने वाले कुछ वर्षों में मानवता के भविष्य का फैसला होना है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार टॉयनबी ने लिखा है कि 'साम्यवाद की चुनौती का भी महत्त्व कम हो जायेगा जब भारत और चीन की कहीं अधिक शक्तिशाली सभ्यतायें पश्चिम की चुनौती का उत्तर देने लगेंगी। जितना प्रभाव रूस अपने साम्यवाद द्वारा डालने की आशा करता है, उससे कहीं अधिक गहरा प्रभाव ये सभ्यताएं आगे चलकर हमारे पाश्चात्य जीवन पर डालेंगी।" इस दृष्टिकोण में व्यक्त सभ्यतापरक चुनौती की बात का एक सार्थक आधार है। लेकिन, एशिया के गर्भ से भी उग्र सामाजिक आर्थिक संघर्षों की उत्पत्ति अत्यंत प्रबल सम्भावना बनती जा रही है। चीन और हिन्द चीन के अनुभव इस ऐतिहासिकता के सजीव साक्षी हैं।

परिचय

एशिया भूमण्डल का सबसे बड़ा महाद्वीप है। यह पूर्व में प्रशान्त महासागर से पश्चिम में भूमध्य सागर और उत्तर में आर्कटिक महासागर से दक्षिण में हिन्द महासागर तक फैला हुआ है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व के एक तिहाई भू भाग पर इसका अधिकार है और संसार की आधे से अधिक जनता इस भूखण्ड पर निवास करती है। दुनिया की सबसे अधिक आबादी वाले देश—चीन और

भारत—इसी महाद्वीप के अग हैं।

अ तर्राष्ट्रीय सम्ब धो की दृष्टि स एशिया को निम्नाकित पाच भागो मे बाटा जा सकता है—

(1) सोवियत एशिया।
(2) पूर्वी एशिया।
(3) दक्षिण पूर्वी एशिया।
(4) दक्षिणी एशिया।
(5) पश्चिमी एशिया।

सोवियत एशिया—सोवियत सघ का अधिकाश क्षेत्र एशिया मे आता है। उसके 15 गणराज्यो म 8 गणराज्य—कजाकिस्तान, तुर्कमेनस्तान, किरघीजिया, ताझिकिस्तान, जार्जिया अजरबेजान और आरमेनिया—पूरी तरह एशिया महाद्वीप के भौगोलिक दायरे म है। इसके अतिरिक्त सोवियत सघ के सबसे बडे गणराज्य—रूसी सावियत सघीय समाजवादी गणराज्य (RSFSR)—का काफी क्षेत्र एशिया मे है। भौगोलिक दष्टि से सोवियत सघ को एशिया की शक्ति मानना चाहिये, कि तु अ तर्राष्ट्रीय राजनीति मे उसे नस्लगत आधार पर तथा राजधानी के मॉस्को मे स्थित होने के कारण यूरोपीय शक्ति माना जाता है। भारत ने भी यदाकदा सोवियत सघ को एशिया का ही एक अग माना है। जून 1965 मे होने वाली अल्जीरियाई सम्मेलन म उसने सोवियत सघ को आमन्त्रित किये जाने की माग की थी। लेकिन यह चीन की उपस्थिति को सतुलित करने की दष्टि स व्यक्त विचार था।

पूर्वी एशिया—इसे सुदूर पूव (Far East) भी कहत हैं। इसके अ तगत चीन, ताइवान, हागकाग, कोरिया, जापान व वाह्य मगोलिया आते हैं। महायुद्ध स पूव जापान को छोडकर य सारे देश साम्राज्यवादी लिप्सा, दमन और शोषण के शिकार थे। जिन दिना यूरोप की शक्तिया अजेय समझी जाती थी उन दिना छोटे से जापान ने दैत्याकार रूस को पराजित करके (1904 5) तथा 'एशिया एशियावासियो का है' का नारा दकर गोरे साम्राज्यवादियो की नीद हराम कर दी थी। द्वितीय महायुद्ध के दौरान पूर्वी एशिया और दक्षिण पूर्वी एशिया से गोरा को खदडकर जापान ने अपने साम्राज्य का किया। जापान के आत्मसमपण के साथ ही सुदूर पूव की नीद उचट गयी। आज समस्त सुदूर पूव जाग चुका है और विदेशी शासन कलक को धो चुका है। चीन और जापान के अभ्युदय स एक नये सुदूर पूव का ज म हुआ है। उनकी नीतियो और आचरण पर बहुत कुछ सीमा तक विश्व शा ति निभर हैं।

दक्षिण पूर्वी एशिया—असाधारण अ तर्राष्ट्रीय महत्त्व के आठ राष्ट्र—बर्मा, थाईलैंड, इण्डोनेशिया, मलयेसिया, फिलीपाइ स, वियतनाम कम्पूचिया और

अध्याय 7

एशिया की जागृति

एशिया की जागृति बीसवीं शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। मानव सभ्यता और संस्कृति का पोषक यह पुरातन भूखण्ड, एशिया, शताब्दियों तक विदेशी दासता की शृंखलाओं में जकड़ा रहा। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति और संयुक्त राष्ट्र की स्थापना ने इसे विदेशी शासन के शिकंजे से मुक्त होने में सहयोग दिया। शताब्दियों से महानिद्रा में डूबा एशिया अब उठ खड़ा हुआ है। इसे अपने महत्त्व का ज्ञान हो गया है। सम्पूर्ण महाद्वीप में चेतना की नयी लहर दौड़ गयी है और पिछले तीस वर्ष में इस भूखण्ड पर घटने वाली घटनाओं ने आभास करा दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों का केन्द्र यूरोप से हटकर एशिया में चला आया है जहां आने वाले कुछ वर्षों में मानवता के भविष्य का फैसला होना है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार टॉयनबी ने लिखा है कि 'साम्यवाद की चुनौती का भी महत्त्व कम हो जायेगा जब भारत और चीन की कहीं अधिक शक्तिशाली सभ्यतायें पश्चिम की चुनौती का उत्तर देने लगेंगी। जितना प्रभाव रूस अपने साम्यवाद द्वारा डालने की आशा करता है, उससे कहीं अधिक गहरा प्रभाव ये सभ्यताएं आगे चलकर हमारे पाश्चात्य जीवन पर डालेंगी।' इस दृष्टिकोण में व्यक्त सभ्यतापरक चुनौती की बात का एक सार्थक आधार है। लेकिन, एशिया के गर्भ से भी उग्र सामाजिक आर्थिक संघर्षों की उत्पत्ति अत्यंत प्रबल सम्भावना बनती जा रही है। चीन और हिन्द चीन के अनुभव इस ऐतिहासिकता के सजीव साक्षी हैं।

परिचय

एशिया भूमण्डल का सबसे बड़ा महाद्वीप है। यह पूर्व में प्रशान्त महासागर से पश्चिम में भूमध्य सागर और उत्तर में आर्कटिक महासागर से दक्षिण में हिन्द महासागर तक फैला हुआ है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व के एक तिहाई भू भाग पर इसका अधिकार है और संसार की आधे से अधिक जनता इस भूखण्ड पर निवास करती है। दुनिया की सबसे अधिक आबादी वाले देश—चीन और

भारत—इसी महाद्वीप के अग हैं।

अ तर्राष्ट्रीय सम्ब धा की दष्टि से एशिया को निम्नाकित पाच भागो मे बाटा जा सकता है—

(1) सोवियत एशिया।
(2) पूर्वी एशिया।
(3) दक्षिण पूर्वी एशिया।
(4) दक्षिणी एशिया।
(5) पश्चिमी एशिया।

सोवियत एशिया—सोवियत सघ का अधिकाश क्षेत्र एशिया मे आता है। उसके 15 गणराज्यो मे 8 गणराज्य—कजाकिस्तान तुर्कमेनिस्तान, किरधीजिया, ताझिकिस्तान, जार्जिया अजरबेजान और आरमेनिया—पूरी तरह एशिया महाद्वीप के भौगिलिक दायरे मे है। इसके अतिरिक्त सोवियत सघ के सबसे बड़े गणराज्य—रूसी सोवियत सघीय समाजवादी गणराज्य (RSFSR)—का काफी क्षेत्र एशिया मे है। भौगोलिक दष्टि से सोवियत सघ को एशिया की शक्ति मानना चाहिये, कि तु अ तर्राष्टीय राजनीति मे उस नस्लगत आधार पर तथा राजधानी के मॉस्को म स्थित होने के कारण यूरोपीय शक्ति माना जाता है। भारत ने भी यदाकदा सोवियत सघ को एशिया का ही एक अग माना है। जून 1965 मे होने वाली अल्जीरियाई सम्मलन मे उसने सोवियत सघ को आमन्त्रित किये जाने की माग की थी। लेकिन यह चीन की उपस्थिति को सतुलित करने की दष्टि स व्यक्त विचार था।

पूर्वी एशिया—इसे सुदूर पूव (Far East) भी कहते हैं। इसके अ तगत चीन, ताइवान, हागकाग, कोरिया, जापान व वाह्य मगोलिया आते हैं। महायुद्ध स पूव जापान को छोडकर य सारे देश साम्राज्यवादी लिप्सा, दमन और शोषण के शिकार थे। जिन दिनो यूरोप की शक्तिया अजेय समझी जाती थी उन दिनो छोटे से जापान ने दैत्याकार रूस को पराजित करके (1904 5) तथा 'एशिया एशियावासियो का है' का नारा दकर गार साम्राज्यवादियो की नीद हराम कर दी थी। *द्वितीय महायुद्ध के दौरान पूर्वी एशिया और दक्षिण पूर्वी एशिया स गोरो* को खदेडकर जापान ने अपने साम्राज्य का किया। जापान के आत्मसमपण के साथ ही सुदूर पूव की नोद उचट गयी। आज समस्त सुदूर पूव जाग चुका है और विदशी शासन कलक को धो चुका है। चीन और जापान के अभ्युदय स एक नये सुदूर पूव का ज म हुआ है। उनकी नीतियो और आचरण पर बहुत कुछ सीमा तक विश्व शा ति निभर हैं।

दक्षिण पूर्वी एशिया—असाधारण अ तर्राष्ट्रीय महत्त्व के आठ राष्ट्र—बर्मा, थाईलैंड, इण्डोनेशिया, मलयेसिया, फिलीपाइ स, वियतनाम कम्पूचिया और

लाओस—इस क्षेत्र में आते हैं। यह हिंद महासागर को प्रशांत महासागर से मिलाने वाले समुद्री मार्ग पर स्थित है और एशिया व आस्ट्रेलिया के मध्य एक प्राकृतिक पुल का कार्य करता है। महाशक्तियों के मध्य यह संघर्ष का मुख्य स्थल है, क्योंकि यदि इस क्षेत्र पर साम्यवादी चीन का प्रभुत्व हो जाये तो फिर आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में साम्यवाद की स्थापना का कार्य मुश्किल नहीं होगा। प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से एशिया बहुत समृद्ध है। चावल, टीन, रबड़ यहां प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। बर्मा, थाइलैंड और वियतनाम एशिया का 'चावल का कटोरा' (rice bowl) कहलाते हैं। पूर्वी एशियाई राज्यों को, चावल की आवश्यकताओं की पूर्ति इन्हीं राष्ट्रों द्वारा होती है। इन स्थितियों के कारण, इस क्षेत्र का अत्यधिक सामरिक महत्त्व है।

दक्षिणी एशिया—दक्षिणी एशिया के अंतर्गत भारत, बांगला देश, भूटान, नेपाल, पाकिस्तान और श्री लंका आते हैं। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व यह क्षेत्र ब्रिटेन के नियंत्रण में था। दो सौ वर्षों के ब्रितानी शासन ने विरासत के रूप में इन राष्ट्रों के लिए लगभग एक सी राजनीतिक समस्यायें छोड़ी हैं। लेकिन, उपनिवेशवाद के अंतर्गत सभी राष्ट्रों में समान आर्थिक तथा सामाजिक विकास नहीं पाया। ब्रिटेन उपनिवेशी राष्ट्रों में सर्वाधिक प्रबल था। अतः उसकी एक विश्व स्तरीय फैलाव की नीति थी। उपनिवेशवाद के तृतीय चरण में जब पूंजी का निर्यात भी संभव बन गया, तब भारत का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया। इसके सामरिक महत्त्व और आंतरिक विकास की स्थिति को देखते हुए यहां पर एक औद्योगीकरण की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई। इसके फलस्वरूप भारत में, भले ही एक सीमित स्तर पर, पूंजीवादी व्यवस्था का भी विकास हुआ। विकास के इस ऐतिहासिक क्रम ने भारत को एशिया में ही नहीं अपितु सभी उपनिवेशों में सर्वाधिक विकसित राष्ट्र बना दिया। स्वतंत्रता के बाद यह विशिष्टता और अधिक स्पष्ट हुई।

कारी योजना को विफल बनाने के लिए पश्चिमी एशिया की सुरक्षा व्यवस्थाओं का दृढ़ होना जरूरी है। विश्व के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हवाई और समुद्री मार्ग पश्चिमी एशिया मे स्थित हैं। ये यूरोप को दक्षिणी व पूर्वी एशिया, आस्ट्रेलिया, अफ्रिका और अमेरिका से जोडते है। यह केवल स्वज नहर को उदजन बम गिरा कर नष्ट कर दिया जाय तो पश्चिमी यूरोप का सम्पूर्ण आर्थिक ढाचा अस्त व्यस्त हो जायेगा। यदि भूमध्य सागर के तट पर स्थित किसी देश पर सोवियत सघ का राजनीतिक नियत्रण हो जाये तो पश्चिमी राष्ट्रो के लिए एशिया मे अपना प्रभाव बनाये रखना मुश्किल हो जायेगा। अत अमेरिका आदि पश्चिमी देश इस क्षेत्र को साम्यवादी प्रभाव स बचाने की जी तोड कोशिश मे लगे रहते हैं।

पश्चिमी एशिया का व्यापारिक व आर्थिक महत्त्व भी है। विश्व का लगभग 28 प्रतिशत तेल पश्चिमी एशिया मे पाया जाता है। यूरोप अपनी आवश्यकता का 80 प्रतिशत तेल पश्चिमी एशिया से प्राप्त करता है। सयुक्त राज्य अमेरिका की एक अरब डॉलर से अधिक की पूजी पश्चिमी एशिया मे तेल के व्यापार मे लगी हुई हैं। इतनी पूजी के विनियोग और तेल जसी महत्त्वपूर्ण वस्तु के कारण अमेरिका पश्चिमी एशिया पर अपना प्रभाव बनाये रखना चाहता है। ऊधर तेल और युद्ध कूटनीति की दृष्टि से उपयोगी होने के कारण सोवियत सघ भी पश्चिमी एशिया को अपने प्रभाव क्षेत्र मे लाने का इच्छुक है। अत भौगोलिक, सामरिक और व्यापारिक महत्ता के कारण पश्चिमी एशिया महाशक्तिया के मध्य सघर्ष का अखाडा बना हुआ है।

जागृति के कारण

एशिया की जागृति किसी एक ऐतिहासिक घटना का परिणाम नही है। यह विकास की प्रक्रिया है जिसके मूल म विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ और राष्ट्रीय आन्दोलनो की भूमिका रही है। औद्योगिक क्रांति की ऐतिहासिक घटना के बीच एशिया मशीनो की चुनौती स्वीकार नही कर सका। मशीनो के बल पर और उनके लिए कच्चे माल की आवश्यकता ने एशिया को यूरोप के औद्योगीकृत देशा के नियत्रण मे पहुचा दिया। लगभग 300 वर्ष तक एशियावासी यूरोप की उपनिवेशवादी शक्तियो की दासता म जीवन बिताने पर विवश हुए।

1789 मे होने वाली फ्रास की राज क्रान्ति ने पहली बार यूरोप और एशिया के बौद्धिक सम्बन्धो मे परिवर्तन लाने की चेष्टा की। फ्रासिसी क्रान्ति के नारो—स्वतन्त्रता समानता और विश्व-बन्धुत्व—का एशिया पर स्थायी प्रभाव पडा। जनतन्त्र और राष्ट्रवादिता, क्रान्ति की दो मुख्य देन थी। इनके पौधे यूरोप की भूमि पर लहलहाने लगे। लेकिन यूरोप से भी अधिक एशिया की भूमि इन्हें अपने विकास के अनुकूल मिली। कुछ समय तक तो एशिया की रूढ़िवादिता ने इनके

पैर जमने नही दिए , लेकिन पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव, छापेखानों की स्थापना, यातायात की सुविधाओं के विस्तार ने रूढ़िवादिता के पंजे को, जो एशियाई जनता को कसे हुए था, ढीला कर दिया और उसके स्थान पर राष्ट्रवादिता की भावनायें जोर पकड़ने लगी।

जापान पहला राष्ट्र था जिसने औद्योगीकरण और राष्ट्रवाद की शिक्षायें हृदय से ग्रहण की। 1905 में शक्तिशाली रूसियों को हराकर उसने सम्पूर्ण एशिया का सिर गौरव से ऊंचा कर दिया। समस्त संसार ने रूस जापान युद्ध की गति को विस्मय से देखा। ऐसे उत्कृष्ट संगठन, युद्ध क्षमता और अदम्य साहस का परिचय जापान देगा, लोगों ने सोचा भी नहीं था। इसके बाद जापान ने जो "एशिया एशियावासियों का है" नारा लगा तो सारे एशिया में नव जागरण की लहर दौड़ गयी और एशिया के निवासी विदेशियों की आर्थिक और राजनीतिक दासताओं से मुक्त होने की बात सोचने लगे। भारत में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस', चीन में कुओमिनतांग, तुर्की में नेशनलिस्ट पार्टी', इण्डोनेशिया में 'राष्ट्रीय इण्डोनेशियाई दल आदि के माध्यम से राष्ट्रीय आन्दोलनों ने जोर पकड़ा। एशिया के विभिन्न राष्ट्रों के धनी नागरिकों ने विदेशी ताकतों के विरुद्ध चलाये गये ऐसे राष्ट्रीय आन्दोलनों को आर्थिक सहायता देना शुरू किया। प्रथम महायुद्ध ने एशिया में चल रहे इन राष्ट्रीय आन्दोलनों को उल्लेखनीय गति दी। युद्ध के दौरान अनेक एशियाई देशों में स्वतंत्रता की मांग ने इतना जोर पकड़ा कि एक बार तो विदेशी शासकों के लिए उसे दबाना कठिन हो गया।

तभी 1917 की रूसी क्रांति हो गयी। यह कोई मामूली क्रांति नहीं, एक नयी व्यवस्था, जीवन पद्धति व नई सामाजिक संरचना का संदेश थी। यह सर्वहारा या समाज के दलित वर्ग के शोषण के विरुद्ध मुक्ति के लिए विश्वव्यापी आवाज थी। इस रूसी बोल्शेविक क्रांति से एशियाई उपनिवेशों की जनता को अपनी आजादी के लिए संगठित होकर संघर्ष करने की प्रेरणा मिली और दूसरी ओर साम्राज्यवादियों को चेतावनी कि उन्हें अब एशिया से हट जाना चाहिये।

द्वितीय महायुद्ध एशिया और यूरोप के पारस्परिक सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया। यूरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्र आपस में लड़कर या तो नष्ट हो गये या इतने कमजोर कि समुद्र पार एशियाई राष्ट्रों को अपने नियंत्रण में रखना अब उनके लिए संभव न रहा। राजनीतिक अथवा सैनिक कारणों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक कारण थे। द्वितीय विश्व युद्ध ने साम्राज्यवादी व्यवस्था के उपनिवेशी काल का पटाक्षेप किया। आर्थिक विवशता के बीच, उपनिवेशों पर नियंत्रण असंभव था। शोषण की परोक्ष नीति की आवश्यकता थी, जो राजनीतिक स्वराज तो दे दें, लेकिन आर्थिक शोषण को नव-उपनिवेशी माध्यम से बनाये रखे। उन्हें विवश होकर एशिया के सेना से भागना पड़ा। ब्रिटेन की नीति

अधिक दूरदर्शी थी अत शाति पूर्ण सत्ता हस्तानातरण हो गया। 1947 मे भारत ने स्वतत्रता पायी। इसके बाद बर्मा लका, चीन, इण्डोनेशिया, थाइलैंड, मलाया आदि एक-एक करके स्वतत्र हुए और सबने अपनी अपनी जनता की इच्छा के अनुरूप शासन व्यवस्थायें स्थापित की। 1949 मे चीन मे साम्यवाद आया। उसके उपरान्त एशिया पर विदेशी नियत्रण इतिहास की घटना मात्र बनकर रह गया।

एशिया की समस्याए

एशिया शुरू स विभिन्न धर्मों, सस्कृतियो और राजनीतिक व्यवस्याओ वाला महाद्वीप रहा है। सभी एशियाई राष्ट्रो का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। उनकी अपनी विशेषताए हैं। अपनी विदेश नीति है और वे सब अपने अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे से पृथक् लक्ष्य और साधन अपना रहे हैं। लेकिन उनकी सामाजिक, आर्थिक और कुछ सीमा तक राजनीतिक समस्याओ और आकाक्षाओ मे समानता पायी जाती हैं। एशिया के निवासी उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शोषण के शिकार रहे हैं, इसलिए पश्चिम के साम्राज्यवादी देशो के प्रति शका और सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका मे एशिया को दो पृथक गुटा—साम्यवादी एशिया और गैर साम्यवादी एशिया—के रूप मे देखने की प्रवत्ति पायी जाती है, लेकिन एशिया क निवासी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म इस दृष्टि स नहीं सोचते। उनका दष्टिकोण राष्ट्रवादी है। उनके सम्मुख पुर्ननिर्माण और विकास की समस्याए लगभग एक सी हैं।

शताब्दियो के विदेशी शोषण ने एशियाई देशो को भुखमरी, दरिद्रता, पीडा तथा अगणित दु खो के द्वार पर लाकर खडा कर दिया है। यहा के अधिकाश लोग भूमिहीन किसान हैं जो पेट भरने के लिए दो वक्त का भोजन भी नही जुटा पाते। अशिक्षित दरिद्र, अधविश्वास म डूबे ये अनेक बीमारियो से ग्रस्त हैं। लगभग सभी देश अति जनसख्या से पीडित हैं तथा अपने जीवन के लिए सघर्ष मे रत हैं। यहा सबके लिए भोजन उपलब्ध नही है। यदि भोजन और अच्छे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक दशाओ की व्यवस्था निकट भविष्य मे एशिया मे नही की गई तो सभावना है कि आने वाली शताब्दी तक एशिया के निवासी बीमारी और अपर्याप्त भोजन के कारण असमय ही काल के ग्रास बन जायेंगे।

एशियाई राष्ट्रो का राजनीतिक जीवन भी उपयुक्त आर्थिक व सामाजिक पिछडेपन से प्रभावित है। यदि एशिया के निवासी अपनी समस्याओ के निवारण मे सरकार व अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणो के साथ मिलकर जुट जायें तभी उनकी जीवन दशाओ म क्रान्तिकारी परिवतन हो सकता है। लकिन एशिया के निवासी रूढिवादी हैं और किसी भी परिवतन को अपनी परम्परा व रीति रिवाजो के

लिए चुनौती मानकर चलते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश एशियाई देशों के नेता भी सामाजिक परिवर्तन के विरोधी हैं। ऐसी हालत में यहां जनतांत्रिक संस्थाओं की सफलता संदिग्ध है। शासन व्यवस्था में यहां कितना ही परिवर्तन क्यों न कर दिया जाए सत्ता हमेशा उसी भ्रष्टवर्ग के हाथ में बनी रहती है जो पहले से यहां शासन करता करता चला आ रहा है। यह थोपी हुई उपनिवेशी विरासत की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

एशिया विश्व के लगभग सभी बड़े 'धर्मों की जननी' है। किसी अन्य महाद्वीप में राष्ट्रीय या राजनीतिक मामलों पर धर्म का इतना प्रभाव देखने में नहीं आता, जितना कि एशियाई राष्ट्रों में। पश्चिम के अनेकवादी और समाजवादी आन्दोलन भी एशियाई लोगों के धार्मिक दृष्टिकोण को बदलने में पूरी तरह सफल नहीं हुए हैं। आर्थिक सामाजिक व्यवस्था के अविकसित बने रहते हुए, इस रूढ़िवादी स्थिति में बदलाव की संभावनाएं अत्यधिक क्षीण हैं।

समस्याओं की दृष्टि से इस तरह पश्चिमी जगत और एशिया के बीच भारी अन्तर है। पश्चिमी जगत पूर्णत औद्योगीकृत है। उसकी समस्यायें औद्योगीकरण की देन हैं। जबकि एशियाई जगत की समस्याएं भूमि, कृषि श्रम और औद्योगिक विकास की समस्याएं हैं। जापान जैसे देश में भी चालीस प्रतिशत लोग कृषि पर निर्भर हैं। जहां पश्चिमी राष्ट्रों के स्तर का औद्योगीकरण हो चुका है। भारत और चीन को छोड़कर जहां कुछ क्षेत्रों में महत्वपूर्ण औद्योगिक विकास देखने को मिलता है एशिया के सभी देश अभी औद्योगीकरण की दृष्टि से पिछड़ी अवस्था में हैं। एशिया की जागृति को समझने के लिए इन सारी समस्याओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

जागरण की प्रवृत्तियां व परिणाम

एशिया में जागरण के परिणामस्वरूप एक साथ दो प्रकार की प्रवृत्तियां क्रियाशील हुई हैं। बौद्धिक स्तर पर एक ओर तो यह आकांक्षा है कि पश्चिम का अनुकरण किया जाये उसके रहस्यों को सीखा जाये तथा उसके कौशल को प्रयोग में लाया जाय। दूसरी ओर यह कि परम्परागत जीवन क्रम को कायम रखा जाये तथा अपने भाग्य का स्वयं निर्माण किया जाये। ये प्रवृत्तियां एक राष्ट्र में ही नहीं, एक व्यक्ति में भी साथ साथ पायी जाती हैं। कुछ प्रसंगों में उन्हीं व्यक्तियों द्वारा पुरानी प्रथाओं की ओर लौटने का आग्रह किया जाता है जिन्होंने पश्चिमी ज्ञान स्रोत में गहन अध्ययन किया था। पश्चिमी पद्धतियों और विचारों के आयात ने *जागरण में योग दिया है, लेकिन स्थायी परिणाम जागृत राष्ट्रों द्वारा अपने निजी व्यक्तित्व को महत्व देना है।*

भौतिक स्तर पर भी दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां क्रियाशील हैं, जिन्हें

सकारात्मक (positive) और नकारात्मक (negative) दो रूपो म व्यक्त किया जा सकता है—

सकारात्मक प्रवृत्तिया व अधिकार

एशिया की जागृति के अनेक सकारात्मक परिणाम निकले हैं

(1) सामाजिक व राजनीतिक क्रांति—एशिया के निवासी आज उस शक्ति को जो उन्होंने कभी उपनिवेशवाद और पश्चिम का विरोध करने मे लगायी थी, सामाजिक कुरीतियो, सामन्तशाही, दरिद्रता, अशिक्षा आदि मिटाने मे लगा रहे हैं। सम्पूर्ण एशिया म स्त्रियो की दशा सुधरी है। अधिकांश दशा म भावात्मक व राजनीतिक एकता दिखाई देती है, भले ही इसकी एकता के कोई स्थाई आधार नही हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इन राष्ट्रो मे राष्ट्रीयताओ का सघर्ष भी उभरा है।

(2) राष्ट्रीयता का विकास—जागति के परिणामस्वरूप सभी एशियाई देशो मे राष्ट्रीयता की प्रबल लहर आई है जिसन इस्रायल से लेकर फिलीपाइन्स तक नये राष्ट्रो का निर्माण किया है। राष्ट्रीयता की भावना ने आर्थिक पुनर्निर्माण और विकास के कार्यक्रमो को गति दी है। सामन्तवादी व्यवस्था को मिटाने, जनतान्त्रिक सस्थाओ की स्थापना करने तथा भाषा धर्म अज्ञान अविश्वास, रूढ़िवादिता, जातिवाद और क्षेत्रीयता जैसी बुराइयो के होते हुए भी राष्ट्रीय समाजो मे एकता लाने मे सफलता पाई है। एशियाई राष्ट्रवाद ने अफ्रिका के नवजागरण मे भी योग दिया है और वहा साम्राज्यवादियो द्वारा अपनायी गयी जातिभेद और रग भेद की नीतियो के विरुद्ध जनमानस बनाया है। लेकिन, आतरिक विकास के आधार पर इन राष्ट्रो मे एकता मे अनेकता की विचित्र स्थिति है। असमान आर्थिक विकास के कारण विभिन्न अधविकसित राष्ट्रीयताए भी अस्तित्व मे है। जिनके सघर्ष उत्तरोत्तर उभरे हैं।

(3) उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद की अन्त्येष्टि—पुराने ढग के उपनिवेशवाद का पतन एशिया की जागति का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम है। सभी एशियाईदेशो की विदेशी नीतियो का लक्ष्य उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद का विरोध है। पश्चिमी साम्राज्यवादी अभी तक धन मशीनरी, शिल्पज्ञान युद्ध सामग्री आदि देकर और सैनिक सन्धिया मे बाधकर कुछ एशियाई राष्ट्रो को अपने प्रभाव म बनाये रखने की चेष्टा करते है किन्तु इससे उनके उद्देश्यो की पूर्ति हो सकेगी इसम सन्देह है। जागृत एशिया साम्राज्यवाद के हर रूप स नफरत करता है—चाहे वह विचारधारा के निर्यात के रूप मे हो अथवा आर्थिक सहायता समझौता या सैनिक सगठनो या अड्डो के रूप मे। उसके लिए साम्यवाद नही साम्राज्यवाद पहले नम्बर का दुश्मन है तथा इसके वतमान नव-उपनिवेशी षडयन्त्र सघर्ष का

प्रमुख दायित्व भी।

(4) **साम्यवाद के प्रति आकर्षण**—एशियाई राष्ट्रो मे साम्यवाद के प्रति आकर्षण बढ रहा है। इसके कई कारण हैं। प्रथम, रूस के अतिरिक्त साम्यवाद का दूसरा महत्वपूर्ण गढ़ चीन भी एशिया म स्थित है। दूसरे, सोवियत रूस ने सदव स्वाधीनता आन्दोलनो का समथन और पश्चिमी देशो द्वारा किये जाने वाले शोषण का विरोध किया है। तीसरे, साम्यवाद वहा अधिक पनपता है जहा व्यवस्थागत विषमता के फलस्वरूप गरीबी, बेकारी, आर्थिक पिछडाव निरतर पनपता हो। एशिया के देशो की ये आधारभूत समस्यायें हैं। चौथे, साम्यवादी क्रान्ति से पहले रूस और चीन बहुत पिछडे हुए थे साम्यवादी शासन कुछ थोडे से वर्षों मे इन दशा ने जो आशातीत उन्नति की है, उससे सभी एशियाई राष्ट्र प्रभावित हैं। पाचवें, सयुक्त राज्य अमेरिका ने जिस प्रकार एशियाई राष्ट्रो के राजनीतिक जीवन म हस्तक्षेप किया है और एक राष्ट्र को दूसरे के विरुद्ध लडाने की कोशिश की है उसस पूजीवाद ने एशियाई राष्ट्रो की सहानुभूति खो दी है। अत मे, एशियाई लोगा के लिए राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने की अपेक्षा रोटी प्राप्त करना अधिक महत्वपूर्ण है। गरीबी, भूख और रोग की छाया मे जीने वाले एशियायी वाद' की फिक्र नही करते। वे अपनी समस्याओ का व्यावहारिक हल चाहते हैं और उन्हे साम्यवादी व्यवस्था मे यह सभव प्रतीत होता है।

(5) **स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने की प्रवृत्ति**—एशिया के अधिकाश देश पश्चिमी देशो की भाति गुटबन्दी मे विश्वास नही रखते। वे न तो साम्यवाद के अन्ध भक्त हैं और न पूजीवादी के कट्टर उपासक। उनकी ऐसी मानसिकता उनकी व्यवस्था की उपज है। एक ओर साम्राज्यवाद से प्रताडित होने के साथ साथ, आतरिक स्तर पर एक शोषण की व्यवस्था कायम है। प्रथम पक्ष उन्हे साम्राज्यवाद विरोधी बनाता है, लेकिन द्वितीय पक्ष उनका साम्यवाद से सहम रहने का कारण भी है। अत एक व्यावहारिक नीति के रूप म गुटो से स्वतन्त्र रहने की प्रवत्ति एशिया के जागरण की विशेषता है। नेहरू की गुटनिरपेक्षता मे उन्हें अपनी अक्षुण्ण रखने का प्रभावशाली साधन मिला है। इस दष्टि से, जैसा क्लोवियस मकसूद लिखा है, "भारत गुट निरपेक्ष राष्ट्रो का नेता है तथा इसमे सन्देह नही कि उसने समय समय पर इन (एशियाई) राष्ट्रो का मागदशन किया है।"

(6) **भ्रातृत्व भावना और सहयोग**—जसा कि ऊपर लिखा जा चुका है एशिया के राष्ट्रो म विद्यमान व्यापक भिन्नताओ के बावजूद उनकी समस्यायें, आवश्यकतायें और आकाक्षायें लगभग समान हैं। जैस सभी राष्ट्रों को उपनिवेशवादी पीडाओ का अनुभव है जापान को छोडकर सभी तकनीकी क्षेत्र मे पिछडे हुए हैं अज्ञान, गरीबी, जनसख्या विस्फोट का समाधान सभी को ढूढना है, आर्थिक

असन्तोष और आन्तरिक दशायें सभी देशों में आन्तरिक उपद्रवों व दंगों को भड़काती है। ऐसी अवस्था में जागृति के परिणामस्वरूप एशियाई राष्ट्रों में एकता और भाईचारे की भावना का जन्म होना स्वाभाविक था। मार्च 1947 में, विश्व मामलों की भारतीय परिषद (Indian council of world Affairs) ने नई दिल्ली में एशियाई सम्बन्धों के सम्मेलन (Asian Relations confrrence) का आयोजन किया जिसमें 28 देशों के प्रतिनिधि आये। इसका उद्देश्य एशियाई राष्ट्रों के बीच मैत्री व सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा एशियाई जनता की प्रगति व हितों में वृद्धि करना निश्चित किया गया। नेहरू ने सम्मेलन का महत्त्व बताते हुए कहा कि 'परिस्थितियों में परिवर्तन आ रहा है तथा एशिया को अपनी स्थिति का ज्ञान हो गया है एशिया के देश अब दूसरे के हाथ का मोहरा नहीं बनेंगे विश्व के विषयों में उनकी अपनी नीतियों का होना निश्चित है।'

दो वर्ष बाद, दूसरा एशियाई सम्मेलन नई दिल्ली में (जनवरी 1949 में) इण्डोनेशिया के प्रश्न पर विचार करने के लिए बुलाया गया जिसमें भाग लेने वाले 19 देशों के प्रतिनिधियों ने उच्च पुलिस और सेनाओं के इण्डोनेशिया से अविलम्ब चले जाने और 1 जनवरी, 1950 तक उसे स्वतन्त्र किये जाने की मांग की। इस अवसर पर एशियाई राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने पारस्परिक एकता का परिचय देते हुए गुटबन्दी की भावना को बुरा बताया और भविष्य में और भी अधिक पारस्परिक सहयोग के लिए सहमति प्रगट की।

मई 1950 में फिलीपाइन्स ने एशियाई राष्ट्रों के मध्य सांस्कृतिक और आर्थिक सहयोग बढ़ाने के उद्देश्य से बोगुई में एक एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया। इसके उपरान्त भारत, बर्मा, इण्डोनेशिया, पाकिस्तान और श्रीलंका (जिन्हें कोलम्बो शक्तियों का नाम दिया गया) के प्रधानमन्त्री 1954 में बोगोर में मिले जहां उन्होंने एक विशाल एफ्रो एशियाई सम्मेलन बुलाने का निर्णय लिया जिसका परिणाम बाण्डुग सम्मेलन था।

बाण्डुग सम्मेलन—यह प्रथम एशियाई अफ्रीकी सम्मेलन था। जिन 29 राष्ट्रों ने इस सम्मेलन में भाग लिया वे शक्ति व राजनीतिक की दृष्टि से अधिक शक्तिशाली नहीं थे, किन्तु ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराओं की दृष्टि से वे केवल पुराने ही नहीं, वरन सम्माननीय भी थे। भाग लेने वाले राष्ट्रों में विश्व की आधी से अधिक जनसंख्या निवास करती है। वे सभी राष्ट्र पाश्चात्य शक्तियों के अधीन रह चुके हैं और उनका यह दृढ़ विश्वास है कि उनके नवनिर्माण का युग प्रारम्भ हो चुका है। अपने स्वागत भाषण में इण्डोनेशिया के तत्कालीन राष्ट्रपति अहमद सुकर्ण ने कहा, "मुझे आशा है कि यह सम्मेलन इस बात का सबूत देगा कि एशिया और अफ्रिका का पुनर्जन्म हुआ है एक नया एशिया और एक नया अफ्रिका जीवित हुआ है।" इस सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्रों ने यह निश्चय

किया कि वे आर्थिक विकास हेतु एक दूसरे को विशेषज्ञों, अग्रगामी योजनाओं तथा उपयुक्त साधन सामग्री द्वारा सहायता प्रदान करेंगे। इस सम्मेलन म अफ्रिका में व्याप्त जातीय भेद भाव की निन्दा की गई। निशस्त्रीकरण का समर्थन किया गया तथा अणु परीक्षण और आधुनिक आयुधो के प्रयोग पर प्रतिबन्ध की माग की गई। सदस्य राष्ट्रो न एक दूसरे के आतरिक मामलो म हस्तक्षेप नहीं करना स्वीकार किया और उपनिवशवाद की निन्दा की। बाण्डुग सम्मेलन क विषय म पश्चिमी राष्ट्रो का यह शका थी कि चाऊ-एन लाइ जैसे व्यक्तियो की उपस्थिति क कारण यह सम्मेलन पश्चिमी विरोधी नीतियो का पालन करेगा। लेकिन बाडुग सम्मेलन न सिद्ध कर दिया कि एशिया क राष्ट्र गुटबन्दी के उपासक नहा हैं, वे न्याय चाहते हैं और बुराई का उन्मूलन ही उनका एक मात्र लक्ष्य है। चाऊ-एन लाइ की उपस्थिति म अनेक एशियाई देशो के प्रतिनिधियो ने साम्यवाद की निन्दा की और उसे उपनिवेशवादी व विस्तारवादी बताया। बाण्डुग सम्मेलन मे एशियाई राष्ट्रो के अनेक और विभिन्न पक्ष सामने आये, किन्तु सबका उद्देश्य एशियाई राष्ट्रो के मध्य पारस्परिक सहयोग और अच्छे सम्बन्धो की वृद्धि करना था। बाद मे यही एशियाई आयोजन गुटनिरपेक्षता के वृहद आयोजन मे समाहित हो गया।

नकारात्मक प्रवृत्तिया व परिणाम

सकारात्मक प्रवृत्तियो के साथ साथ जागृति के फलस्वरूप एशियाई राष्ट्रो म नकारात्मक प्रवृत्तिया भी क्रियाशील हुई हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं—

(1) *आकांक्षाओं की बढ़ती क्रान्ति*—*राजनीतिक जागरण ने एशियाई* जनता की आकाक्षाओ को बहुत बढा दिया है। जागरण के फलस्वरूप प्राप्त, राजनीतिक स्वतन्त्रता को लोग साध्य नही अपितु, एक महान सामाजिक व राज नीतिक परिवतन का साधन मान बैठे। लेकिन एशियाई समाज का जैसा चरित्र है। (जिसकी पहले चर्चा की जा चुकी है) उसके अन्तर्गत किसी बडे क्रान्तिकारी परिवतन की बहुत शीघ्र आशा व्यथ रही। अत आकाक्षाओ की बढती क्रान्ति का परिणाम *'हताशाओ की बढती क्रान्ति' हुआ जिसस राष्ट्रीय सघर्षों का उग्र बनाया तथा, अन्तराष्ट्रीय तनावों से भी विचित्र स्थितियो को जन्म दिया।*

(2) सामाजिक आर्थिक क्रान्ति से पहले राजनीतिक क्रान्ति—यूरोप क देशो म राजनीतिक चेतना क फलस्वरूप आई राजनीतिक क्रान्ति से पहले वहा औद्यो गिक क्रान्ति के कारण आर्थिक व सामाजिक क्रान्ति हो चुकी थी। राजनीतिक क्रान्ति ने जब महत्वकाक्षाओ को बढाया तो उन्हे पूरा करने के लिए आवश्यक आर्थिक साधन उन राष्ट्रो के पास थे। लेकिन एशिया के देशो मे आर्थिक क्रान्ति से पहले राजनीतिक क्रान्ति हुई है। यहा आकाक्षाओ को पूरा करने के लिए आवश्यक

आर्थिक साधन नहीं हैं तथा व्यवस्था का स्वरूप भी शोषक है। अतः प्रत्येक राष्ट्र को शान्ति, समृद्धि और व्यवस्था बनाये रखने के लिए जी-तोड़ कोशिश और जन-आकांक्षाओं को कुचलने की आवश्यकता पड़ती है। परिस्थितियों से लाभ उठाने के इरादे से साम्राज्यवादी देश आर्थिक और सैनिक सहायता के जाल फैलाते हैं, जिनमें एशियाई सरकारें आसानी से फंस जाती हैं। इनसे राष्ट्रीय स्तर पर अस्थिरता और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विवाद व युद्ध उत्पन्न होते हैं।

एशिया में जागरण से उत्पन्न इन नकारात्मक प्रवृत्तियों के निम्नांकित परिणाम हमारे समाने आये हैं

(1) बाण्डुंग भावना की समाप्ति या एशियाई एकता आन्दोलन में दरारें— बाण्डुंग भावना क्षणिक ही रही। दस वर्षों के भीतर उग्र राष्ट्रीयता के विकास तथा महाशक्तियों की चालबाजी ने एशियाई राष्ट्रों में जाग रही एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया। राष्ट्रीय हितों की विभिन्नता ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि दस वर्ष के भीतर 1965 में जो दूसरा अफ्रीकी एशियाई सम्मेलन बुलाया जाना था वह अभी तक आयोजित नहीं किया जा सका है। यहां यह उल्लेखनीय है कि 29 जून 1965 को अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में इस सम्मेलन का आयोजन किया गया था किन्तु सम्मेलन की तिथि से दस दिन पूर्व अल्जीरिया में क्रान्ति हो गयी और प्रधानमंत्री बेनबेला की सरकार का पतन हो गया जो इस सम्मेलन को आयोजित कर रही थी।

जागृति के परिणामस्वरूप एशियाई राष्ट्रों में जो वैयक्तिक दृष्टिकोण विकसित हुआ है (जिसे वह सच्ची स्वतन्त्रता समझते हैं) उसने उनकी राष्ट्रीय हित की धारणा में प्रबुद्धता के स्थान पर संकीर्णता को बढ़ाया है इससे एशियाई राष्ट्रों की एकता खण्डित हुई है। उनमें अनावश्यक सीमा विवाद और झगड़े पनपे हैं। इससे एशिया के देश अपने बहुमूल्य साधनों को विकास कार्य में लगाने की अपेक्षा विनाश कार्यों (युद्ध सामग्री आदि खरीदने) में लगाने को विवश हुए हैं। इस काम में साम्राज्यवादी शक्तियों का बहुत बड़ा हाथ है। सभी एशियाई देशों की आन्तरिक राजनीति में उनका हस्तक्षेप स्पष्ट दिखाई देता है। एशियाई राष्ट्रों को इससे बड़ी हानि पहुंच रही है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का कड़ाहा—आज एशिया का शायद ही कोई ऐसा देश हो जो अपने किसी दूसरे एशियाई देश के साथ विवाद में न उलझा हुआ हो। इन विवादों के कारण कहीं-न-कहीं एशिया के क्षेत्र में युद्ध चलते रहते हैं या युद्ध सा वातावरण बना रहता है। एशिया की इस स्थिति का दमक्र टामस रस का कथन ठीक लगता है कि एशिया इस समय संघर्ष का वास्तविक कड़ाहा और भविष्य में भी रहेगा।" कुछ प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विवाद निम्नांकित हैं—

(अ) चीन—रूस विवाद,
(आ) चीन—वियतनाम विवाद,
(इ) चीन—भारत विवाद,
(ई) भारत—पाक विवाद, तथा
(उ) अरब—इस्रायल विवाद।

भविष्य

कुछ भी हो, राष्ट्रीय राजनीतिक एवं औपचारिक दृष्टि से एशिया का जागरण पूरा हो चुका है। पश्चिम अब उग्र युग अपनी अधीनता में नहीं ला सकेगा। शताब्दियों की निष्क्रियता के बाद कम से कम एशियाई देश अब स्वयं अपने भाग्य का निर्णय तो करने लगे हैं।

सामाजिक और आर्थिक सुधारों की दृष्टि से अवश्य एशिया के देश भिन्न अवस्था में हैं। जिन देशों में कल-कारखाने काफी बढ़ चुके हैं और थोक माल तैयार करने के साज समान तैयार हैं उनकी समस्यायें एक प्रकार की हैं और जो इस दृष्टि से पिछड़े हुए हैं उनकी दूसरे प्रकार की। यूरोप और अमेरिका के देशों को अपना सामाजिक और औद्योगिक विकास करने में जितना समय लगा है उससे कहीं अधिक समय एशिया के नव जागृत देशों को लगेगा। यहां सुधार की मांग तो उग्र है। यदि तुरन्त ही कुछ न कुछ करके जनता को शान्त नहीं किया जायेगा तो वह राजनीतिक ढांचे को ही उलट पुलट कर रख देगी। लेकिन वर्तमान व्यवस्था के रहते बदलाव की संभावनायें कम हैं। भावी संघर्ष व्यवस्थापरक होगा, ऐसी आशा है।

इन देशों में एक प्रश्न और है—जनसंख्या का, जो तेजी से बढ़ रही है। इसका परिणाम यह होता है कि यहां उत्पादन जितना बढ़ता है वह बढ़ी हुई आबादी पर सारा का सारा खर्च हो जाता है और देश में विकास कार्यों के लिए कुछ नहीं बच पाता। अतः एशियाई राष्ट्रों की एक समस्या यह है कि वे नये नये साधन जुटाकर उत्पादन बढ़ाने के लिए जमा पूंजी इकट्ठी करने का उपाय करें। इसके लिए जो कुछ भी किया जाता है उससे वहां की जनता पर बोझ बढ़ता है जबकि जनता आज के बोझ से ही छुटकारा पाने के लिए छटपटा रही है। जनसंख्या की समस्या का भी समाधान, व्यवस्थागत अभिप्राय से जुड़ा है। वर्तमान स्थिति के रहते मुनाफे की अर्थव्यवस्था है। जिसके फलस्वरूप संसाधनों का पूरा प्रयोग नहीं हो पाता। जनता की क्रय शक्ति कम है। आय के स्तरों में भी गहरा विभेद है। अतः कुछ अभिजनों की आवश्यकताओं का उत्पादन तो होता है। लेकिन, जन साधारण की आवश्यक[illegible] पूरा नहीं कर पाती। एशियायी

राष्ट्र ससाधना की दृष्टि से सम्पन्न हैं। आवश्यकता एक एसी व्यवस्था की है जो इन ससाधना का 'जन हित' मे प्रयोग कर सके।

ऐसी दृष्टि से, एशिया की प्रमुख भावी प्रवतिया का दोहरा स्वरूप है। एक ओर शोषण के बढाने के साथ, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिरता को बल मिलेगा। दूसरी ओर, व्यवस्थागत बदलाव की शक्तिया भी इन्ही स्थितियो से सशक्त रूप से उभरेंगी। एशिया की यही द्वन्द्वात्मक दिशा है।

अध्याय 8

अफ्रीका का अभ्युदय

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पिछले चार दशक अफ्रीका के लोगों के लिए ऐतिहासिक रहे हैं। "विदेशी आधिपत्य द्वारा आरोपित अँधेरे और औपनिवेशिक शासन की जेल की कोठरियों से अफ्रीका और अफ्रीकी लोगों का अभ्युदय समकालीन विश्व स्थिति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।"[1] सम्पूर्ण महाद्वीप में अफ्रीकी चल पड़े हैं, दिशा के विषय में निश्चित हुए बगैर वे कहीं जा रहे हैं।'[2] सम्पूर्ण अफ्रीका में आशा की एक नई लहर का संचार हो रहा है ठीक उसी तरह जिस तरह अतीत में सर्वत्र निराशा का वातावरण व्याप्त रहता था।[3] 'इसके अभ्युदय ने तत्त्वों के नये 'सेट'—नये ढंग की जोखमों, अवसरों और जटिलताओं—को प्रस्तुत करके विश्वराजनीति के गणक को बदल दिया है।[4] सारी दुनिया अफ्रीका की जागृति को गौर से देख रही है क्योंकि अफ्रीका आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र भी है और उसके स्वरूप को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला अभिकरण (Agent) भी।

महाशक्ति की भूमिका निभाने वाले राष्ट्रों के लिए अफ्रीका विशेष महत्त्वपूर्ण है। सर हालफड मकाइण्डर के विचार से यह एक 'विश्व द्वीप' है और जिसका विश्वद्वीप पर शासन होता है उसी का विश्व पर नियन्त्रण होता है।' अफ्रीका पर अपना प्रभाव बनाये रखने की लालसा विश्व की हर महाशक्ति में पाई जाती है। संयुक्त राज्य अमरीका में तो एक कहावत बन गयी है कि "कल अमरीका की रुचि एशिया में थी लेकिन आज अफ्रीका में है।" इतना ही नहीं, विश्व की समस्त महत्त्वपूर्ण, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की पृष्ठभूमि में यह 'अंधेरा महाद्वीप' रहा है। यदि यह कहा जाय कि मानवता का भाग्य सदैव कुछ न कुछ अफ्रीका के साथ जुड़ा रहा है तो अतिशयोक्ति न होगी। 19वीं शताब्दी में यूरोपीय शक्तियों में मतभेद अफ्रीका के झगड़ों को लेकर ही हुये थे। 20वीं शताब्दी में जब जर्मनी और इटली ने अफ्रीका में अपने उपनिवेश स्थापित

करन शुरू किये तो मित्र राष्ट्र बोखला उठे थे। द्वितीय महायुद्ध के दौरान भी अफ्रीका न बडी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। फ्रांसीसी सेनाओं न भागकर अफ्रीका म ही शरण ली थी और अफ्रीका क मदानो म ही कई महत्वपूर्ण लडाइयो का फसला हुआ था। कांगो म यदि 'यूरेनियम न मिला होता तो अणुबम का निर्माण वर्षों बाद हुआ होता। पिछले दशक के आरम्भ म (1960) महायुद्ध का सकट अफ्रीका मे ही एक देश कांगो न ही खडा किया था। मानव जाति का सौभाग्य था कि सयुक्त राष्ट्र इस सकट का सफलतापूर्वक सामना कर सका अन्यथा दुनिया का विश्वास सयुक्त राष्ट्र से उठ गया होता। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि राष्ट्र सघ की परीक्षा भी, अफ्रीका म ही हुई थी। यदि इटली द्वारा एबीसीनिया (इथियोपिया) पर किय गये आक्रमण का मुकाबला करन म राष्ट्र सघ सफल हो गया होता तो न तो उसका जनाजा उठना और न ही विश्व को द्वितीय महायुद्ध का मुह देखना पडता। डाग हैमरशोल्ड को विश्वास था कि वर्तमान दशक म "विश्व की शान्ति और स्थिरता अफ्रीका के विकास, उसक प्रजातीय सबधो की दिशा तथा शेष ससार द्वारा अफ्रीकी जनता के आर्थिक और सामाजिक विकास म सहायता की पद्धतियो से बहुत अधिक प्रभावित होगी।

परिचय

सयुक्त राज्य अमरीका से क्षेत्रफल म लगभग चार गुना बडा, अफ्रीका समस्त भूखण्ड के पाचवे भाग को घेरे हुए है। इसका क्षेत्रफल एक करोड पन्द्रह लाख वर्गमील है। विश्व का सबसे बडा रेगिस्तान 'सहारा' इसी महाद्वीप म है जो क्षेत्रफल की दृष्टि से अमरीका के बराबर है और जिसन भौगोलिक और एतिहासिक तथा कुछ सीमा तक सास्कृतिक रूप से अफ्रीका को दो भागों—उत्तर व दक्षिण अफ्रीका—म विभाजित कर रखा है। भूमध्य सागर की लहरो को छूता हुआ उत्तर अफ्रीका सभ्यता और सस्कृति की दृष्टि से बहुत उन्नत है। रोमन साम्राज्य के युग म यह यूरोप का ही एक अग था। मिस्र के पिरामिड और स्फिक्स इसके गवाह हैं। दक्षिण अफ्रीका इससे पूरी तरह भिन्न है। वहा आवागमन की पर्याप्त सुविधायें तक नही हैं। यही कारण है कि दक्षिण अफ्रीका का बहुत पिछडा हुआ है और वहा के पुराने रीतिरिवाजो व अधविश्वासो की बहुलता है।

अफ्रीका महाद्वीप की जनसख्या लगभग 40 करोड है, जो 1 ... की दर से प्रतिवर्ष बढ रही है। इसम 50 लाख व्यक्ति ... (यूरोपियन) हैं और 5 लाख एशियाई जिनमे नब्बे ... गोरो का आधा भाग अकेले दक्षिणी अफ्रीका म बसता

इस महाद्वीप म मुख्यत तीन जातिया—हैमिट, नीग्रो और बाण्टू - पाई जाती हैं। लगभग 850 भाषायें बोली जाती हैं जिनमे 300 की अपनी लिपि भी है। मुख्य भाषाओ मे 10 सेमेटिक, 47 हैमेटिक, 142 बाण्टू और 264 सूडानी है। यहा अनक धर्मों के लोग रहते है जिनमे मुसलमान और ईसाई अधिक हैं।

समार के कुल उत्पादन का 55% सोना, 90% हीरा, 81% कोबाल्ट, 62% प्लेटिनम, 50% क्रोमियम, 36% मैंगनीज, 27% तारा, 2/3 काको और 3/5 ताड का तेल यहा पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कागो मे यूरेनियम का विशाल भण्डार है जो अणु-उत्पादन मे प्रयोग होता है। कच्चा लोहा इतना है कि सारे विश्व की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। लेकिन इस विशाल प्राकृतिक सम्पदा के बीच रहते हुये भी अफीका के मूल निवासी अत्यधिक विपन्न और दरिद्र है। एक सर्वेक्षण के अनुसार, 1961 की दर पर, अफ्रीका के निवासियो की प्रति व्यक्ति औसत आय सिर्फ 43 डालर है जबकि उत्तरी अमेरिका की 882 यूरोप की 350 और लटिन अमरीका की 107 डालर वार्षिक है। केवल एशिया के निवासियो की आय उससे कम, 36 डालर वार्षिक है। ये आकडे भी अफ्रीकी जनता के रहन सहन के स्तर का वास्तविक चित्रण नही करत। गोरे का यहा औपनिवेशिक शासन रहा है। इसलिए अच्छी भूमि और उद्योगो के विशाल प्रतिष्ठानो पर उनका स्वामित्व है। एशियाई (विशेषत भारतीय) व्यापार करते हैं या उन प्रतिष्ठानो म नौकरी। मूल निवासी काले लोग जो अपने ही घर मे शताब्दियो तक गुलाम रह हैं अब दासता या चाकरी से निकल कर स्वतत्र व्यवसायो की ओर बढ रहे हैं। कृषि अभी तक मुख्य उद्योग है। सम्पूर्ण विश्व के औद्योगिक उत्पादन म अफ्रीका का योगदान कुल दो प्रतिशत है। अधिकतर लोग गावो म रहत हैं। 90% अशिक्षित हैं। लोगो की औसत आयु (Life expectancy) बहुत कम है। दुनिया की लगभग सभी बीमारिया वहा पायी जाती है। मलेरिया, कोढ और नीद की बीमारियाँ इतनी सामान्य हैं कि कहा जाता है कि "हरेक अफ्रीकी अस्वस्थ होता है।" अस्वस्थ आदमी सामान्य नहीं होता यह अफ्रीका की समस्या है। भोजन, कपडा और मकान की समस्यायें अत्यधिक विकट हैं। कही कही तो पीने के लिए शुद्ध पानी भी नही मिलता।

इन सबका सम्मिलित प्रभाव यह हुआ है कि अफ्रीका असमजस म है। आकस्मिक जागृति न उसे एक अदभुत स्थिति म पहुचा दिया है। उसे पश्चिमी जीवन पद्धति और तौर-तरीको से घृणा नही है। वह भी पश्चिम के उन्नत नागरिको की भाति जीवन व्यतीत करना चाहता है और वही समृद्धि व सम्पन्नता का इच्छुक है। लेकिन उसके मार्ग म अनेक बाधायें हैं जिन्हें दूर करना उसके लिए आवश्यक है—

औपनिवेशिक पृष्ठभूमि

अफ्रीका के राजनीतिक इतिहास के विषय मे बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। मिस्र को छोडकर सम्पूर्ण अफ्रीकी इतिहास म कोई ऐसा उदाहरण नही मिलता जो अफ्रीकी सभ्यता का प्राचीन सिद्ध कर सके। लेकिन कुछ आधुनिक इतिहासकारो ने युगाण्डा, के या और ट्रा सवाल म ऐसे अवशेषो को खोज निकाला है, जिनसे पता चलता है कि सभ्यता का सूय एशिया की अपेक्षा अफ्रीका म सबसे पहले निकला था। यहा के मूल निवासी बौने कद के पीले लोग थे जिह उत्तर पूव से काली जातिया न आक्रमण करके दक्षिण की ओर खदेड दिया। बाद म पीले अफ्रीकिया का अस्तित्व ही मिट गया।

नील की घाटी की सभ्यता निश्चय ही सबसे पुरानी (पाच हजार वष पूव) मानी जाती है। इसके बाद कार्थेज की सभ्यता का वणन मिलता है जिसे बाद म रामन साम्राज्य न नष्ट कर दिया। मिस्र के अलावा अफ्रीका म प्राचीन सभ्यता का दूसरा केद्र इथियोपिया माना जाता है जहा मानवी से ग्यारहवी शताब्दी के बीच इस्लाम का प्रवेश हुआ। इस्लाम के सम्पक म आने के कारण अफ्रीकी पश्चिमी एशिया और यूरोप के सम्पक म आये। पद्रहवी शताब्दी म सबसे पहले पुतगाली व्यापारी नाइजीरिया के तट पर उतरे थे। अफ्रीकी जनता उस समय आदिम जीवन बिता रही थी। पुतगालियो के बाद अय यूरोपिय अफ्रीका के रेगिस्तानी और घन जगलो वाले क्षेत्रो मे दूर दूर तक चले गय। इनम से अधिकाश गुलामा और सान के लाभप्रद व्यापार के लिए तथा साथ ही 'अधेरे महाद्वीप' म ईसाई धम की ज्योति जलाने के लिए उद्देश्य स आय थे। उह मध्य और दक्षिण अफ्रीका के प्रदशा म खनिज पदार्थों तथा अन्य बहुमूल्य धातुओ की बडी मात्रा म मिलने की आशा थी। गुलामा का व्यापार एक दूसरा बडा आकषण था। यद्यपि फ्रास की राजक्रांति के प्रभाव म अग्रेजो द्वारा न दास प्रथा का समाप्त कर दिया, तथापि सहस्रा नीग्रो गुलाम यूरोप और अमरीका ले जाय जाते और बेचे जात थे। इससे भी बडी संख्या म गुलामों के व्यापारी मध्य अफ्रीका से गुलामो का धोखे स अथवा [illegible] पकडकर ले जाते थे और अरब देशो की मडिया म उह बेच देते थे। [illegible] म [illegible] पहन, लोहे की जजीरो म बधे गुलाम, लम्बे काफिले के [illegible] अफ्रीका से बाहर ले जाते हुए देखे जा सकते थे। उनम से जो भागने का [illegible] अथवा [illegible] के कष्ट का सहन म असमथ होते उन्हें मार डाला जाता था। [illegible] लिखते है कि 1835 से 1850 के मध्य वष म [illegible] गुलाम [illegible] गुलाम प्रति वष अफ्रीका स निर्यात किये जाते थे। इस संख्या म [illegible] प्रतिशत लोग शामिल नहीं हैं जो [illegible] के दौरान मर गये या मार डाले गये थे।

सन 1800 ई० तक अफ्रीका का 90 प्रतिशत भाग दुनिया के लोगा के लिये अगम और अज्ञात था। यूरोप के दुस्साहसी अवेषक इस काले महाद्वीप मे फलत ही चले जाते थे और कबीलो की जगह पर अपने उपनिवेश खडे करते चले जाते थे। धीरे धीरे सारा अफ्रीका गुलामी की जजीरो मे जकडा गया। इतने बडे महाद्वीप को जो भारत से दस गुना बडा है और जिसम भारत सहित चीन, सयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिमी यूराप एक साथ समा सकता है, कैसे गुलाम बनाया गया इसका सजीव वणन हमे हेरी जानस्टन नामक अग्रेज के लेखो म मिलता है, जिसने नाइजीरिया पर यूनियन जक (ब्रिटिश झडा) फहराया था। उनसे पता चलता है कि किस प्रकार छल फरब, बल प्रयोग या नाना प्रकार की धमकिया देकर यूरोपीय लुटेरो ने भोले भाले अफ्रीकी सरदारो की जमीन पर जबरन कब्जा कर लिया और कानूनी सरक्षण पाने के लिए जाली कागज और सधिपत्र तैयार कर लिय।

1912 तक यूरोपीय शक्तिया ने अफ्रीका क प्रदेशो को पूरी तरह आपस म ठीक उसी प्रकार बाट लिया था जिस प्रकार भूखे कुत्ते रोटी देखकर झपट पडते हैं और उसे टुकडे टुकडे करके बाट लेते है। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर अफ्रीका पाच औपनिवेशिक क्षेत्रो—फ्रांसीसी, ब्रिटिश, बेल्जियम, स्पेनिश और पुर्तगाली—म विभक्त था। 1951 म सम्पूर्ण महाद्वीप म तरेपन म से केवल चार देश स्वत त्र थे। 1955 म पाचवा देश स्वतन्त्र हुआ। 1969 म यह सख्या 41 पहुच गई। आज केवल नामीबिया और दक्षिणी अफ्रीका को छोडकर जहा अल्पसख्यक गोरे लोगो का शासन है सभी देश स्वत त्र हो चुके है।

अभ्युदय के कारण

यह उल्लेखनीय है कि अफ्रीका के अनेक देशो म स्वतन्त्रता, बिना सशस्त्र सघर्ष के आई है। एशिया की जागृति के पीछे राष्ट्रीय आन्दोलनो की परम्परा है, लेकिन अफ्रीका म ऐसा कुछ नहीं हुआ जिसे राष्ट्रीय आन्दोलन की सना दी जा सके। अधिक से अधिक केन्या के माउ माउ आन्दोलन का नाम लिया जा सकता है जिसके अन्तगत अफ्रीकी नौकरो न अपने यूरोपीय स्वामियो की मौका पाकर हत्यायें करके औपनिवेशिक शासकों को कुछ समय के लिए आतकित करने म सफलता पाई थी।

अफ्रीका की जागृति म एशिया विशेषकर भारतीय मूल के लोगो का थोडा-बहुत हाथ अवश्य है जिन्होंने महात्मा गाधी के नेतृत्व म दक्षिणी अफ्रीका म सत्याग्रह व अहिंसात्मक प्रतिरोध की रीतियो का बडे पैमाने पर प्रयोग किया था। अफ्रीका के दूसरे देशो के मूल निवासियो का भले ही इसका रहस्य आज

तक समझ न आया हो, लेकिन इसने 'उपनिवेशवाद' और 'विदेशी शासन' को उनकी नजर म हमेशा के लिए घणित धारणायें अवश्य बना दिया है।

अफ्रीका की जागृति के कारणो मे अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो का सबसे बडा हाथ है। द्वितीय महायुद्ध के बाद यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियो म इतनी सामर्थ्य नही रही कि वे अफ्रीका को गुलाम बनाये रख सकें। साम्यवादी रूस के महाशक्ति के रूप म अवतरित होने के बाद गोरे लोगो के शासन के विरुद्ध उत्तेजना पदा होना स्वाभाविक था। यूरोपीय देशो को इसलिये एक एक करके अफ्रीकी प्रदेशो को आजाद करके भागना पडा। सयुक्त राष्ट्र की स्थापना उनके लिए स्वतन्त्रता का नव सदेश लेकर आई। अज्ञान और अधी नता के अन्धकार म कुम्भकरण की नीद सोने वाला अफ्रीका एकाएक अगडाई लेकर उठ बैठा।

अफ्रीका की समस्यायें

राजनीतिक स्वतत्रता न महाद्वीप का रूपा तरण अभी नही किया है। अफ्रीकी दशो की अथव्यवस्था पर राजनीतिक स्वतत्रता का निणयकारी प्रभाव देखने म नही आता। लगभग सारे राष्ट्र आर्थिक पुर्ननिर्माण क कार्यों म लग हैं। उनकी पहली समस्या यह है कि विश्व के दूसरे राष्ट्रा के विकास स्तर तक किस प्रकार पहुचा जाये।

सही माग की खोज—एशिया की भाति अफ्रीका भी पूजीवाद और समाज वाद के सघष के बीच विकास की सही दिशा का मार्ग खोजन का प्रयास कर रहा है। चूकि उनके मित्रा और शत्रुओ की सूची अलग है तथा उनक आर्थिक और राजनीतिक ढाचा मे भिन्नता है, इसलिए अफ्रीकी राष्ट्रा न राजनीतिक व आर्थिक विकास क लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति क बाद अलग अलग माग पकडे हैं। उदाहरण के लिए, मलावी, ट्यूनिशिया लाइबेरिया, आइवरी कोस्ट, मारक्को, गबन, सेनगल आदि पूजीवादी माग का अनुसरण कर रहे है और पश्चिमी गुट के मित्रो के रूप म पहचान जात हैं तो घाना, गिनी, माली, तनजानिया कागा आदि न नियोजित विकास का समाजवादी माग पकडा है। उनकी पहली समस्या पश्चिमी साम्राज्यवादी राष्ट्रो पर अपनी आर्थिक निभरता को कम करना है। यदि यह समाप्त नही हुई तो उन्ह भय है कि उनकी राजनीतिक स्वतत्रता अथहीन हो जायगी। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धा पर इनका विशष प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिए, अफ्रीकी दशो म किसी विदेशी उद्याग का राष्ट्रीय करण करना एशिया से भिन्न और कही क्रान्तिकारी है, क्योंकि यहा इसम जटिलताए बढ़ती है और सम्पूण व्यवस्था के ढेर हा जान का खतरा हाता है। शिक्षा के अभाव म प्रशिक्षित कमचारियों (personnel) की एक आर कमी पाई

सन 1800 ई० तक अफ्रीका का 90 प्रति
लिये अगम और अज्ञात था। यूरोप के दुस्साहसी
म फलत ही चले जाते थे और कबीलो की जगह
चले जाते थे। धीरे धीरे सारा अफ्रीका गुलामी
इतने बड़े महाद्वीप का जो भारत से दस गुना बड़ा
चीन सयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिमी यूरोप
कैसे गुलाम बनाया गया इसका सजीव वर्णन हम
के लेखो म मिलता है जिसने नाइजीरिया पर यूनि
फहराया था। उनसे पता चलता है कि किस प्रकार
नाना प्रकार की धमकिया देकर यूरोपीय लुटेरो ने भ
की जमीन पर जबरन कब्जा कर लिया और कानूनी
कागज और सधिपत्र तैयार कर लिये।

1912 तक यूरोपीय शक्तियो ने अफ्रीका के प्र
म ठीक उसी प्रकार बाट लिया था जिस प्रकार भूखे
पडते हैं और उस टुकडे टुकडे करके बाट लेते है।
पर अफ्रीका पाच औपनिवेशिक क्षेत्रो—फ्रांसीसी,
और पुर्तगाली—म विभक्त था। 1951 म सम्पूर्ण
केवल चार देश स्वतन्त्र थे। 1955 म पाचवा देश
यह सख्या 41 पहुच गई। आज केवल नामीबिया
छोडकर जहा अल्पसख्यक गोरे लोगो का शासन है
है।

अभ्युदय के कारण

यह उल्लेखनीय है कि अफ्रीका के अनेक देशो म
सघर्ष के आई है। एशिया की जागृति के पीछे
परम्परा है लेकिन अफ्रीका म ऐसा कुछ नहीं हुआ
की सज्ञा दी जा सके। अधिक से अधिक केन्या के
नाम लिया जा सकता है जिसके अन्तर्गत अफ्रीकी
स्वामियो को मौका पाकर हत्यायें करके औपनिवे
के लिए आतकित करने म सफलता पाई थी।

अफ्रीका की जागृति म एशिया विशेषकर भा
घाटा-नहुत हाथ अवश्य है जिन्होंने महात्मा गांधी म
म सत्याग्रह व अहिंसात्मक प्रतिरोध की रीतियो का
था। अफ्रीका के दूसरे देशो के मूल निवासियो का

है। अल्पसख्यक कबीला बहुसख्यक से, अशिक्षित और गरीब जातिया शिक्षित और सम्पन्न जातियो से तथा ग्रामीण लोग शहरी जनो से भय खाते हैं। कबील या जाति के प्रति वफादारी सच्ची राष्ट्रीयता और एकता म बडी बाधक है।

जनतत्र की स्थापना मुश्किल—सच्ची राष्ट्रीयता और राजनीतिक चेतना के अभाव म जनतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना अफ्रीका म एक समस्या है। जहा जनतन्त्र है भी वहा उसका रूप निजी अधिनायकवाद (personal dictator ship) से मिलता जुलता है। अफ्रीकी देशो म सत्ता जनतत्र के नाम पर कभी निरकुश शासको के हाथ म रही है तो कभी सनिक तानाशाहो क हाथ म। इसका मुख्य कारण यह है कि सत्ता पर अधिकार करने के लिए शक्ति क किसी स्रोत पर पहले से ही कब्जा होना जरूरी है। नवयुवक विद्यार्थियो नौकरशाही और सेना, इन तीनो म सेना ही सबसे बडा और सगठित वग है। इसलिए पिछले दशको म अफ्रीकी देशो म जितनी क्रान्तिया हुई है व या तो शासक वग के किसी व्यक्ति द्वारा की गई ह अथवा किसी महत्त्वाकाक्षी सनिक अधिकारी द्वारा। स्वतत्रता प्राप्त होते ही राजनीतिक दलो और कार्यक्रमो के अभाव म प्राय प्रत्येक प्रशासन के साथ सैनिक अधिकारी लगा दिय गये थ। चूकि ये साधारण सनिक स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही उच्च अफसरो क रुतबे प्राप्त कर चुक थे अत राजनीतिक महत्त्वाकाक्षाओ का इसके मन म पदा होना कोई अनहोनी बात नही थी। अत फिलहाल जनतान्त्रिक व्यवस्थाओ की स्थापना अफ्रीका म सदिग्ध है।

जातीयता और रगभेद—'महाद्वीप की विलक्षणताओ मे सबसे गम्भीर समस्या जाति की है।'[8] अनक जातियो और प्रजातियो को जन्म देने वाला अफ्रीका अनक छोटे छोटे खण्डो म बटा हुआ है। कोई भी दो जातिया एक दूसरे को पसन्द नही करती। अपनी परम्परागत कलह प्रियता के कारण ये जातिया हर समय साधारण से मतभेद पर मारकाट पर उतर आती है। जाति वाद के आधार पर इस महाद्वीप म अनेक गहयुद्ध और सनिक क्रान्तिया हुई हैं। दूसरे पिछडे हुए देशो की तरह अफ्रीकी देशो म भी स्वतन्त्रता आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति की शुरुआत के रूप मे आई है जो जातीय महत्वकाक्षाओ को भी बढावा देती है।

जातिवाद के अतिरिक्त रगभेद अफ्रीका के जीवन को प्रभावित करने वाला सबसे प्रभावशाली तत्व है। रगभेद के कारण सम्पूर्ण महाद्वीप म काले और गोरे लोगो के बीच एक प्रकार की गहरी खाई पड गई है। काले लोग अपने आपको गोरो से हीन मानते हैं जिन देशो म गोरे लोग नही रहत वहा के काले लोग भी हीनता की भावना से ग्रस्त ह। जान गुथर का विचार है कि 'सब वस्तुओं से ऊपर रगभेद ही है जो कि अफ्रीका म असन्तोष तथा विद्वेष

जाती हैं तो दूसरी ओर जनता को नयी नीतियो व पद्धतियो के प्रति आश्वस्त करना मुश्किल होता है। प्राकृतिक साधनो की दृष्टि से धनी होने के कारण अफ्रीकी राष्ट्रो के साधनो पर अतर्राष्ट्रीय एकाधिकार का समाप्त होना उनके विकास के लिए बहुत जरूरी है। इसके लिए कौन सा मार्ग उचित रहेगा यह अफ्रीकी राष्ट्रो के लिए समस्या है।

राष्ट्रीयता व राजनीतिक चेतना का अभाव— कहा जाता है कि "अफ्रीका म राज्य है, राष्ट्र नही। "अफ्रीकी देश प्राकृतिक इकाइया नही हैं। उन्हे मन मान ढग से औपनिवेशिक शासको ने इस तरह बनाया है जैसे स्कूल के बच्चे किसी मानचित्र म पैमाने (scale) की मदद से खाने खीच कर लाल हरे रग भर देते हैं। वहा की अशिक्षित जनता के हृदय म राष्ट्र की कल्पना का अभाव है, क्योकि राष्ट्रीय आन्दोलन की परम्पराए, भौगोलिक सीमाए और क्षेत्रो का एतिहासिक विभाजन राष्ट्रो के बीच नही पाया जाता। कहने के लिए अफ्रीका म राष्ट्रीयता नाम की चीज जरूर है लेकिन वह वास्तविकता से कोसो दूर है।' वह एक प्रकार से विदेशी शासन की चुनौतियो की प्रतिक्रिया अथवा विघटनकारी शक्तियो को एकीकृत करने या आधुनिकीकरण से उत्पन्न समस्याओ को मिटाने की कोशिश है,"[7] जिसे विदेशियो ने पैदा किया है। अफ्रीका के लोगो के लिए राष्ट्रीयता का अर्थ सिर्फ इतना है कि काले लोगो को गोरो से हीन न माना जाय।

राष्ट्रीयता के विकास के लिए दो चीजो की आवश्यकता होती है—प्रथम, क्रमिक सामाजिक और बौद्धिक विकास की (जो शिक्षा या परम्परावादी सस्कारो से सभव है) और दूसरी राजनीतिक चेतना की। यूरोपीय देशों के हाथो म पड़ने से पूर्व अफ्रीकी देश उस असभ्य युग म थे जिससे विश्व के अधिकाश राष्ट्र शताब्दियो पहले निकल चुके थे। अत जब यूरोपीय शक्तिया अफ्रीका पहुची तब उन्होने अफ्रीकियो को सामान्य मनुष्य मानने से भी इनकार कर दिया और वे उनसे उस प्रकार का व्यवहार करने लगे जो हिंसक पशु से किया जाता है। शताब्दियो के विदेशी शासन म भी अफ्रीकियो की शैक्षणिक, सामाजिक और बौद्धिक विकास की गति बहुत धीमी रही। अत जब अफ्रीका के राष्ट्र स्वतन्त्र हुए तो वे प्राय उतने ही पिछडे हुए थे जितने वे गुलामी से पहले थे। उदाहरण के लिए कागो के पहले स्वतन्त्र प्रधानमन्त्री, लमुम्बा उस देश के पहले स्नातक थे। यही दशा अन्य देशो की थी। राजनीतिक चेतना की कमी के कारण स्वायत्तशासी सस्थाओ की सफलता वहा सदिग्ध है और विघटनकारी व पृथकतावादी शक्तियो को बल मिलने की पूरी स्थितिया विद्यमान हैं। आज भी अफ्रीकी देशो के लोग समूचे जनसमूह की अपेक्षा वर्ग या कबीले के प्रति अपनी वफादारी व्यक्त करते हैं। सामाजिक ढाचा जनतात्रिक न होकर सामतवादी

महाशक्तियों का हस्तक्षेप—यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों के अफ्रीका से पलायन के उपरान्त पश्चिमी एशिया की भांति अफ्रीका में भी रिक्तता आ गई। इस अवसर का लाभ उठाकर संयुक्त राज्य अमरीका अफ्रीका में पूंजीवाद और सोवियत संघ व चीन समाम्यवाद के नियात करने का प्रयास कर रहे हैं।

1960 के दशक तक अफ्रीका पर संयुक्त राज्य अमरीका की पकड़ थी, क्योंकि उसके मित्रों (ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल व बेल्जियम) द्वारा स्वाधीन किये जाने वाले अफ्रीकी राष्ट्र अपने औपनिवेशिक शासकों पर आर्थिक विकास के लिए निर्भर थे। औद्योगीकरण के अभाव में कच्चा माल निर्यात करना उनके लिए आवश्यक था जिनका संयुक्त राज्य अमरीका सबसे बड़ा खरीदार था। सामन्तशाही होने के कारण सामाजिक ढांचा आर्थिक पूंजीवाद को बढ़ावा दे रहा था। लेकिन अमरीकी सरकार की महत्वाकांक्षाएं ही अफ्रीका में अमरीका की दुश्मन बन गयी। स्वतन्त्र अफ्रीकी राष्ट्रों ने जब गुट निरपेक्ष या स्वतन्त्र नीति पर चलने का निर्णय लिया तो अमरीका इसे गवारा नहीं कर सका। उसने आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करके और सीमा सम्बन्धी विवादों को भड़काकर ऐसे राष्ट्रों को सबक सिखाने की सोची जिसके परिणाम उसके हितों के लिए ही घातक हुए। उदाहरण के लिए, इथियोपिया में हेल सिलासी के नेतृत्व और लोकप्रियता से खिन्न होकर उसने वहां सैनिक क्रांति कराई। जब परिणाम लाभकारी नहीं निकले तो सोमालिया को सहायता देकर उससे इथियोपिया पर आक्रमण कराया। इथियोपिया इससे रूस के प्रभाव में चला गया। 1975 में अंगोला की आजादी के तत्काल बाद वहां आन्तरिक शासन में अमरीका ने जो हस्तक्षेप किया उससे उसका मुंह काला हुआ है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए लड़ने वाले तीन संगठनों में उसने कबीलेवाद पर आधारित एफ० एन० एल० ए० का समर्थन किया, जबकि जनता में लोकप्रियता एम० पी० एल० ए० को प्राप्त थी। इतना ही नहीं दक्षिणी अफ्रीका की गोरी सरकार, जो रंगभेद पर चलती है, संयुक्त राष्ट्र में अमेरिका के समर्थन पर टिकी है। अंगोला में दक्षिणी अफ्रीका से अमरीका ने सैनिक भी भिजवाये थे और सीमा अतिक्रमण भी कराया था। इन सबसे अमरीका की पहचान अब अफ्रीका में आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप और रंगभेद का समर्थन करने वाले राष्ट्र के रूप में होने लगी है। लेकिन आर्थिक और सैनिक सहायता के बल पर उसे कुछ क्षेत्रों में सफलता मिली है और वह अपने प्रभाव को बनाये रखने का प्रयास कर रहा है।

साम्यवादी शक्तियां भी अपने प्रभाव विस्तार के लिए प्रयत्नशील हैं। सोवियत रूस और साम्यवादी चीन दोनों ही अफ्रीका में विशेष रुचि ले रहे हैं।

उत्पन्न करता है। यह अफ्रीकी हीनता का प्रधान कारण है जिससे उपद्रव और विद्रोह उत्पन्न होते है। यह गोरे तथा काले दोनो ही प्रकार के लोगों के मस्तिष्क को बिगाड देता है।"[9]

दक्षिणी अफ्रीका सघ म रगभेद का विष समाज की नसो म गहरा उतर गया है। वहा के गोरे शासक अपनी जाति की श्रेष्ठता और काले लोगो की हीनता सिद्ध करने के लिए क्रूरतम उपायो का नि सकोच सहारा लेते हैं। रग के बारे म गोरे लोग इतने शकालु हैं कि अपने किसी साथी गोरे के आचरण से अप्रसन्न होने पर वे अक्सर यह कह देते हैं कि 'इसमे कुछ काला खून है'। दक्षिण अफ्रीका सघ म रगभेद हर जगह अपने वीभत्स रूप म दिखाई देता है। "पार्कों म यूरोपियनो की बेंचो पर अफ्रीकी नहीं बैठ सकते, सावजनिक पुस्तकालयो तक मे उनका प्रवेश निषिद्ध है। गोरो के लिए निर्धारित बसो म कालो के लिए स्थान या तो बस की छत पर होगा या पीछे की सीटो पर। टनो के भोजनालयो म कालो को भोजन की अनुमति नहीं मिल सकती। वायुयानो के गद्दे की चादरो का इस्तेमाल अगर कोई अफ्रीकी यात्री कर ले तो उसे गोरो द्वारा इस्तेमाल की गई चादरो से अलग रखकर धोया जायेगा। इस देश म अन्तर्जातीय खेलकूद की बात तो अकल्पनीय है। यहा कई प्रसिद्ध नीग्रो खिलाडी हैं, जो बाहर जाकर गोरो के साथ खेल सकते हैं, किन्तु अपने देश के गोरो के साथ खेलने का अधिकार उन्हे नहीं। बाहर से आने वाले अश्वेत लोगों के साथ भी दक्षिणी अफ्रीका म बडा अशिष्ट व्यवहार होता है।[10]

राजनीतिक अस्थिरता—अफ्रीका के नवस्वतन्त्र राष्ट्रो म सरकारो का स्थायित्व नहीं पाया जाता। चूकि समाज छोटे-छोटे समूहो, टुकडो और कबीलो म बटा हुआ है इसलिए मौका पाकर ये राजनीतिक अस्थिरता और विद्रोह की स्थितिया पैदा कर देते ह। राजनीतिक हत्याओ, विद्रोह और सैनिक विप्लव की जितनी घटनाए अफ्रीका म होती हैं उतनी किसी दूसरे महाद्वीप म नहीं होतीं। घाना का उदाहरण एक नमूने के रूप म प्रस्तुत किया जा सकता है जिसके लोकप्रिय नेता एन्क्रूमा (जिनका घाना की स्वतन्त्रता और अफ्रीकी एकता आन्दोलन म महत्वपूर्ण योगदान रहा है) फरवरी 1966 म उस समय पदच्युत कर दिये गये थे जब वे चीन की यात्रा पर गये थे। राजनीतिक अस्थिरता का सबसे महत्वपूर्ण कारण अफ्रीका म व्यापक राजनीतिक सगठनो का अभाव है। राजनीतिक दलो को न तो सरकार चलाने का अनुभव है और न उनमे पश्चिमी राजनीतिक दलो का अनुशासन पाया जाता है। अनिरुद्ध गुप्ता के शब्दो म, "स्वतन्त्रता की जल्दबाजी ने अफ्रीकी राष्ट्रवादियो को इतना समय ही नहीं दिया कि वे अपने एशियाई प्रतिरूपो की भाति जनता के सभी वर्गों को मिलाने वाले स्थायी राजनीतिक सगठनो का निर्माण कर लेते।"[11]

शिक्षक, भूगर्भशास्त्री, डाक्टर आदि विकास के कार्यों में भाग ले रहे हैं।

इसके अतिरिक्त, राजनीतिक स्तर पर सोवियत संघ अफ्रीकी देशों में प्रगतिशील तत्वों का समर्थन करता है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें आर्थिक और सैनिक सहायता भी देता है। कांगो, अंगोला, इथियोपिया आदि के विवाद में उसकी भूमिका इसका उदाहरण है। बौद्धिक स्तर पर अफ्रीका में साम्यवाद लाने के लिए वह बड़ी बड़ी छात्रवृत्तियां देकर अफ्रीकी छात्रों को सोवियत विश्वविद्यालयों में स्थान देता है जहां उनके मस्तिष्क को साम्यवाद के रंग में रंग कर वापस उन्हें पुनः उनके देश भेज दिया जाता है। मास्को का लुमुम्बा विश्वविद्यालय अफ्रीकी विद्यार्थियों के लिए बहुत बड़ा आकर्षण है।

सारांश यह कि अमरीका, रूस, चीन सभी की दिलचस्पी अफ्रीका में है। यद्यपि अभी तक इस महाद्वीप में कोई देश पूरी तरह समाजवादी नहीं बना है तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि अफ्रीकी महाद्वीप की समस्याएं वहां साम्यवाद का आवाहन करती दिखाई देती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि अन्य व्यवस्थाओं में इस महाद्वीप की समस्याओं का उत्तर देने की क्षमता नहीं है।

अभ्युदय के परिणाम

अफ्रीका के अभ्युदय ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर व्यापक प्रभाव डाला है। प्रथम, इसने साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, जातिवाद और रंगभेद पर क्रूर प्रहार किया है। यद्यपि नामीबिया और दक्षिणी अफ्रीका में अभी साम्राज्यवादी और गोरी सरकारें विद्यमान हैं तथापि वह दिन दूर नहीं है जब सम्पूर्ण अफ्रीका इनके शोषण से मुक्त होकर स्वाधीनता की सांस लेने लगेगा।

दूसरे, अफ्रीका राज्यों के उदय से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सम्प्रभुताधारी राज्यों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। संयुक्त राष्ट्र के कुल सदस्य राष्ट्रों में एक तिहाई अफ्रीकी हैं। वर्नान मक्के लिखता है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जटिलताएं बढ़ती हैं। तथा प्रशिक्षण व अनुभव से हीन राजनयज्ञों का बड़ा समूह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सम्पादन के कार्य को मुश्किल बनाता है। सीमित अनुभव और आन्तरिक समस्याओं के दबाव में इनके नेता विदेशनीति सम्बन्धी मसलों पर दैनिक परिचर्या की भांति विचार करते हैं। विदेशी प्रभाव के प्रति स्थानीय प्रतिक्रिया के विषय में वे विशेष रूप से संवेदनशील होते हैं तथा साम- [illegible] रूप में जो वस्तुएं [illegible] हैं वे उनकी [illegible] नीतियों और [illegible] में [illegible] नहीं पाते।[12]

तीसरे, अफ्रीका की जागृति ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में गुट निरपेक्षता को [illegible] बनाया है। [illegible] लिखता है कि [illegible] राष्ट्रवाद [illegible]

जहा तक अफ्रीका म चीन के हस्तक्षेप का प्रश्न है, सुरेन्द्र प्रतापसिंह लिखते हैं कि ' चीन के अनुसार उपनिवेशवाद, नवउपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध यदि सबसे तीव्र लडाई कही चल रही है तो वह स्थान अफ्रीका है। अत अफ्रीका के नव स्वतन्त्र देशो तथा उपनिवेशो म आजादी के लिए चल रही गुरिल्ला कार्यवाहियो की सहायता करके अपनी एक क्रान्तिकारी भावमूर्ति स्थापित की जा सकती है। चीन यह मानता है कि अमेरिका व रूस के खिलाफ सफल लडाई अफ्रीकी मैदान म लडी जा सकती है, यही कारण है कि चीन अपन का अफ्रीका के मुल्को को उबारने वाले मसीहा के रूप म स्थापित करना चाहता है। इसलिए एक आर जहा वह अमरिका को साम्राज्यवादी कहता है, तो रूस को 'सशोधनवादी' और सामाजिक साम्राज्यवादी'। पर सिर्फ नारो व लफ्फाजियो स तो काम चलता नही है। अफ्रीकी मुल्को को इनसे सावधान रहने की चेतावनी दन के साथ साथ उन्ह धन भी दना पडता है, जिससे वे आर्थिक मजबूरियो म कही फिर उन्ही शक्तियो के पास न पहुच जाए।"

चीन से सहायता पाने वाले मुख्य देश है—तन्जानिया, माली गिनी, जाम्बिया और सोमालिया। 1276 मील लम्बे तनजाम रेल माग के निर्माण न (जिसे उसने 1970 से 1976 के मध्य छ वष के अल्पकाल म किया) अफ्रीका म चीन के प्रति सम्मान की भावना को अप्रत्याशित रूप से बढाया है। जाम्बिया के एक एक श्रमिक न इस पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि 'उपनिवेशवादी यदि इसी तरह हमारे साथ काम करत तो अफ्रीका अविकसित न होता।" वह अफ्रीकियो के श्वेत विरोधी मनोविज्ञान का लाभ उठाने की कोशिश भी कर रहा है तथा चीनी नमूने के साम्यवाद और सगठन शैली को अफ्रीका म निर्यात करने का उत्सुक है।

जहा तक अफ्रीका म सोवियत सघ की भूमिका का प्रश्न है, आजादी स पहले उनकी स्वतन्त्रता म उसकी रुचि थी और अब आजादी के बाद उनकी आर्थिक स्वाधीनता म। सोवियत सघ व पूर्वी यूरोप के समाजवादी राज्यों की मदद से वहा 250 बिजली घर खोल गये हैं जिनम अस्वान जलविद्युत स्टेशन उल्लेखनीय है। अल्जीरिया का धातुकर्मीय सयन्त्र (metallurgical plant) नाइजीरिया का धातु कारखाना तथा इथियोपिया की अस्सब तल रिफाइनरी सोवियत सघ की सहायता स बनी हैं। कागो के तल शोधक कारखान म पोलैंड न सहायता दी है और इथियोपिया मे टायर का कारखाना स्थापित करन म चेकोस्लोवाकिया न। सोमालिया म अफ्रीका के अपन ढग के सबसे बड़े गोश्त पैक करन वाले कारखान को बनान म सोवियत सघ का सहयोग रहा है। इतना ही नही, अल्जीरिया सियरा लियोन, इथियोपिया, गिनी नाइजीरिया कागो, तन्जानिया और दूसरे कई अफ्रीकी देशो म हजारो की सख्या म नागरिक

शिक्षक, भूगभशास्त्री, डाक्टर आदि विकास के कार्यों मे योग दे रहे हैं।

इसके अतिरिक्त, राजनीतिक स्तर पर सोवियत सघ अफ्रीकी देशो मे प्रगतिशील तत्वो का समथन करना है और आवश्यकता पडने पर उन्हे आर्थिक और सनिक सहायता भी देता है। कागो, अगोला, इथियोपिया आदि के विवाद मे उसकी भूमिका इसका उदाहरण है। बौद्धिक स्तर पर अफ्रीका मे साम्यवाद लाने के लिए वह बडी बडी छात्रवृत्तिया दकर अफ्रीकी छात्रो को सोवियत विश्वविद्यालया मे स्थान देता है जहा उनके मस्तिष्क को साम्यवाद के रग में रग कर वापस उन्हे पुन उनके देश भेज दिया जाता है। मास्को का लुमुम्बा विश्वविद्यालय अफ्रीकी विद्यार्थियो के लिए बहुत बडा आकषण है।

साराश यह कि अमरीका, रूस, चीन सभी की दिलचस्पी अफ्रीका म है। यद्यपि अभी तक इस महाद्वीप मे कोई देश पूरी तरह समाजवादी नही बना है तथापि इसम काई सन्देह नही कि अफ्रीकी महाद्वीप की समस्याए वहा साम्यवाद का आवाहन करती दिखाई देती है। इसका मुख्य कारण यह है कि अन्य व्यवस्थाआ मे इस महाद्वीप की समस्याओ का उत्तर देने की क्षमता नही है।

अभ्युदय के परिणाम

अफ्रीका के अभ्युदय ने अन्तर्राष्टीय सम्बन्धो पर व्यापक प्रभाव डाला है। प्रथम, इसने साम्राज्यवाद, उपनिवशवाद, जातिवाद और रगभेद पर क्रूर प्रहार किया है। यद्यपि नामीबिया और दक्षिणी अफ्रीका म अभी साम्राज्यवादी और गोरी सरकारें विद्यमान है तथापि वह दिन दूर नही है जब सम्पूण अफ्रीका इनके शापण से मुक्त होकर स्वाधीनता की सासे लेने लगेगा।

दूसर अफ्रीका राज्यों मे उदय से अन्तराष्ट्रीय सबधा म सम्प्रभुताधारी राज्या की सख्या मे तेजी से वद्धि हुई हैं। सयुक्त राष्ट्र के कुल सदस्य राष्ट्रो म एक तिहाई अफ्रीकी है। वर्नान मैक्के लिखता है कि इसस अन्तर्राष्ट्रीय सबधो म जटिलताए बढती हैं। तथा प्रशिक्षण व अनुभव से हीन राजनयज्ञो का बडा समूह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के सम्पादन के काय को मुश्किल बनाता है। सीमित अनुभव और आन्तरिक समस्याआ के दबाव मे इनके नेता विदेशनीति सम्बन्धी मसला पर दनिक परिचर्या की भाति विचार करत हैं। विदशी प्रभाव के प्रति स्थानीय प्रतिक्रिया के विषय म वे विशेष रूप से सवदनशील हाते है तथा सार्वजनिक रूप से जो वक्तव्य देते हैं व उनकी शासकीय नीतियो और निजी विश्वासो से मल नही खात।[12]

तीसरे, अफ्रीका की जागति न अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धा म गुट निरपक्षता की आवाज को दृढ बनाया है। बालिन लिखता है कि 'यह अरब राष्ट्रवाद या

जिसने सवप्रथम तटस्थता के विचार को अफ्रीका म आयात किया। तथा यह बहुत कुछ सीमा तक गमाल अब्दुल नासिर का काम था।"[13] नासिर 1955 के बाडुग सम्मेलन से बहुत प्रभावित हुआ और उसने ही ए क्रूमा आदि अफ्रीका के दूसरे नेताओ के बीच तटस्थता और गुटनिरपेक्षता की धारणाओ को लोक प्रिय बनाया था। अफ्रीकी राज्यो की शीतयुद्ध मे कोई दिलचस्पी नही है। वर्नान मैक्के के शब्दों मे "अफ्रीकियों के लिये शीतयुद्ध केन्द्रीय मुद्दा नही है।"[14] वे राष्ट्र निमाण और आर्थिक विकास के साथ साथ अफ्रीकी एकता और विदशी शासन व 'श्वत सर्वोच्चता' की समाप्ति के कार्यों मे लग गये है।[15] महाशक्तियो की समस्याओ और प्रतिद्वद्वता म उनकी कोई दिलचस्पी नही है। राबट गुड के शब्दो मे उनका नारा है—"शीत युद्ध को अफ्रीका से बाहर रखो।"[16]

चौथे, सयुक्त राष्ट्र की भूमिका पर भी अफ्रीका के उदय का भारी प्रभाव पडा है। अफ्रीकी राज्यो की विदेश नीतियो के क्रियान्वयन म सयुक्त राष्ट्र की अहम् भूमिका होती है। वह उ ह दूसरे राष्ट्रो से सम्पक बढाने का लाभकारी मच प्रदान करता है, राजनयिक प्रशिक्षण की दष्टि से वह अफ्रीकी राष्ट्रा के लिए उपयोगी पाठशाला है आर्थिक, तकनीकी और औद्योगिक मामला मे सयुक्त राष्ट्र व उसके विशिष्ट अभिकरण बहुमूल्य सहायता प्रदान करते हैं, तथा कुछ सीमा तक उनकी अखण्डता और सुरक्षा बनाय रखने म भी सयुक्त राष्ट योग देता है।

अ त म, तथा अ तर्राष्ट्रीय ब धुत्व की भावना के विकास म भी अफ्रीका के जागरण का प्रभाव पडा है, जिसे पथक् से निम्नाकित शीपक क अ तगत अध्ययन किया जा सकता है—

अफ्रीकी भ्रातृत्ववाद

कहा जाता है कि "एशिया अफ्रीका की तुलना म राजनीतिक दष्टि से बहुत आगे है, लेकिन 'एकता की खोज' की दृष्टि से बहुत पीछे है।" अपनी अगणित भिन्नताओ के बावजूद अफ्रीका के उदय ने अफ्रीकावासियो के हृदय मे एकता की भावनाओ का सचार किया है। इसके चार मुख्य कारण हैं। प्रथम, एशिया की अपेक्षा अफ्रीकी राज्या म अधिक भौगोलिक समानता व समीपता है, दूसरा, जातिभेद वहा अफ्रीकी भ्रातत्ववाद पर वह दुष्प्रभाव नहीं डालता जो नस्ल, सस्कृति और जाति की भिन्नता के कारण एशियाई राष्ट्रों की एकता पर पडता है, तीसरा, विदेशी आधिपत्य, शोषण और रगभेद न नकारा

त्मक रूप से उन्हें आपस में जोड़ने का ही काम किया है तथा, चौथा, व्यावहारिक राजनीति में दिनों दिन अब अफ्रीका के लोग एकता के महत्व को समझने लगे हैं।

भ्रातृत्ववाद या एकता की भावना का श्रीगणेश अफ्रीका में बीसवीं शताब्दी में हुआ है। 1919 में पेरिस में पढ़ने वाले अफ्रीकी छात्रों ने पहली बार एक सार्वजनिक सभा आयोजित करके राष्ट्र संघ के समक्ष यह मांग रखी थी कि अफ्रीका के मूल निवासियों को अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण प्राप्त होना चाहिये तथा अफ्रीकी देशों में जनता की इच्छा का शासन स्थापित किया जाना चाहिये। इसके उपरान्त 1937 में लन्दन में 'एक अफ्रीकन ब्यूरो' की स्थापना हुई और एन्क्रूमा व जोमो केन्याटा द्वारा अफ्रीकी एकता आन्दोलन को संगठित करने के लिए अनेक प्रयास किये गये। इन्हीं में एक 1945 की मैन्चेस्टर सभा में उपनिवेशवादी शक्तियों द्वारा अफ्रीका के प्रादेशिक विभाजन की निन्दा की गयी।

बाडुंग सम्मेलन

अफ्रीकी भ्रातृत्ववाद की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति अपने सर्वोत्तम रूप में पहली बार बाडुंग सम्मेलन में प्रगट हुई। अप्रेल 1955 में इण्डोनेशिया के बाडुंग नगर में हुए इस सम्मेलन में 29 राष्ट्रों के 340 एशियाई और अफ्रीकी प्रतिनिधि एकत्रित हुए। इनमें साम्यवाद विरोधी, साम्यवाद समर्थक, तटस्थ और स्वतन्त्र सभी प्रकार के लोग थे। श्वेत जगत को इस सम्मेलन से आशंका थी कि चाऊ एन लाई की उपस्थिति के कारण इस सम्मेलन द्वारा साम्यवाद के शक्ति की प्रगति को बल मिलेगा और एशियाई व अफ्रीकी राष्ट्र इस सम्मेलन में उपनिवेश विरोधी प्रवृत्तियों को प्रज्ज्वलित करके सम्मेलन को विश्वव्यापी आधार पर पश्चिम व अमरीका—विरोधी प्रदर्शन में परिणत कर देंगे। कदाचित् इसी आशंका के कारण अमरीकी सरकार ने सम्मेलन के लिए बधाई-पत्र तक नहीं भेजा। परन्तु वहां ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। इस सम्मेलन में न केवल मानवीय मौलिक अधिकारों और संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र के सिद्धान्तों व उद्देश्यों के प्रति सम्मान का पहला सिद्धान्त स्वीकार हुआ, अपितु वक्तव्य में संयुक्त राष्ट्र के मानवीय अधिकारों के घोषणा पत्र को और भी समर्थन मिला।

इस सम्मेलन में भाग लेने वाले एशियाई व अफ्रीकी देशों ने निश्चय किया कि वे आर्थिक विकास के लिए एक दूसरे के साथ सहयोग करेंगे। सभी ने एक स्वर से उपनिवेशवाद की निन्दा की और अफ्रीका में हो रहे जातीय भेदभाव व पृथक्त्व को लज्जाजनक बताया। इस सम्मेलन में दस सिद्धान्तों वाला निम्नां-

क्ति प्रस्ताव स्वीकार किया गया—

(१) मानव के मौलिक अधिकारो के प्रति सम्मान।

(२) सयुक्त राष्ट्र के चार्टर के उद्देश्यो और सिद्धा तो के प्रति सम्मान की भावना।

(३) बडे और छोटे सभी राज्यो को तथा सब जातियो को समान सम झना।

(४) दूसरे देश के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करना।

(५) प्रत्येक राष्ट्र के इस अधिकार का सम्मान कि वह स्वय अकेले ही अथवा सयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार सामूहिक रूप से आत्मरक्षा कर सकता है।

(६) महाशक्तियो द्वारा विशेष हितो की पूर्ति के विशेष उद्देश्य के से की गयी सामूहिक प्रतिरक्षा की व्यवस्थाओ का प्रयोग न करना तथा दूसरे देशो पर दबाव न डालना।

(७) आक्रमण के काय न करना, इसकी धमकी न देना, किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता या राजनीतिक स्वत त्रता भग करने के लिए शक्ति का प्रयोग न करना।

(८) सब अ तर्राष्ट्रीय विवादो का समाधान सधिवार्ता, स राधन पचनिर्णय न्यायिक निणय आदि के शा तिपूण उपायो से करना अथवा अ य ऐसे शान्ति-पूण उपायो से करना जि ह विवाद करने वाले दल सयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुसार स्वय चुनें।

(९) पारस्परिक हितो तथा सहयाग की वृद्धि।

(१०) याय के प्रति तथा अ तर्राष्ट्रीय दायित्वो के प्रति सम्मान की भावना सम्मेलन की सम्मति मे इन सिद्धा तो के पालन से विश्व मे शा ति और सहयोग की भावना वढ़ सकती है।'[1]

इस सम्मेलन के विषय म शॉक वार्नेट न लिखा है कि "यह एशिया और अफ्रीका के पुनरुत्थान का प्रतीक था।"

एफ्रो एशियन सालिडेरिटी का फॅस

यह सम्मेलन अराजकीय स्तर पर दिसम्बर 1957 के अतिम सप्ताह मे काहिरा म हुआ। इसम दोनो महाद्वीपा से 500 प्रतिनिधि आय। इस सम्मेलन म साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद रगभेद और जातीय भेदभाव की निन्दा की गई। काहिरा म इस सगठन की एक स्थायी सस्था स्थापित करन का निश्चय किया गया। अप्रल 1960 म कानाक्री म इसका द्वितीय अधिवशन हुआ।

आक्रा सम्मेलन

दिसम्बर 1958 म घाना की राजधानी आक्रा मे डा० एनक्रूमा क प्रयत्नो के फलस्वरूप अफ्रीकी राज्यो का एक सम्मेलन हुआ। इसमे 28 अफ्रीकी देशो के 200 प्रतिनिधि आय। अफ्रीकी एकता सगठन की दिशा म आक्रा सम्मेलन एक सीमा चिन्ह था। इस सम्मेलन का उद्देश्य अफ्रीका के जागृत व्यक्तियो को जातीय भेदभाव, बनावटी सीमाओ व उपनिवेशवाद से मुक्त करके उनमे बधुत्व व एकता की भावना का प्रसार करना था। एक प्रस्ताव द्वारा एक स्थायी सचिवालय की स्थापना की घोषणा की गई जिसका लक्ष्य अफ्रीकी लोगो के मध्य एकता और सहयोग का विकास करना था।

आक्रा सम्मेलन ने सम्पूर्ण महाद्वीप को झकझोर दिया और सभी अफ्रीकी देशो म राष्ट्रवाद की लहर दौड गई। सम्मलन का प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि डा० एन्क्रूमा को अफ्रीकी एकता का सगठन का नेता माना जाने लगा। अफ्रीकी देशो म आत्मविश्वास और चेतना इतनी पनपी कि फ्रासीसी गिनी के प्रधानमन्त्री ने फ्रासीसी समुदाय का सदस्य होने से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि ' हम दासता की अमीरी से स्वतन्त्रता की गरीबी को तरजीह देते हैं।" इससे चिढकर जब फ्राम ने गिनी की आर्थिक सहायता बन्द कर दी तो घाना ने उसे ८80 लाख डालर की सहायता प्रदान की।

दुर्भाग्य से इस विषय मे सभी पश्चिमी राज्य एकमत नही हो सके। उनमे से बहुत से फ्रास को नाराज करने के पक्ष म नही थे। अफ्रीकी राज्यो म दो गुट हो गये। एक गुट जो स्वतन्त्र नीति के पक्ष मे था 'कसाब्लाका गुट कहलाया। इसम घाना गिनी, माली मिस्र, मोरक्को और अल्जीरिया थे। इन छ राज्यो न मिलकर जून 1962 म एक सामूहिक विकास की योजना बनाई बोमाको म राजनीतिक सचिवालय स्थापित किया, जनरल फॉजी के नतृत्व म सनिक कमान बनाई और एक साझा बाजार की स्थापना की जिसका मुख्यालय कसा ब्लाका मे रखा गया। दूसरा गुट, जिसमे नाइजीरिया, सियरा लियोन लाइबेरिया, लीबिया, इथियोपिया, ट्यूनीशिया, टोगो और सोमालिया थ 'मोनोरोविया गुट कहलाया। इसका दृष्टिकोण पश्चिम समथक था जिसका पहला सम्मेलन लाइबेरिया की राजधानी मोनोरोविया म हुआ। इस गुट के देश स्वय को यथार्थवादी, कहते थे। उनके विचार से अफ्रीकी साझा बाजार' का अथ कवल 'कोको को ताबे से बदलना था।'

कुछ समय तक य दोनो गुट अफ्रीका के लोगो को सगठित करन की अपक्षा उन्हे विघटित करने म लग गये। इसका मुख्य कारण नाइजीरिया और घाना के आपसी मतभेद थे। नाइजीरिया क नता एन्क्रूमा के अफ्रीकी एकता सगठन क कार्यों को शका की दृष्टि स दखते थे। नाइजीरिया क एक राजनीतिज्ञ न

वित प्रस्ताव स्वीकार किया गया—

(१) मानव के मौलिक अधिकारा के प्रति सम्मान।

(२) सयुक्त राष्ट्र के चाटर के उद्देश्यो और सिद्धा तो क प्रति सम्मान की भावना।

(३) बडे और छोटे सभी राज्यो को तथा सब जातियो को समान समझना।

(४) दूसरे देश के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करना।

(५) प्रत्येक राष्ट्र के इस अधिकार का सम्मान कि वह स्वय अकेले ही अथवा सयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार सामूहिक रूप से आत्मरक्षा कर सकता है।

(६) महाशक्तियो द्वारा विशेष हितो की पूर्ति के विशेष उद्देश्य के से की गयी सामूहिक प्रतिरक्षा की व्यवस्थाआ का प्रयोग न करना तथा दूसरे देशो पर दबाव न डालना।

(७) आक्रमण के काय न करना, इसकी धमकी न देना, किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता या राजनीतिक स्वत त्रता भग करने के लिए शक्ति का प्रयोग न करना।

(८) सब अ तर्राष्ट्रीय विवादो का समाधान सधिवार्ता, स राधन पचनिर्णय यायिक निर्णय आदि के शातिपूण उपायो से करना अथवा अ य ऐसे शान्तिपूण उपायो से करना जि ह विवाद करने वाले दल सयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुसार स्वय चुनें।

(९) पारस्परिक हितो तथा सहयोग की वृद्धि।

(१०) याय के प्रति तथा अ तर्राष्ट्रीय दायित्वो के प्रति सम्मान की भावना सम्मेलन की सम्मति मे इन सिद्धा ता के पालन से विश्व मे शाति और सहयोग की भावना बढ सकती है।"[1]

इस सम्मेलन के विषय म डाक बार्नेट न लिखा है कि "यह एशिया और अफ्रीका के पुनरुत्थान का प्रतीक था।

एफ्रो-एशियन सालिडेरिटी कान्फेंस

यह सम्मेलन अराजकीय स्तर पर दिसम्बर 1957 के अन्तिम सप्ताह मे काहिरा म हुआ। इसमे दोनो महाद्वीपो से 500 प्रतिनिधि आये। इस सम्मेलन म साम्राज्यवाद उपनिवशवाद, रगभेद और जातीय भेदभाव की नि दा की गई। काहिरा म इस सगठन की एक स्थायी सस्था स्थापित करने का निश्चय किया गया। अप्रैल 1960 म कोनाक्री मे इसका द्वितीय अधिवेशन हुआ।

आक्रा सम्मेलन

दिसम्बर 1958 म घाना की राजधानी आक्रा म डा० एनक्रूमा क प्रयत्नो के फलस्वरूप अफ्रीकी राज्या का एक सम्मेलन हुआ । इसम 28 अफ्रीकी देशो के 200 प्रतिनिधि आये । अफ्रीकी एकता सगठन की दिशा म आक्रा सम्मेलन एक सीमा चिन्ह था । इस सम्मलन का उद्देश्य अफ्रीका के जागत व्यक्तियो को जातीय भेदभाव बनावटी सीमाओ व उपनिवेशवाद से मुक्त करके उनम बधुत्व व एकता की भावना का प्रसार करना था । एक प्रस्ताव द्वारा एक स्थायी सचिवालय की स्थापना की घोषणा की गई जिसका लक्ष्य अफ्रीकी लोगो के मध्य एकता और सहयोग का विकास करना था ।

आक्रा सम्मेलन न सम्पूण महाद्वीप को झकझोर दिया और सभी अफ्रीकी दशो म राष्ट्रवाद की लहर दौड गई । सम्मलन का प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि डा० ए क्रूमा को अफ्रीकी एकता का सगठन का नेता माना जाने लगा । अफ्रीकी देशो म आत्मविश्वास और चेतना इतनी पनपी कि फ्रासीसी गिनी के प्रधानमन्त्री ने फ्रासीसी समुदाय का सदस्य होन से इन्कार कर दिया । उसने कहा कि 'हम दासता की अमीरी से स्वतन्त्रता की गरीबी को तरजीह देते हैं ।'' इससे चिढकर जब फ्रास ने गिनी की आर्थिक सहायता बन्द कर दी तो घाना न उसे 780 लाख डालर की सहायता प्रदान की ।

दुर्भाग्य से इस विषय मे सभी पश्चिमी राज्य एकमत नही हो सके । उनमे से बहुत से फ्रास को नाराज करने के पक्ष म नही थे । अफ्रीकी राज्यो म दो गुट हो गये । एक गुट जो स्वतन्त्र नीति के पक्ष म था कसाब्लाका गुट' कहलाया । इसम घाना, गिनी, माली मिस्र, मोरक्को और अल्जीरिया थे । इन छ राज्यो न मिलकर जून 1962 म एक सामूहिक विकास की योजना बनाई बोमाको मे राजनीतिक सचिवालय स्थापित किया जनरल फाजी के नतत्व म सनिक कमान बनाई और एक साझा बाजार की स्थापना की जिसका मुख्यालय कसाब्लाका म रखा गया । दूसरा गुट, जिसम नाइजीरिया, सियरा लियोन लाइबेरिया, लीबिया, इथियोपिया ट्यूनीशिया टोगो और सोमालिया थे 'मोनोरोविया गुट कहलाया । इसका दृष्टिकोण पश्चिम समथक था जिसका पहला सम्मेलन लाइबेरिया की राजधानी मानोरोविया म हुआ । इस गुट के दश स्वय को यथार्थवादी कहत थ । उनक विचार से अफ्रीकी साझा बाजार का अथ कवल "कोको को ताबे से बदलना था ।''

कुछ समय तक य दोनो गुट अफ्रीका क लोगो को सगठित करन की अपेक्षा उन्हें विघटित करने म लग गय । इसका मुख्य कारण नाइजीरिया और घाना के आपसी मतभेद थे । नाइजीरिया क नता एनक्रूमा के अफ्रीकी एकता सगठन के कार्यों को शका की दृष्टि स देखते थ । नाइजीरिया क एक राजनीतिज्ञ न

टिप्पणी करते हुए कहा था कि "यदि कोई अपने आपको ऐसा मसीहा समझने की गलती करे जिसका लक्ष्य अफ्रीका नेतत्व करना है तो अफ्रीकी भातत्ववाद का सम्पूण उद्देश्य ही चौपट हो जायगा।' इस आक्षेप का इशारा एन्क्रूमा की तरफ था।

मोशी सम्मेलन

फरवरी 1963 म मोशी म एक एफ्रो एशियाई सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन म 30 स अधिक प्रस्ताव पास किये गय जिनम उपनिवेशवाद के उन्मूलन, पराधीन राष्ट्रो की तात्कालिक स्वतन्त्रता, अमरीका से वियतनाम म आक्रमक कारवाइया बन्द करने, दक्षिणी अफ्रीका म रगभेद की समाप्ति आदि की माग की गई। इस सम्मेलन म भाग लेन वाले राष्ट्रो स यह अपील की गई कि व सयुक्त राष्ट्र के पुनगठन पर बल दें ताकि वह एशिया और अफ्रीका के लोगो की आकाक्षाओ का प्रतिनिधित्व कर सके।

अफ्रीकी एकता सगठन

मई 1963 म स्वतन्त्र अफ्रीकी राज्यो का अदीस अबाबा म एक सम्मेलन हुआ जिसम महत्वपूण अफ्रीकी एकता सगठन की स्थापना की गई। उपस्थित होन वाले 31 राष्ट्राध्यक्षो न अफ्रीकी देशो की एकता राजनीतिक आर्थिक, सास्कृतिक, वज्ञानिक, स्वास्थ्य तथा प्रतिरक्षा नीतियो म परस्पर सहयोग, अफ्रीका से उपनिवेशवाद के उन्मूलन और सदस्य देशो की स्वतन्त्रता की सयुक्त प्रतिरक्षा की भावना को लकर अफ्रीकी एकता सगठन के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये।

इस सम्मेलन मे घाना के राष्ट्पति एन्क्रूमा न सभी अफ्रीकी देशो के लिए एक द्विसदनीय ससद की स्थापना का सुझाव रखा। वह चाहता था कि अपनी स्वतन्त्रता और इतिहास को सुरक्षित रखत हुए 'अरब लीग' या 'अमरीकी राज्यो के सगठन' जसी कोई सवमान्य व्यवस्था की स्थापना हो जाये, जिसके माध्यम से सभी *अफ्रीकी देशो के बीच आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक व अन्य क्षेत्रो* में पूण सहयोग व साझेदारी का विकास हो सके। सम्मलन म उपस्थित राष्ट्रो के प्रतिनिधियो न भावना के बहाव म यह वचन भी दिया कि व भविष्य म एक-दूसरे के विरुद्ध कभी कोई विध्वसात्मक या शत्रुतापूण कायवाही नही करेंगे। सम्मेलन मे भाग लेन वाले अफ्रीकी राष्ट्राध्यक्षो द्वारा स्वीकृत अफ्रीकी एकता सगठन ने अपने घोषणापत्र म निम्नाकित लक्ष्य निर्धारित किये—

(१) पराधीन अफ्रीकी राष्ट्रों को मुक्त करान म भरसक सहायता और सहयोग,

(२) अन्य राष्ट्रों के घरेलू मामलों में अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण,

(३) शान्तिपूर्ण ढंग से सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान,

(४) दूसरे राष्ट्रों की सम्प्रभुता और प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान तथा

(५) गुट निरपेक्षता की नीति का पालन।

यह निश्चय भी किया गया कि संगठन की तीन मुख्य संस्थायें होंगी। पहली, राज्याध्यक्षों की एक असेम्बली (सभा) और सरकार होगी, जिसकी बैठक वर्ष में कम से कम एक बार होगी। असेम्बली संगठन की सर्वोच्च संस्था होगी।

दूसरी संस्था मन्त्रि परिषद होगी, जिसमें सदस्य राष्ट्रों के परराष्ट्रमन्त्री शामिल होंगे जो वर्ष में कम से कम एक विचार विमर्श के लिये अवश्य मिलेंगे।

तीसरे, एक सचिवालय होगा, जिसमें सचिव व उसके सहायक होंगे।

इसके अतिरिक्त, मध्यस्थता और पंच निर्णय के लिए भी एक आयोग स्थापित किया जाएगा जो सदस्य राष्ट्रों के सभी आपसी विवादों का समाधान करेगा। प्रत्येक वर्ष 25 मई को 'अफ्रीकी एकता दिवस' मनाने का भी निर्णय किया गया।

अफ्रीकी एकता संगठन की बैठक वर्ष में एक बार होती है, लेकिन महत्वपूर्ण तात्कालिक समस्याओं पर विचार करने के लिए इसके विशेष सम्मेलन भी बुलाये जाते हैं।

जुलाई 1964 में 28 अफ्रीकी राष्ट्रों के अध्यक्ष जब काहिरा में दूसरी बार मिले तो उन्होंने अफ्रीकी एकता संगठन के विभिन्न आयोगों के सुझाव पर विचार किया और अदीस अबाबा (इथियोपिया) में अफ्रीकी एकता संगठन के स्थाई सचिवालय की स्थापना की। दायल तेल्ली इसके प्रथम सचिव नियुक्त हुए।

अफ्रीकी एकता संगठन की स्थापना हुए लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं, लेकिन अफ्रीकी देशों में वह एकता दिखाई नहीं देती जिसकी उससे आशा की गई थी। वार्षिक सम्मेलन में सभी राष्ट्रों के अध्यक्ष, प्रधानमंत्री या उपराष्ट्रपति तक नहीं आते, कुछ केवल परराष्ट्रमन्त्रियों या सरकारी अधिकारियों को ही भेज कर सन्तोष कर लेते हैं लेकिन इससे निराश होने की जरूरत नहीं है।

सदभ

1 टाम म्वोया, "टेण्स इन अफ्रीकन डेवलपमेण्ट (1964), पृ 55
2 पीटर अब्राह्म, "रिपोट आन अफ्रीका" (1955), प 6
3 बेसिल डेविडसन, "दि अफ्रीकन अवेकनिंग" (1964), प 233
4 थान जूनियर, "अफ्रीकन डिप्लोमेसी स्टडीज इन डिटर्मिनेंटस आफ फॉरेन पालिसी" (1966) पृ 174 75
5 फ्रेड वक, "अफ्रीकाज क्वस्ट फॉर आडर" (1964), पृ 82
6 Africa has states, not nations
7 कॉलमन, "नेशनलिज्म इन ट्रापिक्ल अफ्रीका," दि अमेरिकन पालि० साइस रिव्यू, (1954), प 407 8
8 शुल्जबरगर, पामर व परकिन्स कृत "इण्टरनेशनल रिलेशन्स" (1964) से उदघत, पृ 556
9 वही " " " "
10 वेद प्रकाश सिंह, "द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात एशिया और अफ्रीका," (दिल्ली), पृ 19
11 अनिरुद्ध गुप्ता, "गवर्मेंट एण्ड पालिटिक्स इन अफ्रीका," (1975, दिल्ली) पृ 24
12 "अफ्रीका इन वल्ड पालिटिक्स," (1963), पृ 398
13 जक्स वालिन, "दि अरब रोल इन अफ्रीका" (1962), प 17
14 "इण्टरनशनल कन्फ्लिक्ट पैटन्स" (1963), प 13
15 वही " " " "
16 "अफ्रीकाज अनफिनिश्ड स्ट्रगल फार फ्रीडम दि रियल इशु," पृ 373

अध्याय 9

भारत के परराष्ट्र सम्बन्ध

यदि आगामी सदी म इस बीसवी सदी का इतिहास लिखा जायेगा, तो युगान्तकारी घटनाक्रम के रूप म न तो महायुद्धा की विभीषिका की चर्चा होगी, न ही महाशक्तियो के ध्रुवीकरण की न परमाणु शक्ति के उदय की और न चाद सितारो तक पहुचने के सफल प्रयास की, अपितु जिस एक घटनाक्रम को आसानी से युगान्तकारी महत्व का ठहराया जाएगा, वह होगा उपनिवेशवाद के अन्त की वह प्रक्रिया जिसने करोडो अरबो लोगो को, एशिया के अफ्रीका के, लातीन अमरीका क लोगो को अपने भाग्य के खुद ही निर्माता बनने का हौसला ही नही दिया बल्कि भाग्य निर्माता बना दिया और इस प्रकार वास्कोडिगामा युग का अन्त लाकर, मानव सभ्यता के इतिहास का एक नया स्वर्णिम अध्याय खोल दिया है। स्वतन्त्र भारत की परराष्ट्र नीति उसी ऐतिहासिक यात्रा का एक ऐसा जयघोष है जो इस नये युग की पहचान कराता है।

जब द्वितीय महायुद्ध के अन्त होने के बाद उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की एक के बाद दूसरी कडिया बेडिया टूटने लगी तब यह स्मरणीय है कि भारत की दासता की कडिया बेडिया पहले टूटी और उनके टूटते ही जैसे साम्राज्यवाद के दुग तेजी से धराशायी होते गय, जैसे एक ससारव्यापी भूचाल आ गया हो। भारत, बर्मा हिन्दचीन इण्डोनेशिया, पश्चिम एशिया के अनेक देश तेजी से आजाद होते चले गए और अध दासता म जकडा चीन जापान के पराजित होते ही कुछ ही दिन म गृहयुद्ध की चपेट म आ गया जिससे उबरने मे उसे लगभग 4 वर्ष लगे और जब साम्यवादी दल के नेतृत्व मे नया चीन सगठित हुआ, तब पुराने हिन्दुस्तान की तरह वह भी एकीकृत रूप मे उभर नही पाया। उसके भी दो टुकडे साम्राज्यवादियो ने कर दिए। द्वितीय महायुद्ध के बाद साम्राज्यवादियो के हाथो जो देशो के बटवारे का सिलसिला चला जिसमे यूरोप, एशिया और अफ्रीका के अनेक देशो के दो तीन टुकडे हो गए, भारत भी उनमे एक था। पर विभाजन हो जाने के बाद भी हिन्दुस्तान का जो बडा भाग भारत के रूप म उदित हुआ उसने स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान की अपनी साम्राज्य-

वाद विरोध, उपनिवेशवाद विरोध, रगभेद विरोध की परपरा न केवल जारी रखी बल्कि उसकी आवाज को बुलद किया। एशिया की एकता और सुदढता के प्रयत्न जारी रखे अफ्रीका की मुक्ति और उसे भाईचारे के सुदढ बधनो म बाधने का प्रयत्न जारी रखे लातीन अमरीकी देशो के साथ समानता व बधुत्व तथा साहचय के नये पुल तैयार किये, उसने समाजवाद के महादुग सोवियत और उनके साथी समाजवादी देशो साथ सौहादपूण और सम्मानपूण सबधो को विकसित करने मे दिलचस्पी दिखाई, नये चीन से बिरादराना ताल्लुकात बढान मे पहल की। नये भारत की ओर से कोशिस यह भी रही कि पश्चिम यूरोप के देशा के जाग्रत मजदूर वग और उनकी समाजवादी पाटियो से नये और सुखद रिश्ते बनें, ब्रिटेन के लेबर दल से बनने भी लगे और महायुद्ध के बाद विश्व राजनीति के आगन म अगडाई ले रहे महाशक्ति के रूप मे उदित सयुक्त राज्य अमरीका को अपनी नई पहचान बताते हुए उससे सौहार्द और मित्रता से पूर्ण सम्बन्धो को विकसित करे ताकि उनकी अमित शक्ति विश्वभर के सघषशील देशा और लोगा के लिए सकट मोचक बन सके, विघ्नकारी नही।

ये सारी शुभ और कल्याणकारी प्रवृत्तिया जो भारत की परराष्ट्रनीति का आधार बनी 33 करोड लोगो के एक सुदीघ, और तेजस्विता पूण स्वाधीनता आन्दोलन की विरासत थी। हिन्दुस्तान का भूगोल और हिन्दुस्तान के इतिहास ने इन प्रवृत्तियो को जन्म दिया और सींचा था, वह अनेक माध्यमा से प्रकट होती रही। आजादी के बाद, उसका प्रमुख माध्यम बना वह सत्ताधारी दल जो स्वाधीनता आन्दोलन का सबसे बडा अहिंसक सत्याग्रह के रूप म आदोलन करने वाला दल था, भारतीय राष्ट्रीय काग्रस और उनका श्रेष्ठतम नायक जवाहर लाल नेहरू जो स्वाधीन भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री और परराष्ट मन्त्री बन। व उन गाधी जी के अन्यतम शिष्य थे जिन्होने काग्रेस को एक जनवादी, अहिंसाधर्मी महान आन्दोल के रूप म ढाला, जा भारत की सभ्यता, सस्कृति, उसकी अस्मिता और तेजस्विता के सबसे उज्ज्वल प्रतीको म प्रमुख थे, स्वाधीनता सग्राम के एक पूर्णत समर्पित व्यक्तित्व। भारत की परराष्ट्रनीति पर उनके व्यक्तित्व एव कृतित्व की अमिट छाप है।

भारतीय परराष्ट्रनीति की दिशा उसके लक्ष्य

भारत की परराष्ट्र नीति कुछ प्रमुख लक्ष्यो एव उददेश्यो की पूर्ति मे सतत चेष्टावान रहती है जा भारतीय परराष्ट्र नीति के अपेक्षाकृत स्थायी आधारो को भी प्रकट करती है। भारत की परराष्ट्र नीति के प्रमुख लक्ष्य हैं—

1 भारतीय स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता को बनाय रखना। राष्ट्रीय आर्थिक एव सामाजिक विकास को गति देने वाले क्षेत्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव

व नेतृत्व धारणा करने वाली शक्तियो के साथ अपने समुचित सम्बन्ध बनाये रखना।

2 साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद और राष्ट्रीय उत्पीडन का सवत्र ओर हर समय विरोध करना और विरोध करन वाला को मदद देना।

3 एशिया और अफ्रीका मे नस्लवाद के आधार पर गैरनस्लो का दमन करने वाले देशो तथा इजराइल और दक्षिणी अफ्रीका का विरोध करना और उसके उन्मूलन के सभी प्रयत्नो को बल देना।

4 एशिया तथा साम्राज्यवाद से पीडित अन्य लातीनी और अफ्रीकी देशो के साथ एक समान आधार वाले भाईचारे और सहयोग व साहचय के अनक आधारो के निर्माण के लिए प्रयत्नवान रहना।

5 अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान का प्रयत्न करना और इस प्रयास म जुटे रहना कि कम स कम भारतीय उपमहाद्वीप के आस पास शातिक्षेत्र बना रह सके।

6 अपन हिता के सवधन के लिए तथा मानवता के व्यापक हिता का ध्यान रखते हुए, सयुक्त राष्ट्रसघ एव अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ और सगठनो के साथ सहयोग करना और उन्हे पुष्ट और समृद्धवान बनाने की चेष्टा करना।

इन उपयुक्त लक्ष्यों और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारतीय नीति निर्माताओ न जो नीतिया अपनाई है उसम विलग्नता की नीति एक महत्वपूण अग है। भारत के शासक वग अपने हिता और अन्य सामान्य हितो की पूर्ति के लिए अपने आपको बडी ताकतो की सनिक गुटबदी से दूर रखकर, हर कदम पर स्वतत्र निणय ले सकन के आग्रही है जिस वे विलग्नता की नीति कहते हैं

भारत की परराष्ट्र नीति के उपर्युक्त उद्देश्य राष्ट्रीय हितो एव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के समन्वय को स्पष्ट करते है।

प्रत्येक राष्ट्र अपनी परराष्ट्र नीति म राष्ट्रीय हिता का सर्वोच्च प्राथमिकता दता है। यद्यपि बदलती परिस्थितियो मे साथ परराष्ट्र नीति के व्यवहार म सामयिक परिवतन आते रहते है किन्तु परराष्ट्र नीति के आधारभूत उद्देश्य एव सिद्धान्त अपेक्षाकृत स्थायी होते है। भारत 1947 म भी गुटनिरपेक्ष था और आज भी है यद्यपि गुटनिरपेक्षता के आयाम बदलते रहे हैं। पण्डित नहरू ने 4 दिसम्बर 1947 को सविधान सभा म कहा था

"आप चाहे कोई भी नीति अपनाए, परराष्ट्र नीति निर्धारण की कला राष्ट्र-हित के सम्पादन मे निहित है। हम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सहयोग एव स्वतन्त्रता की चाहे कितनी ही बातें करें किन्तु अन्ततोगत्वा एक सरकार अपने देश की भलाई के लिए ही काय करती है और कोई भी सरकार ऐसा कदम नही उठा सकती जो उसके राष्ट्र के लिए अहितकर हो। अत सरकार का स्वरूप चाहे

साम्राज्यवादी हो अथवा साम्यवादी हो, उसका परराष्ट्र मत्री मूलत राष्ट्रीय हित म ही सोचता है।"

भारतीय परराष्ट्र नीति के प्रमुख निर्धारक तत्व

भारतीय परराष्ट्र नीति बहुत से राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय तत्वो से प्रभावित होती है जो कि स्थायी और परिवतनशील दोनो प्रकार के हैं।

भूराजनीतिक तत्व—भारत एक विशाल देश है जिसे उपमहाद्वीप की सज्ञा दी जाती है इसकी समुद्री सीमा लगभग 6000 कि० मी० एव स्थल सीमा लगभग 15000 कि० मी० है। भारत की जनसख्या लगभग 68 करोड है। भारत के लिए हिन्दमहासागर और हिमालय का विशेष महत्व है। हिन्दमहासागर म होन वाली गतिविधियो का भारत की सुरक्षा व्यवस्था पर सीधा प्रभाव पडता रहता है।[8]

भारत की स्थल सीमाए पाकिस्तान, अफगानिस्तान, चीन, नेपाल, बर्मा एव बगलादेश से मिलती है। अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण हिन्द महासागर म भारत की सुरक्षा एव व्यापार के आधारभूत हित हैं इसीलिए भारत हिन्दमहासागर को शान्ति क्षेत्र बनाये रखना चाहता है। भारत अपने सीमावर्ती राज्यो म बसन वाले भारतीयो के कल्याण के प्रति सचेत है। पश्चिम एशिया के देशो से भारत को तेल की प्राप्ति होती है।

आर्थिक तत्व—सदियो की पराधीनता के कारण भारत का आर्थिक शोषण होता रहा। स्वाभाविक था कि स्वतन्त्रता के बाद भारत अपना आर्थिक औद्योगिक विकास द्रुतगति से करना चाहता था। भारत ने विलग्नता की ऐसी नीति अपनाई जिससे भारत के विकास के लिए शातिपूण स्थिति के निर्माण मे मदद मिले तथा दोनों गुटो के देशो से अच्छे सम्बन्ध विकसित हो तथा यथासम्भव आर्थिक सहायता प्राप्त हो सके। 35 वर्षो के विकास नेभारत की गरीबी और विपन्नता तो नही मटी पर उसके औद्योगिक एव तकनीकी विकास के फलस्वरूप आज हम दूसरे दशो को भी तकनीक का नियात करने म सक्षम हैं।

भारतीय इतिहास एव सस्कृति—अतीत से ही भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन न साम्राज्य विरोधी एव अनाक्रमण की नीति अपनाने पर जोर दिया है। राष्ट्रीय काग्रेस न ब्रितानी साम्राज्यवाद के उन सभी सनिक अभियानो का विरोध किया जिनके द्वारा अग्रेज साम्राज्यवादी दूसरे पडोसी देशो को अपने अधीन लाने का प्रयत्न करते थे।

स्वतन्त्रता के बाद भारत ने सभी देशो के साथ मित्रता एव सहयोग की नीति अपनाई है। पाकिस्तान ने भारत पर कई आक्रमण किए हैं किन्तु सन 1965 के युद्ध मे पाकिस्तान का जो भाग छीन लिया गया था वह ताशकद सम

झौते द्वारा लौटा दिया गया है। सन् 1971 के बागला देश के सकट के समय भी हस्तगत भूमि का भारत ने पाकिस्तान को शिमला समझौते के अतगत वापिस लौटा दिया। भारतीय परमाणु नीति के सिद्धान्तो एव आदर्शों पर यह हमारे अतीत के स्पष्ट प्रभाव हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मुख्यत अहिंसात्मक रहा जिसका प्रभाव प्रारम्भिक काल मे हमारी शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति पर पडा। भारत ने हर प्रकार के उपनिवेशवाद, जातिवाद एव रगभेद की नीतिया का विरोध करना प्रारम्भ किया। भारत राडशिया मे अल्पमत के शासन के विरुद्ध रहा और आज हम नामिबिया के स्वतन्त्रता आन्दोलन का समथन दे रहे हैं जिससे भारत की स्वतन्त्रता आन्दोलनो के प्रति सहानुभूति एव सहयोग स्पष्ट होता है। भारत महाशक्तिया द्वारा अपनाई जाने वाली नवसाम्राज्यवादी नीतियो के प्रति भी सचेत है।

विचारधारा—भारत की परराष्ट्र नीति का सद्धान्तिक एव दाशनिक पक्ष भारत की एतिहासिक परम्परा के साथ जुडा हुआ है। विलग्नता की नीति अति-वादी मार्गों को छोडकर मध्यम माग अपनाने की आग्रही है। ऐसा कहा जाता है कि भारत की परराष्ट्र नीति पर गाधीवाद का प्रभाव है पर व्यवहार मे शस्त्रास्त्रो के इस्तेमाल मे समय आने पर कोई हिचक नही रही है। भारतीय समाज व्यवस्था की समस्याओ के सदभ मे भारतीय नेतत्व वग समाजवादी विचारधारा के प्रति सहानुभूति दिखाता है यद्यपि समूची आर्थिक व्यवस्था पूरी तरह पूजीवादी रग मे रगी हुई है बस सविधान मे समाजवाद' की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है जिसकी व्याख्या का अधिकार यह नेतृत्व वग अपने पास ही रखता है। परराष्ट्र नीति के निर्माता पण्डित नेहरू के विचारो पर उदारवादी एव फबियन ढग की समाजवादी विचारधारा का समन्वित प्रभाव था। अपने घर मे विषमता की बढ़ती हुई खाई को रोकने के लिए चिता न करते हुए भी भारत आज अन्तराष्ट्रीय व्यवस्था मे समानता स्थापित करने हेतु सचेष्ट है और अन्तर्राष्ट्रीय अथव्यवस्था मे सस्थागत एव सरचनात्मक परिवतनो का हामी है।

नेतत्व की भूमिका—भारत की परराष्ट नीति पर सर्वाधिक प्रभाव पण्डित नेहरू का रहा है। पडित नेहरू राष्ट्रीय काग्रेस मे भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर काग्रेस के रुख को मुखरित करते रहे है। वे अतराष्ट्रीय राजनीति और उसके खिलाडियो मे अधिकाश से खूब परिचित थे और वे अतर्राष्ट्रीय राजनीति के घटनाचक्र और ऊच नीच को, काग्रस मे सर्वाधिक जानकारी रखते थे। वस्तुत यही कारण है कि भारत के प्रथम परराष्ट्र मन्त्री की भूमिका उन्होन बहुत कुशलता और दूरदशिता से निभाई और उसे बहु आयामी बनाया। अगर किसी

एक नीति के निर्धारण मे और बहुत कुछ उसके कार्यान्वयन मे नौकरशाहियत हावी नही हो पाई और राष्ट्रीय नेतत्व वग की प्रतिभा के दशन होते हैं तो वह है इसकी परराष्ट्र नीति। पण्डित नेहरू द्वारा निर्धारित सिद्धान्त एव आदर्श 1977 म स्थापित जनता सरकार द्वारा भी स्वीकार किये गये। पण्डित नेहरू ने साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एव फासीवाद का विरोध किया। उन्होने महाशक्तियो के सघष से न केवल भारत को अपितु एशिया को भी दूर रखने का प्रयास किया। उन्होने भारत के लिए विलग्नता एव पचशील के सिद्धान्तो का प्रतिवादन किया। जिन अन्य व्यक्तियो ने छुटपुट रूप म इस नीति के विकास मे मदद की व थे कृष्ण मेनन, गिरिजाशकर वाजपयी तथा सरदार पाणिक्कर।

1966 से श्रीमती गाधी न भारतीय परराष्ट्र नीति को नेहरू के बाद के ससार का सामना कर सकने योग्य बनाया। विकासशील दशो म भारतीय हितो की भूमिका को बदलते सन्दर्भों म नई दिशा दी है। 18 मई 1974 को भारत ने पोकरन म परमाणु परीक्षण किया और 1975 स अन्तरिक्ष के क्षेत्र म भी भारत प्रवश कर चुका है। अब अन्य देशो की तरह भारत म भी सन्य शक्ति के महत्व पर अधिकाधिक जोर दिया जाता है और आज सनिक साज सज्जा का अधुनातन बनाने की धुन नेतत्व वग म खूब घर किए है।

राष्ट्रीय हित—किसी भी देश की नीति का निर्माण केवल आदर्शों के आधार पर नही किया जा सकता। वह उन लोगो की समझ और दृष्टि से राष्ट्रीय हितो एव अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को ध्यान में रखकर बनाया जाता है जो उस देश का नेतत्व वग का होता है। भारत की परराष्ट्र नीति में भी राष्ट्रीय हितो का महत्व दिया गया है। हमारे प्रमुख राष्ट्रीय हित हैं—

राष्ट्र की एकता को बनाये रखना,

अखण्डता एव स्वतन्त्रता की रक्षा करना,

दश का आर्थिक एव सामाजिक विकास करना इस ढग से करना कि नेतत्व वग और उनसे जुडे पूजीपति वग और धनी किसानो के हितो को बढावा मिले।

भारत मे लोकतान्त्रिक व्यवस्था का सुदढ बनाना, जो पूजीवादी वचस्व पर आच न लाये तथा

अन्य राष्ट्रो के साथ मत्री एव सहयोग की नीति बनाये रखना।

अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण—किसी भी देश की परराष्ट्र नीति की सफलता बदलती हुई। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो के प्रति जागरुकता पर निभर है। भारत की परराष्ट्र नीति में निरन्तरता एव परिवतन दोनो पाये जाते हैं। प्रारम्भ में भारत ने पश्चिमी गुट के प्रति सहानुभूति रखत हुए भी शीतयुद्ध का विरोध किया तथा सनिक सगठनो से अलग रहा। सन् 1962 मे चीनी आक्रमण

के वाद भारत चीन सम्बन्ध विगड गय थे किन्तु परिवर्तित परिस्थितियो म (1975 से) दोनो दशा न सम्बन्ध सुधार के प्रयास किए। समान उद्देश्या एव अन्तर्राष्ट्रीय नीतिया के कारण भारत एव सोवियत सघ क सम्बन्धो म विशेष घनिष्ठता रही है। सन् 1980 स हमारे पडोस म होन वाली घटनाओ के कारण भारत के सुरक्षा वातावरण म परिवतन आया है। भारत इसके प्रति सचेत है एव हम अपनी सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत बनान म भी लग हुए हैं।

उपर्युक्त विवेचन स स्पष्ट है कि भारतीय परराष्ट्र नीति निरन्तरता एव परिवतन दोना की हामी है। और वह कई तत्वो से सचालित होती है। जवाहर लाल नेहरू क शब्दा म‘

"मैं भारतीय परराष्ट्र नीति का जनक नही हू। मैंने उसको केवल आवाज दी है। यह नीति भारतीय परिस्थितिया की उपज है। भारत की भूतकालीन विचारधारा एव स्वतन्त्रता सग्राम म विकसित विचारो और वतमान अन्त र्राष्ट्रीय परिस्थितिया का परिणाम हैं।’

भारतीय परराष्ट्र नीति स्वतन्त्रता, न्याय एव मानव मूल्या का महत्व प्रतिपादित करती है। भारत न अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो म सक्रिय भूमिका निभायी है और विश्व मचा पर एशिया एव अफ्रीका की आवाज को बुलद किया है।

भारतीय परराष्ट्र नीति का विकास

भारतीय परराष्ट्र नीति को 1946 से लेकर अब तक भारत के सामने आए प्रमुख सकटा और विभिन्न प्रधान मन्त्रिया के कायकाल के आधार पर भी समझा जा सकता है।

प्रमुख सकट

1 1946 48 म पाकिस्तान के साथ कश्मीर विवाद।
2 1962 म चीन-भारत सीमा सशस्त्र सघष।
3 1965 म पाकिस्तान भारत युद्ध।
4 1970 71 म बगला देश सकट।

नेहरू युग

1947 म भारत की स्वतन्त्रता के समय शीत युद्ध प्रारम्भ हो चुका था और दुनिया को गुटो म विभाजित करने के प्रयास चल रहे थ। भारत ने सनिक एव शक्ति गुटा से पृथक रहन का निश्चय किया। पण्डित नेहरू के शब्दों म, "हम उन शक्ति गुटो स दूर रहना चाहत हैं जिनके कारण पहले भी महायुद्ध

हुए हैं और भविष्य म भी हो सकते हैं।" भारत ने विलग्नता की जो नीति अपनाई उसम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को महत्व दना भी प्रमुख है। भारत न स्वतन्त्रता के पश्चात अतराष्ट्रीय मामला म सक्रिय भूमिका निभायी है। पण्डित नहरू न स्वतन्त्रता के पश्चात एशियाई सम्बन्ध सम्मेलन आयोजित किया और एशिया को शीत युद्ध से दूर रहन का आह्वान किया।

यद्यपि प्रारम्भ म भारत की विलग्नता की नीति अस्पष्ट रही क्योकि स्टालिन और अमेरिकीय नेतृत्व दोनो ही भारत को सही मायन म तटस्थ देश नही समझते थे। सन् 1950 से पूव भारत न पश्चिमी जमनी को तो कूटनीतिक मान्यता दे दी लेकिन पूर्वी जमनी का नही दी।

कोरिया युद्ध एव हिन्दचीन मे भारत की सक्रिय निष्पक्ष भूमिका

भारत ने कोरियाई युद्ध मे भी पहले पश्चिम का साथ दिया पर बाद मे तनाव को कम कराने के प्रयास भी किए। बाद म युद्ध बन्दियो को लौटान के लिए गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो के प्रत्यावतन आयोग के अध्यक्ष की हैसियत से भारत की प्रमुख भूमिका रही। फ्रास और हिन्दचीनी जनता के सघष के समय विवाद के शान्तिपूण समाधान हेतु भारत ने 6 सूत्रीय योजना प्रस्तुत की और जेनेवा समझौते का पालन करवाने के लिए जो अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण आयोग बना, भारत को उसका अध्यक्ष बनाया गया।

पचशील

भारत ने 'नाटो एव 'सीटो की स्थापना के बाद भी गुटबन्दी का विरोध जारी रखा और विलग्नता की नीति के द्वारा शान्ति क्षेत्र के विस्तार के प्रयास किए। 29 अप्रैल 1954 म भारत और चीन के बीच तिब्बती क्षेत्र के बीच व्यापार और आवागमन आदि के बारे म भारत चीन समझौते म पाच सिद्धान्ता का समावेश किया गया जो पचशील क नाम से प्रसिद्ध हैं। य सिद्धान्त हैं—

1 पारस्परिक क्षत्रीय अखण्डता एव प्रभुसत्ता का सम्मान।
2 अनाक्रमण।
3 एक दूसर के आन्तरिक मामलो म अहस्तक्षेप।
4 समानता एव पारस्परिक हित का ध्यान।
5 शान्तिपूण सहअस्तित्व।

अप्रल सन् 1955 म इडोनेशिया के बाडुग नगर म एक विशाल अफ्रो-एशियाई एकजुटता और समान धर्मा राष्ट्रा के मच का निर्माण हुआ जिसने यूरोपीय और अमरीकी साम्राज्यवादियो को उद्विग्न किया हो, इससे सावियत सघ म भी कुछ खलबली मची। अफ्रोएशियन देशा के इस सम्मलन म पचशील

के सिद्धा तो को और भी व्यापक बनाया गया। इसके बाद दुनिया के अधिकाश देशो न प चशील सिद्धा तो को मा यता दी। इन सिद्धान्तो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के लिए आदश प्रस्तुत किए गये लेकिन य आदश स्वीकार किये जान के बाद भी अधिकाश दशो की परराष्ट्र नीति के व्यवहार मे नही मिलते।

हगरी एव स्वेज सकट

1956 म हगरी मे सोवियत हस्तक्षेप एव उसी वष स्वेज नहर पर ब्रिटन, फास एव इजराइल के आक्रमणा की विश्व भर म प्रतिक्रिया हुई। भारत न इन घटनाओ म स्वेज पर आक्रमण की अधिक तीव्र आलोचना की।

भारत पर चीन का आक्रमण

सन् 1949 में चीन म साम्यवादी व्यवस्था कायम हुई। उस समय से ही भारत और चीन के सम्बन्धो का महत्व बढ गया। भारत ने चीन को कूटनीतिक मा यता प्रदान की। लेकिन तिब्बत की व्यवस्था जसे अग्रेजी जमाने मे थी उससे आगे बढकर साम्यवादी चीन न उसे अपन साथ घनिष्ठता से जोड लिया। तिब्बत म पुराने भारत को कुछ रिआयतें मिली हुई थी जिसे पचशील समझौते के बाद नय भारत को छोडना पडा पर भारतीय नेता तिब्बत की स्वायत्तता के पक्षधर रहे। वह इतना घना जुडाव पसद नही करते थे और यह तो कतई नही कि चीन की फौजें स्थायी तौर पर वहा रह। चीन की अपनी गृहनीति के फलस्वरूप तिब्बत के कुलीन वग के नेतृत्व मे विद्रोह भडक उठा और तिब्बत के दलाई लामा ने भागकर भारत म शरण ली। इसने सबधा म कटुता पैदा कर दी। प्रारम्भ मे कुछ तनाव बढता गया। भारतीय नेताओ का इसम कुछ अटपटा नहीं लगा कि जा व कश्मीर म पसन्द नही करते थे उसे व खुद तिब्बत म करना पचशील के सिद्धान्तो के विरोध मे नही मानत थे।

भारत और चीन के बीच 1959 से ही सीमा विवाद भी बढता रहा। भारत और चीन के बीच व्यावहारिक रूप से 'मा य मैकमोहन रेखा' को चीन न बाद मे अस्वीकार कर दिया। यह रेखा 1914 म शिमला सधि द्वारा तय की गई थी जिसम गुलाम भारत की ओर से अग्रेजों और तिब्बत तथा चीन क बीच सीमा निर्धारण किया गया था। ब्रितानी सरकार की ओर से सर आथर हेनरी मैकमाहन न भाग लिया था। चीन न लद्दाख एव अक्साई चीन के क्षेत्रा पर विवाद उठाया।

20 अक्टूबर 1962 को प्रात काल भारत की उत्तरी सीमा पर चीन स भयकर मुठभेड हुई। इस आकस्मिक आक्रमण के साथ ही चीन न भारत का हजारो वग मील क्षेत्र अपन कब्जे मे ले लिया। इस युद्ध म अमेरिका और

ब्रिटन न सनिक सहायता दी किन्तु चीन न 21 नवम्बर 1962 को इकतरफा ही युद्ध विराम की घोषणा कर दी। दिसम्बर 1962 म कुछ राष्ट्रो न भारत चीन वार्ता क लिए कोलम्बो प्रस्ताव रखे और भारत और चीन के बीच गतिरोध समाप्त कराने का प्रयास किया किन्तु चीन न कुछ शर्तें लगाकर यह प्रस्ताव बाद म अस्वीकार कर दिया।

चीन के आक्रमण स भारत की कमजोरी स्पष्ट हुई और विलगनता की नीति पर भी प्रश्न उठन लग किन्तु विलगनता स यह लाभ अवश्य हुआ कि भारत को बिना शत पश्चिमी सहायता मिली और सोवियत सघ ने इस सकट के समय चीन का साथ नही दिया और भारत के निकट आता गया।

शास्त्री युग

27 मई 1964 को पडित नेहरू के स्वर्गवास के बाद लाल बहादुर शास्त्री भारत क प्रधानमन्त्री बन जो कि अल्पकाल तक ही रह सके। उन्होंन भारत की परराष्ट्र नीति क आधारभूत सिद्धान्तो को जगाय रखा और 5 अगस्त 1964 को पाकिस्तान क साथ युद्ध न करने के समझौते का प्रस्ताव रखा जिसे पाकिस्तान न स्वीकार नही किया। पाकिस्तान न मार्च अप्रल 1965 में कच्छ के रन क्षेत्र मे भारत पर आक्रमण किया। राष्ट्रमडलीय प्रधानमन्त्रियो के सम्मेलन के अवसर पर 30 जून 1965 को अग्रजो की मध्यस्थता के फलस्वरूप भारत-पाकिस्तान के बीच एक समझौता हुआ, जिसमे पहली बार भारतीय नतत्व ने अपना विवाद अन्तर्राष्ट्रीय पच समझौत के लिए सौंप दिया।

अगस्त 1966 म कश्मीर मे सशस्त्र घुसपेठिये भेजे गये जिनका भारतीय सेना न सफाया किया। 1 सितम्बर 1965 को पाकिस्तान न कश्मीर के छम्ब क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। अखनूर पर पाक फौजें अधिकार नही कर पाई। भारत ने अमेरिकी पैटनटैंको को भी परास्त कर दिया। चीन न भी भारत पर दवाव बढाने का प्रयास किया। 23 सितम्बर 1965 को सयुक्त राष्ट्र सघ के हस्तक्षेप से युद्ध विराम कराया गया। इस समय बहुत सा पाकिस्तानी क्षेत्र भारत के अधिकार मे आ गया था जिसे सोवियत मध्यस्थता द्वारा 10 जून 1966 को किये गये पाक भारत ताशकन्द समझौते द्वारा वापस लौटा दिया गया। ताशकन्द समझौते द्वारा 5 अगस्त 1965 से पहले की स्थिति पर दोनों देशो की सेनायें लौटाने का निश्चय किया गया। यह भी निर्णय किया गया कि पारस्परिक विवादो को शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाने का प्रयास किया जाएगा। ताशकन्द समझौता भारत की उदारता और पाकिस्तान के साथ तनावो को कम करने के प्रयासो का प्रमाण था। यद्यपि स्वर्गीय शास्त्री समझौता कराकर लौट नही पाय, पर उन्होंने भारतीय परराष्ट्र नीति एव सुरक्षा व्यवस्था को यथार्थ

वादी बनाने का प्रयास किया। सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध न भारत की सजगता स्पष्ट कर दी। अब भारत सैन्यबल के द्वारा समाधान खोजने की दिशा मे दृढतर कदमो से बढ रहा था।

इन्दिरा युग की परराष्ट्र नीति (जून 1966—मार्च 1977)

शास्त्रीजी के आकस्मिक निधन के पश्चात स्वर्गीय नेहरू की पुत्री श्रीमती इन्दिरा गाधी भारत की प्रधान मत्री बनीं। उन्होंने विलग्न भारत के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सक्रिय भागीदार एव शान्तिवादी नीतियो पर चलते रहने का भरोसा दिया। श्रीमति गाधी ने पहले 11 वर्ष तक बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितिया म भारतीय परराष्ट्र नीति का कुशल सचालन किया। यद्यपि इस युग म दो ध्रुवो (गुटबन्दी पर आधारित) की राजनीति कमजोर पडने लगी किन्तु एशिया म और विशेषकर दक्षिणी एशिया म बाहरी शक्तिया का हस्तक्षेप बढता जा रहा था। भारत का अपना घर-आगन सकटग्रस्त हो गया था।

भारत-पाक तनाव मे वृद्धि

1966 67 म भारत पाकिस्तान के बीच सीमा पर छिटपुट घटनाए होती रही। याहिया खा के सत्ता मे आने के उपरान्त भारत पाक सम्बन्धो म और भी तनाव आया।

रबात सम्मेलन (मोरक्को)

22 सितम्बर 1969 को मोरक्को की राजधानी रबात म इस्लामी शिखर सम्मलन आयोजित किया गया जिसम पाकिस्तान न भारत के प्रवेश का विरोध किया। भारतीय प्रतिनिधि मडल को वहा पहुचन के बाद भी सम्मेलन मे भाग लेने से वचित कर दिया गया क्योकि याहिया खा ने सम्मेलन का बहिष्कार करन की धमकी दी।

विमान अपहरण काड

30 जून 1971 को इण्डियन एयर लाईन्स के एक विमान का अपहरण करके हवाई अड्डे पर उतारा गया। पाकिस्तान ने अपहरणकर्ताओ को शरण दी। विमान के यात्रिया को अवश्य लौटा दिया गया लेकिन विमान को लाहौर हवाई अड्डे पर जला दिया गया जिससे भारत पाकिस्तान के बीच तनाव तीव्र हो गया और भारत ने पाकिस्तान के विमानो के भारतीय प्रदेश के ऊपर से उडने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

बगला देश सकट दक्षिणी एशिया की राजनीति

पूर्वी एव पश्चिमी पाकिस्तान के बीच सामाजिक आर्थिक एव राजनीतिक तनाव व विग्रह कई वर्षों से रूप ले रहा था। जनरल याहिया खा ने दिसम्बर 1970 मे विवश होकर पाकिस्तान मे चुनाव कराये जिनमे पूर्वी बगाल को अवामी लीग को शेख मुजीब के नेतत्व मे पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ तथा पश्चिमी पाकिस्तान मे जुल्फिकार अली भुट्टो के नेतत्व मे गठित पीपुल्स पार्टी को बहुमत मिला। अवामी लीग की स्वायत्तता की माग को याहिया खान एव भुट्टो द्वारा अस्वीकार कर दिया गया और मुजीबुरहमान को गिरफ्तार कर लिया गया और आन्दोलन का दमन किया जाने लगा। विवश होकर पूर्वी पाकिस्तान की जनता ने माच 1971 मे स्वतन्त्र बगला देश की घोषणा की गई।

शरणार्थियो की समस्या और भारत पाक तनाव

पाकिस्तान के शासको ने पूर्वी पाकिस्तान मुक्ति आन्दोलन को भारत का षड्यन्त्र बतलाया और पूर्वी बगाल मे दमन और अत्याचार का चक्र चलता रहा जिससे लगभग एक करोड शरणार्थी भारत में आ गए। श्रीमति गाधी ने यूरोप के कई देशो तथा अमेरिका की यात्रा की तथा बगला देश समस्या के बारे मे भारत का दृष्टिकोण स्पष्ट किया। भारत द्वारा बगला देश मे अत्याचारो को मानवाधिकार विरोधी और नशस बतलाया। भारत पर आर्थिक दबाव बढने पर भी पश्चिमी देशो ने अधिक ध्यान नही दिया।

अमेरिका-चीन पाकिस्तान

अमरिका और चीन ने बगलादेश समस्या को पाकिस्तान का मात्र आतरिक मामला बतलाया तथा उसे सनिक और आर्थिक सहायता जारी रखी। जुलाई 1971 म श्रीमति गांधी ने पत्र द्वारा चीन को बगला देश की घटनाओ से अवगत कराया लेकिन चीन ने कोई उत्तर नही दिया।

अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन के समय भारत अमेरिका सम्बन्धो मे तनाव बढा। अमेरिका ने बगला देश समस्या के प्रति प्रारम्भ मे उपेक्षापूण रवया अपनाया। अमेरिका का कोई वरिष्ठ अधिकारी श्रीमति गाधी की यात्रा के समय न्यूयार्क हवाई अडडे पर उपस्थित नही था। इस स्थिति म श्रीमती गांधी न वाशिगटन यात्रा नही की और सीधी भारत लोट आयी।

भारत सोवियत सधि (1971)

अगस्त 1971 से पूव दक्षिणी एशिया म निरन्तर तनाव बढ़ रहा था।

एक ओर जहा पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के सघष मे अमेरिका और चीन पाकिस्तान के सैनिक शासकों को मदद कर रहे थे, वही दूसरी ओर शरणार्थियो के कारण आर्थिक समस्या उत्पन्न हो गई थी। अमेरिका एव चीन म नई दोस्ती स्थापित हो रही थी जिसमे बाद म पाकिस्तान की मध्यस्थता भी स्पष्ट हो गई। अमेरिका और चीन मिलकर सोवियत सघ का प्रभाव कम करना चाहते थे। इस प्रकार भारत का सुरक्षा वातावरण भी बिगड चुका था। हिन्द महासागर म अमेरिका अपना नौसनिक अड्डा स्थापित करन का प्रयास कर रहा था। अत भारत को देश की अखडता एव सुरक्षा के लिए कदम उठाना आवश्यक था। भारत ने सोवियत सघ के साथ 9 अगस्त 1971 को शान्ति मैत्री एव सहयोग की 20 वर्षीय सधि पर हस्ताक्षर किए। रूस और भारत की मैत्री सधि कोई सैनिक सधि नही है। सधि की धारा 4 म स्वय सोवियत सघ ने भारत की विलग्नता की नीति को सम्मान देने की बात की है। यद्यपि सधि मे यह व्यवस्था है "कि दोनों देशो मे से किसी पर आक्रमण का खतरा उपस्थित होने पर दोनो पक्ष शीघ्र ही परस्पर विचार विमश करेंगे ताकि ऐसे खतरे को समाप्त किया जा सके और शान्ति तथा सुरक्षा बनाए रखने के लिए प्रभावी कदम उठाए जाए।"

(भारत सोवियत सधि से) जहा एक ओर इस सधि से भारत एव रूस के सम्बन्धो की और घनिष्ठता स्पष्ट होती है वही दूसरी ओर कुछ निहित स्वाथ इसके सन्दभ म भारत की विलग्नता की नीति पर प्रश्नचिन्ह लगाने लगे। अमेरिका एव चीन ने इस सधि का विरोध किया।

दिसबर 1971 का भारत पाक युद्ध

पाकिस्तान ने पूर्वी बगाल (पाकिस्तान म) जिसे वहा के लोग अब स्वतन्त्र बगलादेश मानने लगे थे) भारतीय हस्तक्षप का आरोप लगाकर 3 दिसम्बर 1971 भारत के कई स्थानो पर हवाई आक्रमण कर दिया। सोवियत सघ द्वारा 'वीटो' के कारण सुरक्षा परिपद म भारत विरोधी प्रस्ताव पारित नही हो पाया। 6 दिसम्बर 1971 को श्रीमति गाधी न ससद म बगला देश गणराज्य का मान्यता देने की घोषणा की।

भारत पाक युद्ध 14 दिन चला और 16 दिसम्बर 1971 को बगला देश की राजधानी ढाका म पाकिस्तान सेना के जनरल ए० के० नियाजी ने अपनी 90 हजार फौज के साथ आत्मसमपण कर दिया। पश्चिमी मोर्चे पर पाकिस्तान की लगभग 1400 वग मील भूमि पर भारत ने अधिकार कर लिया जिसे बाद मे शिमला समझौते द्वारा लौटा दिया गया। 17 दिसम्बर 1971 को भारत ने एक पक्षीय युद्ध विराम की घोषणा कर दी और पाकिस्तान से युद्धबन्दी प्रस्ताव

को स्वीकृति हेतु अपील की। भारत-पाक युद्ध के दौरान अमेरिका ने अपना सातवा जहाजी बेडा द० पूर्वी एशिया से बगाल की खाडी म भेजा था जिसका उद्देश्य पाकिस्तान के प्रति समथन व्यक्त करना एव भारत को डराना था किन्तु हिन्दमहासागर मे सोवियत युद्ध पोतो की उपस्थिति के कारण अमेरिका कोई सक्रिय कदम नही उठा सका।

बगला देश सकट के प्रभाव

1971 मे बगला देश के निर्माण और भारत पाक युद्ध मे भारत की विजय के कई प्रभाव हुए। भारत की परराष्ट्र नीति म यथाथवाद एव आत्मविश्वास बढा। यह भी स्पष्ट हो गया कि इस क्षेत्र मे अमेरिका की नीति महाशक्तियो की प्रतिस्पर्द्धा और शक्ति राजनीति से अधिक प्रभावित थी। वह दक्षिण एशिया मे 'भारत के वचस्व को मानने से इन्कार करता रहता था। पर बगला देश निर्माण के बाद अमरिका को स्वीकार करना पडा। इस सकट से न केवल पाकिस्तान विखडित हुआ अपितु यह भी स्पष्ट हो गया कि 1947 म भारत का धार्मिक आधार पर विभाजन अनुचित था। राष्ट्रीय राजनीति मे श्रीमति गाधी को और अधिक समथन प्राप्त हुआ और अन्तर्राष्टीय स्तर पर उनकी साख एव प्रतिष्ठा भी बढी। दक्षिणी एशिया म एक प्रमुख शक्ति के रूप मे भारत का महत्व स्वीकार किया जाने लगा। किन्तु भारत के पडोसी देशों म यह भावना घर करने लगी कि भारत उनके प्रति दबाव की नीति अपना सकता है लेकिन भारत न इस प्रकार की शकाओ को निमूल साबित कर दिया।

शिमला समझौता जुलाई 1972

पाकिस्तान के विखडित हो जाने और बगला देश के बनन के बाद जुल्फिकार अली भुट्टो के नेतत्व मे बचे-खुचे पाकिस्तान म एक नागरिक सरकार बनी जिसने पारस्परिक वार्ता द्वारा भारत के साथ सम्बन्ध सुधारने का प्रयास किया। जून 1972 के अन्त मे एक शिखर सम्मेलन के आयोजन का निश्चय हुआ। *3 जुलाई 1972 को भारत एव पाकिस्तान के बीच शिमला समझौते* पर हस्ताक्षर किए गये। जिनकी प्रमुख व्यवस्थाए है

1 भारत और पाकिस्तान की सरकारें पारस्परिक विवादो को समाप्त करने और उपमहाद्वीप म स्थायी शान्ति के लिए कार्य करेंगी।
2 अपन मतभेदों को द्विपक्षीय वार्ता द्वारा शान्तिपूण उपायों से हल करने का प्रयास करेंगी।
3 दोनो देश परस्पर घृणापूण प्रचार नही करेंगे।
4 सम्बन्धों का सामान्यकरण के लिए (1) डाक तार सेवा एव सचार

व्यवस्था पुन स्थापित की जाएगी।

(ii) नागरिको का आन जान की सुविधाए दी जाएगी।

(iii) व्यापारिक एव अन्य आर्थिक मामलो म सहयोग का क्रम अतिशीघ्र प्रारम्भ होगा। विज्ञान एव सास्कृतिक क्षेत्रो मे आदान प्रदान बढाया जायेगा।

5 स्थायी शान्ति की स्थापना के सम्भ म दोनो सरकारें सहमत हैं कि—

(i) भारत और पाकिस्तान की सेनाए अपनी अन्तराष्ट्रीय सीमाओ म लौट जायेंगी।

(ii) दोना देश बिना परस्पर हानि पहुचाए जम्मू काश्मीर मे 17 दिसम्बर 1971 को हुए युद्ध विराम की नियत्रण रेखा को मान्यता देंग।

(iii) सेनाओ की वापिसी इस समझौते के लागू होने क 30 दिन के अन्दर पूरी हो जाएगी।

6 दोनो देशा की सरकारें इस बात पर सहमत है कि उनके राष्ट्राध्यक्ष उचित अवसर पर पुन भेंट करेंगे। इस बीच दोनो देशो के प्रतिनिधि शान्ति स्थापना और सम्बन्ध बनाने के लिए आवश्यक व्यवस्थाओ के बारे म विचार विमश करेंगे।

शिमला समझौता भारत पाक युद्ध के बाद भारत की उपमहाद्वीप म शान्ति स्थापित करन की इच्छा का प्रतीक है यद्यपि जनसघी नता श्री वाजपेयी ने जीती हुई भूमि को लौटाने के निर्णय का विरोध किया।

पाकिस्तान द्वारा बन्दी भारतीय नागरिको को मुक्त कर दिया गया यद्यपि ऐसी खबरें भी आती है कि सभा बन्दी वापस नही किए गये हैं। पाकिस्तानी युद्धबन्दियो एव अन्य मानवीय समस्याओ पर 28 अगस्त 1973 को नई दिल्ली समझौता हुआ। इस समझौते द्वारा पाकिस्तान से सभी बगालियो और बगला देश से काफी सख्या म पाकिस्तानी नागरिको और भारत से 195 युद्धबन्दियों को छोडकर शेष सभी युद्धबन्दियो की जल्दी ही अदला-बदली करने का निर्णय किया गया।

पाकिस्तान न बगलादेश को फरवरी 1974 को कूटनीतिक मान्यता दे दी और फिर बगला देश न इस्लामिक सम्मेलन म भाग लिया। भारत, बगलादेश एव पाकिस्तान के विदेश मन्त्रियो न 9 अप्रल 1974 को नई दिल्ली म द्विपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर किए।

भारत द्वारा परमाणु विस्फोट (18 मई 1974)

भारत ने स्वतन्त्रता के बाद से ही शान्तिपूर्ण कार्यों के लिये परमाणु शक्ति

के प्रयोग की नीति रखी है। परमाणु आयोग की स्थापना के साथ ही भारत ने परमाणु तकनीक एवं विज्ञान के क्षेत्र में विकास के प्रयास प्रारम्भ कर दिये थे। यद्यपि भारत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निःशस्त्रीकरण का समर्थन करता है और परमाणु आयुधों की दौड़ का समाप्त करवाना चाहता है। किन्तु इसने परमाणु प्रसार निरोध संधि (एन० पी० टी०) 1968 पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं। इस पर हस्ताक्षर नहीं करने वालों में पाकिस्तान एवं चीन भी सम्मिलित हैं। भारत इस संधि को भेदभाव पूर्ण समझता है और उसका मत है कि इस संधि को लागू करने से पूर्व जिन देशों के पास परमाणु आयुध हैं उनके द्वारा आयुध निर्माण पर भी रोक लगानी चाहिए।

18 मई 1974 को भारत ने राजस्थान में पोकरण नामक स्थान पर प्रथम (सफल) परमाणु परीक्षण किया जो भारत की विज्ञान एवं तकनीक में प्रगति का द्योतक है। पाकिस्तान ने इसके प्रति तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की और भुट्टो ने घोषणा की कि यदि भारत परमाणु बम बना सकता है तो पाकिस्तान भी परमाणु बम बनाएगा चाहे उसे घास पात खाकर जीवित रहना पड़े। पश्चिम के परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र अर्थात् अमरिका, कनाडा आदि भी भारत की इस सफलता से प्रसन्न नहीं हुए यद्यपि प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने स्पष्ट कर दिया कि भारत अणुशक्ति का विकास शांतिपूर्ण एवं रचनात्मक उद्देश्यों के लिए करना चाहता है। इससे भारत एवं अमेरिका के बीच भी तनाव उत्पन्न हुआ।

श्रीमती गांधी के युग में भारत-अमेरिका सम्बन्ध

राष्ट्रपति जोनसन के निमन्त्रण पर मार्च 1966 में श्रीमती गांधी अमेरिका की यात्रा पर गयी। किन्तु अमरिका ने भारत की आर्थिक कठिनाइयों का लाभ उठाने का प्रयास किया। उनके दबाव पर ही रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा जिसने भारत की साख को ठेस पहुंचायी। अमेरिका ने भारत की आर्थिक सहायता में 1968 में कटौती की। दोनों देशों के बीच सम्बन्धों में तनाव का प्रमुख कारण वियतनाम की समस्या भी थी। प्रारम्भ से ही भारत द० पूर्वी एशिया में नव साम्राज्यवाद का विरोध कर रहा था। भारत ने वियतनाम पर अमेरिकी बमबारी की आलोचना की। जनवरी 1970 में भारत द्वारा उत्तरी वियतनाम की सरकार के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए गए जिससे तनाव और बढ़ा।

1971-72 में अमेरिका सम्बन्धों में बहुत बिगाड़ आया जिसका प्रमुख कारण था बंगला देश संकट। अमेरिका ने 'युद्धपोत राजनय" (गनबोट डिप्लोमैसी) की चाल चलकर 'सातवें बेड़े' (सेवेन्थ फ्लीट) को बंगाल की खाड़ी में

भेजा। किन्तु अमरीकी कूटनीति पूरी तरह असफल हो गई। 1973 मे अमेरिका ने पाकिस्तान को सनिक सहायता देन का निश्चय किया। अमेरिका द्वारा हिंद महासागर मे डियोगा गार्सिया द्वीप म अपना नौसैनिक अड्डा स्थापित करन के निणय से सन 1974 मे भारत और अमेरिका क सबन्धो को पुन आघात लगा। भारत अमेरिका सयुक्त आयोग की बैठक 1975-76 मे भी आयोजित की गई। भारत ने अमेरिका क साथ सहयाग एव समझौते के प्रयास जारी रखे। कार्टर क राष्ट्रपति बनने के बाद भारत अमेरिका सबन्ध सुधारने के प्रयास फिर किए गए। दिवगत राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद की अन्त्येष्टि पर राष्ट्रपति कार्टर की मा श्रीमति लिलियन कार्टर के नेतत्व मे एक प्रतिनिधि मण्डल भारत भेजा गया था।

चीन से सम्बन्ध सुधार का प्रारम्भ

1962 के सैनिक सघर्ष के बाद भारत एव चीन के सबन्धो म ठहराव आ गया और बीच बीच म सीमा पर गडबडी होती रही लेकिन 1970 से ही चीन ने भारत विरोधी प्रचार कम कर दिया। रूस और भारत के बढते हुए सहयोग के कारण भी चीन को अपनी नीति परिवर्तित करनी पडी। बगला देश समस्या के कारण भारत चीन सबन्ध पुन बिगडे और भारत सोवियत सघ स चीन और परेशान हो गया। 29 अप्रैल 1975 को चीन द्वारा एक वक्तव्य प्रसारित किया गया जिसम कहा गया कि भारतीय सघ मे सिक्किम को राज्य का दर्जा दिया जाना अवध अधिग्रहण है।

1976 म भारत चीन सबन्धो म सुधार होन लगा। अप्रल 1976 म भारत न चीन मे अपना राजदूत नियुक्त किया और सितम्बर म चीन राजदूत ने भी भारत म अपना पद ग्रहण किया। इसके बाद विभिन्न प्रकार के प्रतिनिधि मण्डलो का आवागमन भी प्रारम्भ हो गया।

जनता सरकार की परराष्ट्र नीति (मार्च 1977 से 1979)

भारत मे आतरिक आपातकाल के पश्चात प्रजातात्रिक माध्यम स सत्ता परिवतन हुआ और प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई एव विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी न भारतीय परराष्ट्र नीति के आधारभूत सिद्धान्तो को बनाये रखने पर बल दिया।[5] जनता सरकार ने 'असली गुटनिरपक्षता' (जेनुइन नान अलाईमेंट) अथवा सच्चे अर्थो म गुट निरपक्षता पर बल दिया। यह स्पष्ट कर दिया गया कि भारत की परराष्ट्र नीति म मौलिक परिवतन नही होगा।

न्यूयार्क म 4 अक्तूबर 1977 को सयुक्त राष्ट्र महासभा म भाषण करते हुए परराष्ट्र मन्त्री श्री वाजपेयी ने स्पष्ट किया "नई सरकार के शासन मभालने

ही न केवल गुट निरपेक्षता के मार्ग पर चलते रहने की अपितु उसके मौलिक तथा सकारात्मक रूप को पुन प्रतिष्ठित करने की घोषणा की। यह सतोष का विषय है कि वास्तविक गुटनिरपेक्षता पर हमारे द्वारा दिए गए जोर और उस नीति मे उत्साह एव गतिशीलता से आगे बढ़ने मे हमारे निर्णय को सही अर्थों मे देखा और समझा गया है।"

पडोसियो से सम्बध सुधार

जनता सरकार ने पाकिस्तान, नेपाल, अफगानिस्तान, श्री लका, बगला-देश आदि से सम्बध सुधारने के प्रयास किए। अप्रल 1977 म श्री वाजपेयी द्वारा पाकिस्ताम के समक्ष युद्ध न करने के समझौते का प्रस्ताव रखा गया। सर-कार ने यह विश्वास भी व्यक्त किया कि भारत पाक सौहार्द नीति को प्रोत साहन दिया जाना चाहिए। भारत ने पाकिस्तान के आंतरिक मामलो म अहस्त-क्षेप की नीति का पालन किया। पाकिस्तान म सनिक शाही स्थापित होन के बाद भूतपूर्व प्रधानमत्री भुट्टो पर मुकदमा चलाया गया और जब अप्रैल 1979 म उन्हे फासी दी गई तब भी श्री देसाई ने कोई अपील जारी न कर दूसरो के मामलो मे हस्तक्षेप न करने के रवय का एक कठमुल्लापन दिखाया। इस शैली की भारत की आम जनता ने भत्सना की। राष्ट्रपति रेड्डी न अपनी ओर से 'अपील' करना उचित समझा। अपील न करने के इस 'वचन दारिद्रय' ने जनता दल के अमानवीय स्वरूप' को उदघाटित किया था।

पाकिस्तान से सलाल समझौता

अप्रल 1978 मे पाकिस्तान के वैदेशिक मामलो के सलाहकार श्री आगा-शाही की भारत यात्रा के समय सलाल पन बिजली परियोजना के जरिये एक पनबिजली परियोजना पर हस्ताक्षर हुए। भारत एव पाकिस्तान के बीच व्यापार मे भी वृद्धि की गई। प्रधानमत्री देसाई एव विदेशमत्री वाजपेयी न अक्टूबर, 1977 म मास्को की यात्रा की जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि जनता सरकार न केवल अमेरिका से घनिष्ठ सम्बध बनाए रखना चाहती थी बल्कि सोवियत सघ के साथ भी अच्छे सम्बध बनाए रखनी चाहती थी।

जिमी कार्टर की भारत यात्रा

जनवरी 1978 मे राष्ट्रपति कार्टर ने भारत यात्रा की जिसके सयुक्त घोषणा पत्र मे कई समान सिद्धातो का उल्लेख किया गया था। दोनो पक्षो ने स्वीकार किया कि पश्चिमी एशिया की समस्याओ का व्यापक, न्यायोचित एव स्थायी समाधान निकालने की तात्कालिक आवश्यकता हैं। अफ्रीकी जनता के

आत्मनिणय और बहुमत शासन की उचित आकाक्षाओ के प्रति समथन व्यक्त किया गया और सभी रूपो मे नसलवाद की निन्दा की गई। दोनो पक्षों ने दुनिया के औद्योगिक और विकासशील राष्ट्रो के बीच सम्बन्धो की समीक्षा की।

यो तो भारत अमेरिका के बीच सम्बन्ध सुधारने की सम्भावना बढती दिख रही थी, पर तारापुर के लिए भारी पानी के बारे म (यूरेनियम) और भारत द्वारा एन० पी० टी० पर हस्ताक्षर न करने से सम्बन्धित विवाद से खटपट बनी रही। अमेरिका न 1979 मे भारत को यह आश्वासन दिया कि वह पाकिस्तान को अणुशक्ति विस्फोट के कायक्रम को आगे बढान से रोकन की गभीर कोशिश करेगा।

भारत और श्रीलका सबध

भारत के दक्षिण और हिन्द महासागर म स्थित यह द्वीप भू राजनीतिक दृष्टि से भारत के लिए महत्वपूण है। जिसे मई 1972 से श्रीलका गणराज्य कहा जाता है। भारत और श्रीलका के बीच श्रीलका मे रहने वाले भारतीय मूल के नागरिको की और कच्चाटीवू द्वीप की समस्या रही है। कच्चाटीवू द्वीप के बारे मे जून 1974 मे समझौता किया जा चुका था और इसे श्रीलका के अधिकार क्षेत्र म मान लिया गया। जुलाई 1977 मे श्रीलका मे भण्डारनायके का पतन हो गया और श्री जयवर्धन ने सत्ता सम्भाली। श्रीलका म तमिल विरोधी दगे हो गए जिनसे प्रभावित होने वाले लोगो को भारत ने भी धन-राशि दी। अक्टूबर 1978 मे राष्ट्रपति जयवधन ने भारत की यात्रा की और फरवरी 1979 म प्रधानमन्त्री देसाई—श्रीलका की यात्रा पर गए। दोनो देशो के बीच व्यापार एव आर्थिक सहयोग को निरन्तर बढाया गया हैं।

बगला देश के साथ फरक्का समझौता

भारत न फरक्का बाध पर पानी के बटवारे के सम्बन्ध म बंगलादेश के साथ 5 नवम्बर 1979 को ढाका मे हस्ताक्षर किए। यह विवाद पिछले कई वर्षो से बना हुआ था।

22 जून 1978 को भारत इण्डोनेशिया और थाइलड न एक त्रिशक्ति समझोते पर हस्ताक्षर किए जिसके द्वारा अण्डमान सागर मे समुद्री सतह का स्थायी रूप से सीमा निर्धारण कर दिया गया।

जनता सरकार पश्चिमी एशिया मे अरब देशों का समथन करती रही। जनता सरकार की विदेश नीति को श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने निरन्तरता

एव परिवतन के साथ राष्ट्रीय सहमति की विदेशनीति कहा किन्तु वह भारतीय परराष्ट्र नीति को अधिक यथार्थवादी आधार नही दे पाए। यद्यपि इन्होने पड़ोसियो के साथ सम्बन्धो की दृष्टि से कई देशो की यात्राए कीं। औपचारिक रूप से सम्बन्ध सुधार की घोषणा के बावजूद भी न तो भारत के साथ पाकिस्तान की प्रतिस्पर्द्धा ही कम हुई और न ही बगला देश के भारत विरोधी रुख म परिवतन आया। 1979 के प्रारम्भ से जनता दल म आतरिक शक्ति सघर्ष तीव्र हो गया। जुलाई 1979 म चौधरी चरणसिंह कार्यवाहक प्रधानमंत्री बने और जनवरी 1980 तक भारतीय विदेश नीति को सर्वोच्च नेतृत्व द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रस्तुत नही किया जा सका।

लुसाका राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन मे भारत अकेला पड गया तथा हवाना के छठे असलग्न राष्ट्राध्यक्ष सम्मेलन मे भारत का प्रधानमन्त्रीय स्तर पर प्रतिनिधित्व ही नही हो पाया और पिछले अधिवेशनो मे नेतृत्व करने वाले भारत की आवाज अनसुनी कर दी गई।

भारत ने चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने का प्रयास किया था लेकिन श्री वाजपेयी की चीन यात्रा के समय चीन ने वियतनाम पर आक्रमण कर दिया जिससे कि भारतीय विदेश मंत्री को बीच म ही यात्रा समाप्त कर लौटना पडा। जनता सरकार की अधिक असफलताए आन्तरिक क्षेत्र मे थी। जितना समय उसे मिला उतने मे उसने अन्य देशों की सरकारो के साथ सम्बन्ध बनाने और विवादो और समस्यायो को समझकर उनके लिए वार्ताए करने का प्रयास किया। कई दलो का गठबन्धन होने के कारण जनता दल की नीतियों मे भी अधिक स्पष्टता नही थी और आन्तरिक शक्ति राजनीति के कारण इस दल का विघटन हो गया और मध्यावधि चुनाव कराये गये।

इंदिरा गाधी का पुनरागमन और 1980 से भारतीय परराष्ट्र नीति

जनवरी 1980 मे मध्यावधि चुनावो मे इन्दिरा कांग्रेस भारी बहुमत से विजय हुई और श्रीमति गाधी भारत की पुन प्रधान मन्त्री बनी। उनके नेतृत्व म एक स्थिर राजनीतिक सरकार की स्थापना हुई और उन्होने भारत की परराष्ट्र नीति को बदली हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो मे नई दिशा देना प्रारम्भ किया।

दक्षिणी पश्चिमी एशिया में तनाव एव शीत युद्ध

दिसम्बर 1979 मे जब अफगानिस्तान के निमन्त्रण पर सोवियत सघ के सैनिक वहा पहुचे। दक्षिणी पश्चिमी एशिया म महाशक्तियो की प्रतिस्पर्द्धा तीव्र बन गई। भारत ने दिसम्बर 1980 में श्री ब्रेझनेव की भारत यात्रा के

समय अफगानिस्तान के सम्बन्ध मे अपना मत वैभिन्य प्रकट किया । सोवियत पक्ष से सहमत न होते हुए भी भारत सोवियत की निन्दा करने की नीति को ठीक नही समझता क्योंकि फौजें वहा अफगान शासन के निमन्त्रण पर ही आई और पाकिस्तान से हो रही कारवाईया उनकी उपस्थिति को स्थायी बना रही है ।

अफगानिस्तान की समस्या एव भारत

भारत ने अफगानिस्तान म सोवियत सैनिको के आगमन का उतना तीव्र विरोध नहीं किया जितना कि पश्चिमी देशा ने किया है जिन्होने उसे हस्तक्षेप की सज्ञा दी। किन्तु अफगानिस्तान की घटनाआ क कारण भारत के सुरक्षा वातावरण मे बहुत परिवतन आया है। भारत के राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यह महत्वपूण है कि ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न न हों जिससे दक्षिणी एशिया मे शीतयुद्ध निरन्तर चलता रहे। सोवियत सघ से मैत्री के सदभ म भारत ने अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिक उपस्थिति का विरोध न करन मे बडे सयम से काम लिया है किन्तु भारत अफगानिस्तान म सोवियत नीति को पूरा समथन भी नहा दे सकता है। अफगानिस्तान के सम्बन्ध म ब्रझनेव यात्रा के समय भी सहमति नही हो सकी तथा दोना देशो की सयुक्त विज्ञप्ति म अफगानिस्तान का उल्लेख भी नहीं किया गया। अमेरिका इसे अफगानिस्तान म सोवियत हस्तक्षेप मानता है और इसे सोवियत विस्तारवाद के खतरे के रूप म प्रस्तुत कर रहा है और पाकिस्तान को प्रमुख अग्रवर्ती राष्ट्र बतलाकर उसे 3 2 अरब डालर की आर्थिक एव सनिक सहायता दिये जाने की घोषणा रीगन प्रशासन कर चुका है। अमेरिका पाकिस्तान को एफ 16 किस्म क अत्याधुनिक लडाकू विमान भी देगा जो दूर तक मार कर सकते हैं। इससे भारत और पाकिस्तान के बीच सम्बन्धों मे तनाव पदा हो गया है और भारत को अपन सुरक्षा बजट मे मजबूरन वृद्धि करनी पड रही है। भारत को इसम सन्देह नहीं है कि यह सारी अमरीकी मदद भारत के विरुद्ध ही काम मे ली जायेगी, जैसा प्रधानमत्री इदिरा गाधी ने स्पष्ट किया कि पाकिस्तान सावियतो से तो लडन स रहा। उल्टा वह उन्हे आश्वस्त कर रहा है कि वह सोवियत से मैत्री सम्बन्ध चाहता है। इन हथियारो का प्रयोग केवल भारत के विरुद्ध ही होगा जैसा पहले भी हुआ।

पाकिस्तान का आणविक कायक्रम एव इस्लामिक बम

पाकिस्तान उन थोडे से मुस्लिम देशो मे है जो पिछले कुछ वर्षों से आणविक क्षमता प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं। 1971 के उपरान्त उसकी क्षमता लगभग 70 प्रतिशत बढ़ गई है। अमेरिका की काग्रेस की विशेष

के समक्ष ये तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं कि पाकिस्तान कराची के पास इस प्रकार की परमाणु भट्टी चला रहा है जिससे भविष्य म परमाणु विस्फोट किया जा सके और परमाणु हथियार भी बनाए जा सकें। इस सन्दभ मे कई अरब देश पाकिस्तान द्वारा परमाणु कायक्रम पर आर्थिक कठिनाइया के बावजूद अरबों डालर व्यय किया जाना भारत से उसकी हठधर्मिता पूण प्रतिस्पर्द्धा का ही परिचायक है। यह कायक्रम भारत के लिए भी सुरक्षात्मक दृष्टि से महत्वपूण परिणाम उत्पन्न कर सकता है। भारत और पाकिस्तान दोना ही यदि परमाणु हथियारो का निर्माण करन लगें तो यह इस उपमहाद्वीप की शान्ति एव सुरक्षा के लिए स्थायी खतरा पदा कर सकता है।

हिन्द महासागर मे महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा

1970 से ही अमेरिका द्वारा डिएगो गार्सिया म नौसनिक अड्डा स्थापित करन के प्रयासो से ही हिन्दमहासागर मे महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन मिला। भारत हिन्द महासागर मे बाहरी हस्तक्षेप का निरतर विरोध करता रहा है और सयुक्त राष्ट्र सामान्य सभा द्वारा पारित 1971 के उस प्रस्ताव का समथक है जिससे हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाये रखने की स्पष्ट व्यवस्था की गई है।

भारत गुटनिरपेक्ष आदोलन के विभिन्न सम्मेलनो म भी इस प्रस्ताव के पक्ष के जनमत तैयार करता रहा है और शिखर सम्मेलनो द्वारा हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाये रखने के प्रस्ताव भी पारित किए गए है।

अफगानिस्तान म सोवियत सनिक उपस्थिति के बाद 1981 मे अमेरिका ने डिएगो गार्सिया मे अपनी नौसनिक उपस्थिति म और वद्धि कर दी है। अरब सागर मे अमेरिका के 32 से भी बडे जहाज एव 13 छोटे जहाज है जिनमे विमान वाहक युद्धपोत भी शामिल हैं। सोवियत सघ के इस क्षेत्र म 13 युद्धपोत तथा 17 से भी अधिक हवाई जहाज हिन्द महासागर म है। इन गतिविधियों से भारत की सुरक्षा व्यवस्था को भी गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है। दोनो महाशक्तियो की निरतर बढती हुई नौसनिक गतिविधिया न केवल भारत अपितु हिन्द महासागर के अन्य छोटे तटवर्ती राष्ट्रो की स्वतन्त्रता के लिए गम्भीर चुनौती उत्पन्न करती है और शान्ति क्षेत्र की स्थापना मात्र एक प्रस्ताव रह गया है।

भारत चीन सम्बन्ध-सीमा विवाद पर वार्ता

यद्यपि अफगानिस्तान म सोवियत सनिक उपस्थिति के बारे मे चीन और अमेरिका की नीति समान है तथापि चीन दक्षिणी एशिया मे भारत जसे प्रमुख

राष्ट्र के साथ सम्बध सुधार की प्रक्रिया को आगे बढ़ाना चाहता है और यह डॅग सिआओ पिंग के सत्ता मे शक्तिशाली हो जाने के बाद उनकी यथार्थवादी नीति का भी भाग है। चीन जहा एक ओर भारत से सम्बध सुधार कर सोवियत सघ पर भारत की निर्भरता कम करना चाहता है वहीं दूसरी ओर इससे दक्षिणी एशिया मे सोवियत सघ का प्रभाव कम करने की रणनीति भी चला रहा है। जून 1981 मे चीन के विदेश मन्त्री हुआॅग हुआ ने भारत यात्रा की तथा दोनो देशों के बीच सम्बध और घनिष्ठ बनाने के माग म आने वाली बाधाओ पर भी विचार विमश किया। इसके बाद भारत का एक उच्चस्तरीय प्रतिनिधि मण्डल विदेश मत्रालय मे सचिव श्री गोसाल्वेज के नेतृत्व मे चीन गया और वहा चीनी नताआ स भारत चीन सम्बधा के विभिन्न पक्षो पर विचार विमश किया। भारत और चीन के व्यापारिक आर्थिक सास्कृतिक और अय क्षेत्रो मे सम्ब ध घनिष्ठ बनाने के लिए वातावरण तैयार किया गया। किन्तु भारत चीन के बीच जो हजारो मील की भूमि सबधी विवाद है उसके समाधान की दिशा म ठोस सकेत नही मिल पाये हैं।

अक्षय चीन क्षेत्र पर चीनी दावा

भारत चीन भूमि विवाद म चीन ने नवीन प्रस्तावों मे यह भी रखा है कि भारत यदि अक्षय चीन का क्षेत्र चीन के अधिकार मे छोड देता है तो चीन भारत के अय क्षेत्रो को लौटाने पर विचार कर सकता है। भारत और चीन के बीच द्विपक्षीय वार्ताओ का द्वितीय दौर नई दिल्ली म 17 मई 1982 से प्रारम्भ हुआ जिसका नेतत्व चीन के उप विदेश म त्री फु हा ओ ने किया। चीन के प्रतिनिधि मडल म 11 सदस्य थ। इन वार्ताआ मे विशेषकर सीमा विवाद के जटिल प्रश्न को सुलझाने के बारे मे विचार विमश किया गया। चीन के द्वारा मेकमोहन रेखा को आधार रेखा माने जाने मे भी अभी सदेह है। चीन द्वारा जो जिनेवा प्रस्ताव (कुछ क्षेत्रो को भारत द्वारा चीन को दिये जान और बदले मे चीन द्वारा भारत को भूमि दिये जाने से सम्बधित) प्रस्तुत किया गया था। उस पर भी मई 1982 की वार्ताओ मे विचार किया गया। अभी तक दोनो देशो के बीच सीमा विवाद का शीघ्र समाधान तो सभव नहीं लगता क्योंकि इसमे कई जटिल प्रश्न हैं किन्तु आर्थिक, तकनीकी, सास्कृतिक और वज्ञानिक क्षेत्रो मे पारस्परिक सहयोग मे अभिवृद्धि पर अवश्य प्रगति हुई है। भारतीय विदेश मन्त्री नरसिंहराव ने चीन यात्रा का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है। यात्रा की तिथि की घोषणा बाद मे की जाएगी।

यदि भारत और चीन जैसे विशाल क्षेत्र और जनसख्या वाले देशों म पारस्परिक तनाव कम होते हैं और सहयोग के क्षेत्र विकसित होते हैं तो इससे एशिया

की क्षेत्रिय राजनीति मे भी परिवतन की सम्भावनाए है तथा साथ ही भारत चीन सम्ब ध सुधार का अ तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पर भी प्रभाव पडेगा।

रीगन प्रशासन से भारत के सम्ब-ध

भारत और अमेरिका के सम्ब धो म सुधार तनाव आते रहे है कि तु सोवियत सघ की अफगानिस्तान मे सनिक उदारनीति क नाम पर राष्ट्रपति रीगन द्वारा पाकिस्तान को 3 2 अरब डालर की सैनिक और आर्थिक मदद की घोषणा से भारत अमेरिका सम्ब धो पर बुरा प्रभाव पडे बिना नही रह सकता। पाकिस्तान यदि एफ-16 किस्म के विमान प्राप्त करता है तो उससे भारत को भी अपनी सै य स्थिति को मजबूत बनाने के लिए फास से मिराज 2000 प्रकार प्रकार के विमान खरीदने को मजबूर होना पडता है। यह सौदा श्रीमती गांधी की 1981 है फास यात्रा के बाद किया गया।

तारापुर यूरोनियम विवाद

1981 से अमेरिका ने 1963 के द्विपक्षीय समझौते के आधार पर तारा पुर परमाणु सय त्र के लिए यूरेनियम सप्लाई ब द कर दी है। इससे भारत और अमेरिका के बीच न केवल तनाव मे वृद्धि हुई है अपितु अविश्वास भी बढा है। नई दिल्ली और वाशिगटन मे तारापुर सयन्त्र भारीपानी समझौते के बारे मे कई बार वार्ताए हुई है कि तु भारत और अमेरिका ने उस समझौते को विधिवत समाप्त नही किया।

भारत को अ तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा दिए जान वाले 5 8 अरब डालर के सबसे अधिक धनराशि के ऋण का भी सर्वाधिक विरोध अमेरिका द्वारा ही किया गया फिर भी यह ऋण भारत के लिए स्वीकृत हो गया है जिससे भारत को आर्थिक स्थिति को सुधारन मे मदद मिलेगी।

भारत और अमेरिका के सम्ब धों म तनाव होते हुए भी श्रीमती गाधी की अमेरिका यात्रा जुलाई 1982 म निश्चित की गई थी जिसम उ होन राष्ट्रपति रीगन से अ य द्विपक्षीय मामलो पर और अ तर्राष्ट्रीय मुद्दो पर बातचीत की है और ऐसा लगता है कि पाकिस्तान को दी जाने वाली सनिक सहायता के मामले म रीगन पुनर्विचार को तैयार नही है, पर अ य छोटे मोटे मामलो मे उनका रुख भारत के लिए नरम रहेगा। मसलन मुद्राकोष के ऋण, तारापुर ईधन इत्यादि।

भारत और नवीन अ तर्राष्ट्रीय अथ व्यवस्था

साम्राज्यवाद और उपनिवशवाद के युग से अ तर्राष्टीय अथ व्यवस्था पर

धनी औद्योगिक देशो का प्रभुत्व रहा है। 20वी शताब्दी के मध्य से एशिया और अफ्रीका राज्यो की स्वतन्त्रता की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जो कि आज सख्या मे सयुक्त राष्ट्र सघ मे दो तिहाई बहुमत रखते हैं। इन देशो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय अथ व्यवस्था म परिवतन की माग की जा रही है और यह माग अथव्यवस्था को अधिक समानतावादी और न्यायपूण बनाने के लिये है। भारत भी विकासशील देशा म एक है और वह भी इस माग को विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मचा पर उठाता रहा है। 1970 से ही अक्टाड गुट निरपेक्ष आदोलन के शिखर सम्मेलना और सयुक्त राष्ट्रसघ म इस प्रकार के प्रतसव पारित किये जाते रहे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय अथव्यवस्था मे सरचनात्मक परिवतन किये जायें और उसे अधिक न्याय पूण बनाया जाये। भारत ने 1974 मे सयुक्त राष्ट्र महासभा के विशेष अधिवेशन मे नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अथव्यवस्था की माग का समथन किया।

भारत "77 के समूह" (विकासशील देशो द्वारा अपनी समस्याओ के सदभ मे स्थापित विचार विमर्श का समूह जिसके लगभग 125 सदस्य है) का प्रमुख सदस्य राष्ट्र है और यह इसका कई वर्षों तक अध्यक्ष भी रहा है। भारत ने विकसित देशो को इस बात के लिये आगाह किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय अथव्यवस्था मे गरीब देशो का शोषण समाप्त किया जाए और उनको अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म उचित भागीदारी प्रदान की जानी चाहिए।

भारत सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा स्थापित विलीब्राट आयोग का भी सदस्य रहा है जिसमे श्री एल० के० झा एक सदस्य थे। इस आयोग ने 1980 म अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमे साधनो और लाभो के उचित वितरण पर बल दिया गया और यह सुझाव भी प्रस्तुत किया गया कि उत्तर-दक्षिण के देशों (अमीर व गरीब देशो के बीच अन्तर्राष्ट्रीय अथव्यवस्था म सुधार के लिए वार्ताए जारी रखनी चाहिए जिससे भविष्य मे उत्पन्न होने वाले आर्थिक तनावो को कम किया जा सके)।

उत्तर व दक्षिण के राज्यो के बीच आर्थिक सम्बन्ध सुधारने के लिए प्रयासो म उत्तरी (धनी) देशो के सरक्षण के बाद के कारण विशेष प्रगति नही हो पाई है फिर भी वार्तालापो को आगे बढ़ाने के लिए प्रयास जारी रहे हैं। 22 से 24 अक्टूबर, 1981 को कानकून (मेक्सिको) मे विकसित व विकासशील देशो मे स 22 देशो के राष्ट्राध्यक्षो का शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमे भारत की प्रधान मत्री श्रीमती गाधी ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन म विकसित देशो द्वारा विकासशील देशो को अधिक सहायता और सहयोग दिये जाने पर बल दिया गया। भारत द्वारा विकसित देशों से अपील की गई कि वे अपनी सरक्षणवादी नीतिया छोड दें।

1982 के प्रारम्भ मे नई दिल्ली मे दक्षिण के विकासशील देशो का सम्मेलन आयाजित किया गया जिसम कई देशा के प्रतिनिधियो ने पारस्परिक समस्याओ पर विचार विमश किया। सम्मेलन मे भारत ने इस बात पर बल दिया कि तीसरी दुनिया के विकासशील देशो को सामूहिक आत्मनिभरता मे वृद्धि करनी चाहिए और विकसित देशो के कठोर रवैये के प्रति सजग रहना चाहिए। भारत ने विकासशील देशो को अपने देश मे उपलब्ध तकनीकी जानकारी और सहायता प्रदान करन का आश्वासन भी दिया। लेकिन कई लोगो की मायता है कि इस सम्मेलन के कोई विशिष्ट परिणाम नही निकले और इसमे केवल विदेश सचिवो क स्तर पर कुछ ही देशो का औपचारिक विचार विमश हुआ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बहुत सी बाधाओ के होते हुए भी भारत नवीन अतर्राष्ट्रीय अथ यवस्था की स्थापना की माग का समथन करता रहेगा और विभिन अतर्राष्ट्रीय मचो पर भारत दक्षिण के विकासशील देशो की आवाज को बुलन्द करता रहगा। भारत न विभिन क्षेत्रा मे विशेषज्ञा के समवय ग्रुप स्थापित करन का भी सुझाव दिया है जिस पर भविष्य म भी विचार किया जायगा।

भारत और पडौसी राष्ट्र

श्रीमती गाधी के सत्ता मे वापस आन के बाद भारत और उसके पडौसी देशो के बीच सम्पक सूत्रो को बराबर बनाये रखा गया है। भारत और नपाल के बीच व्यापारिक सम्बध और अधिक बढाये गये हैं। यद्यपि बगला देश म सत्ता परिवतन हुआ है किन्तु भारत ने इस सदभ मे अहस्तक्षेप की नीति का पालन किया है।

न्यूमर द्वीप विवाद

बगाल की खाडी म हाल ही मे उभरा द्वीप भारत और बगला देश के बीच विवाद का प्रमुख विषय बन गया है। बगला देश इसे तलपटटी द्वीप कहता है तथा इस पर अपना दावा करता रहा है। बगला देश की नौकाए भी इस द्वीप के आस पास देखी गई थी। इस द्वीप पर भारत का अधिकार है और यह समुद्री सर्वेक्षण के अनुसार भी भारत के निकोबार द्वीप समूह के अधिक समीप है। भारत ने इस सदर्भ म पारस्परिक वार्ता द्वारा तनाव को कम करने का भी प्रयास किया है और विदेश मत्री नरसिंहराव ने बगला देश की यात्रा भी की लेकिन बगला देश के नये माशल ला प्रशासक जनरल इरसाद न अपनी एक घोषणा म कहा है कि उन्हाने यूमर द्वीप पर बगला देश का दावा छोडा नही है।

भारत और बगला देश के मध्य गगा नदी के पानी के बटवारे के बारे मे विवाद भी नही सुलझाया जा सका है। फरक्का बाध के सम्बध म 1977 में जा समझौता किया गया था उससे वतमान सरकार पूणत सहमत नही है।

भारत और पाकिस्तान तथा भारत और चीन के सम्बधो मे भी परिवतन की सम्भावनाए ह। जहा एक ओर महाशक्तियो के हस्तक्षेप के कारण दक्षिणी एशिया म तनाव बना हुआ है वही दूसरी ओर भारत और पाकिस्तान के बीच अनाक्रमण समझौते के बारे म वार्तायें चल रही है तथा भारत और चीन पारस्परिक तनावो को कम करन और सीमा विवाद को सुलझाने के प्रयासो म रत है। इसस यह भी स्पष्ट है कि भारत न केवल दक्षिणी एशिया म अपितु सम्पूण विश्व म शाति चाहता है।

अक्टूबर 1981 म श्रीमती गाधी ने आशियान के दो देशा और टागा तथा फिजी की यात्रा की और अक्टूबर के प्रथम सप्ताह मे ही मलबोन राष्ट्रमण्डल म भाग लिया जहा विभिन्न अतर्राष्ट्रीय समस्याआ पर विचार विमश किया गया। श्रीमती गाधी ने इस सम्मलन म नवीन अतराष्टीय अथव्यवस्था के सदभ म विकसित देशा के दष्टिकोण म परिवतन की भी माग की।

8 नवम्बर से 15 नवम्बर, 1981 तक भारत की प्रधानमत्री न बलगारिया इटली और फ्रास की यात्रा की। फ्रास यात्रा के समय दोनों देशा के राष्ट्राध्यक्षो द्वारा नवीन अतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के बारे म समान दष्टिकोण प्रस्तुत किये गय तथा भारत न ऊर्जा क सदभ म फ्रास से सहयाग के लिए समझाते पर हस्ताक्षर किये। अब भारत और फ्रास के मध्य फ्रास द्वारा भारत को मिराज 2000 किस्म के 40 विमान दिये जाने का भी समझौता किया जा चुका है।

अप्रैल 1982 म श्रीमती गाधी ने सऊदी अरब की यात्रा की और दोनो देशों के पारस्परिक सम्बधो को और घनिष्ठ बनान पर बल दिया गया। भारत और सऊदी अरब न सयुक्त आयोग की भी स्थापना की। सऊदी अरब द्वारा भारत को अधिक तेल निर्यात का निणय किया गया।

भारत अमेरिका क द्विपक्षीय सम्बधो पर अमेरिका की विश्व व्यापी रणनीति का गभीर प्रभाव पडता रहा है। श्रीमती गाधी न 'इण्डिया टुडे' को अपन एक साक्षात्कार मे कहा है कि जिन देशो से मित्रता है उसे हम और घनिष्ठ बनाना चाहते हैं जहा नही है उसे हम उत्पन्न करना चाहते हैं और जहा विरोध है वहा सबधा को हम मधुर बनाना चाहते हैं।[1]

भारत अय देश म दूसरे देशो के सैनिक अथवा अय किसी भी प्रकार क हस्तक्षेप के विरुद्ध है। गत वर्षों म अफ्रीका और एशिया के देशा म जो सनिक

हस्तक्षेप और आतरिक विद्रोह को भडकाने वाली प्रवृत्तियो मे वृद्धि हुई है उसका प्रभाव अतर्राष्ट्रीय तनावो म जटिलता लाने के सदभ म अधिक पडता है। इससे सयुक्त राष्ट्र सघ भी व्यवहार म कमजोर पडा है, उसकी उपक्षा की गई है जो कि अनुचित है। भारत इजराइल द्वारा गोलन पहाडिया के क्षेत्र और गाजा पट्टी को अपने देश म मिलाने के निणय का कटु विरोधी रहा है और सयुक्त राष्ट्र म इस प्रकार के प्रस्ताव का भारत द्वारा समथन किया है। लेबनान म इजराइली नशस आक्रमण और फिलीस्तीनियो और लेबनानियो के जीवन, सपदा और नगरो को नष्ट करन की इजराइली राक्षसी कारवाई का भारत ने खुलकर और बहुत बुलदी से विरोध किया जब कि अनक अरब राष्ट्र दुर्भाग्यपूण चुप्पी साधे रह।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 1947 से अब तक भारत की विदेश नीति बदलती हुई अतर्राष्ट्रीय परिस्थितिया और राष्ट्रीय हितो के सदभ म निर्मित और व्यवहृत की गई है। उसे अधिकाधिक यथाथवादी बनाये जान का प्रयास किया गया है। भारत आज विकासशील देशो म प्रमुख औद्योगिक और तकनीकी ज्ञान तथा जनशक्ति सपन्न देश है।

भारत पाक सम्बन्ध

अनाक्रमण समझौते की राजनीति

आज भारत और पाकिस्तान के बीच सम्बन्धो मे सक्रमण की स्थिति है। पाकिस्तान और भारत के बीच बगला देश विवाद के बाद शिमला समझौता पारम्परिक सम्बन्धो का आधार बना। भारत न पाकिस्तान से छीनी हुई भूमि वापस लौटा दी और सम्बन्धो को सामान्य बनाने की प्रक्रिया आगे बढी। भुट्टो के शासन काल म भारत और पाकिस्तान के बीच सम्बन्ध थोडे सुधरे किन्तु कश्मीर की समस्या का शान्ति पूवक द्विपक्षीय आधार पर सुलझाने के लिए शिमला समझौते की शर्तों के अनुसार वचनबद्ध होते हुए भी पाकिस्तान ने इस विवाद को अतर्राष्ट्रीय मचो पर उठाने का प्रयास किया।

माच 1977 म जनता पार्टी का शासन स्थापित होन पर भारत ने पाकिस्तान से सम्बन्ध और सुधारने का प्रयास किया। जुलाई 1977 म पाकिस्तान म पुन सनिक तन्त्र स्थापित हो गया और पाकिस्तान ने भारतीय विदेश मत्री श्री वाजपेयी द्वारा रखे गए युद्ध न करने के समझौते के प्रस्ताव पर विचार टाल दिया। दोनो देशों के बीच व्यापारिक व सास्कृतिक सम्बन्ध सुधरते गय। 1978 म सलाल परियोजना के सम्बन्ध म एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। भुट्टो को फासी दिय जाने के समय भी भारत ने अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का पालन किया किन्तु पाकिस्तान द्वारा परमाणु विस्फोट करने की योजना

के सम्बन्ध मे समाचार मिलने पर भारत अवश्य चिंतित रहा।

अफगान सकट और पाकिस्तान को अमेरिकी सहायता से उत्पन्न तनाव

अफगानिस्तान म रूसी सैनिको के आगमन क बाद अमेरिका ने पाकिस्तान को सनिक और आर्थिक सहायता दने का नया प्रस्ताव किया। कार्टर द्वारा प्रस्तावित सहायता को जनरल जिया न ऊट क मुह म जीरा कहकर अस्वीकार कर दिया। लकिन 1981 म रीगन प्रशासन और पाकिस्तान के बीच एक समझौते के अनुसार अमेरिका से पाकिस्तान का 32 अरब डालर की आर्थिक और सैनिक सहायता दी जाएगी। इम सहायता म पाकिस्तान का एफ—16 विमानो का सौदा भी सम्मलित है। अमरिका द्वारा पाकिस्तान का आधुनिकतम हथियार दिय जान से भारत चिंतित है और अमरिकी सरकार से भारत ने विरोध भी प्रकट किया है। इससे भारत के सुरक्षा वातावरण म गभीर परिवतन की सम्भावना है तथा भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धा म तनाव उत्पन्न हुआ है। पाकिस्तानी सन्य शक्ति का लगातार बढते जाना भारत के लिए भी अपन रक्षा व्यय म वद्धि करना आवश्यक बना देता है। पाकिस्तान के अधिकारिया न स्वय यह स्पष्ट किया था कि अमेरिका द्वारा दिये जाने वाले हथियार सावियत सघ के विरुद्ध प्रयुक्त नही किये जा सकते। इससे प्रश्न यह उठता है कि क्या इन हथियारो का प्रयाग भारत के विरुद्ध किया जायगा? भारत और पाकिस्तान के बीच पारिस्परिक अविश्वास और तनाव मे वृद्धि का कारण अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को हथियार दिया जाना बन सकता है। इस तनाव को कम करने के लिए दोनो देशो के बीच समस्याओ के समाधान और सहयोग की आवश्यकता है।

यद्यपि श्रीमती गाधी के आलोचक कहते हैं कि युद्ध का भय पदा कर हमारा ध्यान देश की बुनियादी आवश्यकताओं से हटाने का एक साधन है यह विडम्बना ही है कि भारत और पाकिस्तान की जनता युद्ध की छाया से भी बचना चाहती है किन्तु बहुत सी समस्याए है जो हम बार बार युद्ध के कगार पर लाकर खडा कर देती है।

भारत ने पाकिस्तान के समक्ष युद्ध न करने के समझौते के बारे म प्रस्ताव 1949 म ही रखा था किन्तु उसे पाकिस्तान के शासको ने स्वीकार नही किया था। 12 अप्रैल 1982 का जनरल जिया न फैसलाबाद मे कहा कि 'हम चाहते हैं कि प्रभुसत्ता, सम्मान और गरिमा के आधार पर भारत के साथ हमारे सम्बन्धा के सुधार हो। मुझे आशा है भारत हमारी इस भावना का करेगा।" भारत म अधिकाश लोगो की धारणा है कि अमेरिका म

को सैनिक साज सामान और एफ—16 विमान देने का जो विरोध हो रहा है उसे समाप्त करने के लिए ही "युद्ध न करन" के समझौते का ढोंग किया जा रहा है। इस सम्बध मे स्थिति का मौके पर अनुमान लगाने के लिए अमेरिकी कांग्रेस की एक समिति पाकिस्तान और भारत के दौरे पर भी आयी थी। परिणाम स्वरूप पाकिस्तान को मदद देन के बारे मे निणय मे भी देर हो गयी।

'युद्ध न करने' का प्रस्ताव नये सम्बन्धो की पेचीदगी

एक ओर पाकिस्तान अमेरिका से घातक एफ—16 विमान खरीद रहा है और दूसरी ओर 1981 के अन्त म पाकिस्तान ने भारत के साथ अनाक्रमण समझौता करन का प्रस्ताव किया है। अमेरिका ने पाकिस्तान को एफ 16 अति आधुनिक विमान बेचन के निणय से दक्षिणी एशिया म अस्थिरता म वद्धि हुई है। रीगन प्रशासन ने भारत के विरोध और रोप पर ध्यान दिये बिना अपने निणय मे कोई परिवतन नही किया है। अमेरिका ने पाकिस्तान को 1968 और 1971 म भी हथियार दिये थे और उद्दश्य यह था कि साम्यवादी प्रसार को रोका जाए परतु उन हथियारो का प्रयोग भारत स लडन म किया गया। अत वतमान हथियारो की दौड भी अनाक्रमण समझौत की प्रगति मे बाधक है।

पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल जिया उल हक न भारत से युद्ध न करन के समझौते की पेशकश की है। इस प्रस्ताव के बारे म भारत म व्यापक सन्देह पाये जाते हैं। प्रधान मत्री श्रीमती गाधी ने हाल ही म अपनी जम्मू यात्रा के समय सेना के जवानो को सम्बोधित करते हुए कहा कि 'भारत चाहता है कि विश्व मे शान्ति हो और हम पूरा प्रयास कर रहे हैं कि युद्ध से बचा जाए परतु हमे हर स्थिति का सामना करने को तैयार रहना है। युद्ध का खतरा उत्तरोतर बढता जा रहा है और शस्त्र खरीदन की दौड से मामला और गम्भीर हो गया है।" जनरल जिया ने भारत के साथ अनाक्रमण समझौते का प्रस्ताव इसलिए भी प्रस्तुत किया क्योकि उनसे पूव सनिक शासको ने जब 1965 और 1971 म भारत से सनिक सघप किया तब लाभ की अपेक्षा उन्ह हानि ही अधिक हुई। जिन राजनीतिज्ञो ने उनका तख्ता उलटा उन्होंने ही सत्ता प्राप्त की। 1971 मे जनरल याहिया से सत्ता भुट्टो के हाथों मे आ गयी। युद्ध न करने का समझौता जिया के लिये आदश इस लिये हो सकता है कि पडोसी अफगानिस्तान मे सोवियत सघ की सेनाए पडी हैं जो कि न केवल एक महाशक्ति है अपितु उसकी भारत के साथ भी घनिष्ठ मित्रता है। जिया न केवल अपने देश मे कानून और व्यवस्था को कठोरता से लागू कर रहे हैं अपितु भारत के

साथ प्रनाक्रमण या युद्ध करने के समझौते के प्रस्ताव द्वारा उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सामने यह भी जताना चाहा है कि अमेरिका से आधुनिकतम हथियार और लड़ाकू विमान प्राप्त करते हुए भी पाकिस्तान भारत से लड़ना नहीं चाहता है। उनके आलोचकों और विरोधियों की धारणा है कि वह न तो पाकिस्तान में निर्वाचन कराकर जनतन्त्र स्थापित करना चाहते हैं और न ही भारत के साथ सम्बन्धों को युद्ध न करने के समझौते और घनिष्ठता तक ले जाना चाहते हैं। वह जनता का ध्यान घरेलू समस्याओं से हटाना चाहते हैं किन्तु यह आलोचनाएँ पूर्णत सही नहीं हो सकती हैं।

भारत और पाकिस्तान की स्थिति में 1971 में पाकिस्तान के विभाजन के बाद बहुत अन्तर आ गया है। अब भारत दक्षिणी एशिया में एक प्रमुख क्षत्रीय शक्ति है। अत पाकिस्तान का भारत से उस प्रकार का सैनिक सघर्ष न ही सम्भव लगता है और न ही लाभप्रद हो सकता है जैसे कि 1971 से पूर्व हो सकता था यद्यपि अमेरिका पाकिस्तान को सोवियत विस्तारवाद को रोकने के लिये दक्षिणी पश्चिमी एशिया में अन्तवर्ती (फ्रन्टलाइन) राज्य के रूप में काम लेना चाहता है।

जनरल जिया के तत्कालीन विदेश मन्त्री श्री आगाशाही ने अमेरिका के अवर विदेश सचिव जेम्स बकले की इस्लामाबाद यात्रा के समय यह संकेत दिया था कि पाकिस्तान ने भारत के समक्ष युद्ध वर्जन प्रस्ताव रखा है। यह प्रस्ताव औपचारिक रूप से भारत के समक्ष बहुत बाद में रखा गया। 14 अप्रैल 1982 को भारतीय समाचार पत्रों ने पाकिस्तानी रिपोर्टों के हवाले से लिखा कि पाकिस्तान के शासक जनरल जिया का कहना है कि अब यह भारत पर निर्भर करता है कि वह युद्ध वर्जन प्रस्ताव को स्वीकार करे या अस्वीकार करे। उन्होंने यह भी कहा कि इस प्रस्ताव को अस्वीकार करके भारत वही गलती करेगा जो कि पाकिस्तान ने 29 वर्ष पूर्व की थी, किन्तु भारत ने बार बार यह स्पष्ट किया है कि चाहे युद्ध वर्जन समझौता हो या न हो भारत पाकिस्तान पर आक्रमण नहीं करेगा।

युद्ध वर्जन समझौता अथवा मित्रता और सहयोग की सन्धि दृष्टिकोणों का अन्तराल

भारत ने पाकिस्तान के युद्ध वर्जन प्रस्ताव पर पाकिस्तानी अधिकारियों के साथ विचार विमर्श भी किया है। भारत के विदेश सचिव एवं दूसरे अधिकारी पाकिस्तान की यात्रा पर भी गए थे एवं द्विपक्षीय सम्बन्धों पर विचार विमर्श किया गया था। मार्च 1982 में पाकिस्तानी विदेश मन्त्री श्री आगाशाही ने भारत-पाक सम्बन्धों पर नई दिल्ली में भारतीय नेताओं से विचार

था, किन्तु भारत और पाकिस्तान के मध्य कुछ मौलिक मतभद हैं, जिन्हें सुल झाया जाना आवश्यक है। युद्ध वजन समझौता करना उतना आसान नही है, जितना कि उसके बारे मे कहना और प्रचार करना। भारत सरकार की ओर से युद्ध वर्जन समझौते के बार म उन सात सिद्धान्ता का भी उल्लेख किया गया था, जिन्ह इनमे शामिल किया जाना चाहिए। ये सिद्धान्त शिमला समझौते के अन्तगत स्वीकृत सिद्धान्तो से मेल खाते हैं। इसके अन्तगत एक दूसरे की अखण्डता, प्रभुसत्ता की सम्मान द्विपक्षवाद एव गुट निरपक्षता आदि सिद्धान्त आ जाते हैं। ये शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के सिद्धान्त भी कहे जा सकते हैं। स्वय पाकिस्तान स्वीकार करता है कि ये सिद्धान्त रचनात्मक एव उपयोगी हैं, किन्तु क्षेनाधिकार के बारे मे मतभेद रहा है। भारत ने यह प्रस्ताव किया था कि दोनो देश अपने पडौसी देशा के साथ पारस्परिक सम्प्रभुता अखण्डता और राष्ट्रीय हिना के सम्मान के आधार पर शान्ति और मित्रता पूवक रहना चाहता है।

भारत पाकिस्तान तनाव के बिन्दु

भारत और पाकिस्तान अपन सम्बन्धो का सामान्य बनान की दिशा म प्रयास अवश्य कर रहे हैं, किन्तु भारत विभाजन से लेकर अब तक दाना क दृष्टिकोणो, रणनीतियो एव विदशनीतियो म बहुत अन्तर रहा है दाना के बीच विवाद के मुद्दे है, जिनके कारण युद्ध वजन समझौता होना दुष्कर प्रतीत होता है।

भारत और पाकिस्तान के बीच पारस्परिक अविश्वास और मनोवना निक तनाव भी बना हुआ है, जिसके कारण सुझावो से भी सन्देह उत्पन्न होता है। भारत का विचार है कि अमेरिका के साथ पाकिस्तान के विशेष सम्बन्ध हैं, जबकि पाकिस्तान यह मानना है कि भारत रूस की ओर झुका हुआ है। पाकिस्तान का अमेरिका के साथ 1959 का वह समझौता अब भी बना हुआ है, जिसके अन्तगत साम्यवाद से प्रेरित आक्रमण हान पर वह अमेरिका के साथ परामश कर सकता हैं। भारत को यह भी भय है कि पाकिस्तान अपने नवीन एव आधुनिक बन्दरगाह गुआदर को विदेशी नौचालन के अड्डे क रूप मे बदल सकता है।

कश्मीर अनसुलझा प्रश्न

भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव का मुख्य कारण कश्मीर है। कश्मीर के बारे मे यद्यपि पाकिस्तान की नीति मे परिवतन प्रतीत होता है, किन्तु वह कश्मीर को अब भी एक समस्या मानता है। एक पाकिस्तानी पत्रकार के अनुसार

हमारी भावनाए अब भी कश्मीर के बारे म वैसी ही है, जैसी कि पहले थी, पर तु एक बात याद रखनी चाहिए कि हमने 1972म शिमला सम्मेलन के दौरान भी कश्मीर देना स्वीकार नही किया था।" कश्मीर के बहुत स भाग पर पाकिस्तान का नियत्रण है। इस भाग को आजाद कश्मीर के नाम से जाना जाता है। जनरल जिया ने अप्रल 1982 म यह स्पष्ट कर दिया कि वह कश्मीर को प्रस्तावित युद्ध वजन समझौते से पथक रखना चाहते है क्योकि कश्मीर एक अत र्राष्ट्रीय मुद्दा है। जनरल जिया के इन विचारो के महत्वपूण कूटनीतिक एव सनिक परिणाम हो सकत हैं। इन विचारो से यह स्पष्ट होता है कि जिया युद्ध वजन प्रस्ताव द्वारा कुछ खो नही रहे हैं।

भारत का मत है कि पाकिस्तान कश्मीर तथा अ य कोई द्विपक्षीय मुद्दा सयुक्त राष्ट्र सघ क मच मे नही उठा सकता लेकिन पाकिस्तान इस दृष्टिकोण को स्वीकार नही करता। वह यह नही मानता कि कश्मीर के मामले को सयुक्त राष्टमघ या अ य किसी अ तर्राष्ट्रीय मच पर उठाया नही जा सकता। पाकिस्तान का तक यह है कि शिमला समझाते म यह व्यवस्था है कि जम्मू एव कश्मीर की वास्तविक नियन्त्रण रेखा का जो 17 दिसम्बर 1971 के युद्ध विराम के बाद निर्धारित हुई थी, दोनो पक्ष आदर करेंगे, लेकिन दोना पक्षो की स्थिति पूववत बनी रहेगी। सयुक्त राष्ट्र सघ म भी कश्मीर के बारे म पाकिस्तान की यही स्थिति है और यह सयुक्त राष्ट्र सघ की कायसूची म भी दज है। अत पाकिस्तान को सयुक्त राष्ट्र सघ मे कश्मीर विवाद के अतिम हल के बारे मे बात करन से कसे रोका जा सकता है।

कश्मीर के बारे मे जिनेवा मे झडप

भारत और पाकिस्तान के बीच जिनवा के मानवाधिकार आयोग मे इस बात पर झडप हो गई थी कि पाकिस्तान के प्रतिनिधि आगाहिलाली ने कश्मीर का उल्लेख पारम्परिक तौर पर किया जिससे कि भारत सहमत नही है। भारत कश्मीर का अपना भाग मानता है। विश्व मच पर कश्मीर का उल्लेख करन के बारे म भारत और पाकिस्तान के अपने अपन तक हैं। जनरल जिया ने इस्लामी शिखर सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए कश्मीर का उल्लेख ही नही किया [illegible] वरन इसे प्राप्त करन के लिए समस्त इस्लामी समुदाय से सहायता का [illegible] भी किया था।

हु जा, एिलएित और स्कार्दू का मामला

एक प्रमुख महत्वपूण विवाद [illegible] भारत पाक [illegible] कर सकता है, जनरल जिया [illegible], [illegible]

के साथ विलय करना है और शेष पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर को आजाद कश्मीर क रूप म घोषित करना है। यह क्षेत्र जो कि कश्मीर के भाग है अफगानिस्तान और सिकियान के दक्षिणी पश्चिमी भाग के समीप है इसका पाकिस्तान मे विलय भारत द्वारा न तो स्वीकार किया जा सकता है और न ही ऐतिहासिक रूप से हुजा, गिलगित आदि क्षेत्र कश्मीर के भाग हाने से नकारे जा सकते है। जम्मू कश्मीर सरकार ने जून 1982 के प्रारम्भ म एक श्वेत पत्र प्रकाशित किया है जिसके अनुसार ऐतिहासिक आधार पर यह प्रमाणित होता है कि हुजा, *गिलगित और स्कादू के क्षेत्र प्रारम्भ से ही कश्मीर के भाग रहे है।* यह क्षेत्र चीन और पाकिस्तान के सामरिक क्षेत्र म सहयोग के कारण भारत के लिए और भी महत्वपूण हो जाते है। पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर के इन क्षेत्रो को पाकिस्तान के साथ मिलाना न केवल भारत के लिए चुनौतिया उत्पन्न कर सकता है अपितु भविष्य मे चीन और पाकिस्तान इस क्षेत्र म विद्यमान अमूल्य खनिज सम्पदा का लाभ उठा सकते है। यह नवीनतम विवाद जो कि युद्ध वजन प्रस्ताव पर विचार के समय उठाया गया है समझौते के माग म बाधाए ही उपस्थित कर सकता है। भारतीय विदेश नीति एव कूटनीति के सचालको के लिए यह चुनौती प्रस्तुत करता है और अधिक से अधिक सावधानी पूण रवया अपनाए जाने की आवश्यकता है।

महाशक्ति प्रतिस्पर्धा और भारत पाक शस्त्र दौड

जब पाकिस्तान सीटों एव सेन्टो का सदस्य था, तब तो वह अमरिका से सहायता प्राप्त करता ही था, किन्तु 1979 से गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाते हुए भी पाकिस्तान अमेरिका से सैन्य सहायता प्राप्त कर रहा है। अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप के बाद पाकिस्तान को अमरीका द्वारा एफ—16 विमान और एम—60 टैंक दिए जान का समझौता किया गया है। पाकिस्तान परमाणु विस्फोट की भी तैयारी कर रहा है। यद्यपि प्रत्येक देश को अपनी सुरक्षा व्यवस्था मजबूत बनाने का अधिकार है किन्तु भारत को आशका है कि इन तीव्रगति से चलन वाले विमानों और अन्य शास्त्रो का प्रयोग पाकिस्तान भारत के विरुद्ध कर सकता है क्योकि इनका प्रयाग रूस के विरुद्ध तो किया नही जा सकता। पाकिस्तान अमेरिका एव चीन द्वारा दिए गए हथियारो का प्रयोग भारत के विरुद्ध कर भी चुका है। पाकिस्तान का प्रश्न यह है कि भारत जेगुआर, मिराज 2000, मिग विमान और आधुनिकतम रूसी टक खरीद रहा है और अपनी सैन्य व्यवस्था को अधिक से अधिक शक्तिशाली बना रहा है। भारत और पाकिस्तान के बीच हथियारो की यह दौड पारस्परिक अविश्वास को ही प्रकट करती है। दानों देशा की अथव्यवस्थाओ पर इससे भार ही बढ़ता है।

अत दोनो देशो के बीच हथियारो की दौड कम करने के लिए वार्ता होनी चाहिए। इस सदर्भ मे जनरल जिया ने अनुपात से भारत और पाकिस्तान की सेनाए कम करन का भी प्रस्ताव रखा था। उनके शब्दो म 'युद्ध से राजनीतिक समस्याए हल नही होती। 1981 मे जिसकी लाठी उसकी भैस वाली बात नही होनी चाहिए। हमे न कवल लोगा के बीच ही विश्वास का निर्माण करना है बल्कि दोनो सरकारो के बीच भी करना है।"

भारत और पाकिस्तान भौगोलिक एव जनसख्या की दष्टि से आकार म समान नही है। अत पाकिस्तान को अपन का भारत का प्रतिद्वद्वी नही मानना चाहिए। पाकिस्तान की आबादी 8 कराड है जबकि भारत की 66 करोड है। अत राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से यदि पाकिस्तान भारत से होड करे तो वह दोनो देशो के लिए हानिकारक हागी। यदि पाकिस्तान अपनी सुरक्षा आवश्यकताओ की पूर्ति का प्रयास करता है ता भारत बिदकता है और भारत सुरक्षा व्यवस्था मजबूत बनाता है तो पाकिस्तान चिढता है। यह दृष्टिकोण परस्पर अविश्वास म वद्धि करता है।

पाकिस्तान, भारत और सोवियत सघ क बीच 1971 म की गई सधि एव दोनों देशो के घनिष्ठ सम्बन्धा स भी आशकित है। पाकिस्तान का मत है कि रूस तो सधि के अन्तगत तुरन्त कायवाही कर सकता है किन्तु अमेरिका पाकिस्तान के सन्दभ म ऐसा नही कर सकता है। भारत 'अमेरिका पाकिस्तान सबधो के प्रति आशका व्यक्त करता रहा है।

गुट निरपेक्षता और क्षेत्रीय सुरक्षा के मामले मे भारत और पाकिस्तान के दृष्टिकोणो म अन्तर है। भारत सरकार का मत है कि पाकिस्तान को गुटनिरपक्ष होते हुए किसी भी विदेशी शक्ति को अपनी जमीन पर सनिक अड्डे बनाने की स्वीकृति नही देनी चाहिए। पाकिस्तान का मत है कि गुटनिरपेक्षता की उसी परिभाषा को स्वीकार किया जाएगा, जिसे हवाना और नई दिल्ली म उसने स्वीकारा था। क्यूबा मे रूसी अडड हैं। इथोपिया और दक्षिणी यमन म भी है फिर भी व गुटनिरपेक्ष है। अत पाकिस्तान अमेरिका, और चीन से सहायता लेना बन्द नही कर सकता और विशेषत तब जबकि अफगानिस्तान मे रूसी सेनाए बैठी हुई है। पाकिस्तान और भारत दोनो को मिलकर मैत्री पूण सम्बन्ध बनाने के प्रयास करने चाहिए और पारस्परिक सन्देहा को दूर करना चाहिए। ज्यादा आवश्यकता इस बात की है कि देशो की जनता के बीच और सरकारों के बीच घृणास्पद वातावरण समाप्त हो और सहयोग की दिशा म बढा जा सके। यदि जैसे तसे युद्ध वजन समझौता हो भी गया तो आवश्यक नही कि स्थायी शक्ति का बन्दोबस्त हो ही जाए। कोई भी मामला सयोग पर नही छोडा जाना चाहिए।

प्रधान मत्री श्रीमती गाधी ने पाकिस्तान के साथ शान्ति, मित्रता और

सहयोग की सधि का प्रस्ताव किया है, किन्तु पाकिस्तान की प्रतिक्रिया यह है कि वह सन्धि प्रस्ताव पर तब ही विचार करेगा, जबकि भारत पाकिस्तान को यह स्पष्ट कर दे कि उसने (भारत ने) अनाक्रमण समझौते के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया है। यह प्रतिक्रिया नई दिल्ली के लिए आश्चयजनक है क्योंकि मित्रता और सहयोग की सधि म दोनो पक्षो को यह स्पष्ट आश्वासन मिलता है कि दोना देश पारस्परिक सुरक्षा और शाति बनाए रखन के लिए आवश्यक कायवाही करते रहेंगे। मित्रता सधि का प्रस्ताव युद्ध वजन समझौते के प्रस्ताव म एक कदम आगे ही है जिसे जरनल जिया द्वारा टाला जाना सन्देह अधिक उत्पन्न करता है और यह लगता है कि वह युद्ध वजन समझौता करना नही चाहते, अपितु करन के लिए दिखावा करते रहना चाहते हैं।

भारत ने दोना देशो के बीच व्यापारिक एव सास्कृतिक आदान प्रदान म वद्धि के लिए सयुक्त आयोग स्थापित किए जाने का सुझाव दिया है, ताकि बिना किसी देरी के दोनो देशो के बीच अधिक समझ और सहयाग के विकास म मदद मिले। इस कदम से युद्ध वजन समझौता की ओर बढन मे मदद मिल सकती है, किन्तु जरनल जिया की मान्यता है कि सयुक्त आयोग की स्थापना पर विचार भी युद्ध वजन समझौते पर हस्ताक्षर के बाद ही किया जा सकता है। इस प्रकार की शत लगाना भी समझौते के माग म बाधा ही उपस्थित कर सकता है। राजनतिक और कूटनीतिक सम्बन्धो म तनाव के कई क्षेत्र हो सकते हैं, किन्तु आर्थिक, व्यापारिक और सास्कृतिक सहयोग से दोनों देशो को परस्पर नजदीक लान मे बहुत मदद मिल सकती है।

कुछ अन्तराल और तनावो के पश्चात भारत पाक सम्बन्धो को घनिष्ठ बनाने के लिए आग विचार विमश करने का निणय किया गया है। विदेश मत्रालय के सचिव श्री नटवर सिंह जून 1982 के प्रथम सप्ताह मे भारत के प्रधानमत्री का एक पत्र लेकर पाकिस्तान गये थे। राष्ट्रपति जिया ने युद्ध वजन प्रस्ताव पर विचार विमश को जारी रखन का सुझाव दिया है। पारस्परिक वार्ताओ और अधिकारियो तथा नेताओ की कूटनीतिक यात्राओ से भी दोनो 'देशो के बीच माजूद आशकाओ को दूर करन मे निश्चित रूप से मदद मिलेगी। चाह वार्ता भारत के आकाक्षा से हो अथवा पाकिस्तान की माग पर वार्ताओ से सम्बन्ध सुधार और सौहाद का माग सरल होता है। यदि दोनों देशो के बीच सम्बन्ध सुधरते हैं तो दक्षिणी एशिया मे स्थायी शाति की दिशा मे ठोस कदम उठाए जा सकते हैं। यद्यपि महाशक्तियो की विश्वव्यापी रणनीतियो के कारण आठवें दशक में एशिया मे तनावो में बहुत वृद्धि हुई है और इस क्षेत्र के देशो की फूट का लाभ उठाकर बाहरी शक्तियो ने कई मामलो म हस्तक्षेप किया है। यदि दक्षिणी एशिया के दो प्रमुख देश भारत और पाकिस्तान पारस्परिक तनावों को कम

करने में सफल होते हैं तो यह क्षेत्रीय शान्ति के लिए एक सकारात्मक प्रयास होगा। यद्यपि भारत और पाकिस्तान के बीच उपयुक्त वर्णित बहुत सी बाधायें एव विवाद के मुद्दे है, जिनके कारण और द्विपक्षीय सम्बन्धो पर बाहरी शक्तियो के प्रभाव के कारण युद्ध वजन समझौता होना निकट भविष्य म सम्भव नही लगता है। पाकिस्तान म स्वय जिया का शासन व्यापक समथन पर आधारित नही है।

विडम्बना यह है कि पाकिस्तान म इस समय भी युद्ध की प्रबल मनोस्थिति बनी हुई है बावजूद इसके कि वह अमेरिका स आधुनिक हथियारो की माग कर रहा है। भारत और पाकिस्तान के बीच सनाओ के अनुपात की बात पाकिस्तान की ओर से 1980 म कही गयी थी, जब तत्कालीन विदेश सचिव श्री साठे पाकिस्तान की यात्रा पर गए थ और श्रीमती गाधी के विशेष दूत श्री स्वर्णसिंह न भी यही प्रस्ताव किया गया था। भारत का दृष्टिकोण यह है कि समय आन पर इस बात पर भी विचार कर लिया जाएगा।

पाकिस्तान म यह सद्धातिक विचार पनपा कि भारत न पाकिस्तान की स्वतत्रता को स्वीकार नही किया है और वह उसे शक्तिशाली नही देखना चाहता, किन्तु भारत न बार-बार दोहराया है कि एक सबल और स्वतन्त्र पाकिस्तान दक्षिणी एशिया म शांति के हित म है। भारत म इस बात पर तक किया जा रहा है कि पाकिस्तान न युद्धवजन प्रस्ताव अधिक शक्तिशाली होकर किया है अथवा जनरल जिया की कमजोर स्थिति के कारण। किन्तु इस बात पर विचार की ज्यादा आवश्यकता है कि किस प्रकार का द्विपक्षीय समझौता किया जाए, जो कि इस उपमहाद्वीप म शांति के हितो के लिए उपयोगी हो और मानसिक रूप से भारत और पाकिस्तान की सरकारो के लिए स्वीकाय हो।

श्री आगाशाही के उत्तराधिकारी साहिबजादा याकूब अली की धारणा भी यही है कि युद्ध वजन समझौते की शत के रूप म वह यह स्वीकार नही कर सकते कि कश्मीर के विवाद को अन्तर्राष्ट्रीय मचो पर नही उठाया जा सकेगा। इससे भी अनाक्रमण समझौते के प्रति और दोनो देश के बीच विद्यमान विवादो को सुलझाने के बारे मे पकिस्तान की नीति का पता लगता है। भारत और पाकिस्तान के बीच न केवल सरकारी स्तर पर अपितु दोनो देशो की जनता के बीच भी पारस्परिक सम्बन्धो और समझ म सुधार होना चाहिए क्योकि 1947 से पूर्व दोनो देशो के बीच जो सामाजिक और सास्कृतिक एकता थी, उसे कुछ स्वार्थी राजनीतिज्ञो द्वारा विभाजन के साथ ही नष्ट करने का प्रयत्न किया गया। पाकिस्तान जनता मे यदि कोई सद्भाव भी है तो उसका पता लगना भी कठिन होता है क्योकि पाकिस्तान म समाचार साधन स्वतन्त्र नहीं है।

आवश्यकता इस बात की है कि भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धो को अन्तराष्ट्रीय जटिलताओ से निकाला जाय और उन्हे इस उपमहाद्वीप के दो देशो के पारस्परिक सम्बन्धो के रूप मे देखा जाय ताकि य दोनो के बीच विभिन्न क्षेत्रो मे सहयोग से होने वाले लाभो का सही तरीके से परखा जा सके। अब तक दोनो देशो के सम्बन्धों पर इस दृष्टि से अधिक विचार किया गया है कि उनके महाशक्तियो से किस प्रकार के सम्बन्ध हैं।

भारत-पाक युद्ध वर्जन समझौते से पूर्व आवश्यक कदम

भारत और पाकिस्तान के बीच आज जो सम्बन्ध सुधारने के लिए नवीन वातावरण बनाने के जो प्रयास किए जा रहे हैं उन्ही के सन्दर्भ मे सम्बन्धो के स्थायित्व के लिए निम्न कदम उठाये जाने की आवश्यकता है —

1. भारत पाकिस्तान संयुक्त आयोग की स्थापना ताकि गैर राजनीतिक क्षेत्रो मे सहयोग को प्रोत्साहन मिले।
2. दोनो पक्षो द्वारा द्विपक्षीय मामलो की स्पष्ट व्याख्या जिससे उनका अन्तर्राष्ट्रीयकरण करके जटिलता मे वृद्धि नही किया जा सके।
3. कश्मीर की समस्या, जो कि दोनो के बीच प्रमुख मुद्दा है पर विचार करने के लिए दोनो की सहमति से उचित मानदण्ड निश्चित करना।
4. भारत और पाकिस्तान की जनता के बीच सद्भाव के वातावरण मे वृद्धि।
5. समाचार माध्यमो द्वारा एक दूसरे के विरोध मे प्रचार करने के स्थान पर सौहार्द का वातावरण बनाने के लिए प्रयास। इस क्षेत्र मे दोनो ही देशो मे सरकारी समाचार तन्त्र की प्रमुख भूमिका हो सकती है।
6. बंगलादेश के स्वर्गीय राष्ट्रपति जिया उर रहमान द्वारा प्रस्तावित दक्षिणी एशियाई क्षेत्रीय सहयोग के विकास के लिए भारत और पाकिस्तान दोनो द्वारा ही सक्रिय सहयोग, जिससे एशिया के इस भाग मे स्थित सभी विकासशील देशों की समस्याओं का पारस्परिकता के आधार पर हल करने मे मदद मिल सकती है और कम से कम गैर राजनीतिक क्षेत्रो मे तो क्षेत्रीय सहयोग का सरचात्मक और स्थायी आधार किया जा सकता है। इस दिशा मे "आसियान" और यूरोपीय समुदाय से प्रेरणा ली जा सकती है।

भारत और पाकिस्तान मे सम्बन्धो मे सुधार और सहयोग की दिशा मे उठाये जाने वाला कोई भी कदम दोनो के लिये ही लाभप्रद होगा। चाहे

युद्धवर्जन समझौता किया जा सकं अथवा नही। भारत को पाकिस्तान से युद्ध टालने का का प्रयास करते रहना चाहिए क्योकि इस उपमहाद्वीप म सनिक सघप का लाभ बाहरी शक्तियो और हथियार बेचने वालो को ही हो सकता है, जसा कि अब तक के इतिहास से स्पष्ट है। भारत को पाकिस्तान के साथ अनाक्रमण समझौते के बारे म बात चीत अवश्य रखनी चाहिए किन्तु साथ ही सभी प्रकार से भारत की अखण्डता और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए तयार रहना चाहिए।

मई 1982 के अन्त म विदेश मन्त्रालय के सचिव श्री नटवरसिंह द्वारा प्रधानमत्री श्रीमती गाधी का एक पत्र जनरल जिया को दिया गया। सयुक्त बयान म यह भी कहा गया कि फरवरी 1982 म दानो देशों के विदेश मन्त्रियो के बीच हुई वार्ता के आधार पर भारत पाक वार्ताए पुन प्रारम्भ की जायेंगी। अब पाकिस्तान न एक स्थायी सयुक्त आयोग की स्थापना का विचार स्वीकार कर लिया है, जो कि व्यापार आर्थिक सहयोग, सास्कृति सम्बन्धी जसे महत्वपूण द्विपक्षीय प्रश्नो पर विचार कर सकता है।

भावी वार्ताओ म पाकिस्तान द्वारा प्रस्तावित युद्धवजन समझौते और श्रीमती गाधी द्वारा प्रस्तावित मित्रता सहयोग और शान्ति की सन्धि के बारे म विचार किया जायेगा। यद्यपि पारस्परिक विचार विमश की प्रक्रिया लम्बी अवश्य चल सकती है किन्तु इससे दोनो देशो के बीच उपमहाद्वीप मे स्थायी शान्ति के प्रयासो म मदद मिलेगी। दोना के बीच मे जो तनाव और अविश्वास का वातावरण रहा है उसे दूर करन के लिए समय लगना स्वाभाविक है। भारत और पाकिस्तान दोना हो देशो के दष्टिकोणो म परिवतन की सम्भावना अवश्य दिखाई देती है।

अध्याय 10

विलग्नता या गुट-निरपेक्ष आँदोलन : तीसरी दुनिया का एक विकल्प

अपने शैशव में किन्हीं राष्ट्र विशेष की विदेश नीतियों का विश्व दृष्टिकोण गुटनिरपेक्षता आज विश्व का प्रबलतम सामूहिक स्वर है। अपनी इस लंबी यात्रा के दौरान इसने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उभरती समय की ताल को जितना स्पष्ट समझा उतना ही यह और मुखरित हुआ। गुट निरपेक्षता के विकास के दौरान इसे अनेक सैद्धांतिक और व्यावहारिक अवरोधों से जूझना पड़ा। स्वयं अपनी परिभाषा की तलाश गुट निरपेक्षता के लिए एक दुरूह कार्य रहा। तत्व और शब्दावली, दोनों ही स्तरों पर इसे अनेक परम्परागत राजनीतिज्ञों और विश्लेषकों के असहिष्णु दृष्टिकोण का सामना करना पड़ा। कुछ ने इसे पूर्ण रूप से निरर्थक, तो दूसरों ने हास्यास्पद और व्यावहारिक स्तर पर असंभव तक कहा। लेकिन इन प्रश्नों और दृष्टिकोणों के प्रति सचेत तथा आंतरिक रूप से गतिशील रहते हुए, गुट-निरपेक्षता ने न सिर्फ एक नयी ऐतिहासिक संज्ञा को स्वरूप और तत्व दिया, बल्कि इसे विश्व राजनीति का एक प्रबलतम मंच भी बना दिया। इस सफलता के मूलभूत ऐतिहासिक संदर्भ थे, जिन्हें समझने और व्यावहारिक स्तर पर प्रतिफलित करने के लिए एक दूरदृष्टीय नेतृत्व भी उपस्थित हुआ। अतः गुट-निरपेक्षता जैसे वृहत्तम आंदोलन, जिसमें आज दो तिहाई विश्व प्रतिबद्ध है, के जन्म और विकास में महत्वपूर्ण व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ कारक रहे हैं। इस दृष्टि से, गुट निरपेक्षता के ऐतिहासिक संदर्भ और नेतृत्वकारी प्रारंभिक प्रयासों के विवेचन के बिना इसकी सही समझ अथवा समीक्षा असंभव है।

ऐतिहासिक संदर्भ

पश्चिमी राष्ट्रों में पूंजीवाद की स्थापना के बाद उसका जो बाहरी विस्तार हुआ वास्तव में वहीं से यह नई ऐतिहासिकता जुड़ी है। असीमित विस्तार में

उपनिवेशवाद के प्रभुत्व के वर्ष भी थे जब इस विश्वव्यापी आधिपत्य मे सूर्यास्त नही होता था। लेकिन, प्रत्येक ऐतिहासिक स्थिति के स्वय के आतरिक अतर्विरोध होते हैं जो भविष्य मे इतिहास बनाने की प्रक्रिया की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। उपनिवेशवाद की व्यवस्था इस ऐतिहासिकता का कोई अपवाद नही थी। उपनिवेशवाद का अत उसके जन्म मे ही समाहित था। उस अत की प्रक्रिया की प्रारंभिक अनुभूतिया द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति से ही होने लगी। उपनिवेशी राष्ट्र अपने विस्तारवादी अभियानो के फलस्वरूप दो विश्वयुद्ध इतिहास मे लिख चुके थे। इस प्रक्रिया मे उनकी क्षमता इतनी खो चुकी थी कि ऐसी कोई पुनरावृत्ति असभव बन गयी थी। इन उभरते सदर्भों मे इतिहास की करवट ने उपनिवेशवाद के अत और राष्ट्रो की स्वतत्रता की प्रक्रिया को सुनिश्चित बना दिया। 20वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध ने इस प्रक्रिया मे एक ऐसी निरतरता प्रस्तुत की कि एक शताब्दी मे अधिक की परतत्रता की व्यवस्था को तोड कर एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रो का स्वतत्र अस्तित्व उभरने लगा। उनका स्वतत्र स्वर इस ऐतिहासिकता का एक स्वाभाविक परिणाम था। अत गुटनिरपेक्षता के राजनैतिक, आर्थिक, वैचारिक और भावनात्मक अभिप्रायो को उपनिवेशवाद के अत की ऐतिहासिकता से जोडे बिना समझना असभव है।

गुट निरपेक्षता, इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की कोई अपरिवर्तनीय परिणति नहीं थी। उपनिवेशवाद का अत गुटनिरपेक्षता के उदय के लिए एक आवश्यक किंतु पर्याप्त सदर्भ नही था। औपचारिक रूप मे स्थापित करने की मानसिकता की भी आवश्यकता थी। इस मानसिकता को तैयार करने मे द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अतर्राष्ट्रीय स्तर पर हुऐ ध्रुवीकरण का सदर्भ अत्यधिक महत्वपूर्ण रहा अपनी तात्कालिकता के कारण और साथ ही साथ अपने गुणात्मक अभिप्रायो के कारण, शीतयुद्ध के राजनैतिक ध्रुवीकरण ने गुट-निरपेक्षता की समझ तैयार करने मे एक उत्प्रेरक का काम किया। एक लबे उपनिवेश आधिपत्य से स्वतत्र होने के एक लबे सघर्ष बाद किसी दूसरे अधिपत्य को स्वीकार लेना नवोदित राष्ट्रों के लिए एक असुविधाजनक स्थिति थी। अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे वे एक ऐसी भूमिका की तलाश मे थे जो उनके आत्मसम्मान और क्षमता के अनुरूप हो। क्षमता के स्तर पर किसी एक राष्ट्र के लिए ऐसी स्वतत्र भूमिका अर्जित करपाना एक भागीरथी प्रयत्न होता जिसकी सभावनाए भी अत्यधिक सदिग्ध बनती। अत, आत्मसमान की एक अतर्राष्ट्रीय भूमिका के लिए सामूहिक पहल न सिर्फ वाछित थी, अपितु आवश्यक भी। स्वतत्रता और सामूहिकता की इस मानसिकता ने गुटनिरपेक्षता की वैचारिक और राजनैतिक नीव रखी। इस प्रक्रिया को शीतयुद्ध के तत्कालिक राजनैतिक वातावरण ने गति प्रदान की।

राजनैतिक रूप से मिली स्वतत्रता के बाद भी नवोदित राष्ट्र आर्थिक रूप से

परावलबी ही बने रहे। यही नहीं, राजनतिक शोषण मूलभूत आर्थिक शोषण का मात्र बाहरी अभिप्राय था। उपनिवेशवादी व्यवस्था ने आर्थिक पिछडेपन के आधार तैयार किये, जिनमे उभरना और अधिक महत्वपूर्ण, लेकिन उतना ही दुरूह काय था नवोदित राष्ट्रों का तीव्र आतरिक आर्थिक विकास की आवश्यकता थी। ऐसे विकास को सभावित बनाने के लिए दो स्थितियों की आवश्यकता थी। प्रथम तो यह कि, विश्वस्तर पर शातिपूर्ण वातावरण तैयार हो जिसके फलस्वरूप उन पर किसी विश्वव्यापी सकट मे अनचाही सलग्नता न थोपी जा सके। द्वितीय आतरिक आर्थिक विकास के लिए जिस बाहरी सहयोग की आवश्यकता है, वह नवोदित राष्ट्रो को बिना पूर्वाग्रहों और शर्तों के मिलना सभव हो सके। अत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म अनावश्यक विवारों म न उलझना विकास की एक शत थी। नवोदित राष्ट्रो म इस प्रकार का दृष्टि-कोण और भी अधिक स्वाभाविक था क्योकि व्यवहारिक स्तर पर उनकी कोई पूर्व और निश्चित प्रतिबद्धता नहीं थी।

अत उपनिवेशवाद के अत के एतिहासिक सन्दर्भ, आर्थिक विकास म स्वावलबन की कामना और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म एक आत्मसम्मानपूर्ण भूमिका की तलाश गुट निरपेक्षता की अनौपचारिक परिभाषा के मूलस्तभ बन गये। इन्हीं मतव्यों और मिश्रित अवधारणाओ को गुट निरपेक्षता की भावी और औपचारिक रूप से परिभाषित सज्ञा मिली। शीतयुद्ध के तात्कालिक सदर्भ और उत्प्रेरणा ने गुट निरपेक्षता के प्रारभिक स्वरूप को भी परिभाषित किया। नवोदित राष्ट्रो की दूरगामी आकाक्षाओ की प्राथमिक राजनैतिक अभिव्यक्ति शीतयुद्ध के दौरान हुई। अत इसकी प्रारभिक औपचारिक परिभाषाओं मे इस ध्रुवीकरण का सदर्भ अत्यधिक प्रबल है। तथ्य शब्दावली के स्तर पर गुट निरपेक्षता शब्द के चयन से ही स्पष्ट प्रतीत होता है। लेकिन तृतीय राष्ट्रों का अभ्युदय और उनका राजनतिक स्वर किन्ही तात्कालि-कताओ से नही जुडा था, अपितु मूलभूत ऐतिहासिक सदर्भों की कोख से उपजा था। इस दृष्टि से उपनिवेशवाद और साम्राजवाद के विरोध का दृष्टिकोण इनके जन्म मे ही समाहित था। गुट निरपेक्षता की यह ऐतिहासिक प्रवृत्ति, इसके विकास के साथ-साथ उत्तरोत्तर स्पष्ट हुई।

नेतृत्वकारी समझ और पहल

नवोदित राष्ट्रो के बीच परस्पर समन्वय की आवश्यकता कोई विवाद का विषय नहीं थी। प्रत्येक नवोदित राष्ट्र इस प्रकार की एकजुटता और सामूहिकता की ओर स्वाभाविक रूप से उन्मुख होता, क्योंकि ऐतिहासिक अनुभवा मे अत्यधिक समानता थी। विवाद इस बात का था कि इस सामूहिक

समन्वय का स्वरूप क्या हो और ऐसे किसी भावी प्रारूप मे प्रतिबद्धता का स्तर क्या हो। इन उभरते हुए प्रश्नो के निवारण के स्वरूप से गुट-निरपेक्षता की भावी परिभाषा जुडी हुई थी। ततीय राष्ट्रो मे अपने विशिष्ट आर्थिक एव राजनतिक विकास के कारण, और स्वतत्र हुए राष्ट्रो मे अगुवा होने के कारण भी, इन प्रश्नो पर भारत के दृष्टिकोण ने विशेष प्रभाव रखा। भारतीय विदेश नीति के दृष्टिकोण मे गुट निरपेक्षता की मानसिकता औपचारिक स्वतत्रता से पूव भी देखी जा सकती है। माच 1947 मे एक एशियाई सबधो के अधिवेशन मे भारत की अतरिम सरकार का प्रतिनिधित्व करते हुए नेहरू द्वारा प्रकट विचारो म इसका प्राथमिक प्रारूप मिलता है। शब्दावली के स्तर पर भले ही गुट-निरपेक्षता शब्द का प्रयोग न हुआ हो, लेकिन इसके भावी मूल मतव्य, स्वतत्र विदेशी नीति, ध्रुवीकरण की राजनीति मे असलग्नता और साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और रगभेदवाद आदि का विरोध, नेहरू के इस वक्तव्य म समाहित थे। भारत के अलावा प्रारभिक नेतृत्वकारी प्रयासो और समन्व म मिश्र और युगोस्लाविया का भी अप्रतिम योगदान रहा। अरब विश्व म मिश्र न सिर्फ स्वतत्र होने वाला प्रथम राष्ट्र था बल्कि अपनी भौगोलिक स्थिति को देखते हुए उसका समस्त अफ्रीकी महाद्वीप पर भी एक प्रतीकात्मक प्रभाव था। अपन तुलनात्मक विकास के स्तर पर और वचारिकता के स्तर पर मिश्र एक विकसित राष्टीय चेतना का राष्ट्र था। प्रो॰ अली मजरूही के मत मे मिश्र का एक "राष्ट्रीयता केन्द्रित' विश्व दृष्टि-कोण प्रारम से ही था। इस दृष्टिकोण के केन्द्रीय परिधि म अरब विश्व उसकी बाहय परिधि के रूप मे अफ्रीकी महाद्वीप और उत्तरोत्तर परिधि, के रूप म इस्लामिक राष्ट्रो की अवधारणा थी' तीन स्तरीय प्रभाव परिधि के ऐसे दृष्टिकोण म, गुट निरपेक्षता जसे राजनतिक प्रभाव क्षेत्र का समावेश, जो कि मिश्र के दृष्टिकोण को और अधिक विश्वव्यापी बनाता, एव स्वाभाविक और विकास की द्योतक मान्यता बन गई। अत ऐसे राष्ट्रीयता केन्द्रित और विश्वव्यापी क्षितिज की कामना वाले विश्व दृष्टिकोण का गुट निरपेक्षता के भावी स्वरूप म समावेश मिश्र के योगदान का परिचायक है। गुट निरपेक्षता को तात्कालिक ध्रुवीकरण के सदभ से जोडने मे युगोस्लाविया का योगदान विशेष महत्व का कहा जा सकता है। सोवियत गुट से वादविवाद बढ जाने और सबधो मे वस्तुत विघटन आ जाने के बाद युगोस्लाविया एक नये विदेश नीति के दृष्टिकोण की तलाश म था। समाजवादी गुट से मतभेदो के बावजूद युगोस्लाविया पश्चिम की ओर नही बढ़ना चाहता था। अत युगोस्लाविया की विदेश नीति को एक ऐसे विश्व दृष्टिकोण की तलाश थी जो उसे ट्रीय राजनीति मे एक सक्रिय और स्वतत्र भूमिका दे सके। गुट

का प्रारूप ऐसी आवश्यकता के लिए एक स्वाभाविक विकल्प था। नहरू-नासिर टीटो यह नेतत्तकारी समन्वय गुट निरपेक्षता के मूल प्रारूप को ही नही अपितु उसक भावी विकास को भी निरतर प्रभावित करता रहा।

अफ्रीका-एशिया की आम एकता बनाम गुटनिरपेक्षता

नवोदित राष्ट्रो की प्रथम ऐतिहासिक सामूहिक अभिव्यक्ति 1955 मे बाडुग सम्मेलन म हुई। इस सम्मेलन क आयोजन का आधार गुटनिरपेक्षता क भावी स्वरूप से मेल तो नही खाता था लेकिन ततीय राष्ट्रो के गुटनिरपेक्षता के विकास म इसका परोक्ष योगदान अत्यधिक महत्व का रहा। इस सम्मेलन के दौरान और बाद म ततीय राष्ट्रो म एक वचारिक विवाद छिडा। यह कि, ततीय राष्ट्रो की सामूहिकता का स्वरूप स्पष्ट रूप स राजनैतिक हो अथवा नही अर्थात तात्कालिक शीतयुद्ध के सम्बन्ध म एक राजनतिक दष्टिकोण को परिभाषित किया जाय अथवा इस समसामयिक सदभ क प्रति मौन रह कर कोई अस्पष्ट समन्वय तक ही सीमित रहा जावे। बाडुग अधिवशन का आयोजन किसी राजनैतिक योग्यताओ के आधार पर नही किया गया था। इस सम्मेलन म जो राष्ट्र आमत्रित हुए उन्ह एशिया अफ्रीका के राष्ट्र होने के नाते ही आमन्त्रित किया गया था, भले ही व दो गुटो की राजनीति के प्रभाव के राष्ट्र रहे हो। ऐसी स्थिति म जो राजनीतिक समझ बाडुग अधिवशन से व्यक्त हुई उसम पचशील के सिद्धातो जसी मान्यताओ से अधिक कुछ व्यक्त नही किया गया। एक दूसर राष्ट्र की सम्प्रभुता और क्षत्रीय अक्षुणता का आदर परस्पर अहस्तक्षेप और अनाक्रमण की नीति समानता और परस्पर लाभ, शातिपूण सहअस्तित्व सामूहिक एव एक पक्षीय आत्मरक्षा का अधिकार आदि सिद्धान्त बाडुग सम्मेलन म व्यक्त किये गये। इस प्रक्रिया क द्वारा गुटनिरपेक्षता जसे सुपरिभाषित दष्टिकोण की अभिव्यक्ति नही हुई अपितु मात्र ततीय राष्ट्रो म परस्परता का भाव व्यक्त हुआ।

बाडुग सम्मेलन अपन आप म सफल होत हुए भी, भारत मिश्र और युगोस्लाविया के दृष्टिकोण म अपर्याप्त था। किन्ही सिद्धान्तो की घोषणा मात्र उनक दष्टिकोण म सहयोग का ठोम आधार नही हो सकता था। नहरू नासिर-टीटो की दष्टि और अधिक महत्वाकाक्षी थी, जिसम ततीय राष्ट्रो क समायोजन का एक ऐसा स्पष्ट राजनतिक स्वरूप प्रदान करन की आवश्यकता पर बल दिया गया जिसके द्वारा तत्कालिक राजनतिक सन्दर्भो की समीक्षा और एक सक्रिय राजनैतिक भमिका का प्रारूप बन सके। ततीय राष्ट्रो क राजनतिक रूप म सगठित होन पर बल दि[illegible] भी थी। यह राष्ट्र या तो [illegible] [illegible]सुविधाजनक स्थिति पर सम्मिलित थे

अथवा उनक प्रभावक्षेत्र का महत्वपूण भाग थ । ऐसी स्थिति म ततीय राष्ट्रो को एकत्रित करन के लिए किसी राजनतिक योग्यता का मापदण्ड इन राष्ट्रो को स्वीकार नही था। उनकी दृष्टि म बाडुग सम्मेलन के प्रकार के ही अय आयोजन किये जायें, जिनम बिना किसी राजनतिक पूव शर्तों और मापदण्डो के, सभी एशियाई ओर अफ्रीकी राष्ट्रा को समान रूप से सम्मिलित किया जाये यह दृष्टिकोण भारत, मिश्र औ युगोस्लाविया को माय नही था। लेकिन इन राष्ट्रा की नतृत्वकारी भूमिका और पहल होन के कारण इनके दृष्टिकोण को ही उत्तरोत्तर सफलता मिली। इस दृष्टि से देखा जाय तो, सन् 1956 म ब्रिओनी म नहरू, नासिर और टीटा की शिखरवार्ता परोक्ष रूप से गुटनिरपेक्षता का प्रथम शिखर सम्मेलन कहा जा सकता है। इन प्रणेताओ के सामूहिक दष्टिकोण न गुटनिरपेक्षता की नीव रखी। इनके सम्मिलित दृष्टिकोण और प्रयासो के फलस्वरूप ही गुटनिरपेक्षता के आधार पर तृतीय विश्व के समायोजन की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ। विपक्षी दृष्टिकोण मे नेतत्व और पहल का अभाव हान के कारण तृतीय राष्ट्रो मे वह दृष्टिकोण कोई सकारात्मक प्रतिक्रिया नही पा सका। 1961 के प्रथम काहिरा तैयारी सम्मेलन से और इसी वष के बेलग्रेड के प्रथम गुटनिरपक्ष शिखर सम्मेलन से, एक ऐसी ऐतिहासिक प्रवृत्ति अस्तित्व म आई जिसन कालातर म दो तिहाई विश्व को समाहित कर लिया।

बेलग्रेड सम्मेलन के बाद भी एक बार फिर यह विवाद उठ खडा हुआ कि ततीय राष्ट्रो का दूसरा सम्मेलन बाडुग की परिपाटी पर हो अथवा बेलग्रेड की। इस विवाद के पुन उपस्थित होने की स्थिति मे कुछ नय राजनैतिक समीकरण भी थे। 1962 म भारत और चीन के बीच एक सीमित युद्ध लडा जा चुका था, और साथ ही साथ कश्मीर के विवाद पर भारत पाक सम्बधा म भी और अधिक कटुता आई थी। मिश्र और इजराइल का विवाद प्रारम्भ से ही विस्फाटक था और उसम और अधिक गिरावट आई। साथ ही साथ अरब राष्ट्रो मे भी विभिन गुटो के प्रति सलग्नता के कुछ स्वरूप देखे गये। ऐसी स्थिति का देखते हुए भारत और मिश्र का एक आम एशियाई-अफ्रीकी सम्मेलन के प्रति विरोध और अधिक स्थाई और प्रखर हुआ। जहा तक युगोस्लाविया का प्रश्न था वह चूकि एक यूरोपीय राष्ट्र था, अत उसका एशियाई अफ्रीकी आधार पर आयोजन का विरोध प्रारम्भ से ही मूलभूत था। इन स्थितिया को देखत हुए, इन तीनो राष्ट्रा के सामूहिक प्रयास हुए कि इण्डोनेशिया द्वारा प्रस्तावित बाडुग की परिपाटी का कोई सम्मेलन सभव न हो सके। यदि ऐसा कोई सम्मेलन होता ता राजनतिक योग्यता और मापदण्ड के अभाव मे, उसमे चीन पाकिस्तान और इजराईल का सम्मिलित होना स्वाभाविक था। ऐसी

स्थिति स्पष्ट रूप से भारत और मिश्र को सवथा अमान्य थी जिसे युगोस्लाविया का भी सक्रिय समथन प्राप्त था। अत जब बाडुग की परिपाटी का दूसरा सम्मेलन आयोजित करने का प्रश्न उठा तो भारत ने यह प्रस्ताव रखा कि यदि चीन को इसमे सम्मिलित किया जा सकता है तो सोवियत सघ को सम्मिलित करना होगा क्योकि वह भी एक एशियाई राष्ट्र है। राजनैतिक मापदण्डो के अभाव मे भारत के प्रस्ताव के औचित्य को गलत सिद्ध करना एक असम्भव बात थी। अत भारत की इस मान्यता को स्वीकार किये जाने के बाद, बाडुग परिपाटी के अधिवेशन को आयोजित करने मे चीन की जो रुचि थी वह स्वत ही खत्म हो गई। तात्कालिक रूप से यह तय हुआ कि 1964 में प्रस्तावित द्वितीय गुटनिरपेक्ष सम्मेलन प्रस्तावित आधार पर आयोजित किया जाये और *बाडुग आधार वाले सम्मेलन के प्रस्ताव को तदथ रूप से 1965 तक स्थगित* किया जाये। यह स्थगन वस्तुत बाडुग परिपाटी के सम्मेलन के प्रस्ताव का अन्त बन गया। इसके बाद बाडुग बनाम बेलग्रेड का विवाद पुन नही उभर सका। और ततीय राष्टो का गुटनिरपेक्षता के आधार पर आयोजन एक उत्तरोत्तर विकसित सत्य बन गया। इस पूरी प्रक्रिया से यह परिलक्षित होता है कि भारत, मिश्र और युगोस्लाविया की नतत्वकारी भूमिका और पहल न गुटनिरपेक्ष आदोलन के वास्तविक स्वरूप और विकास को गुणात्मक रूप से प्रभावित किया। यह प्रभाव कालातर म भी यथावत बना रहा।

एक परिभाषित सज्ञा की खोज

गुट निरपेक्षता की एक सटीक परिभाषा की चिन्ता गुटनिरपेक्ष आदोलन को कम और विश्लेषकों को अधिक रही है। यह एक विचित्र स्थिति इस बात की उत्तरदायी भी रही है कि गुटनिरपेक्षता के वास्तविक अभिप्राय के स्थान पर इसके औपचारिक स्वरूप पर बाद्धिक बहस अधिक देखन को मिली। इस बहस का दायरा शब्दावली पर अधिक केन्द्रित रहा और गुटनिरपक्षता के आत रिक तत्व पर कम। एक सही समीक्षा के लिए इस स्थिति मे, यह आवश्यक होगा कि गुटनिरपेक्षता को परिभाषित करन मे शब्दावली सबधित और तत्व *सम्बन्धी दोनो ही स्तरो पर सतुलित विवेचन किया जाये।* गुटनिरपेक्षता शब्द का प्रयोग सवप्रथम भारतीय विदेश नीति की कुछ उदघोषणाओं मे मिलता है। इस शब्द से पूव तटस्थता आदि शब्द के भी प्रयोग हुए हैं। अनेक पश्चिमी लेखको ने शब्दावली के स्तर पर बाल की खाल निकालने जैसे प्रयास भी किये। कुछ ने इसे तटस्थता कहते हुए इसकी तुलना स्विटजरलड जसे राष्ट्रो की तटस्थता से भी की। ऐसी तटस्थता का मूल अभिप्राय एक प्रकार की निष्क्रियता से भी लिया गया। अन्य लोगो न इसे नकारात्मक अथवा सकारात्मक तटस्थता

बतलाने का भी प्रयास किया, तो कुछ ने इसके लिए एकपक्षीयता, अप्रतिबद्धता अथवा असलग्नता आदि शब्दावली का भी प्रयोग किया। इन विभिन्न औपचारिक परिभाषाओं में गुटनिरपेक्षता का मूल अभिप्राय एक तरह की निष्क्रियता से लिया गया। ऐसी धारणा इस मान्यता पर आधारित थी कि ध्रुवीकृत विश्व में किसी भी गुट से जुड़े बिना कोई अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका असम्भव है। अमेरिका के राज्य सचिव जान फास्टर डलस ने इस दृष्टिकोण से प्रेरित होकर गुट निरपेक्षता को एक हास्यास्पद, असम्भव और अनैतिक नीति तक कहा। निष्क्रियता जैसी धारणा से प्रेरित होकर गुटनिरपेक्षता को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विलग्न रहने की नीति भी कहा गया और इसकी तुलना द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व अमरिकी विदेश नीति से भी किये जाने का प्रयास हुआ। गुटनिरपेक्षता से सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों ही स्तरों पर ऐसी धारणा को सर्वथा अनौचित्य पूर्ण सिद्ध किया।

एक और आक्षेप गुट निरपेक्षता के सिद्धांत के प्रति यह भी रहा है कि अपनी शब्दावली के स्तर पर और अपने दृष्टिकोण के स्तर पर, यह एक नकारात्मक अवधारणा है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे इसकी यदि कोई भूमिका है तो वह वास्तविक तथ्यों से न जुडकर कोई सकारात्मक दृष्टि देने की भूमिका नहीं है, अपितु यथार्थ के विपरीत अवरोध उत्पन्न करने की भूमिका है। गुट निरपेक्षता की ऐसी धारणा उसके उदय के प्रारंभिक वर्षों में अधिक देखने को मिलती है। आलोचना का प्राथमिक अभिप्राय इस सिद्धांत की नकारात्मक शब्दावली से लिया गया है। गुटनिरपेक्षता शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक बताया गया है कि गुटों से निरपेक्षता एक नकारात्मक दृष्टि है और इससे गुटों के संदर्भ से हटकर कोई अन्य परिभाषा अथवा तत्व दृष्टिगोचर नहीं होता। इस धारणा के प्रत्युत्तर के रूप में अन्य विश्लेषकों ने गुटनिरपेक्षता की शब्दावली के मर्म को भी सकारात्मक और इसकी दूरगामी दृष्टि को भी अपने सकारात्मक ध्येय की ओर उन्मुख कहा है। जहा तक गुटनिरपेक्षता शब्द का विवाद है, यह कहा गया है कि यह शब्द मूलतः भारत की देन है। अतः इसके शाब्दिक अभिप्राय को भारतीय चिन्तन और शब्दावली की परम्परा में देखना चाहिए। 'भारतीय चिन्तन में यह एक निरन्तर परम्परा रही है कि अनेक सकारात्मक विचारों को नकारात्मक शब्दावली से परिभाषित किया गया है। यही नहीं, अन्य भाषाओं की तुलना में साधारण सकारात्मक अभिप्राय भी उसी प्रकार परिभाषित हुए हैं। इस सन्दर्भ में अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं, जैसे अहिंसा अनेक, अद्वैत, अपरिहार्य, अहस्तक्षेप आदि। ऐसी ही शब्दावली की परम्परा में देखने पर गुटनिरपेक्षता भी शाब्दिक रूप में नकारात्मक होते हुए भी, मन्तव्य के स्तर पर एक सकारात्मक दृष्टिकोण है। अतः इस दृष्टि में

शब्दावली के स्तर पर, और अब तक के व्यवहार के अनुभव के आधार पर गुट निरपेक्षता को एक नकारात्मक सिद्धात अथवा दृष्टिकोण कहना सर्वथा अनुचित होगा।

आलोचना का एक और माध्यम, यह भी रहा है कि गुटनिरपक्षता एक प्रतिक्रिया के रूप म उपजा हुआ सिद्धान्त है और इसकी स्वय की कोई प्रेरणा शक्ति नही है। ऐसे दृष्टिकोण म शीतयुद्ध के सदभ का गुट निरपक्षता के जन्म के लिए प्राथमिक महत्व का कहा जाता है अर्थात, गुट निरपेक्षता अपनी किसी स्वय की प्रेरणाओ से जनित नही है, अपितु शीतयुद्ध के ध्रुवीकरण की स्थिति के प्रति मात्र एक प्रतिक्रिया है। इसी स जुडा हुआ एक और दृष्टिकोण गुटनिरपक्षता का शीतयुद्ध के सदभ म एक नए शक्ति के गठबधन और केन्द्र को स्थापित करन की प्रतिक्रिया के रूप म दर्शाता है। इस तरह से यह कहा गया है कि, एक ओर जहाँ गुटनिरपक्षता शीतयुद्ध व शक्ति सघप और ध्रुवीकरण का विरोधी सिद्धान्त है, तो वही दूसरी ओर, इसके स्वय का अभिप्राय शक्ति के एक ततीय गुट का आयोजित करना है। अत गुटनिरपेक्षता न सिर्फ शीतयुद्ध व शक्ति समीकरण के विरोध की एक प्रतिक्रिया है, अपितु साथ ही साथ यह उन्ही मा यताओ पर आधारित है जिनकी यह विरोधी है। गुटनिरपक्षता का ऐसा दृष्टिकोण एकपक्षीय है। यह सही है कि शीतयुद्ध का सदभ इसकी परिभाषा म तात्कालिक महत्व का रहा लेकिन गुटनिरपेक्षता का निर्धारण मात्र इस सदभ के आधार पर नही किया जा सकता, क्योकि ऐसे अय महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सदभ भी थे, जिनसे गुटनिरपेक्षता अधिक अतरग रूप से जुडी थी। मात्र यह तथ्य कि शीतयुद्ध के अवसान के बाद भी इसका अस्तित्व न सिर्फ बना रहा है बल्कि इसम आश्चयजनक वद्धि भी हुई है, इस बात का स्पष्टतम प्रमाण है कि गुटनिरपेक्षता की प्रेरणा सिर्फ शीतयुद्ध की स्थिति की प्रतिक्रिया ही नही था। जहा तक शक्ति के एक तृतीय केन्द्र अथवा गुट बनाने का दृष्टिकोण है, प्रारम्भ स ही यह एक अव्यावहारिक दृष्टि है! जिसके प्रति गुटनिरपेक्षता नेतत्व निरन्तर सजग रहा है। आज भी अपने विकास की स्थिति म समस्त गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो की सामूहिक शक्ति किसी एक महाशक्ति के पराक्रम क सामने समानता नही पा सकती। ऐसी स्थिति मे शक्ति के किसी तीसर केन्द्र की स्थापना न तो गुटनिरपेक्षता के परिप्रेक्ष्य म और न ही उसकी व्यावहारिकता मे समाहित है। इसके ठीक विपरीत गुटनिरपेक्षता शक्ति की प्रतिद्वद्विता के दृष्टिकोण से नही अपितु समान हितो और दष्टिकोण वाले राष्ट्रो म परस्पर समन्वय सहचारिता और मतक्य पर आधारित है।

अभी तक का विवेचन यह दर्शाता है कि गुट निरपेक्षता क्या नही है। इस

प्रकार का अभ्यास अधिक सुगम है। यदि सकारात्मक रूप से गुट निरपेक्षता को परिभाषित करने का प्रयास किया जाय और स्पष्ट रूप से यह परिभाषित करने का कहा जाये कि गुट निरपेक्षता क्या है तो यह एक अत्यधिक असुविधाजनक स्थिति होगी। औपचारिक परिभाषा के स्तर पर ऐसी किसी स्पष्ट धारणा को रेखांकित करना एक असभव काय है। इस दृष्टि से, गुट निरपेक्षता की औपचारिक परिभाषा की तुलना म यदि इस सिद्धात की ऐतिहासिक प्रेरणाओ और सदर्भों को रेखांकित किया जाये तो यह अधिक साथ प्रयास होगा। एसे विवेचन से मुख्यत गुट निरपेक्षता के प्रमुख मतव्य और अभिप्राय निम्न कहे जा सकते हैं —

1 गुट निरपेक्षता उपनिवेशवाद की प्रक्रिया से निकले नवोदित राष्ट्रों की एक स्वतत्र अतरराष्ट्रीय भूमिका का प्रारूप है।

2 राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रक्रिया के दौरान स्वतत्रता के एक लबे सघर्ष स जनित वह मानसिकता है जो भावी परतत्रता और आश्रय की सभावनाओ को अपरिहाय मानती है।

3 अत एक स्वतन्त्र नीति जो कि समानता और शातिपूर्ण सह अस्तित्व पर आधारित हो गुट निरपेक्षता की प्राथमिक प्रेरणा है।

4 उपनिवेशवाद को विरासत से एतिहासिक रूप से जुडी होने के कारण, और इसके कटु अनुभवो के प्रति सचेत होने के कारण, उपनिवेशवाद और उससे सलग्न आधिपत्य की प्रक्रियाओ का विरोध गुट निरपेक्षता की ऐतिहासिक दृष्टि है। उपनिवेशवाद, नवउपनिवेशवाद, रगभेद की नीति और साम्राज्यवाद का व्यवस्थागत विरोध, इस ऐतिहासिक प्रकृति की अभिव्यक्तिया है।

5 शीतयुद्ध के तात्कालिक सदर्भ मे पैदा होने के फलस्वरूप गुटो के आधार पर ध्रुवीकरण का विरोध और सैनिक सलग्नता का प्रतिरोध, एक स्वतन्त्र विदेशनीति के व्यावहारिक सिद्धात है।

6 गुट निरपेक्ष राष्ट्रो के बीच सहचारिता, आर्थिक राजनैतिक और सास्कृतिक समन्वय, परस्पर एकजुटता को आयोजित करने की दृष्टि म, आवश्यक आलबन है।

इन ऐतिहासिक प्रेरणाओ की दृष्टि से गुटनिरपेक्षता का मूल मतव्य और उसकी सक्रिय भूमिका का प्रारूप स्पष्ट होता है। सदर्भों में विकास के साथ साथ और परस्पर एकजुटता मे बढोतरी के साथ साथ, गुटनिरपेक्षता
चारिकस्वरूप म सदर्भों की सामयिकता से प्रभावित होती रही है
सदर्भों म इसकी प्रवृति के कुछ पक्ष और अधिक मुखरित
बदलाव के साथ साथ इन प्रवृत्तिया के तुलनात्मक रुझान म भी

शीतयुद्ध की समसामयिकता ने इसके राजनीतिक पक्ष को प्रखर बनाया तो इसके बाद उत्तरोत्तर स्थितिया ने नवउपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरोध से गुटनिरपेक्षता को और अधिक अतरग रूप म जोडा।

सदस्यता का प्रारभिक मापदण्ड, जो कि शीत युद्ध क सदभ स परिभाषित किया गया था किसी राष्ट्र के गुटनिरपेक्ष होने के लिए विशेष योग्यताओ को आवश्यक बताता था। यह योग्यतायें प्रथम गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो के सम्मेलन के लिए 1961 म काहिरा म तयारी सम्मेलन म व्यक्त की गई। इनके अनुसार गुटनिरपेक्ष राष्ट वह राष्ट्र है—

1. जो शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के आधार पर एक स्वतन्त्र विदश नीति का निर्वाह करे और स्वय का शक्ति के गुटो और प्रवृत्तियो के पक्ष म सलग्न न करें।
2. जो उपनिवेशवाद के विरोध को प्रेरणा से, सतत रूप स राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आदोलनो का समथक रहा हो।
3. जो ऐसे किसी सैनिक गठबधन का सदस्य न हो, जो कि महाशक्तियो की प्रतिद्वद्विता के सदभ म बनाया गया हो।
4. जो किसी महाशक्ति के साथ ऐसी किसी द्विपक्षीय सधि अथवा प्रादेशिक सुरक्षा सधि, म जो कि महाशक्तिय प्रतिद्वद्विता के सदभ मे हो, अपन स्वय की स्पष्ट सहमति के आधार पर सलग्न न करे।
5. जो किसी विदेशी शक्ति को अपनी स्पष्ट सहमति के आधार पर ऐसे कोई सैनिक अडडे बनाने की सुविधा न दे, जिनका कि प्रयोग महाशक्तियो की प्रतिद्वद्विता के सदभ म हो।

इन प्रारभिक सदस्यता की योग्यता मे, गुटनिरपेक्ष आदोलन के विकास के साथ उत्तरोत्तर, अनौपचारिक स्तर पर, बदलाव आया है। यद्यपि प्रारभ मे ही कुछ ऐसे वाक्यो का समावेश किया गया, जिनके द्वारा प्रत्यक राष्ट्र की सदस्यता मे आवश्यक स्वविवेक का प्रावधान बना रहे। 'स्पष्ट सहमति के आधार पर' और 'महाशक्तिय प्रतिद्वद्विता के सदभ मे ऐसे वाक्य थे जिनके द्वारा किन्ही राष्ट्रों के सन्दभ मे, सम्भावित विशेष स्थितियो को देखते हुए, छूट भी दी जा सके। उत्तरोत्तर रूप से गुटनिरपेक्ष आदोलन के आतरिक स्वरूप और शीतयुद्ध के प्रारभिक सदभ मे भी बदलाव आया है। अत इसकी सदस्यता के आधारो मे भी इस प्रक्रिया का प्रभाव स्पष्ट रूप से आया। लेकिन औपचारिक स्तर पर, आज भी सदस्यता के ये मापदण्ड मान्य हैं। इस दृष्टि से गुटनिरपेक्षता ने निरतरता और बदलाव के बीच जो समन्वय स्थापित किया,

उसके फलस्वरूप इसकी सदस्यता म उत्तरोत्तर वद्धि के साथ, इसकी राजनतिक चेतना भी प्रखर और परिपक्व बनी है।

आंदोलन का स्वरूप प्रवृत्तियाँ और विकास

अपने शशव की शकाओ और अनुभवो से सीखता हुआ, आज गुटनिरपक्ष आदोलन तृतीय विश्व का वयस्क राजनैतिक स्वर है। अनुभवो की वाडवाग्नि न इस न सिफ एक ऐतिहासिक परिपक्वता दी है, अपितु एक अभूतपूर्व विस्तार भी। इस पूरी प्रक्रिया म गुटनिरपेक्षता के दष्टिकोण और व्यवहार, दोनो म ही एक सतत आन्तरिक मथन हुआ है। इस मथन की परिणति गुटनिरपक्षता के औपचारिक और भौगोलिक विस्तार म ही नही, अपितु साथ ही साथ इसके वचारिक आयामो के विस्तार मे भी हुई। अपनी इस यात्रा क दौरान गुट-निरपक्ष आदोलन न अनक औपचारिक और बौद्धिक बहस की साथकता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिय। शीत युद्ध को गुटनिरपेक्षता के जन्म का निर्धारक सदर्भ स्थापित करने वाली मान्यता पूण रूप से धराशायी हुई। अपन प्रथम सम्मेलन से लेकर अपन पिछले सम्मेलन तक, जो कि शीत युद्ध मे शिथिलता का काल भी रहा है, गुटनिरपेक्ष आदोलन की सदस्यता म तीन गुना से अधिक वृद्धि हुई। आज स्वतन्त्र विश्व का दो तिहाई स अधिक राष्ट्र समुदाय गुटनिरपक्षता म समाहित है। इसमे औपचारिक सदस्य, पयवेक्षक और अतिथि राष्ट्रो के रूप म राष्ट्रो की प्रतिबद्धता के विभिन्न स्तर भी हैं। प्रारम्भिक तौर पर

वर्ष सम्मेलन	सदस्य		पर्यवेक्षक		अतिथि	
	राष्ट्र	सगठन	राष्ट्र	सगठन	राष्ट्र	सगठन
1961 बेलग्रेड (युगोस्लाविया)	25	—	3	—	—	—
1964 काहिरा (मिस्र)	47	—	10	2	—	—
1970 लुसाका (जाम्बिया)	53	—	12	1	—	5
1973 अल्जीरियस (अल्जीरिया)	75	—	9	—	3	12
1976 कोलबो (श्री लका)	86	1	9	13	7	—
1979 हवाना (क्यूबा)	95	2	9	8	10	—

तर सफल अनुभव हुए। उपनिवेशवाद का अन्त और तृतीय विश्व की स्वतन्त्रता इस समायोग की साक्षी है। लेकिन ऐतिहासिक रूप से उभरी वैचारिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया और उसकी उत्तरोत्तर उग्रता का गुटनिरपेक्ष आदोलन पूर्ण रूप मे आत्मसात करने मे अभी असफल रहा है। गुटनिरपेक्षता एक दोहरी मानसिकता के भवर मे फसी है। एक ओर एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एव राजनैतिक व्यवस्था की कामना है, तो दूसरी ओर इसमे सफलता हेतु आवश्यक निर्णायक वैचारिक दृष्टि और निर्णय का अभाव भी। प्रतिबद्धता और वैचारिक निश्चय के बिना व्यवस्थागत बदलाव का साकार करना गुटनिरपेक्ष आदोलन का एक आत्मघाती दिवास्वप्न है। क्या इतिहास की निर्णायक गति मे जो कि वैचारिक ध्रुवीकरण की उत्तरोत्तर उग्रता को दर्शाती है, ऐसा आत्मघात सभव है ? क्या ध्रुवीकृत वैचारिकता के बिना निर्णायिक व्यवस्था परिवर्तन की परिकल्पना सापेक्ष बन सकती है ? इन प्रश्नो पर, इतिहास का स्वर स्पष्ट रूप से नकारात्मक है। न तो तृतीय विश्व के आर्थिक एव राजनैतिक आयोजन का विघटन सभव है, और न ही वैचारिक ध्रुवीकरण के बिना व्यवस्थागत बदलाव। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो की स्पष्ट प्रस्तावना भले न भी हो, गुटनिरपेक्ष आदोलन मे उत्तरोत्तर वैचारिक ध्रुवीकरण भावी विकास की एक अपरिहार्य आवश्यकता है। साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था और उसका राजनैतिक स्वरूप एक ही शोषण की दो स्थितिया हैं। आर्थिक शोषण से मुक्ति गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की ऐतिहासिक आवश्यकता है। वैचारिक ध्रुवीकरण इसका अपरिहार्य और अनिवार्य अभिप्राय है। आवश्यकता से जुडकर अभिप्राय से विमुख होना नितात असभव है।

इतिहास की गति से लगाव और अलगाव के बीच गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की अन्तरग प्रवृत्तियो का विकास हुआ है। इन विभिन्न प्रवृत्तियों मे, प्रारम्भिक झिझक के बाद, उत्तरोत्तर ऐतिहासिक दृष्टि का विकास हुआ। विभिन्न और धार्मिक सकोच अपना महत्व खो चुके हैं और गुटनिरपेक्षता अपनी परिभाषा के तात्विक आधार पर केन्द्रित हुई है। इस पूरी प्रक्रिया और भावी वैचारिक मथन की आवश्यक सभावनाओं को सक्षेप मे निम्न प्रमुख प्रवृत्तियो के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है—

1 एशिया अफ्रीका के समस्त राष्ट्रों मे परस्पर सहयोग का प्रारम्भ एक साधारण और अपरिभाषित आधार पर, बाडुग सम्मेलन के रूप मे हुआ।

2 एक स्पष्ट परिभाषित उद्देश्य और सहयोगी राष्ट्रो के मापदण्ड का प्रश्न प्रारम्भिक रूप से विवादास्पद रहा। लेकिन, ऐतिहासिक आवश्यकता और भारत, मिस्र एव युगोस्लाविया के स्पष्ट दृष्टिकोण

अतिथि अथवा पयवेक्षक के रूप मे सम्मिलित होने के बाद अनक राष्ट्र इसके पूर्ण सदस्य भी बने। सिफ मान्यता प्राप्त सरकारों के साथ साथ गुटनिरपेक्ष आदोलन न विभिन्न राष्ट्रीय सघर्षो म सलग्न सगठनो को भी अपने आंदोलन मे समाहित किया है। इस प्रकार का गुटनिरपेक्ष आंदोलन का विस्तार निम्न सारणी मे क्रमबद्ध रूप से व्यक्त है—

सदस्यता म विस्तार के साथ साथ, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म बदलते सदर्भों की तुलना मे, गुटनिरपेक्षता न अपनी वचारिक समझ को भी विस्तृत किया। इस वचारिक परिपक्वता न गुटनिरपेक्ष आदोलन म एक स्थाई आत्मविश्वास पदा किया और इसके प्रतिरोधी स्वर को और अधिक मुखरित बनाया। प्रारम म अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शोषण की प्रक्रिया को गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो ने एक सतही अभिव्यक्ति के रूप म समझा। लेकिन उत्तरोत्तर विकास में गुटनिरपक्ष आदोलन मे इस शोषण की प्रक्रिया को इसकी ऐतिहासिक विरासत और व्यवस्थागत स्वरूप म भी आत्मसात किया। उनकी दृष्टि अब स्पष्ट थी, यह कि शोषण किन्ही नीतियो का कोई ऐच्छिक परिणाम नही है बल्कि एक व्यवस्थागत बदलाव का प्रश्न है। इस शोषण की व्यवस्था का मूलभूत आर्थिक आधार साम्राज्यवाद से उपजता है और इस आधार पर ही राजनतिक शोषण और असमानता की नीव भी रखी है। आर्थिक और राजनैतिक लडाई एक दूसरे की पूरक है और इन दोनो ही स्तरो पर बराबर बल व्यवस्थागत बदलाव के सघष के लिए आवश्यक है। इस दायित्व के निर्वाह के लिए गुटनिरपक्षता ही एकमात्र ऐतिहासिक शक्ति है। कोलम्बो अधिवेशन मे यह घोषणा की गई कि "गुटनिरपेक्ष आदोलन साम्राज्यवाद के प्रत्येक स्वरूप और अभिव्यक्ति के विरुद्ध और अन्य प्रकार क समस्त अधिपत्य के विरुद्ध सघष के लिए एकमात्र सक्षम शक्ति है।" गुटनिरपेक्षता के चितन और व्यवहार म उभरता हुआ यह आर्थिक दृष्टिकोण और उसे व्यवस्थागत रूप म समझन और राजनतिक शोषण से जोडने की जागरूकता, इसके वैचारिक पक्ष का एक निर्णायक पडाव है। इस मानसिकता को आत्मसत करने के फलस्वरूप, गुटनिरपेक्ष आदोलन म अनेक औपचारिक शकाओ की समाप्ति हुई है और, इसमें बदलाव की एक ऐतिहासिक शक्ति का प्रारूप समा गया है। इन प्रवत्तियो का विकास न तो आकस्मिक ही था और न ही बिना एक लम्बे मन्थन के प्रतिफलित। ऐसी जागरूकता का विकास एक क्रमबद्ध रूप म हुआ है।

प्रवृत्तियों का दिशा-बोध एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

अनेक प्रश्नो पर गुटनिरपेक्ष आदोलन के स्वर और इतिहास की ताल म एक सहज अनुरूपता थी। ऐसे समस्त प्रश्नों पर गुटनिरपेक्ष आदोलन को निर-

तर सफल अनुभव हुए। उपनिवेशवाद का अन्त और ततीय विश्व की स्वतन्त्रता इस समायोग की साक्षी है। लेकिन ऐतिहासिक रूप स उभरी वैचारिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया और उसकी उत्तरोत्तर उग्रता को गुटनिरपेक्ष आदोलन पूर्ण रूप से आत्मसात करन म अभी असफल रहा है। गुटनिरपेक्षता एक दोहरी मानसिकता के भवर म फसी है। एक ओर एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एव राजनतिक व्यवस्था की कामना है, तो दूसरी ओर इसमे सफलता हेतु आवश्यक निणायक वचारिक दष्टि और निर्णय का अभाव भी। प्रतिबद्धता और वचारिक निश्चय के बिना व्यवस्थागत बदलाव का साकार करना गुटनिरपेक्ष आदोलन का एक आत्मघाती दिवास्वप्न है। क्या इतिहास की निणायक गति म जा कि वचारिक ध्रुवीकरण की उत्तरोत्तर उग्रता को दर्शाती है, ऐसा आत्मघात सभव है? क्या ध्रुवीकृत वैचारिकता के बिना निर्णायक व्यवस्था परिवतन की परिकल्पना सापेक्ष बन सकती है? इन प्रश्नो पर, इतिहास का स्वर स्पष्ट रूप से नकारात्मक है। न तो तृतीय विश्व के आर्थिक एव राजनतिक आयोजन का विघटन सभव है और न ही वैचारिक ध्रुवीकरण के बिना व्यवस्थागत बदलाव। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रा की स्पष्ट प्रस्तावना भले न भी हो, गुटनिरपेक्ष आदोलन मे उत्तरोत्तर वैचारिक ध्रुवीकरण भावी विकास की एक अपरिहाय आवश्यकता है। साम्राज्यवादी अथव्यवस्था और उसका राजनतिक स्वरूप एक ही शोषण की दो स्थितिया हैं। आर्थिक शोषण से मुक्ति गुटनिरपेक्ष राष्ट्रा की ऐतिहासिक आवश्यकता है। वैचारिक ध्रुवीकरण इसका अपरिहाय और अनिवाय अभिप्राय है। आवश्यकता से जुडकर अभिप्राय से विमुख होना, नितात असभव है।

इतिहास की गति से लगाव और अलगाव के बीच गुटनिरपेक्ष आदोलन की अन्तरग प्रवत्तिया का विकास हुआ है। इन विभिन्न प्रवत्तिया म, प्रारंभिक झिझक के बाद, उत्तरोत्तर ऐतिहासिक दृष्टि का विकास हुआ। विभिन्न औपचारिक सकोच अपना महत्व खो चुके हैं और गुटनिरपेक्षता अपनी परिभाषा के तात्विक आधार पर केंद्रित हुई है। इस पूरी प्रक्रिया और भावी वचारिक मथन की आवश्यक सभावनाओ को सक्षेप मे निम्न प्रमुख प्रवत्तियों के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है—

1 एशिया अफ्रीका के समस्त राष्ट्रों मे परस्पर सहयोग का प्रारम्भ एक साधारण और अपरिभाषित आधार पर, बाडुग सम्मेलन के रूप म हुआ।

2 एक स्पष्ट परिभाषित उद्देश्य और सहयोगी राष्ट्रो के मापदण्ड का प्रश्न, प्रारम्भिक रूप से विवादास्पद रहा। लेकिन, ऐतिहासिक आवश्यकता और भारत, मिश्र एव युगोस्लाविया के स्पष्ट दृष्टिकोण

न गुटनिरपेक्षता के आदोलनात्मक स्वरूप का सूत्रपात किया। तात्कालिक अन्तर्राष्ट्रीय सदभ और ततीय विश्व की स्वतन्त्र भूमिका की चाह न इस एक विशिष्ट राजनतिक स्वरूप और स्वर दिया। इस प्रारभिक स्थिति म भी, गुटनिरपेक्ष आदोलन अपन अन्य मूलभूत ऐतिहासिक दायित्वो स विमुख नही था। उपनिवेशवाद, रगभेद नीति और एक दूरगामी विश्वशांति की स्थापना, आदि प्रश्न गुटनिरपेक्षता से अन्तरग रूप से जुडे रहे। शीतयुद्ध का तात्कालिक वातावरण गुटनिरपेक्षता का कारक नहीं, अपितु मात्र उत्प्रेरक सदभ था।

3 स्वत प्रेरणा न नही, अपितु निरतर कटु अनुभवों न गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो को एक नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण के विकास हेतु प्रेरित किया। इस प्रेरणा क फलीभूत होन तक गुटनिरपेक्ष आदोलन मात्र औपचारिक अभिव्यक्ति का कर रह गया। 1964 स 1970 तक इसकी निष्क्रियता, जिसके बीच कोई सम्मेलन नही हुआ, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। इस निष्क्रियता का एक अन्य महत्वपूण कारण था। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय राजनतिक घटनाओ म गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो का मतक्य नही था,और परस्पर सम्बन्धो के स्तर पर भी राजनैतिक सौहाद का कोई विशेष आधार भी नही। अत गुटनिरपेक्ष आदोलन क राजनतिक स्तर पर पुनर्जीवन के लिए भी नये आधारभूत प्रयोजनो की आवश्यकता थी।

4 6 वष के अन्तराल के बाद, 1970 मे गुटनिरपेक्ष आदोलन की पुन सक्रिय स्थापना, एक गुणात्मक परिवतन को सहेजे थी। राजनतिक दृष्टि मे भले ही नही, लेकिन अधिक शोषण की अवस्था मे समस्त गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो म एकता का एक दूरगामी मूलभूत आधार था। इस दूरगामी आधार की समझ ने गुटनिरपेक्ष आदोलन न सिर्फ एक नई चेतना, अपितु सक्रियता भी दी। आर्थिक सघष सगठन का आधार बना। इस ऐतिहासिक मोड के बाद, आदोलन मे एक निरतर विस्तार की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ, जिसके बाद पीछे मुडकर देखन की आवश्यकता और सभावना समाप्त प्राय हो गई।

5 इस नयी प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर विकास हुआ। प्रारभिक समझ की आस्था सुधारवादी कायक्रम मे थी। अनुभवों ने इसे व्यवस्थापरक बनाया। व्यवस्थागत समय का उदय, इसकी नयी ऐतिहासिकता का परिचायक बना। सघष की सीमाए अब सुधारवादी

नहीं रही। नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की माँग के साथ, गुट-निरपेक्ष आंदोलन इतिहास में उभरते व्यवस्थागत और मूलभूत द्वन्द्व के साथ जुड़ गया।

6 व्यवस्थागत समझ में विकास का अगला पड़ाव एक द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति थी। गुटनिरपेक्ष आंदोलन राजनैतिक है अथवा आर्थिक, इस औपचारिक विवाद पर विराम लगा। कोलम्बो सम्मेलन ने दोनों पक्षों को एक दूसरे का पूरक घोषित किया। एक मानवीय राजनैतिक व्यवस्था के लिए आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन अनिवार्य है, और नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को साकार करने हेतु एक राजनीतिक एकजुटता और निश्चय भी आवश्यक और अपरिहार्य शर्त। गुटनिरपेक्ष दृष्टिकोण में विकास की यह एक नयी स्थिति बनी।

7 इस विकसित स्थिति ने नये विवादों को जन्म दिया है। राजनैतिक एकजुटता का व्यावहारिक स्वरूप क्या हो, इस प्रश्न पर हवाना सम्मेलन परस्पर प्रतिद्वन्द्वी प्रवृत्तियों का परिचायक है। एक ओर यह है। एक और अत्यधिक दुर्बल पक्ष था। वह यह कि विकास की आवश्यकताओं और अन्य राष्ट्रों में उपलब्ध संसाधनों को देखते हुए, पश्चिमी राष्ट्रों से जुड़ा जाय। सिंगापुर और जेयर द्वारा प्रस्तावित इस मत को सम्मेलन ने गम्भीरता से नहीं लिया क्योंकि यह मूलत विचित्र और हास्यास्पद था। क्यूबा आदि द्वारा प्रस्तावित सिद्धांत कि समाजवादी राष्ट्र गुटनिरपेक्ष आंदोलन के "स्वाभाविक सहयोगी" है, सम्मेलन में अत्यधिक चर्चित हुआ। इस पर तीव्र मत और विमत व्यक्त हुए। अन्तत मतैक्य के अभाव में प्रस्ताव पर बल नहीं दिया गया।

8 हवाना सम्मेलन में समाजवादी राष्ट्रों को "स्वाभाविक सहयोगी" की औपचारिक मान्यता देने के प्रश्न पर उभरे विवाद से एक प्रवृत्ति भी अभिव्यक्त होती है। ऐसे विवाद का उठना आकस्मिक कदापि नहीं था। समाजवादी राष्ट्रों, विशेषत सोवियत संघ के प्रति अनेक गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की निकटता, गुटनिरपेक्ष आंदोलन में ऐतिहासिक रूप से आवश्यक वैचारिक ध्रुवीकरण के विकास की ही एक अभिव्यक्ति है। स्वाभाविक था कि, कुछ राष्ट्र जो ऐसे ध्रुवीकरण के पक्षधर नहीं थे, अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते। लेकिन ये राष्ट्र भी, औपचारिक मान्यता के विरुद्ध होते हुए भी इस निरन्तर उभरती प्रक्रिया के सहभागी रहे थे। गुटनिरपेक्ष

वहारिक था। अत पश्चिमी राष्ट्रा के साथ किसी भी रूप म एकरूपता का भाव असम्भव प्राय रहा। अतिम, इसके ठाक विपरीत राष्ट्रीय आदोलन की विचारधारा का समाजवादी वैचारिकता से काई मूलभूत अलगाव नही था। कि ही स्थितियो मे तो इसी विचारधारा के तत्वाधान म राष्ट्रीय आदोलन आयोजित हुए। एसी स्थित म सोवियत यवस्था और विचारधारा के प्रति सहिष्णुता का दष्टिकाण था। सोवियत सघ का यदा-कदा और अस्पष्ट विरोध, विचारधारागत अथवा व्यवस्थागत नही अपितु परिस्थितिगत और तात्कालिक अ तर्राष्ट्रीय विवादो के सदभ म ही सम्भव हो सका।

9 लेकिन इस आवश्यक वैचारिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया के अधिक स्पष्ट विकास म कुछ मूलभूत अतविराध निहित है। इन अतविरोधो को स्पष्ट रूप से रेखाकित करना एक यथाथवादी आवश्यकता है। सभी गुट निरपेक्ष राष्ट्रो के राष्ट्रीय आदोलनो का विशिष्ट सदभ एक जसा नही रहा है। अत राष्ट्रीय आदोलन के नेतत्व का वग चरित्र और वचारिक दष्टिकोण, एक अत्यधिक मूलभूत पक्ष है। समस्त राष्ट्रो का साम्राज्यवाद की व्यवस्था से तो अतर्विराध है, लेकिन एक निश्चित ऐतिहासिक वग दष्टि के अभाव म, समाजवादी वचारिकता से दूरगामी प्रतिबद्धता भी उतनी ही सदेहास्पद है। आतरिक रूप से स्वय शोपण की व्यवस्था पर आरूढ, और साम्राज्यवादी शापण का यवस्थागत विरोध, एक ऐतिहासिक विडबना है। इस मूलभूत ऐतिहासिक प्रश्न के निवारण के साथ गुट निरपेक्षता म भावी ध्रुवीकरण की प्रक्रिया अतरग रूप से जुडी है। इतिहास की दष्टि दोनो ही स्तरो के अतविरोधा पर केद्रित है अ य अवरोध, मूलत औपचारिक है। सोवियत सघ समाजवादी यवस्था का प्रतीक है। अत उसकी नीतियो म हान वाली गलत अभिव्यक्तियो का साधारणतया समाजवादी व्यवस्था के दाप का अभिप्राय समझ लिया जाता है। एक अ य पक्ष तृतीय राष्ट्रा के नवादित नेतत्व, विशेषत अफ्रीका के सदभ म, एक विचित्र मानसिकता का परिचायक है। सास्कृतिक शोपण के भी शिकार रहने के फलस्वरूप, इन राष्ट्रों म "स्वतत्रता के लिए स्वतत्रता" की विचित्र मानसिकता व्याप्त है। यह मानसिकता उ ह अपनी तथा कथित 'विशि ट स्थिति' क माह म उलझाती है और एक एतिहासिक आर सर्वभूत दृ िट से विमुख भी करती है।

आंदोलन व आज तक के अनुभवो म, अमरिका एव अय पश्चिमी राष्ट्रा की निरतर तीव्र भत्सना हुई, लकिन एक भी प्रस्ताव म आलोचना हेतु सोवियत सघ का स्पष्ट उल्लेख नही मिला। यही नही, कोलम्बो सम्मेलन म यह प्रस्ताव पारित हुआ कि समाजवादी राष्ट्रो से निकट के आर्थिक सम्बध स्थापित किय जायें, और इस हेतु इन राष्ट्रा से यह अपील भी की गई कि व गुटनिरपक्ष राष्ट्रा के हितो को बढान हतु विशेष सुविधाओ का प्रावधान करें। साम्राज्यवाद और नव उपनिवशी शोपण के विरुद्ध एसी निकटता का उभरना वस्तुत स्वाभाविक था। इसके अनेक ऐतिहासिक एव व्यावहारिक कारण रह है। पहला, सोवियत सघ के एक प्रतिद्वन्द्वी शक्ति के रूप मे अभ्युदय न साम्राज्यवादी व्यवस्था के प्रभाव को सीमित किया और एक नय सतुलन को जम दिया। इस स्थिति न उस प्रक्रिया के लिए उचित वातावरण तयार किया, जिसमे उपनिवशवाद क विरुद्ध आदोलना का बल मिला और इस ऐतिहासिक प्रक्रिया म गति आई। दूसरा, सोवियत सघ द्वारा ऐस सघर्षो को खुला और प्रभावी सहयोग और समथन दिया गया। तीसरा, शीत युद्ध की अवस्था म भी, पश्चिमी राष्ट्रो की तरह सोवियत सघ न सनिक गठबधनों की उग्रवादी नीति नही अपनाई और अयत्र राष्ट्रो मे अपने उभरते प्रभाव का सचालन द्विपक्षीय आधार पर किया। चौथा, सयुक्त राष्ट्र सघ के मच से सोवियत सघ न रगभेद नीति, उपनिवशवाद और साम्राज्यवाद के प्रश्ना पर गुटनिरपेक्ष राष्ट्रा के दृष्टिकोण का निरतर समथन किया जबकि पश्चिमी राष्ट्रो की भूमिका इसक ठीक विपरीत रही। पाचवा, सोवियत सघ क योजनाबद्ध विकास की अथयवस्था की सफलता, ततीय विश्व के आर्थिक स्वतत्रता की अथव्यवस्था के सघप मे प्रेरणादायी बनी। यही नही, अनेक गुटनिरपक्ष राष्ट्रो के साथ आर्थिक सम्बधा म सोवियत सघ द्वारा द्विपक्षीय स्तर पर निरतर सहायता दी गई, जिसकी व्यापारिक शर्तें पश्चिमी नीति से कही अधिक उदार और भिन्न थी। छठा, राजनतिक व्यवस्था और विचारधारा क स्तर पर पश्चिमी मायतायें ततीय राष्ट्रों के अनुभव की दृष्टि से अनुपयोगी और अयावहारिक सिद्ध हुई। विचारधारा के स्तर पर टकराव राष्ट्रीय आदोलन के अनुभवों से उपजा। आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक सदभा म मूलभूल भिनता के कारण, पश्चिमी लोकतत्रीय व्यवस्था द्वारा शासन का सचालन स्वाभाविक रूप स अय-

वहारिक था। अत पश्चिमी राष्ट्रो के साथ किसी भी रूप मे एकरूपता का भाव असम्भव प्राय रहा। अन्तिम, इसके ठाव विपरीत राष्ट्रीय आदोलन की विचारधारा का समाजवादी वचारिकता से कोई मूलभूत अलगाव नही था। कि ही स्थितिया म तो इसी विचारधारा के तत्वाधान म राष्ट्रीय आदोलन आयोजित हुए। ऐमी स्थिति म सोवियत व्यवस्था और विचारधारा के प्रति सहिष्णुता का दष्टिकोण था। सोवियत सघ का यदा-कदा और अस्पष्ट विरोध, विचारधारागत अथवा व्यवस्थागत नही अपितु परिस्थितिगत और तात्कालिक अतर्राष्ट्रीय विवादो के सदभ म ही सम्भव हो सका।

9

लेकिन इस आवश्यक वचारिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया के अधिक स्पष्ट विकास म कुछ मूलभूत अतविरोध निहित हैं। इन अतविरोधो को स्पष्ट रूप से रेखाकित करना एक यथार्थवादी आवश्यकता है। सभी गुट निरपेक्ष राष्ट्रो के राष्ट्रीय आदोलनो का विशिष्ट सदभ एक जसा नही रहा है। अत राष्ट्रीय आदोलन के नतत्व का वग-चरित्र और वचारिक दष्टिकोण एक अत्यधिक मूलभूत पक्ष है। समस्त राष्ट्रो का साम्राज्यवाद की व्यवस्था से तो अतविरोध है लेकिन एक निश्चित ऐतिहासिक वग दष्टि के अभाव म, समाजवादी वचारिकता से दूरगामी प्रतिबद्धता भी उतनी ही सदेहास्पद है। आतरिक रूप से स्वय शोषण की व्यवस्था पर आरूढ, और साम्राज्यवादी शोषण का व्यवस्थागत विरोध, एक ऐतिहासिक विडबना है। इस मूलभूत ऐतिहासिक प्रश्न के निवारण के साथ गुट निरपेक्षता म भावी ध्रुवीकरण की प्रक्रिया अतरग रूप से जुडी है। इतिहास की दष्टि दोना ही स्तरो के अतविरोधो पर केद्रित है अय अवरोध मूलत औपचारिक है। सोवियत सघ समाजवादी व्यवस्था का प्रतीक है। अत उसकी नीतिया म होन वाली गलत अभिव्यक्तिया को साधारणतया समाजवादी व्यवस्था के दोष का अभिप्राय समझ लिया जाता है। एक अय पक्ष ततीय राष्ट्रो के नवोदित नतत्व, विशषत अफ्रीका के सदभ म, एक विचित्र मानसिकता का परिचायक है। सास्कृतिक शोषण क भी शिकार रहने क फलस्वरूप इन राष्ट्रो म 'स्वतत्रता क लिए स्वतत्रता की विचित्र मानसिकता व्याप्त है। यह मानसिकता उह अपनी तथाकथित विशिष्ट स्थिति' क मोह म उलझाती है और एक एतिहासिक और सर्वभूत दष्टि स विमुख भी करती है।

राष्ट्रीयकरण कर दिया। स्वेज विवाद सयुक्त राष्ट्र सघ के सामने रखा गया जिसम अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के प्रस्ताव पर सोवियत सघ ने वीटो कर दिया। इजरायल ब्रिटन और फ्रास ने स्वेज क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। 2 नवम्बर 1956 को अमेरिका द्वारा प्रस्तुत यह प्रस्ताव सयुक्त राष्ट्र महासभा म पास हो गया कि ब्रिटन तथा फ्राम सनिक कायवाही तुरन्त बन्द कर दे। युद्धबन्दी के लिए सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना तैयार करन का प्रस्ताव भी पास किया गया तथा तब सोवियत सघ न भी ब्रिटन और फ्रास को सनिक कायवाही बन्द करन की चेतावनी दी, तब युद्ध बन्द किया गया। 15 नवम्बर को सयुक्त राष्ट्र आपात सेना दस्ता भी भेजा गया।

1967 का अरब इजरायल युद्ध

यद्यपि स्वेज सकट के बाद पश्चिमी एशिया म सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना तैनात की गई थी किन्तु अरबो और इजरायल के बीच तनाव बढता चला गया। फिलीस्तीनी शरणार्थियो की समस्या भी बनी रही। इजरायल और मिश्र की सेना के बीच तनाव बना रहा और 5 जून 1967 को इजरायल ने अरबो पर आक्रमण कर दिया। जोडन, सीरिया, मिश्र आदि बहुत से अरब देश मिलकर भी इजरायल के आक्रमण का सामना नही कर सके। इजरायल ने पाच दिन के युद्ध म ही न केवल अरबो की युद्ध क्षमता का ध्वस्त कर दिया, अपितु मिश्र का साइनाई का क्षेत्र, सीरिया का गोलन पहाडिया, जोडन नदी के पश्चिमी किनारे का बहुत सा क्षेत्र और पूरे जेरुसलम नगर को अपने अधिकार मे कर लिया। इस युद्ध म अमेरिका इजरायल का समथन कर रहा था तथा अरब देशो को सोवियत सघ से मदद मिल रही थी। इस युद्ध मे इजरायल अरबो पर विजयी रहा तथा उसने अवध रूप से अधिकृत भूमि को अपने नियन्त्रण मे बनाए रखा।

अरब और इजरायल के बीच विवाद ही गहरा नही होता गया अपितु इस क्षेत्र मे महाशक्तियो न भी अपन पाव जमा लिए। 1954 म केन्द्रीय सन्धि सगठन (सेन्टो) की स्थापना अमरिका के नतृत्व म की गइ और उसके बाद सोवियत सघ न भी इस क्षेत्र म रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया।

1973 का अक्टूबर युद्ध—योम्किपुर युद्ध

यह अरबो इजरायल के बीच चौथा युद्ध था। अरबो न अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और प्रदेशो को पुन प्राप्त करने के लिए युद्ध प्रारम्भ किया। मिश्र के राष्ट्रपति अनवर सादात न कहा कि यदि अमेरिका इस युद्ध मे इजरायल की सहायता नही करता और उसे नवीनतम आयुधो से लैस नही करता और

अध्याय—11

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे अधुनातन समयाए एव तनाव क्षेत्र

पश्चिमी एशिया और अरब इजरायल विवाद

पश्चिमी एशिया अथवा मध्य पूर्व विश्व राजनीति म द्वितीय महायुद्ध के बाद बहुत महत्वपूण रह हैं। फिलीस्तान का प्रदेश प्रथम महायुद्ध के बाद ब्रिटेन को सरक्षित प्रदेश (मेडेट) के रूप मे प्राप्त था। फरवरी 1947 म ब्रिटेन न घोषणा की कि उसके लिए इस मेडेट का शासन प्रबध चलाना सम्भव नही है ब्रिटेन द्वारा यह समस्या सयुक्त राष्ट्र सघ के समक्ष प्रस्तुत की। फिलीस्तीन को दो भागो म विभाजित करन का निणय लिया गया, लेकिन अरबा और यहूदियो मे सघप प्रारम्भ हुआ। यहूदियो ने इजरायल राज्य की घोषणा कर दी और इराक लेबनान आदि अरब राष्ट्रों न फिलीस्तीन पर आक्रमण कर दिया लेकिन अरब राज्य इजरायल के प्रत्याक्रमण को नही झेल पाए। सयुक्त राष्ट्र सघ ने कई बार युद्ध विराम कराया। महाशक्तियो ने इजरायल नाम के राज्य को मान्यता दे दी।

इजरायल के निर्माण के समय से ही पश्चिमी एशिया मे तनाव बना हुआ है और 1948 से अब तक इस क्षेत्र मे स्थायी शान्ति स्थापित नही हो पाई है।

स्वेज सकट

स्वेज नहर भू राजनीतिक दृष्टि से बडी महत्वपूण है। सन् 1869 मे निर्मित यह नहर ब्रिटेन तथा फ्रास की एक कम्पनी द्वारा सचालित थी और यहा पर ब्रिटेन की सेना भी रखी गई थी। जुलाई 1954 म एक समझौते द्वारा सेनाए हटा भी ली गई। लेकिन मिश्र और पश्चिमी राष्ट्रो के सम्बन्धो मे सुधार नही हुआ। 26 जुलाई 1956 को राष्ट्रपति नासिर ने स्वेज नहर का

राष्ट्रीयकरण कर दिया। स्वेज विवाद सयुक्त राष्ट्र सघ के सामने रखा गया जिसम अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के प्रस्ताव पर सोवियत सघ ने वीटो कर दिया। इजरायल ब्रिटन और फ्रांस न स्वेज क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। 2 नवम्बर 1956 को अमरिका द्वारा प्रस्तुत यह प्रस्ताव सयुक्त राष्ट्र महासभा म पास हुआ गया कि ब्रिटन तथा फ्राम सनिक कार्यवाही तुरन्त बन्द कर दे। युद्धबन्दी के लिए सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना तयार करन का प्रस्ताव भी पास किया गया तथा तब सोवियत सघ न भी ब्रिटेन और फ्रास को सनिक कायवाही बन्द करने की चेतावनी दी, तब युद्ध बन्द किया गया। 15 नवम्बर को सयुक्त राष्ट्र आपात सेना दस्ता भी भेजा गया।

1967 का अरब इजरायल युद्ध

यद्यपि स्वज सकट के बाद पश्चिमी एशिया म सयुक्त राष्ट्र सघ की सना तनात की गई थी किन्तु अरबो और इजरायल क बीच तनाव बढता चला गया। फिलीस्तीनी शरणार्थियो की समस्या भी बनी रही। इजरायल और मिश्र की सेना क बीच तनाव बना रहा और 5 जून 1967 को इजरायल ने अरबो पर आक्रमण कर दिया। जोडन, सीरिया, मिश्र आदि बहुत से अरब देश मिलकर भी इजरायल के आक्रमण का सामना नही कर सके। इजरायल न पाच दिन के युद्ध म ही न केवल अरबो की युद्ध क्षमता का ध्वस्त कर दिया, अपितु मिश्र का साइनाई का क्षेत्र, सीरिया का गोलन पहाडिया, जोर्डन नदी के पश्चिमी किनारे का बहुत सा क्षेत्र और पूरे जेरुसलम नगर को अपने अधिकार मे कर लिया। इस युद्ध म अमेरिका इजरायल का समथन कर रहा था तथा अरब देशो को सोवियत सघ से मदद मिल रही थी। इस युद्ध मे इजरायल अरबो पर विजयी रहा तथा उसने अवध रूप से अधिकृत भमि को अपने नियन्त्रण म बनाए रखा।

अरब और इजरायल के बीच विवाद ही गहरा नही होता गया अपितु इस क्षेत्र म महाशक्तियो न भी अपन पाव जमा लिए। 1954 म केन्द्रीय सन्धि सगठन (सेन्टो) की स्थापना अमेरिका के नेतृत्व में की गई और उसके बाद सोवियत सघ न भी इस क्षेत्र म रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया।

1973 का अक्टूबर युद्ध—योम्किपुर युद्ध

यह अरबो इजरायल के बीच चौथा युद्ध था। अरबो ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और प्रदेशो को पुन प्राप्त करने के लिए युद्ध प्रारम्भ किया। मिश्र के राष्ट्रपति अनवर सादात न कहा कि यदि अमेरिका इस युद्ध म इजरायल की सहायता नही करता और उसे नवीनतम आयुधो से लैस नही करता और

सोवियत सघ से अरब राष्ट्रों को आधुनिकतम सहायता प्राप्त होनी तो इजरायल के लिए यह युद्ध महगा पडता । युद्ध के समय सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की कई बठक बुलाई गई, लकिन रूस चाहता था कि इजरायल को 1967 के युद्ध से पहले की स्थिति पर लौटाने के बारे म प्रस्ताव पारित किया जाए। केवल वतमान युद्ध से पूव की स्थिति लाने से सम्बधित प्रस्ताव ही पारित हो सके ।

22 अक्टूबर का रूस तथा अमरिका न सयुक्त प्रस्ताव रखा, जिसम यह माग की गई कि युद्धरत पक्ष तुर त युद्ध ब द कर द और जो जिस जगह है उस जगह ही रह। इस प्रस्ताव की स्वीकृति के लिए 12 घटे के अ दर सारी कायवाही रोक दे। युद्ध ब दी क तुरन्त बाद सुरक्षा परिषद क 1967 के 242वें प्रस्ताव को पूण रूप से लागू किया जाए जिसम कहा गया है कि इजरायल अवध रूप से अधिकृत अरब क्षेत्रो स अपनी सनाए लौटा ले। सम्बधित पक्ष स्थायी शाति की स्थापना क लिए समझौता वार्ता प्रारम्भ कर दे । इस प्रस्ताव का सीरिया ने स्वीकार नही किया और अमेरिका तथा सोवियत सघ के बीच भी तनाव उत्पन्न हो गया। इजरायल और मिश्र द्वारा युद्ध विराम स्वीकार कर लेन क बाद सयुक्त राष्ट्र आपात सेना के गठन के बार म विचार विमश हुआ और एक सनिक टुकडी तुरत युद्ध विराम का उल्लघन रोकने के लिए तैनात कर दी गई ।

अ त म 11 नवम्बर 1973 को इजरायल और मिश्र के बीच छ सूत्री समझौते पर हस्ताक्षर किए गए । दोनो पक्षो को गत युद्धो की अपेक्षा इस इस युद्ध म अधिक क्षति हुई। युद्धविराम के बाद मिश्र और इजरायल के मध्य समझौता वार्ता चलती रही। किन्तु समस्या का स्थायी समाधान नही हो पाया। राष्ट्रपति सादात यह मानकर चले कि इजरायल अपनी घरेलू परिस्थितिया के कारण शाति स्थापना चाहता है और यदि कटु रुख न अपनाया जाए तो दोनो पक्षो के बीच समझौता हो सकता है।

तेल कूटनीति और पेट्रो डालर राजनीति

1973 के अक्टूबर युद्ध के बाद भी अरब इजरायल विवाद का समाधान कोसो दूर रहा। तेल निर्यातक देशो के सगठन द्वारा पेट्रोल की कीमतो म 1973 से कई गुना वद्धि की गई। इसके निम्न परिणाम हुए —

1 अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऊर्जा सकट।
2 तेल के मूल्यो म भारी वृद्धि ।
3 अमरिका की मुद्रा डॉलर की अन्तर्राष्ट्रीय साख गिरना।
4 औद्योगिक दशो मे गम्भीर उर्जा सकट।

5 अरब देशा की राष्ट्रीय आय म बहुत अधिक वद्धि।
6 अमेरिका की पश्चिमी एशिया तथा अरब देशो के प्रति नीति म परिवतन।

1974 से 1976 तक तत्कालीन अमेरिकन विदेश मन्त्री हैनरी किसीजर न कई अरब देशो की यात्राए की और उनसे सम्ब ध सुधारन के प्रयास किए। 1973 के युद्ध मे पहले मिश्र और सोवियत सघ के बीच सम्बन्ध बिगडने लगे थे जो कि आगे चलकर बिल्कुल खराब हो गए और राष्ट्रपति सादात न 1976 म सोवियत सघ के साथ 1971 म की गई शाति मित्रता और सहयोग की सन्धि को ठुकरा दिया। मिश्र धीरे धीरे अमेरिका के पक्ष म होता चला गया और 1978 मे अमेरिका की मध्यस्थना से ही इजरायल और मिश्र के बीच कैम्प डेविड समझौता हो गया।

पश्चिमी एशिया में महाशक्तियो की प्रतिस्पर्धा

1945 के बाद अमेरिका और सोवियत सघ दाना महाशक्तियो क रूप म उभरे तथा उनके हित और नीतियाँ विश्व व्यापी होती चली गई। पश्चिमी एशिया म भी उनके निम्न हित हैं —

1 कूटनीतिक प्रतिस्पर्धा।
2 सामरिक हित।
3 व्यापारिक और आर्थिक हित।
4 पारस्परिक प्रभाव को कम करने से सम्बंधित हित।
5 तेल हित (विशेष अमेरिका के)

अमेरिका और सोवियत सघ प्रारम्भ से ही क्रमश इजरायल और अरब दशो का समथन करते रहे जा कि स्वेज सकट के समय से ही स्पष्ट होता है। दोनो देशो द्वारा सयुक्त राष्ट्र सघ म कई प्रस्तावो को वीटा किया जा रहा है। अमेरिकी इजरायल की सुरक्षा व्यवस्था का आधुनिकीकरण करता रहा है और सोवियत सघ ने मिश्र, सीरिया इराक आदि देशो को आयुध प्रदान किए हैं। 1973 के युद्ध मे जिन एस०ए० 2 मिसाइलो, एफ 4 ई फेन्टम विमानो आदि का प्रयोग किया गया था, वे महाशक्तियों द्वारा ही दी हुई है। भूतपूव अमेरिकी विदेश मत्री हेनरी किसीजर की 'शटल' कूटनीति को काटर प्रशासन न भी जारी रखा (जिसका तात्पर्य है विदेश मन्त्री द्वारा पश्चिमी एशिया म एक देश से दूसरे देश बार बार आ जाकर सम्पर्क कायम रखना) अमेरिका ने इस क्षेत्र मे अपने तेल एव सामरिक हितो की रक्षा के लिए अपनी नीति मे परिवतन किया। जनवरी 1644 मे सेनाएँ पुन हटान के बारे मे

हुआ । 4 सितम्बर 1975 को साइनाई क्षेत्र की सेनाओ के बारे म समझौता किया गया ।

सादात की इजरायल यात्रा और कैम्प डेविड समझौते

अमेरिकी प्रयासो एव मध्यस्थता के साथ ही मिश्र की इजरायल के प्रति नीति म परिवर्तन आया और राष्ट्रपति सादात न इजरायल से सम्पर्क प्रारम्भ किया। अरब राष्ट्रो की आलोचना की परवाह न करते हुए अनवर सादात ने इजरायल जान का निर्णय किया और 10 नवम्बर 1977 को उन्होने इजरायल जाने का निर्णय किया और 10 नवम्बर 1977 को उन्होंने इजरायली ससद मे पश्चिमी एशिया म शान्ति स्थापित करने म सहयोग का अनुरोध किया । सादात की यह यात्रा पश्चिमी एशिया की राजनीति म बडी महत्त्वपूर्ण थी। इसके बाद मिश्र और इजरायल नजदीक आते गए ।

सादात की यात्रा के बाद इजरायली प्रधानमन्त्री मिनाचिम बगिन न इस्माइलिया मे आकर सादात से वार्ता की । वार्ताओ मे कई बार गतिरोध उत्पन्न हुए तथा फिलीस्तीनी छापामारो ने बहुत से इजरायली लोगो की हत्या भी की । 15 मार्च 1978 को इजरायल ने पडोसी देश लेबनान म स्थित फिलीस्तीन के छापामार अड्डा पर आक्रमण भी किया ।

तत्कालीन अमरिकी राष्ट्रपति कार्टर के प्रयत्ना से अमेरिका म कम्पडेविड म 13 दिन की नाजुक बातचीत के बाद 18 सितम्बर 1978 को मिश्र और इजरायल के बीच समझौता पर हस्ताक्षर हुए ।

इनम दो दस्तावेज प्रमुख थे —

1 पश्चिमी एशिया में शान्ति से सम्बन्धित दस्तावेज

1 जोर्डन के पश्चिमी किनारे और गाजा पटटी के लोगो को स्वायत्तता प्रदान की जाएगी ।
2 इस क्षेत्र के लोगा का शान्ति वार्ताओ म प्रतिनिधित्व होगा ।
3 यहा के लोगा का नागरिक स्वशासन पाच वर्ष के अन्दर दिया जाएगा ।
4 सक्रान्ति काल मे सुरक्षा सम्बन्धी कारणो के कुछ क्षेत्रा म इजरायल अपनी सेना रखेगा ।
5 शान्ति सम्बन्धी सयुक्त वार्ताए सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद का प्रस्ताव 242 (सन 1967) के सिद्धान्तो पर आधारित होगे ।

2 मिश्र और इजरायल के बीच शान्ति सन्धि से सम्बन्धित बातचीत

इस दस्तावेज के आधार पर इजरायल और मिश्र के बीच शान्ति सन्धि

के बारे म वार्ता जारी रखने का निणय किया गया और इजरायल अधिकृत साइनाई के क्षेत्र को मिश्र को लौटाने की बात की गई।

कैम्प डेविड समझौते की अरब देशो म तीव्र प्रतिक्रिया हुई। सीरिया ने कहा कि इस समझौते द्वारा अरब हितो का बलिदान कर दिया गया है। फिलीस्तीनी मुक्ति मोर्चे के अध्यक्ष यासिर अराफात ने इस समझौते को साम्राज्यवादी चाल पर आधारित बतलाया। सोवियत सघ द्वारा भी कम्पडेविड समझौते की तीव्र भर्त्सना की गई और उसे एक षडयन्त्र की सज्ञा दी गई।

मार्च 1979 मिश्र इजरायली सन्धि

मिश्र और इजरायल के बीच वार्ताओ क कई दौर चले और इसम राष्ट्रपति कार्टर की प्रतिष्ठा भी दाव पर लग गई। और अमेरिका के गभीर प्रयत्नो क बाद 26 माच 1979 को मिश्र और इजरायल के बीच वाशिंगटन म एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए। इस पर राष्ट्रपति कार्टन ने भी हस्ताक्षर किए। सन्धि की प्रमुख व्यवस्थाए हैं —

1 साइनाई क्षेत्र मे इजरायल द्वारा मिश्र की प्रभुसत्ता को स्वीकृति।
2 सन्धि लागू होने के 9 माह के भीतर इजरायली सेनाओ का साइनाई के 2/3 भाग से हटना।
3 इसके बाद दोना पक्षो के बीच राजनीतिक सम्बन्धा की स्थापना।
4 दोनो देशो द्वारा पारस्परिक विवादा को शान्तिपूण प्रयासा द्वारा हल करना।

शान्ति सन्धि का अरब देशा द्वारा तुरन्त विरोध किया गया और अप्रल 1979 मे अरब लीग के देशा न मिश्र का बहिष्कार किया और काहिरा मे अरब लीग का कार्यालय भी हटा लिया। सितम्बर 1979 म हवाना मे गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन म भी मिश्र विरोधी अरब राज्यो न उसके गुटनिरपेक्ष आन्दोलन से निष्कासन की माग की गई जिसके बारे मे निणय स्थगित कर दिया गया किन्तु, इस सधि के बाद अमरिका ने मिश्र का भी आर्थिक तथा सैनिक सहायता देना प्रारम्भ कर दिया और इजरायल और अमेरिका के घनिष्ठ सम्बन्ध बन रहे। मिश्र और इजरायल के बीच 1967 म अधिकृत अन्य अरब क्षेत्रा के बारे म विवाद अभी भी बना हुआ है और इजरायल फिलीस्तीनी स्वायत्तता के बारे मे मिश्र सहित अरब देशों से भिन्न दृष्टिकोण रखता है। फिलीस्तीनी मुक्ति मोर्चे (पी० एल० ओ०) को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा फिलीस्तीनियो का एक मात्र प्रतिनिधि मान लिया गया है। लकिन अमेरिका और इजरायल उसे फिलीस्तीनियो का प्रतिनिधि स्वीकार नही करत। अरब देशो ने मिश्र के विरुदध आर्थिक कूटनीतिक प्रतिबन्ध भी लगाए है।

जेरुसलम इजरायल की राजधानी

तेल अवीव प्रारम्भ से ही इजरायल की राजधानी रहा है। लेकिन 1948 मे इजरायल के निर्माण के समय से ही जेरुसलम नगर के नियन्त्रण की समस्या बनी रही है। यह पूरा नगर इजरायल मे जेरुसलम मुस्लिम तथा यहूदी दोना का धार्मिक स्थल है, इसलिए यह पूरा नगर इजरायल का नही हो सकना किन्तु इजरायल न जेरुसलम पर न केवल अधिकार बनाएँ रखा अपितु उसने जेरुसलम को अपनी राजधानी बनान की घोषणा भी की है जिसे उचित नही कहा जा सकता। सयुक्त राष्ट्र सघ ने जरुसलम को इजरायल की राजधानी बनाने की घोषणा को अनुचित बतलाया है। इस निणय की मिश्र और अमेरिका न भी आलोचना की है।

इजरायल द्वारा ईराक की परमाणु भट्टिया नष्ट किया जाना

इजरायल की आक्रमणकारी और बल प्रयोग वाली नीतियो के कारण पश्चिमी एशिया की समस्या का समाधान कठिन है। उसने 1981 म ईराक की कुछ परमाणु भट्टियो को आक्रमण करके नष्ट कर दिया। यह कायवाही किसी भी देश के आन्तरिक मामला म खुला हस्तक्षेप है जो कि सयुक्त राष्ट्रसघ के चाटर का भी उल्लघन करता है। इजरायल के इस काय की अरब देशा न कटु आलोचना की लेकिन जब सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद मे इजरायल के विरुदध प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया तब अमेरिका ने वीटो कर दिया। इससे अमेरिका के प्रति अरब देशो म विराध तथा नाराजगी बढी है।

1980 मे पश्चिमी यूरोप के देशो ने अरब इजरायली विवाद को सुलझाने म भी योजना प्रस्तुत की जिसम कहा गया था कि इस क्षेत्र के सभी राज्यो की अखण्डता तथा एकता को स्वीकार किया जाए।

साउदी अरब के विदेश मत्री को आठ सूत्री शान्ति योजना

8 अगस्त 1981 को साउदी अरब के राजकुमार फाहाद न पश्चिमी एशिया की समस्या के समाधान के लिए निम्न प्रस्ताव रख —

1 1967 मे अवैध रूप से अधिकृत क्षेत्रो से इजरायल का वापिस लौटना।
2 1967 के युद्ध मे अधिकृत क्षेत्रो पर से इजरायली बस्तियो को हटाना जसे जोडन नदी का पश्चिमी किनारा, गाजापट्टी और सीरिया की गोलन पहाडिया।

3 जेरुसलम जसे पवित्र स्थाना पर सभी धर्मों के लोगो को पूजा की स्वतन्त्रता की गारन्टी देना।
4 20 लाख के लगभग विस्थापित फिलीस्तीनियो के पुनर्वास के अधिकार को मान्यता देना।
5 फिलीस्तीनियो वाले जाडन नदी के पश्चिमी किनारे को सक्रमण काल म कुछ माह के लिए सयुक्त राष्ट्र के सरक्षण मे रखना।
6 जेरुसलम नगर के अरब क्षेत्र को राजधानी बनाते हुए फिलीस्तीनीयो के स्वतत्र राज्य की स्थापना।
7 इस क्षेत्र क सभी राज्या के शान्ति पूवक रहने के अधिकार को मान्यता प्रदान करना (जिनम इजरायल भी सम्मिलित है)।
8 सयुक्त राष्ट्र सघ अथवा इसके सदस्यो द्वारा इन सिद्धान्तो को क्रियान्वित करान की गारन्टी दना।

इस आठ सूत्री शान्ति योजना को कई देशा का समथन प्राप्त होने लगा है और पी० एल० ओ० क अध्यक्ष यासर अराफात न सउदी प्रस्तावा का का स्वागत किया है। इसकी तीव्र आलोचना केवल लीबिया न की है। नवम्बर 1981 के अन्त म अरब लीग सम्मेलन म इस पर विचार हुआ था।

अमेरिकी इजरायली सामरिक समझौता

राष्ट्रपति रीगन के सत्ता म आन के बाद और अफगानिस्तान म सोवियत सनिक उपस्थिति के कारण अमेरिका और इजरायल के बीच सहयोग और मित्रता और गहरी हो गई है। इजरायली प्रधानमत्री बेगिन की अमेरिका यात्रा के समय दोनो देशो न सोवियत विस्तारवाद को रोकन के प्रयासो म सामाजिक सहयोग बढाने का निश्चय किया है जिसम भूमध्यसागर म अमरिका तथा इजरायल के नौसनिक अभ्यास भी सम्मिलित है। किन्तु अमेरिका द्वारा साउदी अरब को "आवाक" वायुयानो के बेचे जाने का निणय इजरायल के हितो का विरोधी है। पश्चिमी एशिया म अमेरिका सोवियत सघ के विरुद्ध अरब देशो को अपन साथ लाना चाहता है किन्तु अरबा के लिए प्रमुख चुनौती इजरायल से है सोवियत सघ से नहीं। इसम अमेरिका मिश्र और इजरायल को ही अपने साथ रख पाया है।

मिश्र के राष्ट्रपति सादात की हत्या

6 अक्टूबर 1981 का मिश्र के राष्ट्रपति सादात की जब वे राष्ट्रीय समारोह के समय एक सनिक परेड दख रहे थे, सेना म से ही कुछ लागो न अचानक हत्या कर दी जो कि एक बडी महत्वपूण तथा अप्रत्याशित घटना थी।

लेबनानी मोर्चों पर लगी हुई हैं और यह इजरायल से स्वय के बूते पर सैनिक सघर्ष छेडने की जोखिम नही उठा सकता। इस समय यह जरूरी है कि अरब दश मिलकर साउदी शान्ति योजना जैसे सामान्य आधार पर एकमत हो।

सयुक्त राष्ट्र महासभा के आपात अधिवेशन म 56 गुट-निरपेक्ष देशो द्वारा प्रस्तुत एक सोलह सूत्री प्रस्ताव का पारित किया गया जिसम इजरायल की गोलन पहाडिया अपने देश म मिलाने की आलोचना की गई। किन्तु इसम भी अमेरिका न इजरायल का पक्ष लिया और इजरायल के विरुद्ध आर्थिक तथा राजनतिक प्रतिबन्धो को अनुचित बतलाया। अमेरिकी प्रतिनिधि श्रीमती किक पट्रिक ने कहा कि "यदि इजरायल को सयुक्त राष्ट्र से निकालने का निर्णय किया तो अमेरिका सयुक्त राष्ट्र की सस्थाओ को दिए जाने वाले अनुदान म कटौती कर देगा और यदि आवश्यक हुआ तो सयुक्त राष्ट्र सघ से बाहर भी आ जाएगा।" इस प्रकार अमेरिका का इजरायल को विवशता तथा स्वार्थपूर्ण समर्थन स्पष्ट है। इससे न केवल अरबो और इजरायल के मध्य तनावो म वृद्धि हुई है अपितु अमेरिका तथा अरब देशो के मध्य भी अविश्वास बढा है।

साईनाई के सम्पूर्ण क्षेत्र की मिश्र को वापिसी

कप डैविड समझौत और मिश्र इजरायली सन्धी के अनुसार इजरायल न मिश्र का साइनाई का बचा हुआ क्षेत्र भी 25 अप्रैल 1982 का मिश्र को वापिस लौटा दिया। मिश्र और इजरायल के मध्यवर्ती सीमाओ म बहुराष्ट्रीय सेनाएँ रख जान का प्रस्ताव अवश्य है किन्तु इजरायल की गोलन पहाडिया का अपन देश म मिलाने जैसी कार्यवाहियो से यह स्पष्ट है कि अवध रूप से अधिकृत क्षेत्र को नियन्त्रित रखने की इजरायल नीतियो म कोई कमी नही आई है। साइनाई को पूर्णतया प्राप्त करन के बाद मिश्र की अरब नीति म भी धीरे-धीरे परिवर्तन आना सम्भव लगता है। इजरायल ने पश्चिमी किनारे और गाजा पट्टी क्षेत्र म भी फिलीस्तीनियो के साथ दुर्व्यवहार किया है जिसके कारण वहा इजरायल विरोधी प्रदर्शन हुए हैं। इजरायल अपनी बहुत सी बस्तियों को कई क्षेत्रों स हटाना भी नही चाहता तथा वहा काबिज रहना चाहता है। ईरान ईराक युद्ध न जो कि लगभग 2 वर्ष से चल रहा है पश्चिम एशिया के वातावरण म परिवर्तन किए हैं और उसके कारण भी फिलीस्तीनी समस्या के समाधान म विलम्ब हो रहा है। इजरायल और अरबो के बीच अविश्वास अभी भी बना हुआ है।

सादात इजरायल के साथ शान्ति स्थापित करन के निरन्तर प्रयास कर रह थे तथा इन प्रयासो म उनका बहुत सफलता मिली। वह इजरायल से साइनाई का क्षेत्र मिश्र को वापिस दिलान म सफल हो पाए। 1973 से वह सोवियत सघ के प्रभाव को पश्चिमी एशिया मे कम करना चाहते थ।

सादात की मत्यु के बाद हुस्न मुबारक मिश्र के नए राष्ट्रपति बन जिन्होंने कैम्पडविड समझौते का सम्मान करते हुए सादात की नीतियो का अनुसरण करन की घोषणा की है किन्तु उनके विचार सादात स अलग है। उन्होन न केवल इजरायल से सम्बन्ध रखन का प्रयास किया है अपितु अरब देशो और सोवियत सघ स सामान्य सम्बन्ध बनान का सकेत दिया है।

गोलन पहाडी इजरायल द्वारा विलय

दिसम्बर 1981 मे इजरायली प्रधानमत्री मनाहित बेगिन न गोलान पहाडियो का अपन क्षेत्र म मिलाने का निणय किया। इजरायल के इस फसले की 18 दिसम्बर 1981 को सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद न सवसम्मत इसकी भत्सना की। अमेरिकी रक्षा मत्री कास्पार वाइनबगर न इजरायली कायवाही को उत्तेजक एव अस्थिरताजनक बतलाया। उसके बाद अमेरिका न इजरायल के साथ सम्पन्न अपने सामरिक समझौते को भी स्थगित कर दिया। किन्तु इजरायल सयुक्त राष्ट्र सघ के निन्दा प्रस्ताव के बावजूद गोलन पहाडी को इजरायली सीमा म शामिल करने की कायवाहियो म लगा हुआ है। जनवरी 1982 मे सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद सीरिया तथा अन्य अरब राष्ट्रों न माग की कि इजरायल के विरुद्ध आर्थिक तथा सैनिक प्रतिबन्ध लगाए जाए। किन्तु प्राप्त सूचनाओ के अनुसार अमेरिका ने इस प्रकार के प्रस्ताव को वीटो कर दिया।

इजरायल यह समझता है कि इस ससार म सोवियत सघ से प्रतिस्पर्धा के कारण और विशेषकर अरब ससार मे अमेरिकी तेलहितो म वद्धि के कारण अमेरिका के लिए उसका विशेष महत्व है। इजरायल यह भी जानता है कि अमेरिका तथा शेष ससार का ध्यान इस समय पोलैण्ड की घटनाओ की ओर अधिक लगा हुआ है तथा ऐसे म उसकी अपनी सीमाओ के विस्तार का अवसर मिल ही जायेगा। वतमान समय मे अरब देशो म पारस्परिक मतभेद भी बना हुआ है। इजरायल की इन कायवाहियो के बावजूद भी सोवियत सघ न इजरायल से युद्ध की दशा मे सीरिया को सहायता का आश्वासन नही दिया।

वतमान समय म मिश्र और अरबो म भिन्नता कुछ कम अवश्य हुई है लेकिन सभी अरब देश मिलकर इजरायल के विरुद्ध सैनिक कायवाही करें यह निकट भविष्य म सम्भव प्रतीत नहीं होता। सीरियाई सनाए पहले से ही

लेबनानी मोर्चों पर लगी हुई हैं और यह इजरायल से स्वय के बूते पर सनिक सघर्ष छेडन की जोखिम नहीं उठा सकता। इस समय यह जरूरी है कि अरब देश मिलकर मौजूदी शांति योजना जैसे सामान्य आधार पर एकमत हो।

सयुक्त राष्ट्र महासभा के आपात अधिवेशन म 56 गुट निरपेक्ष देशो द्वारा प्रस्तुत एक सोलह सूत्री प्रस्ताव का पारित किया गया जिसम इजरायल की गोलन पहाडिया अपने देश म मिलाने की आलोचना की गई। किन्तु इसम भी अमेरिका ने इजरायल का पक्ष लिया और इजरायल के विरुद्ध आर्थिक तथा राजनैतिक प्रतिबन्धो को अनुचित बतलाया। अमेरिकी प्रतिनिधि श्रीमती किर्क पैट्रिक ने कहा कि "यदि इजरायल को सयुक्त राष्ट्र से निकालने का निर्णय किया तो अमरिका सयुक्त राष्ट्र की सस्थाओ को दिए जाने वाले अनुदान मे कटौती कर देगा और यदि आवश्यक हुआ तो सयुक्त राष्ट्र सघ से बाहर भी आ जाएगा।" इस प्रकार अमेरिका का इजरायल को विवशता तथा स्वार्थपूर्ण समर्थन स्पष्ट है। इससे न केवल अरबो और इजरायल के मध्य तनावो म वद्धि हुई है अपितु अमेरिका तथा अरब देशो के मध्य भी अविश्वास बढा है।

साईनाई के सम्पूर्ण क्षेत्र की मिश्र को वापिसी

कैम्प डेविड समझौते और मिश्र इजरायली सन्धि के अनुसार इजरायल ने मिश्र का साइनाई का बचा हुआ क्षेत्र भी 25 अप्रैल 1982 को मिश्र को वापिस लौटा दिया। मिश्र और इजरायल के मध्यवर्ती सीमाओ म बहुराष्ट्रीय सेनाएँ रखे जाने का प्रस्ताव अवश्य है किन्तु इजरायल की गोलन पहाडियों का अपने देश में मिलाने जैसी कार्यवाहियो से यह स्पष्ट है कि अवैध रूप म अधिकृत क्षेत्र का नियन्त्रित रखने की इजरायल नीतियों म कोई कमी नही आई है। साइनाई का पूर्णतया प्राप्त करने के बाद मिश्र की अरब नीति म भी धीरे-धीरे परिवर्तन आना सम्भव लगता है। इजरायल ने पश्चिमी किनारे और गाजा पट्टी क्षेत्र म भी फिलीस्तीनिया के साथ दुर्व्यवहार किया है जिसके कारण वहा इजरायल विरोधी प्रदर्शन हुए हैं। इजरायल अपनी बहुत सी बस्तियों को कई क्षेत्रो से हटाना भी नही चाहता तथा वहा काबिज रहना चाहता है। ईरान ईराक युद्ध ने जो कि लगभग 2 वर्ष से चल रहा है पश्चिम एशिया के वातावरण म परिवर्तन किए हैं और उसके कारण भी फिलीस्तीनी समस्या के समाधान म विलम्ब हो रहा है। इजरायल और अरबो के बीच अविश्वास अभी भी बना हुआ है।

पश्चिमी एशिया मे अनसुलझी गुत्थिया

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात से ही पश्चिमी एशिया मे तनाव बना हुआ है और चार बार सैनिक सघष और कई शान्ति याजनाओ के प्रस्तुति के बावजूद भी समस्या का पूण समाधान नही हो पाया है। आज भी इस क्षेत्र मे प्रमुख अनसुलझी समस्याएँ और चुनौतिया निम्न है —

1 लाखो फिलीस्तीनी अरबो क लिए एक स्वतत्र और सम्प्रभू राज्य का निर्माण (जिसके लिए इजरायल अभी तक सहमत नही है)।
2 पी० एल० ओ० को वार्तालाप के सदर्भ म फिलीस्तीनियो का प्रति निधि माना जाना।
3 इजरायल द्वारा 1967 मे अधिकृत जोडन नदी के पश्चिमी किनारे गाजापट्टी और गोलन पहाडियो को जोडन और सीरिया को लोटाने की समस्या।
4 जेरुसलम के नियन्त्रण का प्रश्न और उसके अरबो वाले हिस्से को इजरायली नियन्त्रण से मुक्त कराना।
5 इस क्षेत्र मे महाशक्तियो का हस्तक्षेप और प्रतिस्पर्धा जिससे समस्याओ का पूण तथा स्थायी समाधान नही हो पाता जैसे कैम्प डेविड समझौता आशिक है।
6 इस क्षेत्र के राज्यो द्वारा एक दूसरे के अस्तित्व को मान्यता दिए जाने का प्रश्न क्योकि अभी तक अधिकाश अरब राष्ट्र इजरायल को मान्यता ही नही देत। कट्टर पथी अरब दश अब भी इस मान्यता का विरोध करते है।

फारस की खाडी क 6 देशो न खाडी सहयाग परिषद का निर्माण किया है। किन्तु बडी शक्तियो के प्रतिस्पर्धा और दबाव के कारण उसकी सफलता की परीक्षा भी बाकी है। फिलीस्तीनी स्वायत्तता के प्रश्न पर इजरायल और मिश्र के बीच बातचीत म कोई प्रगति नही हुई है। यदि अरब देश एकजुट होकर कोई नीति अपनाए तो राष्ट्रपति रीगन के लिए उनकी मागो की उपेक्षा कर पाना कठिन काम हागा। साउदी अरब की आठ सूत्री शाति योजना अरब इजरायली विवाद के समाधान की दिशा म एक प्रमुख सकारात्मक कदम है। किन्तु उसे सभी अरब देशो का समथन प्राप्त नहीं हो पाया है। नवम्बर 1981 म मोरक्को के नगर मे अरब सम्मेलन साउदी शाति योजना पर तीव्र मतभेदों के कारण कुछ ही घण्टों मे समाप्त हो गया था।

इस सदर्भ मे अमेरिका तथा सोवियत सघ के बीच तनाव प्रमुख बाधा है। यदि दोनों महाशक्तियाँ इस समस्या का समाधान करें तो उचित परिणाम

निकल सकते हैं। इस प्रकार की इच्छा शक्ति का प्रदर्शन अभी तो दिखाई नहीं देता है।

पश्चिमी यूरोपीय देश विशेषत फ्रांस और जर्मनी भी अब शान्ति वार्ताओं में पी० एल० ओ० को महत्व देने लगे हैं, जबकि इजरायल की हठधर्मी से मध्य पूर्व के इस क्षेत्र में शांति प्रयासों की विफलता एवं खतरनाक स्थिति को जारी रख सकती है जिसका ताजा उदाहरण है इजराइल द्वारा बेरुत पर लगातार और लगातार बम वर्षा और विध्वंश लीला।

लेबनान

लेबनान संकट

लेबनान पश्चिमी एशिया का एक छोटा सा देश है जो भू राजनैतिक दृष्टि से इजरायल व सीरिया के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इसकी सीमाएं इन दोनों से मिलती हैं। लेबनान में दो प्रमुख समुदाय हैं ईसाई और मुस्लिम। लेबनान में न केवल आन्तरिक तनाव और विरोध है अपितु लेबनान, इजरायल व अरबों के बीच विवाद के कारण भी तनाव का केन्द्र रहा है।

लेबनान पश्चिमी एशिया में इस प्रकार का राष्ट्र है जहां पर एक ओर फिलीस्तीनी मुक्ति मोर्चे के छापामार अड्डे रहे हैं और दूसरी ओर ईसाई सशस्त्र गुट जो इजरायल का समर्थक है। लेबनान में फिलीस्तीनियों की उपस्थिति को कमजोर बनाने और धीरे धीरे समाप्त करने के लिए इजरायल लेबनान पर पिछले कई वर्षों से आक्रमण करता आ रहा है। 1981 के अंतिम महीनों में लेबनान की धरती पर सीरिया और इजरायल की सेनाओं के बीच भी व्यापक झड़पें होती रही हैं। इजरायल बेरुत नगर की ओर जाने वाली एक प्रमुख सड़क के क्षेत्रों पर सीरिया का प्रभाव समाप्त करना चाहता था और साथ ही दक्षिणी लेबनान में स्थित फिलिस्तीनी अड्डों को भी आक्रामक कार्यवाही द्वारा समाप्त करने का प्रयास करता रहा है। फिलिस्तीनियों ने इस आक्रमण का मुकाबला किया और पी० एल० ओ० की सफलता एवं महत्वपूर्ण तत्व है। लेबनान संकट में संयुक्त राष्ट्र संघ ने कई बार हस्तक्षेप किया है और सम्बन्धित पक्षों से युद्ध विराम की अपील करता रहा है। दिसम्बर 1981 में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों से लेबनान में युद्ध विराम कराया गया। लेकिन वहां तनाव का वातावरण अब भी बना हुआ है। इजरायल वहां पर स्थित फिलिस्तीनी छापामार अड्डों को सहन नहीं कर सकता जबकि फिलिस्तीनियों के लिए यह अड्डे इजरायल पर दबाव डालने के लिए रणनीति की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। इजरायल ने पी० एल० ओ० पर सैकड़ों बार युद्ध विराम के

पश्चिमी एशिया मे अनसुलझी गुत्थियाँ

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात स ही पश्चिमी एशिया म तनाव बना हुआ है और बार बार सैनिक सघर्ष और कई शान्ति यात्राओं म प्रस्तुति के बावजूद भी समस्या का पूर्ण समाधान नही हो पाया है। आज भी इस क्षेत्र म प्रमुख अनसुलझी समस्याएँ और चुनौतियाँ निम्न है —

1 लाखो फिलीस्तीनी अरबों क लिए एक स्वतन्त्र और सम्प्रभु राज्य का निर्माण (जिसके लिए इजरायल अभी तक सहमत नही है)।
2 पी० एल० ओ० को वार्तालाप के सदर्भ म फिलीस्तीनियों का प्रतिनिधि माना जाना।
3 इजरायल द्वारा 1967 म अधिकृत जोडन नदी के पश्चिमी किनारे गाजापट्टी और गोलन पहाडियो को जाडन और सीरिया को लौटान की समस्या।
4 जेरुसलम के नियन्त्रण का प्रश्न और उसके अरबी वाले हिस्से को इजरायली नियन्त्रण स मुक्त कराना।
5 इस क्षेत्र म महाशक्तियो का हस्तक्षेप और प्रतिस्पर्धा जिससे समस्याओ का पूर्ण तथा स्थायी समाधान नहीं हो पाता जस कम्प डेविड समझौता आंशिक है।
6 इस क्षेत्र के राज्यो द्वारा एक दूसर के अस्तित्व को मान्यता दिए जान का प्रश्न क्योंकि अभी तक अधिकाश अरब राष्ट्र इजरायल को मान्यता ही नही देत। कट्टर पथी अरब देश अब भी इस मान्यता का विरोध करते हैं।

फारस की खाडी के 6 देशो न खाडी सहयोग परिषद का निर्माण किया है। किन्तु बडी शक्तियो के प्रतिस्पर्धा और दबाव के कारण उसकी सफलता की परीक्षा भी बाकी है। फिलीस्तीनी स्वायत्तता के प्रश्न पर इजरायल और मिश्र के बीच बातचीत म कोई प्रगति नही हुई है। यदि अरब देश एकजुट होकर कोई नीति अपनाए तो राष्ट्रपति रीगन के लिए उनकी मागो की उपेक्षा कर पाना कठिन काम होगा। साउदी अरब की आठ सूत्री शांति योजना अरब इजरायली विवाद के समाधान की दिशा मे एक प्रमुख सकारात्मक कदम है। किन्तु उसे सभी अरब देशो का समर्थन प्राप्त नही हो पाया है। नवम्बर 1981 म मोरक्को के नगर म अरब सम्मेलन साउदी शान्ति योजना पर तीव्र मतभेदो के कारण कुछ ही घण्टो मे समाप्त हो गया था।

इस सदर्भ मे अमेरिका तथा सोवियत सघ के बीच तनाव प्रमुख बाधा है। यदि दोनो महाशक्तियाँ इस समस्या का समाधान करें तो उचित परिणाम

निकल सकते हैं। इस प्रकार की इच्छा शक्ति का प्रदशन अभी तो दिखाई नही देता है।

पश्चिमी यूरोपीय देश विशेषत फ्रास और जमनी भी अब शाति वार्ताओ मे पी० एल० ओ० का महत्व देने लगे हैं, जबकि इजरायल की हठधर्मी से मध्य पूव के इस क्षत्र मे शाति प्रयासो की विफलता एक खतरनाक स्थिति को जारी रख सकती है जिसका ताजा उदाहरण हैइजराहल द्वारा बेरूत पर लोमहपक और लगातार बम वर्षा और विध्वश लीला।

लेबनान

लेबनान सकट

लेबनान पश्चिमी एशिया का एक छोट सा देश है जो भू राजनतिक दष्टि स इजरायल व सीरिया के लिए महत्वपूण है क्याकि इसकी सीमाए इन दानो से मिलती हैं। लेबनान म दो प्रमुख समुदाय हैं ईसाई और मुस्लिम। लेबनान म न केवल आ तरिक तनाव और विराध है अपितु लेबनान, इजरायल व अरबो के बीच विवाद के कारण भी तनाव का केन्द्र रहा है।

लेबनान पश्चिमी एशिया म इस प्रकार का राष्ट है जहा पर एक ओर फिलीस्तीनी मुक्ति मोर्चे के छापामार अडडे रहे है और दूसरी ओर ईसाई सशस्त्र गुट जो इजरायल का समथक है। लेबनान म फिलीस्तीनियो की उपस्थिति को कमजोर बनाने और धीरे धीरे समाप्त करने के लिए इजरायल लेबनान पर पिछले कई वर्षों से आक्रमण करता आ रहा है। 1981 के अ तिम महीनो म लेबनान की धरती पर सीरिया और इजरायल की सेनाओ के बीच भी व्यापक झडपें होती रही है। इजरायल बेरूत नगर की ओर जान वाली एक प्रमुख सडक के क्षेत्रो पर सीरिया का प्रभाव समाप्त करना चाहता था और साथ ही दक्षिणी लेबनान मे स्थित फिलिस्तीनी अडडा को भी आक्रामक काय वाही द्वारा समाप्त करन का प्रयास करता रहा है। फिलिस्तीनिया न इस आक्रमण का मुकाबला किया और पी० एल० ओ० की सफलता एक महत्व पूण तत्व है। लेबनान सकट मे सयुक्त राष्ट्र सघ न कई बार हस्तक्षेप किया है और सम्बन्धित पक्षो से युद्ध विराम की अपील करता रहा है। दिसम्बर 1981 मे सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रयासो से लेबनान म युद्ध विराम कराया गया। लेकिन वहा तनाव का वातावरण अब भी बना हुआ है। इजरायल यहा पर स्थित फिलिस्तीनी छापामार अड्डो को सहन नही कर सकता जबकि फिलिस्तीनियो के लिए यह अड्डे इजरायल पर दबाव डालने के लिए रणनीति की दष्टि से बडे महत्वपूर्ण हैं। इजरायल ने पी० एल० ओ० पर सकडों बार युद्ध विराम के

बम गिराये है। इजरायल के विदेश मत्री येजक समीर के अनुसार इजरायल पी० एल० ओ० के आतकवाद को समाप्त करना चाहता है अन्यथा इजरायल और लेबनान के बीच सघष का कोई कारण नही है। इजरायल न यह भी बहाना किया है कि दक्षिणी लेबनान के क्षेत्र म यह आक्रमण इसलिय आवश्यक हो गये थे कि फिलीस्तीनी मुक्ति मोर्चा युद्ध विराम का उल्लघन करते रहे हैं।

ईरान ईराक युद्ध और फारस की खाडी मे नये तनाव

ईरान और ईराक मध्यपूर्व के दो प्रमुख देश हैं और इन दोनो देशो की ऐतिहासिक परम्पराओ से ही यह स्पष्ट है कि इनके बीच बहुत अधिक अन्तर रहे है। ये दोनो देश प्रमुख इस्लामी देश है और रणनीति के आधार पर पश्चिमी एशिया मे बडे महत्वपूर्ण है। 1950 से महाशक्तियों की राजनीति और शीत युद्ध एशिया महाद्वीप को भी प्रभावित करने लगे और ईरान अमेरिका द्वारा सचालित केन्द्रीय सन्धि सगठन का सदस्य बना। ईराक भी अपने सामरिक महत्व के कारण बडी शक्तियो के आकर्षण का केन्द्र रहा है। 1958 में राजतन्त्र के पतन के बाद लम्बे समय तक ईराक मे सैनिक तानाशाही रही है। 1979 म जनरल अलबक्र से सद्दामहुसैन न काय भार सम्भाला और 22 जून, 1980 का असम्बली के चुनाव कराकर वहा के नागरिको को प्रजातात्रिक अधिकारो के उपयोग का अवसर दिया।

ईरान प्राचीन काल से फारसी सभ्यता का प्रमुख केन्द्र रहा है। 20वी शताब्दी के मध्य तक दो महायुद्धो मे ईरान को भी बडी शक्तियो की राजनीति का शिकार होना पडा। ईरान के भूतपूर्व शाह रजा पहलवी पश्चिमी शक्तियों की ओर झुके हुए थे और उनके अमरिका से बडे घनिष्ठ सम्बन्ध थ जहाँ उन्होंने ईरान को आधुनिक हथियारो से युक्त बनाया वही दूसरी ओर ईराक की ईरान विरोधी गतिविधियो को भी सीमित करने का प्रयास किया।

ईरान मे क्रान्ति

1978 से पहले भी ईरान म शाह के विरोध म कई आन्दोलन हुए थ और वहा कट्टरपथियो और वामपथियो दोना ने ही शाह को सत्ता स हटाने के प्रयास किये थे। ईरान म जहा एक ओर शाह समथको और उनके सम्बन्धियो ने सत्ता का लाभ उठाकर स्वय को आधुनिक भौतिक साधनो से सज्जित कर लिया वही दूसरी ओर आम जनता की हालत पिछडेपन की बन गयी। 1978 म ईरान म शाह का विरोध बहुत अधिक बढ गया और कट्टरपथी इस्लामी नेता आयतुल्ला खुमैनी के नेतृत्व म इस्लामी क्रान्ति की लहर उठी और शाह को मजबूरन सत्ता छोडनी पडी। ईरान मे अमेरिका विरोधी

उल्लघन के आरोप लगाय है और सीरिया की धारणा है कि इजरायल जान बूम कर लेबनान म हस्तक्षेप करता है और युद्ध विराम का पालन नही कर रहा है। इजरायल न मई 1982 के अन्त म लेबनान पर फिर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये है और कई प्रमुख स्थाना पर वम्बारी की है। इजरायल न केवल फिलिस्तीनी समस्या के प्रति हठधर्मिता का रूप अपना रहा है अपितु उसने सीरिया के गोलन पहाडियो के क्षेत्र को जिस पर उसत 1967 से अवैध रूप अधिकार कर रखा है अपने देश की भूमि के साथ मिलने का निणय किया है। इजरायली प्रधानमत्री वेगिन इसे सोच समझ कर लिया गया निणय भी बतलाते है। इस निर्णय की न केवल सभी अरब देशो न भत्सना की है अपितु इससे अरबो व इजरायल के बीच विवाद और गहरा हो गया है। लेबनान अरब इजरायल विवाद के कारण और फिलिस्तीनियो की स्वायत्तता के अनसुलझे प्रश्न के कारण विस्फोटक स्थिति मे है और अस्थायी रूप से यहा युद्ध विराम अवश्य हो जाता है किन्तु समस्या का स्थायी समाधान नही हो पाता जा कि सीरिया के हस्तक्षेप के कारण वहुत अधिक जटिल वन गयी है। इमसे लेबनान की सुरक्षा व आ तरिक स्थायित्व पर भी असर पडता है।

ल दन म इजरायली राजदूत की हत्या के बाद इजराइल मे लेबनान स्थित फ्लिीस्तीनी अडडो पर जून 1982 म पुन आक्रमण किये हैं और उसन सकडों से भी ज्यादा फिलीस्तीनियो को मार डाला है। इजरायल ब्रिटेन म अपने राजदूत की हत्या के लिए पी० एल० ओ० को उत्तरदायी मानता है जबकि फिलीस्तीनी इससे इन्कार करते है और इसे बहाना मानकर उसन बेरत म नरसहार जारी रखा है। इजराइल न विश्व जनमत की पूण उपक्षा कर तथा अमरीका की शह पर यह भीषण नरसहार जारी रखा है जिसने हजारो को बघरबार कर दिया सकडो इमारतो और स्त्री, बच्चे पशु और बूढे सभी पर बम वरसाये हैं। यह एक अत्यन्त दुर्भाग्य की बात रही है कि फिलीस्तीनी अमर योद्धाओ न अपन लेबनानी साथियो की मदद से अकेले ही इस राक्षसी शक्ति का बहुत दिलेरी और बहादुरी से सामना किया है जबकि अरब राष्ट्रो न एक गर्हित घणित चुप्पी अपनाइ। भारत की प्रधानमत्री ने निरतर यहा और अमरीका म जहा जहा व गई उन्होने इजरायल की घोर निंदा की है और अमरीका पर भी दोषारोपण किया कि वे चाहते तो इजरायल को रोक सकत थे। दुर्भाग्य की बात है कि सीरिया दक्षिण यमन और एक दो अरब राष्ट्रो को छोड कर किसी न फिलीस्तीनियो के प्रति मदद की बात तो अलग उनक साथ खुले बुलद स्वर म सहानुभूति भी प्रकट नही की।

इजरायल न जहाजरानी और टायर क्षेत्रो की बमबारी की है। फिलीस्तीनी समाचार सस्था वाफा के अनुसार इजरायल न वका और बास क्षेत्रो म भी

बम गिराये है। इजरायल के विदेश मन्त्री मेजर समीर के अनुसार इजराय न पी० एल० ओ० ने आतंकवाद को समाप्त करना चाहता है अन्यथा इजरायल और लबनान के बीच सघर्ष का कोई कारण नही है। इजरायल न यह भी कहा किया है कि दक्षिणी लबनान के क्षेत्र म यह आक्रमण इसलिये आवश्यक हो गय थ कि फिलीस्तीनी मुक्ति मोर्चा युद्ध विराम का उल्लघन करते रहे हैं।

ईरान ईराक युद्ध और फारस की खाडी मे नये तनाव

ईरान और ईराक मध्यपूर्व के दो प्रमुख देश हैं और इन दोनो देशो की ऐतिहासिक परम्पराओ से ही यह स्पष्ट है कि इनके बीच बहुत अधिक अन्तर रहे हैं। ये दोनों देश प्रमुख इस्लामी देश है और रणनीति के आधार पर पश्चिमी एशिया म बडे महत्वपूर्ण हैं। 1950 से महाशक्तियो की राजनीति और शीत-युद्ध एशिया महाद्वीप को भी प्रभावित करने लगे और ईरान अमेरिका द्वारा सचालित केन्द्रीय सन्धि सगठन का सदस्य बना। ईराक भी अपने सामरिक महत्व के कारण बडी शक्तियो के आकर्षण का केन्द्र रहा है। 1958 में राजतन्त्र के पतन के बाद लम्बे समय तक ईराक मे सैनिक तानाशाही रही है। 1979 म जनरल अलबकर से सद्दामहुसैन न काय भार सम्भाला और 22 जून, 1980 को असम्बली के चुनाव कराकर वहा के नागरिको को प्रजातान्त्रिक अधिकारो के उपयोग का अवसर दिया।

ईरान प्राचीन काल से फारसी सभ्यता का प्रमुख केन्द्र रहा है। 20वी शताब्दी के मध्य तक दो महायुद्धो म ईरान को भी बडी शक्तियो की राजनीति का शिकार होना पडा। ईरान के भूतपूर्व शाह रजा पहलवी पश्चिमी शक्तियो की ओर झुके हुए थे और उनके अमेरिका से बडे घनिष्ठ सम्बन्ध थ जहाँ उन्होने ईरान को आधुनिक हथियारो से युक्त बनाया वही दूसरी ओर ईराक की ईरान विरोधी गतिविधियो को भी सीमित करने का प्रयास किया।

ईरान मे क्रान्ति

1978 से पहले भी ईरान म शाह के विरोध म कई आन्दोलन हुए थ और वहा कट्टरपथियो और वामपथियो दोनो ने ही शाह को सत्ता स हटाने के प्रयास किये थे। ईरान मे जहां एक ओर शाह समर्थको और उनके सम्बन्धियो ने सत्ता का लाभ उठाकर स्वय को आधुनिक भौतिक साधनो स सज्जित कर लिया वहा दूसरी ओर आम जनता की हालत पिछडेपन की बनी गयी। 1978 म ईरान म शाह का विरोध बहुत अधिक बढ गया और कट्टर-पन्थी इस्लामी नेता आयतुल्ला खुमैनी के नेतृत्व मे इस्लामी क्रान्ति की लहर उठी और शाह को मजबूरन सत्ता छोडनी पडी। ईरान मे अमेरिका विरोधी

भावनाए बहुत बढ गयी और 52 राजनीतिज्ञो को 444 दिन तक बन्दी बनाय रखा गया।

ईरानी क्रान्ति के पश्चात भी ईरान मे हिंसा और हत्याओ का दौर जारी रहा। ससद और इस्लामी नेताओं के घरा पर बम्ब फेंके गये और ईरान म अस्थिरता बनी रही। इस स्थिति का ईराक न फायदा उठाना चाहा और 22 सितम्बर, 1980 को ईराक ने ईरान के हवाई अड्डा पर आक्रमण करके दुनिया को आश्चर्यचकित कर दिया। ईरान और ईराक 1973 से तेल कूट नीति के सदभ म बहुत महत्वपूण है और मध्यपूव की राजनीति म भी उनका प्रमुख स्थान है। ईराक और ईरान के बीच पहले से ही ऐतिहासिक व भूमि सम्बन्धी मतभेद रहे है और उनका कोई स्थायी समाधान नही हो पाया है। सितम्बर 1980 म स्पष्ट रूप से युद्ध ईराक द्वारा प्रारम्भ किया गया था और इसका तत्कालीन कारण था 1975 म ईरान के साथ किये गय समझौते का ईराक के नये राष्ट्रपति द्वारा रद्द किया जाना। इस समझौत द्वारा ईराक न शत-अल अरब नामक भौगोलिक आधार पर महत्वपूण जलमाग को ईरान के साथ बाट लेने की पशकश स्वीकार की थी यद्यपि इससे पूव 1913 म किये गये एक समझौते के अनुसार शत अल अरब ईराक का माना गया था।

शत-अल-अरब विवाद

शत अल अरब का क्षेत्र दोनो देशो के लिए सामरिक दृष्टि से महत्व का है और 1979 म किये गये समझौते का ईराक अपमानजनक समझता था क्योकि इसके द्वारा ईरान को खाडी म अपना वचस्व स्थापित करन मे सफलता मिली थी। ईराक न युद्ध प्रारम्भ करन से पहले ही शत अल अरब जलमाग पर अपना दावा किया था। पश्चिम के तेल आयात करन वाले देशो स सम्बन्धा के सन्दभ मे भी इस क्षेत्र का महत्व है। ईराक न अपन युद्ध उद्देश्यों म ईरान के खुजेस्तान प्रात को घेर लेने का भी प्रयास किया। खुजेस्तान म ईराक को वही लाभ हो सकत है, जो कुर्दिस्तान म ईरान को है। इस प्रान्त की अधिकाश जनसख्या सुन्नीमतावलम्बी मुसलमानो की है जो सदैव से ईरान के सत्ताधारियो द्वारा शोषित रहे हैं। इराक के शासक गैर शिया लोगो का समथन प्राप्त करके ईरान म अधिक अस्थिरता उत्पन्न करना चाहते थे।

ईरान ईराक, दोनो सघषरत देशो के पास न केवल विपुल मात्रा म तल के भण्डार है अपितु दोनो के पास विशाल शस्त्रागार भी है। दानो देशो को दाना महाशक्तियो से पहले ही मिले हुए हथियारो का उपयोग करने का मौका मिल गया है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितिया म इस प्रकार परिवतन आया कि कैम्प डेविड समझौत के बाद अरब जगत का मिश्र पर प्रभाव समाप्त हो गया। ईरान

के पतन के बाद न केवल पश्चिमी एशिया मे अपितु समस्त मुस्लिम जगत म एक बडे नेता का अभाव सा प्रतीत होने लगा। ईरान के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन न जो कि एक महत्वाकाक्षी व्यक्ति रह हैं इस क्षेत्र मे अपनी धाक जमाने का प्रयास किया है। जोडन के शाह हुसैन न ईराक का समथन किया है और ईराक ने सउदी अरब कतार और अन्य खाडी के देशो से ईरानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध सहायता की अपील की और उनका भी रुख सहानुभूतिपूण रहा। ईराक ने सोवियत सघ को भी अपन दृष्टिकोण से अवगत करा दिया और 1972 की ईराक-सोवियत मैत्री सन्धि के तहत उससे हथियारो की माग की।

प्रारम्भ म ईरान कमजोर दिखाई दन क कारण व शाह के पतन के बाद अराजकता, अयातुल्ला खुमैनी की धार्मिक कट्टरता, बडे बडे सनिक अधिकारियो को फासी और उनम अविश्वास के कारण रक्षातन्त्र म अव्यवस्था और अमरिका से सम्बन्ध बहुत खराब होन के कारण विमानो और टको के चालन के लिए पुर्जों और प्रशिक्षण का अभाव रहा। ईराक यह भी समझता था कि महाशक्तियो से सम्बन्धो के सन्दभ मे ईरान अकेला पड गया था और अरब देश या तो ईराक का साथ देगें या तटस्थ रहेंगे।

धार्मिक और सास्कृतिक टकराव

ईरान और ईराक दोनों मुस्लिम देश होने हुए भी शिया और सुन्नी मतो की भिन्नता के कारण परस्पर विरोधी रहे हैं। सद्दाम हुसैन न अयातुल्ला खुमनी क नेतृत्व मे हुई ईरानी क्रांति को क्रान्ति मानने से इन्कार कर दिया और उसे इस्लाम विरोधी फारसी नस्लवाद की सज्ञा दी। उसने ईरान म खुमैनी विरोधी भावनाओ को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया। खुमैनी न सद्दाम हुसन के विरुद्ध यह आरोप लगाया कि वह अमरिकी एजेन्ट है। युद्ध के प्रारभ म ईराकी राष्ट्रपति सददाम हुसैन ने अपने मसूबो को धार्मिक व एतिहासिक रूप देते हुए कहा कि 637 ई० के कदिसिया सघष की पुनरावृत्ति होन जा रही है। *उस वष अरब कबीलो ने फारस के शासक से टक्कर लेकर मुक्ति प्राप्त की थी।* सददाम हुसैन को युद्ध के प्रारम्भिक दिनों मे पश्चिमी समाचार पत्रो न अरब जगत का उदीयमान सितारा कहा था। प्रारम्भ म यह लगता था कि ईराक ईरान को पराजित कर देगा और मनचाह क्षेत्रो पर अधिकार कर लेगा। ईरानी सैनिक तन्त्र कागजी शेर साबित नहीं हुआ और वह भी गत दो वर्षों से ईराकी सेनाओ का मुकाबला कर रहा है। प्रारम्भ म ईराक न युद्ध को निर्णायक दौर म पहुचान की कोशिश की लेकिन वह इसमे सफल नही हो पाया। वह खुरमशहर बन्दरगाह डेसफुल पर ही अधिकार कर पाया। ईरान ने भी

यूरोपीय व्यापारियो के माध्यम से गोला बारूद और अन्य सामान खरीदन का बन्दोबस्त कर रखा है। ईरान और ईराक के बीच युद्ध के प्रारम्भ होते ही ईरान म भी एकता की भावना बढी है।

ईरान-ईराक की सैन्य क्षमता

	ईरान	ईराक
क्षेत्रफल	1 73,259 वग मील	6,36,293 वग मील
जनसख्या	1 31 10,000	3,5250,000
कुल सेना	2,42,250	2,40,000
थल सेना	2,00,00	1,50,000
वायु सनिक	38,000	70,000
नौ सनिक	4,250	20 000
लडाकू विमान	332	445
अन्य विमान	220	155
हैलिकाप्टर	276	084
टैंक	2,850	1,985
युद्ध पोत	17	20
अन्य नौ सैनिक पोत	19	15
रिजव तथा अन्य अधश य शक्ति	79 800	4,75,000

(दिनमान 12-18 अक्टूबर 1980 से साभार)

युद्ध के प्रारम्भ मे ईराक ने युद्ध विराम की निम्न शर्तें रखी थीं

1 सम्पूण शत अल अरब माग पर ईराकी प्रभुसत्ता को स्वीकार किया जाए (यद्यपि जलमार्गों पर प्रभुत्व की सीमा प्राय मध्य रेखा ही मानी जाती है)।
2 मुसियान क पास 230 वग मील क्षेत्र पर ईराक का अधिकार स्वीकार किया जाए क्योंकि ईराक अपना क्षेत्र मानता है।
3 होमुज जल डमरूमध्य के पास अबूमूसा और थम्ब द्वीपो की वापिसी क्योंकि ये परम्परा से अरब शासको के पास रहे है।

ईरान खुजिस्तानी ठिकानो पर कब्जा करके अपनी शर्तें मनवाना चाहता था जिसम उसे सफलता नही मिल पाई।

ईराक द्वारा प्रस्तुत एक पक्षीय युद्ध विराम ईरान को मजूर नही हुआ। फारस की खाडी के अरब देश जिनमे की आपसी विवाद भी बहुत है खुलकर ईराक के समथन म नही है क्योंकि वे स्वय युद्ध म फँसना नही चाहते हैं। ओमान ने अपनी जमीन से ईराक की सेना को आबूमूसा द्वीप पर हमला करन की स्वीकृति नहीं दी सद्दाक हुसन ने इस प्रकार का सघष जारी किया जो कि आसानी स समाप्त नही हो सकता। यद्यपि ईरान और ईराक के बहुत से तेल केन्द्रो से तेल निकलना बन्द हो गया और अथव्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पडा है। ईरान गत एक वष से भी अधिक समय तक आत्मरक्षा की लडाई लडता रहा है। उसका उद्देश्य रहा है कि ईराकी सेनाओ को आगे न बढन देना ईराकी शहरो पर बमबारी द्वारा उसकी अथव्यवस्था को अधिक से अधिक हानि पहुँचाना और ईराक के शियाओं और कुर्दो को विद्रोह के लिए उत्तेजित करना।

युद्ध का लम्बा दौर और उसका प्रभाव

ईरान ईराक युद्ध यद्यपि ईराक द्वारा प्रारम्भ किया था लेकिन दोनो दश सघषरत रहे हैं। यह युद्ध दोनो देशो के लिए ही बहुत हानिकारक रहा है और दोनो देशो की अथव्यवस्थाएँ तहस नहस हो गई हैं। ईरान मे महगाई 50% की दर से बढ रही है। प्रमुख तेल केन्द्र अबादान से तेल मिलना बन्द हो गया है। ईराक के बन्दरगाहो बिजली घरो, परमाणुशोध केंद्रो आदि को गहरी क्षति पहुची है। खाडी युद्ध न केवल लम्बा खिचता चला गया है अपितु वह बीच बीच म धीरे भी पडता गया है। इस तरह के युद्ध के परिणाम दूरगामी होते हैं। खुमैनी जिस अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामिक क्रान्ति का नारा द रहे थे, वह राष्ट्रवाद मे बदल गयी है और शत्रु से रक्षात्मक शक्ति का आधार बन गई है। भीतर के क्षत्रो म दूर तक बमबारी का प्रभाव यह पडा है कि युद्ध के मैदान म कोई भी जीते दोनो इतन कमजोर हो जाएगे कि युद्ध बन्द होन के बाद भी अस्थिरता और आर्थिक समस्याएँ वर्षों तक बनी रहेंगी। यद्यपि प्रारम्भ म ईराक न युद्ध म बढत प्राप्त की किन्तु 1982 के प्रारम्भ स ईरान अपने खोए क्षेत्रो पर पुन कब्जा करन का प्रयास कर रहा है। अब ईराकी सेनाओ पर ईरान का दबाव बढता जा रहा है और ईराक की स्थिति कमजोर दिखाई देने लगी है।

अयातुल्ला खुमैनी अपन बूते पर अकेले ही प्रतिकूल परिस्थितियो से जूझ रह हैं। ईरान न ईराकियो को खुजिस्तान म जहा का तहाँ थमाए रखन म भी सफलता प्राप्त की। शरदकालीन वषा के बाद यह क्षेत्र दल दल मे बदल जाता है, जिससे ईराक के लिए इस मौसम म समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

महाशक्तियो का मौन

अमेरिका और सोवियत सघ दोना महाशक्तिया ने इस युद्ध मे हस्तक्षेप करने की घोषणा प्रारम्भ म ही कर दी थी क्योकि वह सीमित विकल्पा कारण हस्तक्षेप नही कर सकते थे। यद्यपि अमेरिका ने साउदी अरब ओम कुवैत आदि खाडी के देशा की सुरक्षा की जिम्मेदारी ले रखी है। सोवियत ने सीरिया के साथ 20 वर्षीय शाति और मैत्री की सधि पर हस्ताक्षर क अपनी उपस्थिति जाहिर कर दी है और अफगानिस्तान पर उसका कब्जा ब हुआ है किन्तु सोवियत सघ अपने विकल्प सीमित करना नही चाहता। द ही देश (ईरान ईराक) भौगोलिक दृष्टि से सोवियत सघ के समीप हैं अ ईरान म अमरिका विरोधी भावनाएँ तीव्र है। सावियत सघ की नजर इस ब पर अवश्य है कि वहा अब क्या होता है और अमरिका अब कौन सी च चलता है। महाशक्तिया का हित इस बात म निहित है कि तल क्षेत्रा किसी एक ही महाशक्ति का नियन्त्रण स्थापित न हो जाए।

अमेरिका सहित सभी पश्चिमी देशो का इन तेल क्षेत्रो की बहुत अधि चिन्ता है। 1974 के तेल सकट मे अमेरिकी रक्षा विभाग और तेल कम्पनि ऐसा वातावरण बनाए हुए हैं कि पश्चिमी एशिया के तेल क्षेत्रा पर ही अमेरिक अस्तित्व आर प्रभाव टिका हुआ है लेकिन अमरिका युद्ध म फँसकर उनप अपना कब्जा नही कर सकता। तल की चिन्ता के नाम पर अमेरिका फार की खाडी और अरब सागर म अड्डे विकसित कर रहा है, और रूस भी पी नही है। उसकी पनडुब्बिया और जहाज इस क्षेत्र मे चक्कर लगा रह है अमरिका का तात्कालिक हित था होर्मुज जलमाग को खुला रखना क्योकि लाख पीप तेल जो पश्चिमी देशा को सप्लाई किया जाता है, इसी माग जाता है। खुमैनी ने यह जलमाग अवरुद्ध नही करने की घोषणा कर द थी। खाडी युद्ध मे ता अमरिका और रूस दोना सीधे हस्तक्षेप नही क रहे है क्योकि व युद्ध को ज्यादा व्यापक नही बनाना चाहते, लेकिन दा देशो के नौसनिक कूटनीतिक, व्यापारिक और तल हित इस क्षेत्र म बहुत महत्वपूण है। इस युद्ध से व्यवहार म सावियत सघ को लाभ हो रहा है क्योकि अफगानिस्तान की समस्या से दुनिया का ध्यान थोडा हट है। रूस को इराक को हथियार बेचने का अवसर भी प्राप्त हुआ है। ईरान म यद्यपि अस्थिरता है तथापि या तो उसे भी रूस की आर झुकना पड सकता है क्योकि वहा अमरिका विरोधी भावनाए तीव्र हैं या ईरान को अमरिका स अपने सम्बन्धो पर पुनर्विचार करना पड सकता है। अमरिका न खाडी क्षेत्र म अपनी सन्य उपस्थिति म वृद्धि कर दी है। राष्ट्रपति रीगन न सम्पूण विश्व म सोवियत विस्तारवाद को राकन के भाग के रूप म खाडी क्षेत्र म भी अपार

जमाया है। त्वरित गति से भेजी जा सकने वाली सेना रख जाने की भी योजना है। डियगोर्गासिया म अपने नौसैनिक अड्डे को भी अमरिका विस्तृत कर रहा है।

सोवियत सघ भौगोलिक रूप से खाडी क्षेत्र के अधिक करीब है और अफगानिस्तान म उसकी उपस्थिति के कारण उसकी अमरिका से यहा तीव्र प्रतिस्पर्धा है। अमेरिका की सनिक बढत से इस क्षेत्र म न केवल तनावो म वद्धि होती है अपितु शीत युद्ध दक्षिणी पश्चिमी एशिया म लडा जा रहा है। सोवियत सघ यहा क्षत्रीय सघर्षों मे अमेरिकी उलझाव को रोकना चाहता है।

हाल ही म ऐसी खबर मिली है कि इजरायल ईरान को हथियार द रहा है। इससे न केवल ईरान की हिम्मत बढी है अपितु ईराक पर दबाव भी बढा है और इरान द्वारा ईराकी सनाओ का खदेडन के कारण ईराक युद्ध विराम के लिए भी तैयार हो सकता है।

खाडी युद्ध के समाप्त कराने के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास

अक्टूबर 1980 से ही ईरान और ईराक के बीच चल रहे युद्ध को समाप्त कराने के प्रयास भी हो रहे है। सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद म भी इस बार म बहस हुई है। इस्लामी दशो के सम्मेलन और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन द्वारा भी युद्ध को समाप्त करान के प्रयास किए गए हैं किन्तु वे फलदायी सिद्ध नहीं हुए। गुटनिरपेक्ष देशो के एक शाति प्रस्ताव के अनुसार युद्ध बद होने के बाद ईराकी सेनाए 1975 के अल्जीरियस समझौते के द्वारा निर्धारित सीमा तक लौट जाए लेकिन वास्तविक सीमा निर्धारण का कार्य दानों देश मिलकर करे। ईराक न ईरान से अपनी सेनाए तब तक हटान से इन्कार कर दिया था जब तक [illegible] अल अरब जलमार्ग पर उसके कानूनी अधिकार को मान्यता नहीं दी जाती।

इस्लामी सम्मेलन ने भी युद्ध बद कराने के लिए मध्यस्थता का प्रयत्न किया। जून 1982 म भी 43 देशों के इस्लामी सम्मेलन [illegible] द्वारा नियुक्त मध्यस्थो ने खाडी युद्ध को बद कराने पर विचार-विमर्श किया। [illegible] पवित्र माह के प्रारम्भ तक बद [illegible] युद्ध बद कराना [illegible] सदभ म सम्मेलन की 9 [illegible] विचार विमर्श [illegible] सितम्बर 1980 म ईराक द्वारा युद्ध प्रारम्भ करने [illegible] ईरान और ईराक दोना देशों [illegible] समस्याओं पर [illegible] विचार किया गया।

स्तीनी समस्या से हटता है अपितु युद्ध के कारण उनके बीच फूट भी बनी रहती है। ईरान की बढती हुई जबावी आक्रामक कायवाहियो के कारण अब ईराक पर भी दबाव बढने लगा है । यदि ईराक सम्पूण ईरानी क्षेत्रों से हट जाता है तो युद्ध विराम की सम्भावनाआ मे वृद्धि होती है।

ईरान-ईराक युद्ध के परिणाम

यद्यपि लगभग दो वष से चला आ रहा खाडी युद्ध समाप्त नही हुआ है प्रारम्भ मे उसम ईराक सशक्त लगता था और आज ईरान अपने खोए हुए क्षेत्रो को पुन प्राप्त करन म सफल हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासो से खाडी युद्ध मे युद्ध विराम भी हो सकता है किन्तु इस सघष के बहुत से महत्वपूण परिणाम हुए हैं जिनमें अधिकाश अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और सुरक्षा के लिए नकारात्मक ही है। इस युद्ध के प्रमुख परिणाम है —

1 फारस की खाडी के क्षेत्र में तनावा में तीव्र वृद्धि।
2 ईरान ईराक युद्ध के कारण दोना देशो की अथव्यवस्थाओ पर कुप्रभाव।
3 दोनो प्रमुख तेल निर्यातक देशा में तेल के उत्पादन में निरतर कमी होना।
4 खाडी क्षेत्र में महाशक्तियो की युद्ध में तटस्थता के बावजूद भी महाशक्ति प्रतिस्पर्धा में तीव्र वद्धि।
5 सयुक्त राष्ट्र सघ के चाटर का उल्लघन और उसकी मध्यस्थता का उल्लघन।
6 अरब देशो म तनाव और फूट को प्रोत्साहन जिससे अरब इजरायली समस्या के सदभ म भी अरब एकता पर बुरा असर पडा।
7 फिलीस्तीनी स्वायत्तता की समस्या खाडी युद्ध के कारण कुछ सीमा तक न केवल पीछे ढकेल दी गई है बल्कि इसने इजरायल को लबनान म बबर आक्रमण करन को बढावा दिया है।
8 ईरान ईराक द्वारा पारस्परिक तेल ठिकाना पर बमबारी के कारण तेल उत्पादन म भारी कमी हुई है जिससे विकासशील दशा को इनसे तल प्राप्त करने म कठिनाई हो रही है।

ईरान ईराक युद्ध की समाप्ति तभी सम्भव है जबकि दोनों देश पारस्परिक घृणा और विरोध का कम करे तथा एक दूसरे की जमीन पर व्यथ के दाव बन्द करें और ईराक ईरान की भूमि से अपनी सनाए हटान के लिए सहमत हो।

कम्पूचिया की समस्या

दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे वियतनाम, कम्पूचिया, लाओस हि द चीन के राष्ट्र कहलाते है। दूसरे महायुद्ध के पश्चात इस क्षेत्र के देश यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघप कर रहे थे। सन् 1954 म हि दचीन के बारे मे जिनेवा समझौता किया गया, लेकिन उसके बाद भी अमेरिका ने वियतनाम मे लम्बी साम्राज्यवादी सनिक दखलदाजी की और इसम चीन और सोवियत सघ उत्तरी वियतनाम और कम्पूचिया की मदद करते रहे। 30 अप्रैल 1975 को वियतनाम युद्ध समाप्त हुआ और अमेरिका को वहा से लौटना पडा। इससे पूव किये गये 1973 के युद्ध विराम को बाद मे भग कर दिया गया और अन्त म राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की विजय के साथ वियतनाम का पुन एकीकरण हो गया।

कि तु हि दचीन के क्षेत्र मे चीन और सोवियत सघ के बीच प्रतिस्पर्धा हुई है। 1976 से कम्पूचिया म चीन द्वारा समर्पित सरकार थी। खेमररूग के समूह के नेतत्व मे कम्पूचिया का शासन चलाया जा रहा था। 1978 तक कम्पूचिया मे पोलपोट की सरकार और पार्टी अपने वामपथी भटकाव के कारण बहुत बदनाम हो गयी थी,

पोलपोट का पतन और वियतनामी हस्तक्षेप

कम्पूचिया म पोलपोट सरकार की दमन की नीति निरकुशता के कारण विरोध बढता गया और वियतनाम को बाध्य होकर पोलपोट विरोधियो को मदद आरम्भ करना पडा। जनवरी 1979 म कम्पूचिया के कई भागा पर पोलपोट विरोधियो का निय त्रण हो गया। वियतनाम ने कम्पूचिया म सनिक हस्तक्षेप करके समाना तर सरकार स्थापित करवाई।

अ तर्राष्ट्रीय समुदाय के समक्ष कम्पूचिया म दो सरकारो का विचार आया। सितम्बर, 1979 मे गुटनिरपेक्ष देशो के हवाना शिखर सम्मलन मे इस

प्रश्न का कोई समाधान नही हो पाया और दशा म पोलपोट और हेम समरिन की सरकारो म किसे मान्यता दी जाए, यह विवाद बना हुआ था और कम्पूचिया के स्थान को रिक्त छोड दिया गया।

कम्पूचिया म वियतनामी सनिक हस्तक्षेप का सयुक्त राष्ट्रसघ और अय अ तर्राष्ट्रीय मचा पर भी विरोध हुआ, और कई प्रस्तावो द्वारा यह माग की गई कि कम्पूचिया से विदेशी सैनिको को हटाया जाए और वहा जनता की स्वीकार सरकार स्थापित की जाए।

कम्पूचिया म विदेशी हस्तक्षेप के बारे मे हवाना मे गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन म चर्चा हुई और फरवरी 1981 म नई दिल्ली गुटनिरपेक्ष विदेशी मन्त्री सम्मेलन द्वारा पारित प्रस्ताव म कहा गया' कि कम्पूचिया से सभी विदशी सेनाए हटायी जाए, और किसी देश के आतरिक मामलों मे किसी अय देश का हस्तक्षेप अनुचित है।

चीन वियतनाम सघर्ष

दक्षिणी पूर्वी एशिया म न केवल चीन और सोवियत सघ के हिता म टकराव है, अपितु चीन वियतनाम को सोवियत विस्तारवाद मे सहायक मानता है। चीन का मत है कि रूस बडा चौधरी है और वियतनाम इस क्षेत्र म महायक चौधरी है। कम्पूचिया की पोलपोट सरकार को गिराया जाना और वहा वियतनाम का सनिक हस्तक्षेप चीन के लिये असहनीय था। चीन क साम्यवादी दल के उपध्यक्ष देंग के अनुसार 'चीन वियतनाम को सबक सिखाना चाहता है।" अत 17 फरवरी 1979 को चीन न वियतनाम पर सनिक अक्रमण कर दिया चीन और वियतनाम के बीच सघष का एक कारण सीमा विवाद बताया जाता है। चीन और वियतनाम मे सनिक सघष के परिणामस्वरूप दोना देशा के हजारो सनिक हताहत हुए, किन्तु चीन वियतनाम का कम्पूचिया से निकालने म सफल नही हो पाया। चीन न वियतनाम पर यह भी आरोप लगाया कि वह हिन्द चीन के देशा का एक सघ स्थापित करना चाहता और स्वय उसमे अपना आधिपत्य जमाना चाहता है।

वियतनाम पर चीनी आक्रमण भी कम्पूचिया की समस्या स घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है क्योंकि कम्पूचिया वियतनाम के हस्तक्षप के बाद चीन न वियतनाम पर आक्रमण किया। वियतनाम युद्ध म चीन ने स्वय ही मार्च 1979 के प्रथम सप्ताह म युद्ध विराम घोषित कर दिया। दोनो देशा के बीच वार्ताओ में कोई विशेष प्रगति नही हो पाई। वियतनाम की सेनाएँ कम्पूचिया म अभी भी विद्यमान है। वियतनाम और चीन मे तनाव बना हुआ है। अमेरिका और चीन कम्पूचिया की पोलपोट सरकार का मान्यता देते रहे है, अप्रैल 1976

तक वह कम्पूजिया म सत्ता म रही है, जबकि भारत सहित कई देशा न हेंग सेमरिन सरकार को मान्यता दी है।

कम्पूचिया म हेंग सेमरिन सरकार ने 1981 म निर्वाचन भी कराए और पुन सत्ता प्राप्त की किन्तु उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति नही मिल पाई है। खेमर रुग समूह के लोग वियतनाम समर्थित सरकार के विरुद्ध आक्रामक कार्यवाही करते रहे हैं फिर भी वियतनाम की मदद से कम्पूचिया म नई सरकार टिकी हुई है।

लाओस और वियतनाम के सोवियत सघ से घनिष्ठ सम्बन्ध है और कम्पूचिया की स्थिति के बारे म तनाव बना हुआ है।

जून 1981 मे कम्पूचिया पर सयुक्त राष्ट्र द्वारा आयोजित सम्मेलन

सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा आयोजित अ तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे 80 से अधिक देशो ने भाग लिया, किन्तु इस सम्मेलन म दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशा के सगठन और चीन के दृष्टिकोण म भिन्नता थी। एशियन के देश यह चाहते है कि दक्षिणी पूर्वी एशिया एक तटस्थ क्षेत्र रहे और वहा पर महाशक्तियो की प्रतिस्पर्धा के कारण तनाव उत्पन्न न हो। कई देशा न यह सुझाव दिया कि कम्पूचिया म सभी प्रमुख समूहो की मिलीजुली सरकार स्थापित हो। वियतनाम ने इस सम्मेलन म रुचि नही दिखाई। चीन यह चाहता है कि कम्पूचिया मे किसी न किसी रूप म उसका प्रभाव बना रहे। इस सम्मेलन द्वारा कम्पूचिया की समस्या के समाधान के लिय विशेष स्पष्ट सुझाव नही दिय।

नवम्बर 1981 म हेंग सेमरिन सरकार का विरोध करने वाले तीन दला 1 राजकुमार सिंहनुक के दल, 2 खेमर रूग और 3 पालपाट के ऐंग सेसे समूह म इस बात पर भी सहमति हुई कि वियतनाम समर्थित सरकार का मिलजुल कर मुकाबला किया जाय और आवश्यक हो तो निर्वासित सरकार स्थापित की जाए।

कम्पूचिया की समस्या का अभी भी कोई समाधान नही हो पाया है दक्षिणी पूर्वी एशिया म सोवियत सघ और चीन द्वारा अपना अपना प्रभाव क्षेत्र बनाने के प्रयत्न तनाव उत्पन्न कर रहे है। वियतनाम, अमेरिका युद्ध समाप्त होने के बाद चीन का चिन्ता यह है कि कही अमरिका के इस क्षेत्र से हटने से उत्पन्न रिक्तता को सोवियत सघ अपनी उपस्थिति द्वारा न भर ले। इसलिये चीन यह भी चाहता है कि अमरिका इस क्षेत्र से न हटे। अमेरिका और चीन का नया गठजोड दक्षिणी पूर्वी एशिया म अनक जटिलताएँ उत्पन्न करेगा। सोवियत सघ और चीन के सामरिक चिन्तन म दक्षिणी पूर्वी एशिया का कितना महत्व है यह उनके द्वारा एक दूसरे के प्रभाव को रोकने के लिए अपनाये

गय विभिन्न दावपेचा स स्पष्ट है। एक ओर सोवियत सघ इस क्षत्र क देशा से मित्रता सधियाँ करक चीन को चारा ओर अपनी सक्रिय सनिक गतिविधिया के घेर म जकडना चाहता है वही दूसरी ओर चीन रूस को यूरोपीय देश वत-लाकर इस क्षेत्र स बाहर देखना चाहता है। दक्षिणी पूर्वी एशिया म प्रभाव क्षेत्र कायम करन की दिशा म चीन का अधिक लाभ हो सकता है क्योकि उसकी यहाँ भौगोलिक निकटता है और बहुत स चीनी लोग इन देशा म अब भी रहते हैं।

कम्पूचिया की समस्या का समाधान तभी सम्भव है जबकि इस क्षत्र क देश आपसी क्षत्रीय सहयोग स्थापित करें और बडी शक्तियो की प्रतिस्पर्धा का दूर करन क लिये प्रयास करें।

आशियन के पाचा सदस्या देश - थाईलैड, मलेशिया सिंगापुर, इण्डोनेशिया और फिलीपीन व्यवहार म अमेरिका समथक है और वियतनाम, लाओस तथा कम्पूचिया की नई सरकार सोवियत सघ समथक है।

दक्षिणी पूर्वी एशिया में नये तनाव

कम्पूचिया वियतनाम चीन,सोवियत सघ के पारस्परिक सम्बन्धो म 1976 के बाद बहुत परिवतन आया है और चीन सोवियत सघष का प्रभाव दक्षिणी पूर्वी एशिया क्षेत्र पर महत्वपूण रूप से पडा है। चीन ने सोवियत प्रवेश के खतरे का अन्दाजा लगाकर दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशो स सम्बन्ध सुधारन के प्रयास किए है।

वियतनाम की स्वतन्त्रता तथा एकीकरण के बाद सोवियत सघ के समक्ष चीन उसका विश्वास प्राप्त करन म सफल नही रहा। इसीलिए वह कम्पूचिया को अपन प्रभाव म बनाए रखना चाहता था, कि तु पोलपोट सरकार की निरकुश और आतकवादी नीतियो के कारण उसे भी हटना पडा।

कम्पूचिया की समस्या और भारत

भारत के दक्षिणी पूर्वी एशिया दशो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बन रह हैं। भारत और इन देशा के बीच व्यापारिक सास्कृतिक, कूटनीतिक और सभी प्रकार क सम्बन्ध है। भारत दूसरे देशो के आन्तरिक मामलो म हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाता रहा है और उसन पारस्परिक विवादो को सुलझाने के लिय बल प्रयोग का विरोध किया है। भारत की इस नीति क सदभ म ही भूतपूव विदेशमन्त्री वाजपेयी की चीन यात्रा के समय वियतनाम पर चीनी आक्रमण को देखा जा सकता है। चीन वियतनाम ... ण की योजना पहले ही बना चुका था और श्री ... ने अपनी ... ने छाडकर

वापिस लौटना पडा। कम्पूचिया समस्या के सम्बन्ध मे प्रारम्भ मे तो भारत ने इतजार करने और स्थिति स्पष्ट होने तक रुकने की नीति अपनाई, किन्तु जब हगसेमरिन सरकार का कम्पूचिया के अधिकाश भागों पर प्रभावी नियन्त्रण स्थापित हो गया, तब 1980 मे भारत सरकार ने हग सेमरिन सरकार को कूटनीतिक मान्यता प्रदान की। यद्यपि भारत सरकार की इस नीति को रूस के प्रभाव से उत्पन्न बताया जाता है।

अधिकाश गुटनिरपेक्ष देशो न हेग सेमरिन सरकार को मान्यता प्रदान नही की है। वियतनाम की कम्पूचिया से सैनिक वापसी का भारत को खुलकर समथन करना चाहिए, अन्यथा भारत की विदेशनीति की स्वतन्त्रता कम प्रतीत होती है। कम्पूचिया की समस्या के समाधान के सन्दभ मे भारत को अधिक सक्रिय भूमिका अपनानी चाहिये।

अमेरिका ने वियतनाम पर चीनी आक्रमण के समय यह वक्तव्य दिया, (कम्पूचिया से वियतनामी सेना और वियतनाम मे चीनी सेनायें वापस बुलाई जाय)" कम्पूचिया की समस्या के समाधान के लिए यह भी उपयोगी हो सकता है कि सयुक्त राष्ट्र सघ के निरीक्षण मे वहा स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव करवाये जाए, और वहा अहस्तक्षेप के सिद्धात का व्यवहार मे लागू किया जाए। दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशो की, जिनमें कम्पूचिया भी सम्मिलित है, समस्याए बडी विकट और जटिल हैं। जब तक वे आर्थिक दृष्टि से पिछडे हैं, और अन्य शक्तियों पर निभर है, जब तक उनके लिए बाहरी हस्तक्षेप का खतरा बना रहेगा।

1 आर्थिक आत्म निभरता

2 क्षेत्रीय सहयोग

3 बाहरी हस्तक्षेप

4 आतरिक सरचना म प्रजातन्त्रवाद और

5 गुटनिरपेक्षता के सिद्धात का पालन—वे मूल मन्त्र है जिनके आधार पर न केवल कम्पूचिया की समस्या का समाधान हो सकता है, अपितु दक्षिणी पूर्वी एशिया म तनाव कम किय जा सकते हैं और महाशक्तियो की प्रतिस्पर्धा को इस क्षेत्र म सीमित किया जा सकता है। दक्षिणी पूर्वी एशिया म सोवियत सघ और साम्यवादी चीन के बीच अपन अपन प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने की स्पर्धा सामरिक है और चाहे कोई भी अपना प्रभुत्व जमाने म सफलता प्राप्त करें, हानि दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों को स्वय को ही है।

रगभेद का कलक और नामीबिया की समस्या

एशिया और अफ्रीका महाद्वीप मे गत तीन चार शताब्दियों से यूरोप की

साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शक्तियो का अधिकार रहा है, किन्तु बीसवी शताब्दी मे राष्ट्रवादी प्रवृत्तियो के जागरण और स्वतन्त्रता सेनानियो के सघर्ष के परिणाम स्वरूप द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् एशिया और अफ्रीका के अधिकाश देश स्वतत्र हो गए हैं किन्तु अफ्रिका म दक्षिणी अफ्रीका के भाग मे वहा पर सदियो से रहने वाले गोरे लोगो द्वारा वहा के मूल निवासियो के विरुद्ध जातीय भेदभाव और रगभेद की नीति अपनायी जाती रही है। दक्षिणी रोडेशिया जिसे अब जिम्बावे कहा जाता है तो गत 20 वर्षों क लम्बे सघर्ष के बाद अल्पसख्यक गोरो के शासन को समाप्त करन मे सफल रहा है। 1980 मे वहा बहुमत का शासन स्थापित हो गया और जनता के बहुमत द्वारा निर्वाचित देशभक्ति मोर्चे के नेता राबर्ट मुगाबे प्रधान मत्री बन।

कि तु दक्षिणी अफ्रीका म उपनिवेशवाद अब भी समाप्त नही हुआ है यद्यपि अगोला, जिम्बाम्बे मोजाम्बीक के मुक्ति मोर्चे अपने देशो को स्वतन्त्र करान मे सफल रह है तथापि नामीबिया (दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका) की स्वतन्त्रता का सपना साकार नही हो पाया है। नामीबिया पर दक्षिणी अफ्रीका का उपनिवेशवादी शासन है। नामीबिया का क्षेत्रफल फ्रास और इटली को मिलाकर भी अधिक है। नामीबिया पर बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही दक्षिणी अफ्रीका का अधिकार रहा है। राष्ट्रसघ की स्थापना के बाद नामीबिया मेन्डेट के रूप म दक्षिणी अफ्रीका के पास था। सयुक्त राष्ट्र की स्थापना के दिसम्बर 1946 म नामीबिया का दक्षिणी अफ्रीका के साथ विलय करन का प्रार्थना पत्र महासभा न अस्वीकार कर दिया और इस सरक्षित प्रदश बनाने पर जार दिया जिसे दक्षिणी अफ्रीका न स्वीकार नही किया है और नामीबिया पर अपना नियन्त्रण बनाए रखा। 1966 म एक प्रस्ताव पारित कर सयुक्त राष्ट्र सघ न नामीबिया पर दक्षिणी अफ्रीका का साम्राज्य समाप्त कर दिया। कुछ देशो न दक्षिणी अफ्रीका के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी की भी माँग की थी। अफ्रीकी राज्यो का सगठन (आ० ए० यू०) भी दक्षिणी अफ्रीका से नामीबिया को पूर्णतया स्वतन्त्र करान की माग करता रहा है। 1968 म नामिब रगिस्तान के नाम पर सयुक्त राष्ट्र सघ न इसका नाम नामीबिया कर दिया। 1967 म इस प्रदेश के प्रशासन हेतु नियुक्त परिषद को दक्षिणी अफ्रीका न मान्यता नही दी। सयुक्त राष्ट्र की उपेक्षा क कारण 30 जनवरी 1970 को सुरक्षा परिषद न दक्षिणी अफ्रीका के दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका स सम्बधित सभी कार्यों को अवध घोषित कर दिया और सभी सदस्य राज्यो स दक्षिणी अफ्रीका से किसी भी प्रकार का सम्पर्क न रखने को कहा।

श्वेत और अश्वेत जातियो के बीच सम्बन्ध की समस्या भी वहाँ बडी गभीर है। वहा श्वेत लोग कम सख्या म हैं किन्तु उनको काले मूल निवासियो

से अधिक सुविधाए प्राप्त हैं। दक्षिणी अफ्रीका म कानून के माध्यम से जातीय पथक्वासन या भेदभाव की नीति को निरन्तर चलाया जा रहा है। जान गुन्थ का मत है कि 'यदि श्वेत और अश्वेत साथ साथ रहना सीख लेते हैं तो अफ्रीका बच जायगा। यदि नही ता यह अव्यवस्था गृह युद्ध और सामन्तवाद या साम्यवाद की भेंट चढ जायगा।'

स्वापो द्वारा स्वातन्त्र्य सघर्ष

गत 20 वर्षों से दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीकी जनसगठन अपने देश की स्वतन्त्रता और प्रभुता के लिए निरन्तर सघर्ष कर रहा है। 1974 म सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद न एक प्रस्ताव पारित कर दक्षिणी अफ्रीका को नामीबिया स नियत्रण हटाने की माग की। स्वापो प्रारम्भ से ही दक्षिणी अफ्रीका की उपनिवेशवादी और शोषण कारी प्रवृतियो के विरुद्ध लडता रहा है। इसने अपने सदस्यो को हथियार चलाने का प्रशिक्षण दिया है और सरकारी सेनाओं से यह मुकाबला करता रहा है। स्वापो क कई क्रान्तिकारी युवा नेताओं जैसे स्टीव नीवो आदि का दमन और पुलिस द्वारा की जाने वाली हत्याओं का शिकार होना पडा है। स्वापो छापामार प्रणाली स भी सघर्ष करती है और इसे अफ्रीकी एकता सगठन तथा इसके पडोसी अफ्रीकी देशो का समर्थन प्राप्त होता रहा है। इसके वतमान नेता साम नाजूमा है जो नामीबिया से दक्षिणी अफ्रीका के पूर्णत हट जाने की माग कर रहे है। अब स्वापो का नामीबिया का प्रतिनिधि माना जाता है। स्वापो को स्वाधीन नामीबिया का भावी शासक माना जाता है 1973 म सयुक्त राष्ट्र मच न भी स्वापो को नामीबिया का वास्तविक प्रतिनिधि स्वीकार किया है और उसके नेता साम नजूमा के विचार भी सुने गय। आज भी जहाँ एक ओर सुलह वार्ता द्वारा नामीबिया की स्वतन्त्रता के प्रयास चल रहे हैं वहीं दक्षिणी अमेरीका की दमनकारी और अडियल नीति के कारण स्वापो को सघर्ष का रास्ता भी अपनाना पडता है।

पश्चिमी सम्पर्क गुट स्वायत्तता का साधक या बाधक

दक्षिणी अफ्रीका क क्षेत्र मे सोवियत सघ की बढती हुई गतिविधियो : प्रभाव के कारण पश्चिमी देश चिन्तित हैं। 1975 म अगोला की स्वतन्त्रता के समय क्यूबा के सैनिको की उपस्थिति इस महाद्वीप मे महाशक्तियों की : स्पर्धा को तीव्र बनाने के लिए पर्याप्त रही। पाच पश्चिमी देशो (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रास, पश्चिमी जर्मनी, कनाडा) ने एक सम्पर्क गुट का गठन किया देशों ने नामीबिया की स्वायत्तता के सम्बन्ध में दक्षिणी अफ्रीकी सरकार

स भी बातचीत की। समस्या के समाधान के लिए उ होन एक योजना प्रस्तुत का इसम —

1 युद्ध विराम (दक्षिणी अफ्रीकी सेनाओ और स्वापा के बीच)।
2 सयुक्त राष्ट्र की दख रेख म स्वतत्र चुनाव।
3 नामीबिया और अगोला के बीच विसैन्यीकृत क्षेत्र तथा
4 विस यीकृत क्षेत्र म सयुक्त राष्ट्र शाति सेना तनात किय जान का प्रावधान था।

इस प्रस्ताव का दक्षिणी अफ्रीका सहित सभी देशा न स्वीकार कर लिया कि तु जब चुनाव कराने का समय आया तो दक्षिणी अफ्रीका मुकर गया। अमेरिका का रीगन प्रशासन अप्रत्यक्ष रूप से दक्षिणी अफ्रीका के प्रति सहानुभूति रखता है और नामीबिया पर वार्ता म वहा के अ य सगठना (पश्चिम समयक) को महत्व देता है। स्वापो ने नामीबिया की स्वतत्रता के लिए अपना सघप जारी रखन की घोषणा की है और वह किसी भी प्रकार के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए भी तैयार है। यदि दक्षिणी अफ्रीका अपनी उपनिवेशवादी और दमनकारी नीतिया स बाज नही आता तो उसे अफ्रीका के अ य देशों द्वारा बहिष्कार और विरोध का भी सामना करना पडेगा। कि तु इस प्रकार क विरोध को ता वह दशाब्दियो से दखता आ रहा है।

नामीबिया प्राकृतिक सम्पदा का भण्डार

दक्षिणी अफ्रीका के नामीबिया म रणनीति सम्ब धी और आर्थिक व्यापारिक हित है नामीबिया म अपार खनिज सम्पदा है। विश्व म हीरो का 16% तथा यूरेनियम का तीन प्रतिशत उत्पादन नामीबिया मे होता है। सोना, ताबा जस्ता और तेल भी वहा भारी मात्रा म उपलब्ध होता है। दक्षिणी अफ्रीका प्राकृतिक सपदा और उद्योगा के लिए कच्चे माल से सम्प न इस क्षेत्र को छोडना नही चाहता। यहा पश्चिमी देशो के भी आर्थिक हित हैं। ब्रिटन, अमरिका आदि की बहुत सी निजी कम्पनिया दक्षिणी अफ्रीका से व्यापार बनाय हुए है और लाभ कमा रही है। रीगन प्रशासन दक्षिणी अफ्रीका म स्वापो के प्रति उपेक्षा बरत रहा है क्योकि वह नही चाहता कि आजादी के बाद स्वापो के नतृ व म नामीबिया गुटनिरपक्ष हो जाये अथवा इस रणनीति और व्यापार क सदभ म महत्वपूण क्षेत्र म सोवियत सघ और उसके सहयोगिया का प्रभाव बढ जाय। यद्यपि आज उपनिवेशवाद का समय समाप्त हा चला है और सयुक्त राष्ट्र न विभि न मचो पर उसके विरुद्ध आवाज भी उठाई है उसके बावजूद भी बडे दश अपने आर्थिक लाभ के लिए और राजनीतिक, सामरिक एव सनिक दष्टि से इन छोट क्षेत्रो के प्रति नवउपनिवेशवादी और

नव साम्राज्यवादी नीतिया अपना रहे हैं। दक्षिणी अफ्रीका भी यहाँ जहा तक हो सके अपनी प्रभुता बनाये रखन का बहाना ढूढ रहा है यद्यपि वह ज्यादा लम्बे समय तक यहा अपना साम्राज्य बनाये रखन म सफल नहीं हो सकता।

अगोला पर दक्षिण अफ्रीकी आक्रमण

जहा एक ओर दक्षिण अफ्रीका नामीबिया म दमन और आतकवाद की नीति अपना रहा है वही उसने 1981 मे भी तथा मई 1982 म अगोला पर सैनिक आक्रमण किए हैं। वह अगोला पर आरोप लगाता है कि वहा स्वापा के छापामार अड्डे है और अगोला स्वापो के लोगा को समथन एव सरक्षण देता है। वास्तविकता यह है कि वह अपने पडोस म मार्क्सवादी या वामपथी सरकार को स्वीकार नही कर सकता। इस प्रकार के आक्रमण के पीछे अमेरिका जसी महाशक्तियो की सहमति प्रतीत होती है क्योकि वह रणनीति की दृष्टि से अफ्रीका के इस महत्वपूण क्षेत्र म सोवियत विस्तारवाद का खुला विरोध कर रहा है। प्रिटोरिया (दक्षिणी अफ्रीका) अगोला पर आक्रमण कर पडोस क नामीबिया समथक देशो म आतक फैलाने म सफल नही हो पाया है। स्वापा द्वारा नामीबिया की स्वतन्त्रता के उददेश्य से सघष सतत जारी है।

नामीबिया की व्यापारिक और सामरिक दृष्टि से महत्व की वाल्विस खाडी पर सयुक्त राष्ट्र सघ ने नामीबिया की ही प्रभुता स्वीकार की है और इस सम्बन्ध म 1980 मे ही एक प्रस्ताव भी पारित किया जा चुका है। किन्तु दक्षिणी अफ्रीका इसे अपन प्रभुत्व म बनाये रखना चाहता है जो कि अनुचित है। वाल्विस की खाडी नामीबिया की अथ-व्यवस्था के लिए भी महत्वपूण है। अत इसे दक्षिणी अफ्रीका के नियत्रण म नही छोडा जा सकता। इस खाडी का नामीबिया की स्वतन्त्रता के बाद उसके लिए सामरिक और व्यापारिक महत्व और भी बढ जायगा।

पश्चिमी सम्पक गुट के देशा द्वारा पाच वष के प्रयास के बावजूद भी नामीबिया के बारे म समझौता नही हो पाया है। दक्षिण अफ्रीका से समझौते के लिए वार्तायें जारी हैं किन्तु नामीबिया की स्वतन्त्रता म दक्षिण अफ्रीका विलम्ब ही कर रहा है। नामीबिया मे दक्षिण अफ्रीका की लगभग एक लाख सेनायें मौजूद है।

नामीबिया मे अवैध निर्वाचन

जहा एक ओर नामीबिया की स्वतन्त्रता के लिए वार्तायें चल रही थी वही दूसरी ओर दक्षिण अफ्रीका ने नामीबिया म 1977 मे निर्वाचन कराय और वहा अपनी एक कठपुतली ससद बनवायी और तरण हाले गुट के द्वारा वहा

शासन चला रही है। दिसम्बर 1977 म आयोजित इन चुनावो का स्वापा ने बहिष्कार किया और सयुक्त राष्ट्र सघ ने इन चुनावो को अवध बतलाया और उनकी आलोचना की क्योकि यह निर्वाचन निष्पक्ष परिवेक्षक की देखरेख म नही कराये गये। तरण हाले समूह को और उसे मर्न्यादित छोटे छोटे गुटो को दक्षिण अफ्रीका स्वापो के विकल्प के रूप म रखना चाहता है। किन्तु इसे जन समथन प्राप्त नही है। गत 22 वर्षो मे स्वापो ने नामीबिया की जनता मे तीव्र राष्ट्रीय जाग्रति और साम्राज्यवाद विरोधी भावनाए उत्पन्न की है। नामीबिया के लोग दमनकारी और नवउपनिवशवादी दक्षिण अफ्रीकी सत्ता से परिचित है और व उचित राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और नव उपनिवशवादी प्रवत्तियो मे अन्तर जानते है। अब वहा की सरकार जन आन्दोलन को दबाने के लिए नग्न बल का प्रयोग कर रही है। किन्तु उतना ही विरोध रग भेद वादी सरकार के विरुद्ध बढता जा रहा है।

दक्षिण अफ्रीका की सेना द्वारा स्वापो का समथन करने वाले लोगो के घर जला दिय जाते हैं। हत्याए की जाती है उनके मकानो व फसलो को नुकसान पहुचाया जाता है गिरफ्तारिया, यातनायें और नजरबन्दी वहा आम बात हो गयी है। किन्तु इस सब प्रकार के दमन के बाद भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम जारी है। मई 1982 मे अगोला पर दक्षिणी अफ्रीका आक्रमण के बाद स्वापो न अपना सघष न केवल ग्रामीण क्षेत्रो तक ही सीमित रखा है अपितु वह देश के केन्द्रीय भाग म भी अपनी गतिविधिया देश के मध्यवर्ती भागो तक फला रही है जहा कि उपनिवशवादी गोरे रहते है। इसमे तस्मेह का जिला ओटेयर आदि स्थान सम्मिलित हैं। नामीबिया म दक्षिण अफ्रीका की सेना के कमाण्डर जनरल लायड न यह घोषणा की है कि वतमान परिस्थितिया म सेना स्वापा की गतिविधिया को नियन्त्रित नही कर पा रही है। निरन्तर यह स्पष्ट होता जा रहा है कि दक्षिण अफ्रिकी उपनिवेशवादियो का नामीबिया मे अपनी उपस्थिति की कीमत चुकानी पड रही है। दक्षिण अफ्रीका की अथ व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड रहा है। स्वापो की स्वतन्त्रता सग्राम म विजय निश्चित है और इसका प्रभाव दक्षिण अफ्रीका की आन्तरिक राजनीति पर भी पडेगा। दक्षिण अफ्रीका म अफ्रीकी राष्ट्रीय कॉग्रेस भी दक्षिण अफ्रीका म अल्पमत के शासन की समाप्ति और अपार्थाइड व कलक को मिटाने के लिए सकल्प है।

दक्षिण अफ्रीका रीगन प्रशासन जसे पश्चिमी समथको की अप्रत्यक्ष मदद स नामीबिया की स्वतन्त्रता म थोडा बहुत विलम्ब अवश्य कर सकते है किन्तु उसे रोक नही सकता। नामीबिया को न केवल अफ्रीका के अग्रवर्ती राष्ट्रो का समथन प्राप्त है अपितु स्वापा को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा मान्यता भी प्राप्त हो चुकी है। भारत भी नामीबिया की स्वतन्त्रता का समर्थक है भारत

प्रारम्भ से ही अफ्रीका मे रग भेद की नीति और उपनिवेशवाद का विरोध करता रहा है। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे महात्मा गाधी ने दक्षिणी अफ्रीका मे रग-भेद का विरोध किया और सभी मनुष्यो की समानता पर बल दिया। भारत ने स्वापो को कूटनीतिक मान्यता प्रदान की है और उस नामीबिया का एक मात्र प्रतिनिधि मानता है। नामीबिया को भारत भौतिक-नैतिक और कूटनीतिक समथन प्रदान कर रहा है।

● ●